* श्रीः *

कवितार्किकसिंह-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र

श्रीमद्वेङ्कटनाथार्य—श्रीमद्वेदान्तदेशिकविरचिता

श्रीमन्महाचार्यप्रणीतेन चण्डमारुतेन संगता

शतदूषणी

८३–६६ वादपर्यन्ता हिन्दी प्रसादेनावलिता

* चतुर्थोभागः *

(विशिष्टाद्वैत ग्रन्थः)

हिन्दी व्याख्याकारः-

शिवप्रसाद द्विवेदी [श्रीधराचार्यः]

वेदान्तविभागाध्यक्षः-आयोध्यिके श्रीहनुमत्संस्कृतमहाविद्यालये ।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी १९८७ ई० सम्वत २०४४

❀ श्रीः ❀

कवितार्किकसिंह-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र

श्रीमद्वेङ्कटनाथार्य—श्रीमद्वेदान्तदेशिकविरचिता

श्रीमन्महाचार्यप्रणीतेन चण्डमारुतेन संगता

शतदूषणी

४३-६६ वादपर्यन्ता हिन्दी प्रसादेनावन्विता

* चतुर्थोभागः *

(विशिष्टाद्वैते)

हिन्दी व्याख्याकारः-

शिवप्रसाद द्विवेदी [श्रीधराचार्यः]

वेदान्तविभागाध्यक्षः-आयोध्यिके श्रीहनुमत्संस्कृतमहाविद्यालये ।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी १९८७ ई० सम्वत २०४४

प्रकाशकः-

तत्त्वमुक्ताकलापसङ्घ

शाखा-अयोध्या

जिला-फैजाबाद

पिन-२२४१२३

प्रथम संस्करण

मूल्य—५०-०० (पचास रुपये अजिल्द)
६०-०० रुपये सजिल्द

वर्ष १९८७ जन्माष्टमी

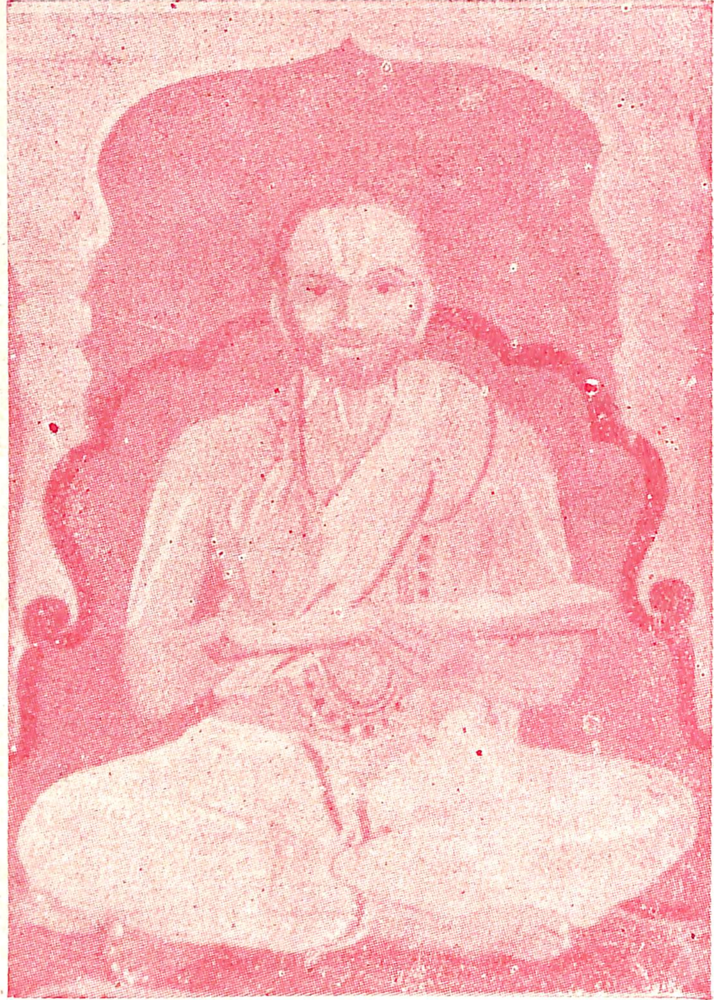
मुद्रक :-

श्याम मुद्रणालय

श्याम सदन, कटरा

अयोध्या

पिन-२२४१२३



सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः कवितार्किकसिंहाः
तत्त्वमुक्ताकलापशतदूषण्यादिग्रन्थप्रणेतारः
श्रीमद् वेङ्कटनाथाचार्याः वेदान्तदेशिकाः

।। समर्पण ।।

जिनकी दिव्य-तपस्या के स्फीतालोक में सम्पूर्ण भारतीय वसुन्धरा आलोकित है, श्रीदेवी तथा भूदेवी से सदा सेवित, भगवान् श्रीमन्नारायण के चरण युगल ही जिनके आराध्य हैं, कीर्ति, श्रीः, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा ये सात दिव्य-देवियाँ ही जिनके तपःपूत प्राङ्गण की पट्टमहिषियाँ हैं, विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष इन सात साधनों के सतत सेवन के द्वारा पावितान्तःकरण जो अनुक्षण जगन्मङ्गल का विधान किया करते हैं, उन्हीं ब्रह्मर्षि श्रीदेवराहाबाबा जी महाराज तथा श्रीमद्वि-ष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डी स्वामीजी महाराज के चरणों में समर्पित है, यह शतदूषणी की हिन्दी विवर्त्त रूपी या कचित् सेवा।

मुझ जैसे अज्ञानान्ध मलीमस बुद्धि को भी जिन्होंने अपनी निरवग्रहा कृपा का पात्र बनाया, जिनके प्रथम प्रेक्षण ने ही मेरे तमः प्रोत अन्तःकरण को श्रीमद्विशिष्टाद्वैत दर्शन की ओर उन्मुख किया, जिनके सत्य-संकल्प से ही प्रेरित होकर मैं इस पूर्ण वैदिक दर्शन के विषय में कुछ लिखने का दुःसाहस करता हूँ, जिनके दया, सौशील्य, वदान्यता, आर्जव प्रभृति लोकोपकारी गुण मुझे भी इस परमवैदिक-दर्शन के राजमार्ग पर चलते रहने की अनुमति देते रहते हैं, उन कृपामात्र प्रसन्नाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य की पावन पदवी के स्वरूपयाथात्म्य को सुरक्षित रखने में सर्वथा समर्थ ब्रह्मर्षि श्रीदेव राहाबाबा तथा परमाचार्य श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डी स्वा-मीजी महाराज के चरणों में समर्पित है, मेरी यह शब्द सुमनाञ्जलि।

भगवान् श्रीमन्नारायण के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार, इन वैदिक पाञ्चो रूपों की प्राप्ति का अद्वारक साधन अर्थपञ्चकविज्ञान ही है, इस अर्थ का साक्षात्कार करने वाले सप्तद्वीपा वसुमती को अपने सात अवतारों के द्वारा अनुगृहीत करने वाले पञ्चा-चार्यपथपथिक शेषावतार श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य की पवित्र परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने वाले श्रीदेवराहाबाबा तथा श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डी स्वामीजी महाराज के मनस्तोषार्थ उनके पावन चरणों में समर्पित है, यह चण्डमारुत विशिष्ट शतदूषणी का प्रसाद समलंकृत चतुर्थ भाग।

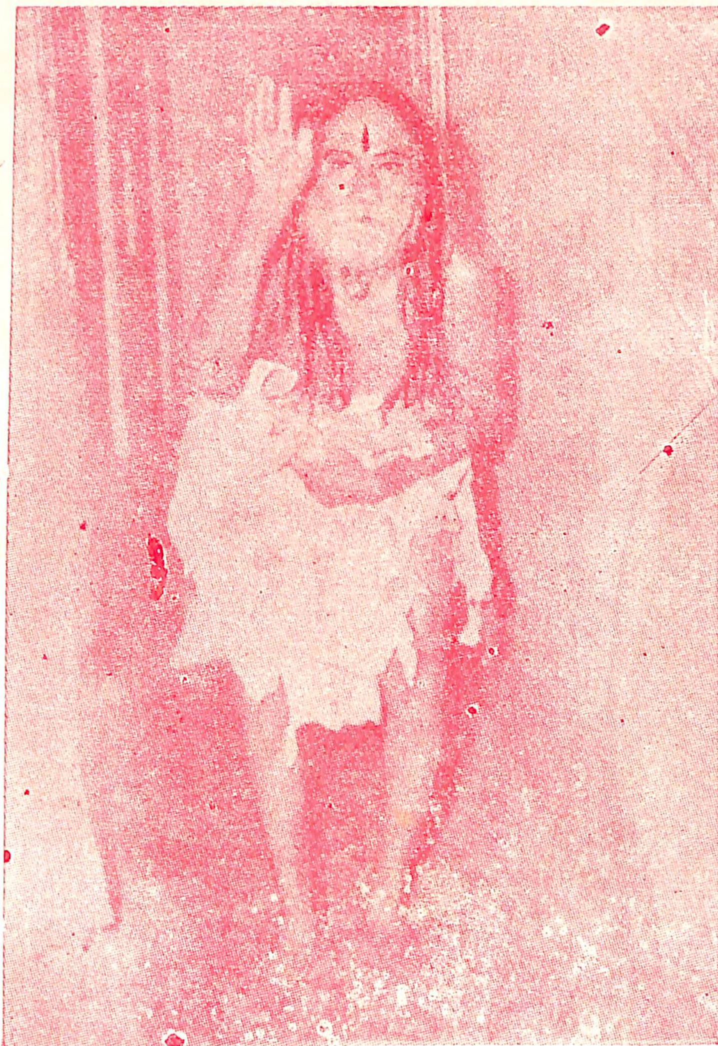
निवासः—

श्यामसदन, कटरा, अयोध्या

श्रीकृष्णजन्माष्टमी, २०४४ वैक्रमाब्द

श्रीवैष्णवों का दासानुदास :-

शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)



अयोध्या में 'तत्त्वमुक्ताकलापप्रकाशनसंघ' के संस्थापक
भारतीय वसुन्धरा के सिद्धसन्त योगिराज ब्रह्मर्षि
श्री १००८ श्री देवराहाबाबा

❀ श्रीमते रामानुजाय नमः ❀ श्रीमन्निगमान्तदेशिकमहागुरवे नमः ❀

चण्डमारुत-प्रसादाभ्यां समलंकृतायाः

शतदूषण्याः

चतुर्थो भागः

❀ अथ निवर्तकानुपपत्तिवादः त्रिचत्वारिंशः ४३ ❀

अनन्यानां पुंसामनवधिकभक्तिस्थितिजुषामविद्याध्वंसो यच्चरणवरिवस्यापरिणतेः ।
तदेकं सत्संवित्सुखमवधिदूरीकृतगुणं हताशेषावद्यं हयवदनमीडीमहि महः ॥

प्रसादः--हम उस ज्योतिस्स्वरूप सीमातीत सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप, परमतत्त्व श्री हयग्रीव भगवान की वन्दना करते हैं; जिनकी सीमातीत भक्ति करने वाले अनन्य भक्तों के श्रीभगवान् के चरण कमलों की सेवा करने से अज्ञान का विनाश हो जाता है । इस श्लोक में श्रीभगवान के चरण कमलों की सेवा का परिणाम अज्ञान का विनाश बतलाया गया है । अतएव तत्त्वमस्यादि वाक्य जन्य ज्ञान को अज्ञान का विनाशक मानने वाले के मत का निरास हो जाता है ।

वादार्थं संगृह्णन्मङ्गलमाचरति-अनन्यानामिति । अत्र च स्वमतोपन्यासेन वादप्रतिपाद्यभूतमतान्तरनिरसनमर्थात्सिद्ध्यति ।

प्रतिष्ठितोयमर्थः प्रमाणपरतन्त्राणां यदुत कर्मयोगज्ञानयोगपरिशोधितान्तःकरणस्य तत्तद्वर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिकोपसंहृतिनिषिद्धपरिहारनिष्ठस्य अनवरतविहितध्यानार्चनादिक्रमपरिणतनिरतिशयप्रीतिरूपतापन्ननिदिध्यासनानिरुद्धसुहृदद्विषत्संक्रमणीयपूर्वोत्तरपुण्यपापस्य फलोन्मुखकर्मपर्यवसानेनिर्मुक्तस्थूलसूक्ष्माचित्संसर्गस्य तथाविधभजनाराधितपरमपुरुषप्रसादादेव सार्वज्ञ्यापरपर्याया निश्शेषाविद्यानिवृत्तिरिति । ये पुनरद्वैतविज्ञानादेव ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिरिति जल्पन्ति, तान्प्रति ब्रूमः कथम्भूतमद्वैत-ज्ञानमिति ? किं ब्रह्मस्वरूपभूतात् ज्ञानाद्भिन्नम् , उताभिन्नम्, यद्वा भिन्नाभिन्नम् , उतानुभयात्मकम् उताशक्यवेदनकथम्भावम् किञ्चिदिति ।

प्रसाद--प्रामाणिक पुरुषों के बीच यह अर्थ प्रख्यात है कि कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के सेवन के द्वारा जिन मुमुक्षु जीवों का अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुकूलनित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मो के परिहार में संलग्न रहने वाले, श्रीभगवान् के स्वरूप रूप आदि का ध्यान तथा अर्चन सभी जीवों के लिए विहित है, उस ध्यान आदि के सतत सेवन से श्रीभगवान् में मुमुक्षु जीव की क्रमशः बढ़ती हुई भक्ति सीमातीत हो जाती है। श्रीभगवान् के इस सीमातीत प्रेम को ही शास्त्रों में निदिध्यासन शब्द से अभिहित किया गया है । इस निदिध्यासन से ही जीवों के पुण्य पाप कर्मो का निरोध हो जाता है तथा अवशिष्ट पुण्य एवं पाप विद्याप्राप्त मुमुक्षु जीव के

शरीरपात कालमें क्रमशः उनके मित्रों एवं शत्रुओं को मिल जाते हैं। इस तरह मुमुक्षु जीव के प्रारब्ध कर्म के अन्त में मोक्षावाप्ति काल में अचित् तत्वों का आत्यन्तिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। इस तरह से श्रीभगवान् के भजन करने से श्री भगवान् प्रसन्न होकर, उस जीव के सम्पूर्ण अज्ञान का विनाश कर देते हैं तथा वह जीव श्रीभगवान् के ही समान सर्वज्ञ हो जाता है। यही जीव मुक्त कहा जाता है। और जो लोग यह कहते है कि अद्वैत का ज्ञान होने से ही ब्रह्म के अज्ञान की निवृत्ति को मोक्ष हैं, उनसे हम पूछते हैं कि इस अद्वैतज्ञान का स्वरूप क्या है? (१) क्या ब्रह्म के स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न है (२) अथवा अभिन्न (३) अथवा भिन्नाभिन्न (४) अथवा दोनों में कोई नहीं (५) अथवा उसके स्वरूप को बिल्कुल जाना ही नहीं जा सकता।

अद्वैतज्ञानस्याविद्या निवर्तकत्वानङ्गीकारे अनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याशङ्कां निराकर्तुमुपोद्घातरीत्या स्वमतमुपन्यस्यति-प्रतिष्ठित इति।

न प्रथमः, तद्धि निर्विषयम्, सविषयं वा? पूर्वत्र ज्ञानत्वमेव हीयेत। वृत्तिरूपं हि ज्ञानं सविषयमेवेति भवतामपि सिद्धान्तः। उत्तरत्रापि कस्तस्य विषयः? किं ब्रह्मस्वरूपम्, उत तदेवाविद्याशबलम्, यद्वा तद्व्यतिरिक्तं तस्य मिथ्यात्वं वा; अथवाऽन्यदेव किञ्चिदिति। नाद्यः, आत्मस्वरूपस्येव ज्ञानस्य तस्यापि भ्रमनिवर्तकत्वायोगात्, उभयोरपि यथावस्थितब्रह्मस्वरूपप्रकाशरूपत्वाविशेषात्। ननु स्वरूपप्रकाशोऽध्यासोपाधिकाधिष्ठानप्रकाशात्मकः, यथेदं रजतमित्यत्र इदमर्थप्रकाशः, विषयप्रकाशस्त्वध्यासनिवर्तकः, यथेदमर्थस्य शुक्तिरिति प्रकाशः, इति चेन्न; दत्तोत्तरत्वात्। नहीदमिति प्रकाशस्य शुक्तिरिति प्रकाशस्य चात्यन्तसमानविषयता, इदमिति प्रकाशस्य शुक्तिरजतसाधारणाकारविशिष्टगोचरत्वात्, शुक्तिरिति प्रकाशस्य रजतव्यावर्तकशुक्तित्वविशिष्टविषयत्वात्। अन्यथा तस्यापि भ्रमानिवर्तकत्वप्रसङ्गात्। नचात्राप्याकारभेदोऽधिको वृत्तिज्ञानेन बोध्यत इति वाच्यम्, तस्याकारस्य सत्यत्वे सगुणसिद्धान्तोररीकरणप्रसङ्गात्। मिथ्यात्वे भ्रान्तिज्ञानत्वादेव सुतरामनिवर्तकत्व प्रसङ्गात्। वसुन्धरारन्ध्रबोधे मालाभुजङ्गनिवृत्तिवदुपपद्यत इति चेन्न; तस्यैव भ्रान्तत्वेन तद्वदेव स्वयं स्वविषयाबाधकत्वात् सर्वत्र भ्रमनिवृत्त्यसिद्धिप्रसङ्गात्। बाधकान्तरगवेषणायामनवस्थानात्; स्वपरनिर्वाहकसमाधेरपि बाधकज्ञानविषयीभूतप्रपञ्चविरोधिमिथ्याकाराध्याससहस्वरूपप्रकाशातिरिक्तप्रकाशाभावेन तस्याकारस्य बाध्यत्वासिद्धेरेवेति परिहृतत्वात्। स्वस्यैव स्वविषयार्थबाधकत्वे व्याघाताच्च।

प्रसाद--यदि उसे ब्रह्म के स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न मानें तो प्रश्न है कि वह ज्ञान निर्विषय है अथवा सविषयक? निर्विषयक तो इसलिए नहीं कह सकते हैं कि कोई भी ज्ञान निर्विषयक नहीं होता आप लोगों का भी सिद्धान्त है कि वृत्ति रूप ज्ञान सविषयक ही होता है, यदि आप उस अद्वैत ज्ञानको सविषयक मानें तो प्रश्न है कि उस ज्ञान का विषय कौन है? ब्रह्म का स्वरूप ही अथवा अविद्याच्छन्न

ब्रह्म का स्वरूप अथवा उससे भिन्न उसका मिथ्यात्व अथवा अन्य कोई वस्तु उसका विषय है ? यदि ब्रह्म के स्वरूप को उसका विषय माने तो फिर वह ज्ञान भी भ्रम का निवर्तक उसी प्रकार नहीं होगा, जिस तरह आत्मा (ब्रह्म) का स्वरूप । क्योंकि अद्वैतज्ञान तथा आत्म स्वरूप दोनों ही ब्रह्म के स्वरूप प्रकाश हैं । यदि कहें कि ब्रह्म का स्वरूप प्रकाश अध्यास के अनुकूल अधिष्ठान का प्रकाशक है - जैसे 'यह रजत है' इस ज्ञान में होने वाला इदमर्थं का प्रकाश और विषय प्रकाश तो अध्यास का निवर्तक है जैसे यह यह शब्द से कहे जाने वाले का यह शुक्ति है इस तरह का प्रकाश (ज्ञान) । और यही ज्ञान रजताध्यास का व्यावर्तक होता है । तो आपके इस कथन का उत्तर मैं पहले ही दे चुका हूं । क्योंकि 'यह यह' इस रूप से होने वाले तथा शुक्ति ज्ञान का विषय एक ही नहीं हैं । शुक्ति तथा रजत में जो आकार की समानता है उस आकार से विशिष्ट ही इदमर्थ है ही 'इदम्' ज्ञान का विषय हैं । शुक्तिज्ञान का विषय रजत का व्यावर्तक शुक्तित्व विशिष्ट इदमर्थ है । यदि ऐसा न हो तो शुक्तिज्ञान भी भ्रम का निवर्तक नहीं हो सकता । नचात्राप्याकार भेद इत्यादि--यदि कहें कि अद्वैत ज्ञान में भी वृत्तिज्ञान के द्वारा आकार की भिन्नता ज्ञात होती ही है तो यह कहना इसलिए उचित नही है कि उस आनन्दत्वादि आकार के सत्य होने पर आपको भी ब्रह्म के सगुणत्व का सिद्धान्त मानना होगा । यदि अद्वैतज्ञान के उस आकार को मिथ्या मानें तो वह ज्ञान मिथ्या होगा और उसके द्वारा भी भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती । यदि कहें कि अंधेरे में फटी हुई पृथ्वी को देखकर पड़ी हुई माला अथवा सर्प का भ्रम जिसको हो जाता है, वह व्यक्ति जब यह जान लेता है कि यह भूरन्ध्र है, तो उसका उपर्युक्त भ्रम दूर हो जाता है, उसी तरह अद्वैत ज्ञान के द्वारा भ्रम की निवृत्ति उपपन्न हो जाती है । तो यह कहना इसलिए अनुचित है कि भूरन्ध्र का ही भ्रम हो जाने पर भूरन्ध्र ज्ञान के द्वारा उस भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि किसी भी ज्ञान के द्वारा अपना बाध नहीं होता । अतएव अधिकाकार विशिष्ट ब्रह्मज्ञान स्वयम् अपना बाधक नहीं हो सकता । इस तरह इस ज्ञान के द्वारा किसी भी भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती, यदि भ्रम का कोई दूसरा बाधक आप गवेषित करने लगें तो उस समय वह ज्ञान रहेगा ही नहीं । यदि उसका आप स्वपर निर्वाहक न्याय से उत्तर दें तो आपके इस कथन का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है । क्योंकि बाधकज्ञान का विषय बनने वाला प्रपञ्च के विरोधी मिथ्या आकार के अध्यास के साथ स्वरूप प्रकाश से भिन्न प्रकाश का अभाव होने के कारण उस मिथ्या आकार का बाध नहीं हो सकता, उस वृत्तिज्ञान के द्वारा । कहने का अभिप्राय है कि मिथ्या आकार वाले ज्ञान को प्रपञ्च का बाधक मानें तो प्रश्न है कि उस आकार का बाधक कौन सा ज्ञान होगा ? यदि उस ज्ञान को ही कहें तो फिर उस ज्ञान को भी उस आकार का विरोधी मानना होगा । स्वरूप प्रकाश को तो उसका बाधक कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उसके रहने पर ही प्रपञ्च विरोधी मिथ्या आकार का अध्यास हुआ था । उसके अतिरिक्त कोई दूसरा ज्ञान भी नहीं है जो उसका बाधक बने । कोई भी ज्ञान अपने को ही अपना विषय बनाकर उसका बाध करता है, यह कहना बाधित भी है ।

तद्वीति । नन्वद्वैतज्ञानादेव ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिरित्युक्तत्वात्कथं निर्विषयत्वविकल्प इति चेन्न, पर्युदासलक्षणया द्वैतज्ञानादन्यदद्वैतज्ञानमिति विवक्षोपपत्तेः । पर्युदासे च नञ्प्रयुक्तन्यायेन ज्ञानत्वेनाद्वैतज्ञान सदृशं ज्ञानान्तरमेव लक्ष्यते । यथोक्तं वार्तिके-"नञिप्रयुक्तायसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगति" रिति । अत्र भाष्यम्-"नञ् युक्तमिवयुक्तञ्च कार्यमन्यस्मिंस्तत्सदृशे विज्ञायते तथा ह्यर्थो गम्यते-अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशः क्षत्रिय आनीयते, नासौ लोष्ठमानीय कृती-

भवति" इति । निवर्तकज्ञानस्य ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तत्वाङ्गीकारे तस्य वृत्तिरूपत्वलाभाद्वृत्तेश्च सविषयत्वात् । निर्विषयत्वाङ्गीकारेऽप्यपसिद्धान्तोपीत्याह वृत्तिरूपेहीति । उत्तरत्रेति । ननु पर्युदासविवक्षायां कथं तदेवाविद्याशबलमित्यादिकोटचन्तरादयः ? मैवम्, द्वैतशब्दस्याविद्याकार्यपरत्वविवक्षायां द्वैतमात्रविषयत्वविवक्षायां वा द्वितीयपक्षोत्थानात् । द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतम्, द्वैतप्रकारकमवधारणं द्वैतज्ञानम्, अस्ति द्वयं ब्रह्मव्यतिरिक्तं सत्यमेवेति ज्ञानं तदन्यज्ञानम्, सजातीयपर्युदासात्प्रपञ्चविषयकमज्ञानमिति लभ्यते, ततश्च ब्रह्मव्यतिरिक्तं सत्यमेवेति ज्ञानातिरिक्तं यत्प्रपञ्चस्वरूपमात्रविषयकं ज्ञानम्, तत् तृतीयकोटिः, यच्च प्रपञ्चमिथ्यात्वविषयकं सा चतुर्थकोटिः, एतदर्थविवक्षयैव पञ्चमकोट्युत्थितिः । अन्यदिति । ब्रह्मगता द्वितीयत्वादिकमित्यर्थः, गत्यन्तराभावादद्वैतज्ञानशब्दार्थत्वाभावेपि पञ्चमकोट्युत्थितिः । यद्वा अद्वैतज्ञानमित्यत्र समासान्तर्गतायाष्षष्ठ्यास्सम्बन्धसामान्यपरत्वविवक्षायां सविषयत्वनिर्विषयत्वविकल्पः । तत एवोत्तरत्र तद्व्यतिरिक्तमित्यादि कोट्युत्थितिः । ननु समानविषयत्वे ऽप्यध्यासानुपयोग्यधिष्ठानज्ञानं निवर्तकम्, अध्यासोपयोग्यधिष्ठानज्ञानन्तु न निवर्तकम्, इदमिति ज्ञानस्य शुक्तिरिति ज्ञानस्य च समानविषयत्वेपि तत एव निवर्तकत्वानिवर्तकत्वयोर्दर्शनादिति शङ्कते-ननु स्वरूपेति ।

दत्तोत्तरत्वादिति । उभयोरपि यथावस्थितेत्यादिनेति शेषः । दृष्टान्तेपि निवर्तकत्वानिवर्तकत्वयोर्विषयभेद एव प्रयोजक इत्याह-नहीति । साधारणाकारेति शुक्त्यसाधारणत्वेनागृहीत धर्मो विवक्षितः, तेन "इदन्त्वस्य तत्तद्व्यक्तिपर्यवसिततया न केवलान्वयित्व" मिति जिज्ञासानुपपत्तिवादोक्तेन न विरोधः । ननु इदंशुक्तिज्ञानयोरप्यत्यन्तसमानविषयकत्वमेव, तत्र च निवर्तकत्वानिवर्तकत्वे उक्तप्रयोजकाभ्यामेवेत्याशङ्क्याध्यासोपयोगानुपयोगावेव विषयवैलक्षण्याभावे न सम्भवत इत्याह अन्यथेति । ब्रह्मस्वरूप विषय इत्यत्र किं ब्रह्मस्वरूपमात्रं विषयः, उतानन्दत्वादिविशिष्टब्रह्मस्वरूपमिति विकल्पं हृदि निधायाद्यः पक्षो निरस्तः । इदानीं द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति-नचेति । न तस्यैवेति । वसुधारन्ध्रभ्रमस्थले वसुधारन्ध्रभ्रमस्य स्वविषयाबाधकत्वात् सर्पभ्रमनिवृत्त्यभाववदधिकाकारविशिष्टब्रह्मज्ञानस्य स्वविषयाबाधकत्वात् स्वस्य च भ्रमरूपत्वात्सर्वभ्रमानिवृत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः । बाधकज्ञानविषयेति । अध्यास सहप्रकाशातिरिक्तो ह्यधिष्ठानप्रकाशोऽध्यासनिवर्तकस्स्यात्, तस्माद्द्वितीयत्वरूपाधिकाकारविशिष्टविषयतया प्रपञ्चनिवर्तकत्वेपि तदाकाराध्याससहाधिष्ठानस्वरूप प्रकाशातिरिक्तविरुद्धाकारप्रकाशाभावेन तस्याकारस्य बाध्यत्वासिद्धेरित्यर्थः । परिहृतत्वादिति । परिहृतप्रायत्वादित्यर्थः । यथावस्थितेत्यत्रेति शेषः । व्याघाताच्चेति ।

अस्तु तर्ह्यभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोरिव स्वरूपतद्विषयज्ञानयोः साध्यभेद इति चेन्न, दत्तोत्तरत्वात् ॥ तत्रैतत् स्यात्, यथा देवदत्तगोचरत्वाविशेषेऽप्यसावित्यदगाहमाना अभिज्ञा न देवदत्त भेदभ्रमं (अदेवदत्तभ्रमं) निवर्तयति, सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञाबुद्धिस्तु तत्प्रतिक्षेपाय प्रगल्भते-तद्वदत्रापि स्वरूप प्रकाशः सोऽहमिति कल्पिताकारप्रकाशश्चेति चेन्न ; दत्तोत्तरत्वात् । तत्राप्यभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोः प्रकाश्याकार भेदोऽस्ति । अन्यथा अभि



श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य श्रोत्रिय
ब्रह्मनिष्ठ जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य

श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी महाराज

ज्ञाप्रत्यभिज्ञयोर्भेदासिद्धिप्रसङ्गात् । को वा भवन्तमन्तरेण स इत्यधि (इत्यादि) कोल्लेखिनीं प्रत्यभिज्ञामसावित्येतावन्मात्रोल्लेखिन्या अभिज्ञया सह धारावाहिकवत् अत्यन्तसमानविषयामभिमन्येत । अत्रापि आकारातिरेकाभ्युपगमे तु दत्तमुत्तरम् ॥ प्रकाशातिरेकिविषयि (य) त्वतद्भावाभ्यां वैषम्यमिति चेत् ; किं ततः ? बाधकत्वाबाधकत्वे प्रति अप्रयोजकत्वात् । वृत्तिज्ञानस्य हि बाधकत्वं यथावस्थितब्रह्मस्वरूपप्रकाशात्मकत्वेन , न तु वृत्तित्वाद्याकारेण । तथासति विरोधिप्रकाशातिरिक्तवृत्तित्वा (वृत्त्या) द्याकारबाध्यत्वेन मुद्गरादिनिवर्त्यसत्यघटादेरिव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात् ।

प्रसादः—यदि कहें कि जिस तरह अभिज्ञा एवं प्रत्यभिज्ञा में अन्तर होता है; उसी तरह स्वरूप तथा स्वरूप विषयकज्ञान में साध्य का अन्तर मान लेना चाहिए; तो यह भी नहीं कहा जा सकता है , क्योंकि अभिज्ञा एवं प्रत्यभिज्ञा दोनों के विषय भिन्न होते हैं । तत्रैतत्स्यादित्यादि-यदि कहें कि जैसे अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा दोनों के विषय 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि स्थल में यद्यपि देवदत्त है फिर भी 'वही देवदत्त है' इस तरह से होने वाली अभिज्ञा के द्वारा देवदत्त की भिन्नता का भ्रम नहीं दूर होता है । 'यह वही देवदत्त है' यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान ही उस भ्रम को दूर करता है । उसी तरह यहाँ भी सोऽहम्' यह स्वरूप प्रकाश तथा कल्पिताकार प्रकाश दोनों के विषय एक ही हैं । तो यह भी कथन उचित नही क्योंकि इसका उत्तर यह दिया जा चुका है कि अभिज्ञा एवं प्रत्यभिज्ञा दोनों ज्ञानोंका विषय भिन्न होता है । अन्यथा अभिज्ञा एवं प्रत्यभिज्ञा में भेद ही नहीं होगा । आप को छोड़कर कौन दूसरा ऐसा विचारक होगा जो 'यह वही देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का 'वह देवदत्त' इस अभिज्ञा ज्ञान से धारावाहिक ज्ञानों के समान अत्यन्त समान विषयत्व स्वीकार कर सके ? यदि कहें कि स्वरूप ज्ञान तथा अद्वैतज्ञान में आकार व्यतिरिक्त यह भेद है कि स्वरूप ज्ञान स्वविषयक नहीं होता, किन्तु वृत्ति ज्ञान तो सकर्मक होने के कारण ब्रह्म को अपना विषय बनाता ही है । यह भेद ही दोनों के प्रपञ्च बाधकत्व एव अबाधकत्व का प्रयोजक है ; तो इस भेद को बाधकत्व एवं अबाधकत्व का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है । वृत्ति ज्ञान की बाधकता ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशक होने के कारण है न कि वह वृत्ति रूप से प्रपञ्च का बाधक है , क्योंकि वैसा मानने पर तो विरोधी प्रकाश व्यतिरिक्त वृत्ति आदि के द्वारा प्रपञ्च के बाधित होने पर प्रपञ्च उसी तरह सत्य सिद्ध हो जायेगा जैसे सत्य घटादि का सत्यमुद्गर से बाध देखा जाता है ।

साक्षिणोविद्याभासकत्वान्न तद्बाधकत्वमिति स्ववचनेन व्याघातादित्यर्थः । स्वरूपरूपप्रकाशस्य तदतिरिक्तप्रकाशस्य च प्रकाश्यभेदाभावेपि देवदत्तविषयकाभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोस्तत्त्वभ्रमनिवर्तकत्वतदभाववदविद्यानिवर्तकत्वतदभावावुपपद्येते, इति शङ्कते । अस्तु तर्हीति । दत्तोत्तरत्वादिति । पूर्ववदेव शेषः । अभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोरपि भिन्नविषयत्वमेवेति भावः । नन्वभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोर्न विषयभेदः, स्वरूपमात्रविषयत्वात् , सोयं देवदत्त इति वाक्यस्याखण्डार्थत्वव्यवस्थापनेन तत्समानविषयप्रत्यभिज्ञाया अपि स्वरूपमात्रविषयत्वावश्यंभावात् , इत्यभिप्रायेण शङ्कते तत्रैतत्स्यादिति । असाविति । अत्र देवदत्तत्वं न विषयः, किन्त्वन्य एवेति विवक्षितम् । दत्तोत्तरत्वादिति । पूर्ववदेव शेषः । अखण्डार्थत्वञ्च निरस्तमेवेति भावः । गत्यन्तराभावात् पूर्वदूषितामेव

प्रकश्याकारभेदशङ्कां पुनरुत्थाप्य परिहरति-तत्रेति । प्रकाश्याकारभेदाभावेपि सविषयत्वतद-भावाभ्यां वृत्तित्वतद्भिन्नत्वाभ्यां च वैषम्यात्, तत एव निवर्तकत्वानिवर्तकत्वे उपपद्येते, नहि विषयभेदादेव निवर्तकत्वानिवर्तकत्वे नियते, तथासति श्वैत्यप्रत्यक्षानुमित्योश्शङ्खपीतभ्रमनिवर्तकत्व तदभावव्यवस्थानुपपत्तेरिति शङ्कते-प्रकाशेति । श्वैत्यप्रत्यक्षस्यापि विरोधिविषयप्रत्यक्षत्वेनैव निवर्तकत्वम्, नतु प्रत्यक्षत्वमात्रेण, अतिप्रसङ्गादिति परिहरति किंतत इति । वृत्तित्वादीत्यादि शब्देन सविषयत्वं गृह्यते । तथासतीति । प्रकाशपदं वृत्तिपरञ्च भावप्रधानम् । आदिशब्देन सविषय गृह्यते । विरोधि विषयप्रकाशत्वातिरिक्तो वृत्तित्वाद्याकारो यस्य तद्बाध्यत्वेनेत्यर्थः । विरोधि साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य मिथ्यात्वप्रयोजकतयाङ्गीकारादिति भावः ।

एतेन (२) अविद्याशबलं तदेव विषय इति दत्तोत्तरम्, साक्षिप्रत्यक्षवदेव भ्रमोपकारकत्वप्रसङ्गात् । अन्यथा साक्षिप्रत्यक्षस्यापि भ्रमनिवर्तकत्वप्रसंगेन प्रपञ्च (प्रति) निर्भासस्याप्यनुदयप्रसङ्गात् । साक्षिप्रत्यक्षमपि हि अविद्याप्रकाशात्मकं स्वप्रकाशात्मकं च । (३) ब्रह्मव्यतिरिक्तमात्रगोचरत्वपक्षे स्वयं तद्भ्रमरूपत्वात् तद्बाधकरूपत्वसंभावनाऽपि नास्ति । न हि शुक्तिकलधौतधीरेव कलधौतधियमवधुनोति । (४) तन्मिथ्यात्वविषयप्रत्यक्षस्तु तदा शोभते, यद्यधिष्ठानयाथात्म्यग्रहणमन्तरेणापि तन्मिथ्यात्वं सुग्रहं (स्वग्रहः) स्यात् । याथात्म्यग्रहरूपता च दूषितैव । किञ्च, इदं निवर्तकज्ञानं स्वविषयं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वं किं मिथ्यात्वेन गृह्णाति, उत सत्यत्वेन उतानिर्द्धारितविशेषात्मनेति । आद्ये व्याघातः, मिथ्यात्वस्य च मिथ्यात्वग्रहणे प्रपञ्चस्य सत्यत्वेन प्रकाशप्रसङ्गात्, स्वप्नावगत पितृमरणमिथ्यात्वेन पितृसत्यतावत्; सम्यग्रजतमिथ्यात्वमिथ्यात्वेन रजतसत्यतावच्च ॥ ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वोपाधिक्रोडीकारवशात् प्रपञ्चस्य तन्मिथ्यात्वस्य च मिथ्यात्वमेकहेलया लभ्यते, यथा भवतां प्रपञ्चस्य तत्सत्यत्वस्य च सत्यत्वमिति चेन्न; विरोधाविरोधाभ्यां वैषम्यात् । न हि रजतमिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि रजतमपि मिथ्याभूतं दृष्टम् । न च शुक्तिरजतमिथ्यात्वे तन्मिथ्यात्वं मिथ्याभूतं दृष्टम् ॥ तदयं संग्रहः—

श्लो—मिथ्यात्वस्य च मिथ्यात्वे मिथ्यात्वं बाधितं भवेत् ।
सत्यत्वस्य तु सत्यत्वे सत्यत्वं स्थापितं भवेत् ॥

ननु वन्ध्यासुततन्मरणयोरिव द्वयोरपि मिथ्यात्वमुपपद्यत इति चेन्न, निराश्रयतया तत्र धर्मि मिथ्यात्वोपपत्तेः । न हि तत्रापि वन्ध्यासुतमिथ्यात्वं वा तन्मरणमिथ्यात्वं वा मिथ्याभूतं दृष्टम् ।

प्रसाद—उपर्युक्त प्रतिपादन से यह भी स्पष्ट हो गया कि अविद्याच्छन्न ब्रह्म भी अद्वैत ज्ञान का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि अविद्याच्छन्न ब्रह्म को विषय बनाने वाला अद्वैत ज्ञान भी,

साक्षी प्रत्यक्ष के ही समान भ्रम का निवर्तक नहीं हो सकता। अविद्या विषयक वृत्ति को अविद्या का निवर्तक मानने पर साक्षी प्रत्यक्ष को भी अविद्या का निवर्तक मानना होगा, फलत: प्रपञ्च की कभी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि साक्षी प्रत्यक्ष भी तो अविद्या का प्रकाश रूप तथा अपना प्रकाश रूप होता है। यदि यह मानें कि अद्वैत ज्ञान का विषय ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तुएँ ही होती हैं तो ऐसी स्थिति में उस ज्ञान के स्वयम् भ्रमस्वरूप होने के कारण उस ज्ञान के भ्रम रूप प्रपञ्च की बाधकता की सम्भवना भी नहीं की जा सकती है। कलधौत का ज्ञान ही कलधौत का बाधक हो ऐसा नहीं देखा जाता। ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तुओं का मिथ्यात्व अद्वैतज्ञान का विषय है, यह कहना तब शोभा देता जब कि अधिष्ठान भूत ब्रह्म के यथात्म्य का ज्ञान हुए विना भी यदि, ब्रह्म व्यतिरिक्त के मिथ्यात्व का ज्ञान होता, किन्तु ऐसा तो होता नहीं। अधिष्ठान का याथात्म्य ज्ञान हुए विना उसके मिथ्यात्व का साक्षात्कार हो नही सकता। शाब्दज्ञान तो परोक्षज्ञान होता है अतएव वह अविद्या का निबर्तक हो नहीं सकता। किञ्च प्रश्न है कि यह याथात्म्य अधिष्ठान स्वरूप है अथवा तदतिरिक्त? उसे स्वरूप मानें तो अध्यास नहीं बन सकता। यदि धर्म मानें तो प्रश्न है कि वह सत्य अथवा मिथ्या है? इस तरह यह पक्ष खण्डित हो जाता है। किञ्च इदमित्यादि—प्रश्न है कि यह अविद्या निवर्टक ज्ञान ब्रह्म व्यतिरिक्त अपने विषय को मिथ्या रूप से ग्रहण करता है अथवा सत्यरूप से? अथवा इन दोनों में से किसी भी एक प्रकार का निर्णय किये विना ही? मिथ्यारूप से तो इसलिए नहीं कह सकते हैं कि मिथ्या प्रपञ्च को मिथ्या जानने का मतलब हुआ कि प्रपञ्च को सत्य जानना। स्वप्न में प्रतीत पितृमरण के मिथ्या होने का मतलब है पिता की सत्यता। यह उसी तरह से सम्भव है जैसे वास्तविक रजत के मिथ्यात्व को मिथ्या मानने का अर्थ होता है रजत की सत्यता। यदि कहें कि अद्वैत ज्ञान का विषय सम्पूर्ण ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तुओं को मानने से प्रपञ्च और उसका मिथ्यात्व भी उसका विषय हो गया और उसीसे प्रपञ्च का मिथ्यात्व सिद्ध हो गया। यह उसी तरह से है जिस तरह प्रपञ्च और उसकी सत्यता को विषय बनाने वाले ज्ञान से, प्रपञ्च की सत्यता सिद्ध हो जाती है। तो यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च के मिथ्यात्व के मिथ्यात्व ज्ञान के द्वारा प्रपञ्च मिथ्यात्व की सिद्धि का विरोध होता है। प्रपञ्च के सत्यत्व के सत्यत्व के ज्ञान से उसके सत्यत्व का विरोध नहीं होता है। रजत के मिथ्यात्वके मिथ्या होने पर भी रजत मिथ्या नहीं होता और न तो शुक्ति रजत के मिथ्या होने पर उसका मिथ्यात्व भी मिथ्या होता है कहने का अभिप्राय है कि मिथ्यात्वके मिथ्या होने पर वह बाधित हो जाता है, किन्तु सत्यत्व के सत्य होने पर सत्यत्व स्थापित होता है। यदि कहें कि जिस तरह बन्ध्यासुता और उसका मरण दोनों मिथ्या होता है उसी तरह उपर्युक्त दोनों प्रपञ्च और उसका मिथ्यात्व दोनों मिथ्या हैं। तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि निराश्रय होने के कारण बन्ध्यासुत का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है; अर्थात् बन्ध्या पुत्र कोई होता ही नहीं। किन्तु उसी के समान बन्ध्यासुत के मिथ्यत्व का मिथ्यत्व अथवा बन्ध्या सुत मरण के मिथ्यात्व का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध होता।

एतेनेति। भ्रान्तित्वादध्याससहाधिष्ठानस्वरूपप्रकाशातिरिक्तप्रकाशाभावात्स्वस्य स्वविषयार्थबाधकत्वे व्याघाताच्चेत्यर्थः। "एतेने" त्येतदेव विधुनोति साक्षीति। ननु कथमुपकारकत्वप्रसङ्गः; नहि साक्षिप्रत्यक्षस्याविद्याविषयत्वादेव भ्रमोपकारकत्वम्, किन्तु अविद्यायास्साद्यधीनसिद्धिकत्वात्; प्रपञ्चभ्रमस्य च तदुपादानत्वात्, निवर्तकत्वाभिमतवृत्तेश्चाविद्यास्वरूपसाधकत्वाभावादिति चेन्न भ्रमोपकारकपदेन भ्रनवर्तकत्वस्य विवक्षितत्वात्। अन्यथेति। अविद्या-

विषयवृत्तेरविद्यानिवर्तकत्वे । तद्भ्रमरूपत्वादिति । भ्रममात्ररूपत्वात् , अधिष्ठानाविषयत्वादि- त्यर्थः । अधिष्ठानविषयकज्ञानस्यैव निवर्तकत्वादधिष्ठानाविषयकस्यास्य निवर्तकत्वसम्भावनापि नास्तीति भावः । नहीति । शुक्तिरजतज्ञानस्याधिष्ठानविषयस्याप्यारोप्यविषयत्वेनानिवर्तकत्वदर्श- नादारोप्यमात्रविषयस्यानिवर्तकत्वं कैमुत्यसिद्धमिति भावः । तन्मिथ्यात्वेति । नन्वधिष्ठानयाथा- त्म्यग्रहणाभावेप्यारोपितमिथ्यात्वं सुग्रहमेव; तद्रजतं मिथ्येत्याप्तोपदेशादिव "नेह नानास्ती"ति वाक्यात्प्रपञ्चमिथ्यात्वग्रहसम्भवादिति चेन्न,-मिथ्यात्वसाक्षात्कारस्याधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानं विना असिद्धेः । शाब्दज्ञानस्य च परोक्षतया ऽविद्यानिवर्तकत्वासिद्धेः । याथात्म्येति । याथात्म्यस्य स्वरूपत्वे ऽध्यासानुपपत्तेस्तदतिरिक्तत्वे वाक्ये तस्य सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्दूषणमेवेत्यर्थः । व्याघात इति । मिथ्यात्वं हि प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वम् , ततश्च मिथ्यात्वस्य प्रपञ्चनिष्ठात्यन्ता- भावप्रतियोगित्वेन प्रतीतौ प्रपंचस्य सत्यत्वेनैव प्रतीतिप्रसङ्गो न मिथ्यात्वेनेति व्याघात इत्यर्थः स्वप्नेति । अन्यथा ख्यात्यनुसारेणायं दृष्टान्तः । सर्वसाधारणं दृष्टान्तमाह— सम्यगिति । विरो धमुपपादयति नहीति । शुक्तिरजतमिथ्यात्वस्य शुक्तिरजतं मिथ्यैव दृष्टमिति कथं विरोध इत्या- शङ्क्य; शुक्तिरजतमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे न मानमस्ति-प्रत्युत सत्यत्वेनैव प्रतीतेस्सत्यमेवेत्यभिप्रा- येणाह-नच शुक्तीति । ननु देवदत्तमरणमिथ्यात्वे तदा तत्प्रागभावासिद्धौ तस्य सत्यत्वं दृश्यते, तथा वन्ध्यासुतमरणमिथ्यात्वे तत्प्रागभावाभावेपि तन्मिथ्यात्वं दृश्यते; तद्वदिहापि सम्यग्रजतमि- थ्यात्वस्य मिथ्यात्वेन सम्यग्रजतसत्यत्वेपि शुक्तिरजत मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेपि शुक्तिरजतस्य मिथ्यात्वमुपपद्यत इति शङ्कते, ननु वन्ध्येति । किं वन्ध्यासुतप्रतीतिरसद्विषया, उत मिथ्याविषया इति विकल्प मभिप्रेत्याद्ये दोषमाह नेति । निराश्रयत्वम्-असदाश्रयत्वम् , मिथ्यात्वम् असत्वम् द्वितीये दोषमाह--नहीति । नहि वन्ध्यासुतो मिथ्या , तस्याप्रसिद्धत्वेनारोपासम्भवात् , किन्तु सुतस्य वन्ध्याजन्यत्वं सुतत्वे वन्ध्याप्रतियोगिकत्वं वा मिथ्येति वक्तव्यम् , तथा मरणे तादृशारो पविषयप्रतियोगिकत्वं मिथ्येति वक्तव्यम , तच्च मिथ्यात्वं सत्यमेवेत्यर्थः ।

द्वितीये तु ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य प्रपंचमिथ्यात्वस्य सत्यत्वेन प्रकाशनात् सांद्वितीय- त्वभ्रान्तित्वादिदोषो दुस्तरः । ब्रह्मव्यतिरेके तु दत्तमुत्तरम् । तृतीयेऽप्य (सम्भवः) ग्रहण- प्रसङ्गात् । ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वग्रहणे प्रयोजकज्ञानवतो मिथ्यात्वेनैव ग्रहणप्रसङ्गात् ; प्रयोजक- ज्ञानाभावे प्रपञ्चमिथ्यात्वस्याप्यग्रहणप्रसङ्गात् । ब्रह्मव्यतिरेकेणाग्रहणे गृह्यमाणस्य मिथ्या- त्वस्य ब्रह्मणश्चागृह्यमाणव्यतिरेकयोः शुक्तिरजतयोरिवैक्येन ग्रहणप्रसङ्गात् । ततश्च सत्यत्वेन प्रकाशाप्रसक्तेर्न साधारणाकारग्रहणसम्भवः । ५) अन्यस्य कस्यचिद्विषयत्वमपि परमार्था परमार्थविकल्पेन दत्तैरेव दूषणैर्दूषितम् । परमार्थत्वे ब्रह्मव्यतिरेके द्वैतप्रसंगात् , तद्व्यतिरे- केऽन्यत्वस्यैवासिद्धिप्रसंगात् । अपरमार्थत्वे अविद्यातत्कार्यकोटयन्तर्भावेन बाध्याकारतया प्रागुक्तदोषापातात् । बहिर्भावे तद्बाधकगवेषणप्रसंगात् ।

प्रसादः—यदि यह मानें कि अद्वैत ज्ञान ब्रह्मव्यतिरिक्त वस्तुओं का सत्यरूप से ग्रहण करता है तो; फिर ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तुओं के सत्यरूप से प्रकाशित होने के कारण सद्वितीयतापत्ति तथा ब्रह्म के द्वैतदर्शन रूप भ्रान्ति को आपको अवश्य स्वीकारना होगा। यदि अद्वैतज्ञान को ब्रह्म से अभिन्न मानें तो फिर वह ज्ञान अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता; यह पहले कहा जा चुका है। यदि तीसरा पक्ष मानें तो अर्थात् उस ज्ञान के द्वारा ब्रह्म व्यतिरिक्त का सत्यत्व मिथ्यात्व कुछ भी निर्धारित नहीं होता) तो फिर यह ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसको प्रयोजकज्ञान है (अर्थात् जो ब्रह्म व्यतिरिक्त को मिथ्या जानता है) वह ब्रह्म व्यतिरिक्त प्रपच के मिथ्यात्व को भी मिथ्या ही मानेगा। जिसको प्रयोजक ज्ञान नहीं है, वह प्रपञ्च के मिथ्यात्व को भी नहीं जान पायेगा। यदि वह मिथ्यात्व को ब्रह्मव्यतिरिक्त रूप से नहीं जानता है, तो फिर उससे ब्रह्म और मिथ्यात्व दोनों अगृह्यमाण होंगे, फलतः अगृह्यमाण शुक्ति रजत के ऐक्य के समान उसके लिए ब्रह्म और मिथ्यात्व का भी ऐक्य हो जायेगा। फलतः ब्रह्म के सत्यत्व का ज्ञान नहीं हो सकने के कारण प्रपञ्च के मिथ्यात्व का भी ज्ञान अद्वैतज्ञान के द्वारा नहीं हो सकता। अन्यस्य कस्यचिदित्यादि–उपर्युक्त चारो से किसी भिन्न को अद्वैतज्ञान का विषय मानें तो प्रश्न है कि वह पदार्थ परमार्थ है या अपरमार्थ? और इन दोनों में से कोई भी पक्ष प्रामाणिक नहीं हो सकता यह मैं पहले ही कह चुका हूं, क्योंकि ब्रह्म व्यतिरिक्त उस पदार्थ के परमार्थ होने पर द्वैतापत्ति होगी, ब्रह्म से अभिन्न होने पर उसके अन्यत्व की ही सिद्धि नहीं हो सकती। यदि वह अपरमार्थ हो, तो फिर वह अविद्या तथा उसके कार्य कोटि के अन्तर्गत ही होगा; बाध्यान्तर्गत होगा। फलतः उसमें भी उपर्युक्त दोष होंगे ही। यदि आविद्यक न हो तो प्रश्न होगा कि उसका बाधक कौन होगा?

मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे दोषमाह--सद्वितीयत्वेति। मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे दोषमाह--भ्रान्तित्वेति। आदिशब्देन प्रपञ्चस्य निवृत्तावपि मिथ्यात्वस्यानिवृत्तेः सर्वभ्रमनिवृत्त्यसिद्धिप्रसङ्गो विवक्षितः। मिथ्यात्वं सत्यत्वेनैव गृह्णाति, तच्च मिथ्यात्वं सत्यमेव, अतो न भ्रान्तित्वम्, नच सद्वितीयत्वम्, तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वात्, इत्याशंक्य परिहरति-ब्रह्माव्यतिरेक इति। मिथ्यात्वम् ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन गृह्यते नवेति विकल्पमभिप्रेत्याद्ये दोषमाह ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेति। तत्रापि ब्रह्म व्यतिरिक्तत्वस्य मिथ्यात्वप्रयोजकत्वग्रहणमस्ति नवेति विकल्पमभिप्रेत्याद्ये दोषमाह प्रयोजकेति ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वावच्छेदेन मिथ्यात्वज्ञाने हि मिथ्यात्वं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिति ज्ञानवतो मिथ्यात्वम मिथ्येति ज्ञानमवर्जनीयमेव। द्वितीये दोषमाह-प्रयोजकेति। ब्रह्मव्यतिरिक्तम् मिथ्येति ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वावच्छेदेन मिथ्यात्वस्याग्रहणे प्रातिस्विकरूपेणापि गृहीतुमशक्यत्वात् कृत्स्नप्रपञ्चमिथ्यात्व ग्रहणं न स्यादिति भावः। द्वितीये दोषमाह ब्रह्मव्यतिरेकेणेति। साधारणेति। सत्यत्वेन ग्रहणादनिर्धारितविशेषात्मनेत्येतन्नोपपद्यत इति भावः।

किंच ब्रह्मव्यतिरिक्तं तत् बाधकं ज्ञानं सत्यमसत्यं वा? असत्यत्वे त्विदमपि बाध्याकारकोटौ घटमानं कथमिव तद्बाधकं स्यात्॥ आकारभेदादविरोध इति चेन्न; बाधकाकारभेदस्यापि बाध्यत्वाभ्युपगमात्। अन्यथा तस्य सत्यत्वप्रसंगात्। तत्राप्याकार भेदाभ्युपगमेऽनवस्थानात्। प्रमाणव्यवस्थापके (ने) प्रमाणविशेषव्यवस्थापकाकारविशेषस्यापि

स्थाप्यत्ववदविरोध इति चेन्न ; [वैषम्यात् ?] स्थापकाकारविशेष स्थितेः स्थाप्यसामान्यविशेषस्थित्युपयुक्तत्वात् । बाधकाकारविशेषबाध्यत्वस्य विश्वबाधासिद्धिपर्यवसितत्वात् ।

प्रसादः—किञ्च प्रश्न है कि यह ब्रह्मव्यतिरिक्त अद्वैतज्ञान सत्य है या असत्य ? यदि असत्य है, तब तो यह भी बाध्य कोटि में आ गया, यह बाधक कैसे होगा ? यदि कहें कि बाध्यप्रपंच और अद्वैतज्ञान दोनों में आकार का भेद है; अतएव वह प्रपञ्च का बाधक है तो यह भी नहीं कह सकते, वह आकार भेद भी बाध्यान्तर्गत ही है। अन्यथा वह सत्य हो जायेगा फलतः द्वैतापत्ति होगी। उसका भी यदि आप आकार भेद मानें तो फिर अनवस्था दोष होगा। यदि कहें कि जिस तरह प्रमाण की स्थापना करने में प्रमाण विशेष के स्थापक आकार की भी स्थापना करने में कोई दोष नहीं होता, उसी तरह आकार भेद को मानने में कोई विरोध नहीं है। तो यह भी नहीं कहा जा सकता है। स्थापक के आकार विशेष का रहना स्थाप्य सामान्य विशेष (भेद) के लिए उपयोगी होता है, किन्तु बाधकाकार विशेष का बाध्यत्व तो सम्पूर्ण प्रपञ्च के बाध्यत्व का विरोधी है।

असत्यत्व इति। ज्ञानस्य बाध्यस्य बाधकत्वं नोपपद्यते; तथा सति मिथ्यारजतस्यैव तद्बाधकत्व प्रसङ्गादित्यर्थः। बाध्यत्वमेवाकारः, स एव कोटिः, तत्र सम्बद्धम्। ननु ब्रह्म ज्ञानत्वेनैव बाधकत्वम्, ब्रह्मभिन्नत्वेन बाध्यत्वम्; तदुभयं ब्रह्मज्ञानेऽस्तीति तद्बाध्यं बाधकं च रजते तद्बाधकताप्रयोजकं न किंचिदस्तीति न शुक्तिरजतं बाधकमित्यभिप्रायेण शङ्कते आकारेति। बाधकतावच्छेदकत्वेनाभिमतस्याप्याकारस्य ब्रह्मभिन्नत्वेन बाध्यत्वाच्छुक्तिरजतत्ववन्न बाधकतावच्छेदकत्वमपीति परिहरतिनेति। ननु बाधकतावच्छेदकताप्रयोजकं तत्त्वज्ञानत्वमिति तद्बाधकतावच्छेदकमेव, शुक्तिरजतत्वन्तु न बाधकतावच्छेदकम्, तत्प्रयोजकाभावादित्याशंक्य, तत्त्वज्ञानत्वमपि बाध्यत्वादेव न बाधकतावच्छेदकताप्रयोजकं स्यात्, शुक्तिरजतत्ववत्, अवच्छेदकताप्रयोजकताप्रयोजकत्वयोरप्याकारभेदाधीनत्वाभ्युपगमे तस्याप्याकारभेदस्य मिथ्यात्वादेव सम्प्रतिपन्नवदप्रयोजकत्वापादने तत्रापि प्रयोजकान्तरान्वेषणपरम्परायामनवस्थेत्याह तत्रापीति। बाधकाकारस्य बाध्यत्वेपि बाधकतावच्छेदकत्वमुपपद्यते, साधकाकारस्य साध्यत्वेपि साधकतावच्छेदकत्ववत्; यथार्थप्रवृत्त्यनुपपत्त्यादिना प्रमाणमात्रसाधको यः प्रमाण विशेषः तस्य योयमसाधारणाकारः तस्य मानाधीना मेयसिद्धिरिति न्यायेन मानाधीनसिद्धिकत्वेपि मानसाधनतावच्छेदकत्ववत्; इति शंकते प्रमाणस्थापक इति। सामान्यतः प्रमाणमात्रसाधके प्रमाणविशेषे योयमसाधारणाकारः स सामान्येन प्रमाणसिद्ध्यनुगुण एव, तदाकारविशेषाभावे तदवच्छिन्नप्रमाणाभावेन तत्साध्यस्याप्यसिद्धेः; बाधकतावच्छेदकविशेषाकारस्य बाध्यत्वे तु तदवच्छिन्नस्यासिद्ध्या तत्साध्य विश्वबाधो न सिध्येदिति परिहरति नेति।

किंचैतन्निवर्तकं ज्ञानमद्वैतश्रवणादिमात्रसमुद्भवमिदानीन्तनमेव ज्ञानम् ? उत्यद्वाकिमपि ? पूर्वत्र भवन्मतश्रावणा तत्क्षणादेव प्रपञ्चविलयप्रसङ्गः ; यद्वा आत्मैवयात्

विश्वेषामेव । बाधितानुवृत्तिस्तु दूषितैव । उत्तरत्रापि तत्र किं पूर्वाविशिष्टविषयमपि निवर्तकम्, उत विशिष्टविषयम् ? अविशिष्टविषयत्वे तु पूर्वस्यापि निवर्तकत्वप्रसङ्गः । तस्य तदभावे तु उत्तरस्यापि तन्न स्यात् । विशिष्टविषयत्वं तु न संभवत्येव / ब्रह्मणि प्रकाशिष्यमाणपरमार्थाकारान्तरानभ्युपगमात् । अपरमार्थाकारान्तरप्रकाशस्य प्रागुक्तन्यायेन दूषितत्वात् । प्रपञ्चमिथ्यात्वव्य (त्वाध्य) वसायस्य च भवन्मतश्रद्धाजडानामिदानीमपि सिद्धत्वात् ॥ परोक्षरूपमिदानीन्तनज्ञानमपरोक्षभ्रमबाधकं न भवति, अपरोक्षं तु भविष्यज्ज्ञानं बाधनायालमिति चेन्न—परोक्षापरोक्षशब्दाभ्यामविशदविशदत्वविवक्षायामनतिरिक्तविषयतयैव तथाविधभेदासिद्धेः । करणभेदाधीनभेदस्य चाकिंचित्करत्वात् । न चास्य करणभेदः, भविष्यतोऽपि विशदज्ञानस्य भवद्भिर्वाक्यजन्यत्वाभ्युपगमात् ।

प्रसाद--पुनः प्रश्न है कि यह प्रपंच का निवर्तक ज्ञान अद्वैत के श्रवणादि मात्र से वर्तमान कालमें ही उत्पन्न हो जाता है अथवा आनागत काल में यह उत्पन्न होने वाला है। यदि वर्तमान में ही उत्पन्न होता है तो फिर आपके सिद्धान्त को सुनने वालों के प्रपञ्च का विलय तत्क्षण ही हो जाना चाहिए अथवा आपके मत में आत्मा एक ही मानी जाती है, अतएव श्रवण समकालमें ही सबों के प्रपञ्च का विलय हो जाना चाहिए। यदि कहें की श्रवणादि के पश्चात् तत्क्षण यद्यपि प्रपञ्च बाधित हो जाता है फिर भी उसकी बाधितानुवृत्ति होती रहती है। तो आपके इस कथन का खण्डन पीछे किया जा चुका है। यदि कहें कि यह ज्ञान भविष्यत काल में उत्पन्न होता है तो प्रश्न है कि क्या वह पूर्व से अविशिष्ट विषय का होकर भी निवर्तक होता है ? अथवा विशिष्ट विषय का ? यदि अविशिष्ट विषयक होकर निवर्तक होता है तो फिर वह पूर्व का भी निवर्तक होगा, पूर्व का निवर्तन किए विना वह पश्चात् कालिक का भी निवर्तक नहीं हो सकता। वह ज्ञान विशिष्ट विषयक तो हो नहीं सकता। क्योंकि आप ब्रह्म में कोई भी ऐसा परमार्थ आकार नहीं मानते हैं जिसका प्रकाश भविष्य में होएं। यदि कोई अपरमार्थ आकार को प्रकाशिष्य माण मानें तो फिर वह भ्रान्ति मात्र होगी। अतएव यह माना नहीं जा सकता। और जो लोग आपके सिद्धान्त में श्रद्धा रखने के कारण जड हो गये हैं, उन लोगों को तो प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निश्चय अब भी है। यदि कहें कि श्रवणादिजन्य वर्तमानकालिक ज्ञान अपरोक्ष प्रपञ्च भ्रम का बाधक नही होता, और भविष्यत् काल में होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान प्रपच का बाध कर देता है, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि यहाँ पर ज्ञान के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व से केवल ज्ञानका वैशद्य एवं अवैशद्य अभिप्रेत है। अतएव उन दोनों ज्ञानों का विषय तो एक ही है, इस तरह दोनों के आकार भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है। ज्ञानों के कारण में भेद के कारण ही भेद की सिद्धि के द्वारा भी आकार भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है। किञ्च यहाँ करण का भी भेद नहीं है, क्योंकि भविष्यत् काल में भी जो ज्ञान होगा वह वाक्य जन्य ही होगा, यह आप लोग भी मानते हैं।

विश्वेषामेवेति । विलयप्रसङ्ग इति शेषः । प्रागुक्तन्यायेनेति । भ्रान्तित्वादिनेत्यर्थः । अद्वितीयत्वस्य ब्रह्मस्वरूपाभिन्नतया तज्ज्ञानात्प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानं भिन्नविषयमेव, अतस्तद्विषयमेव भविष्यज्ज्ञानं निवर्तकत्वमस्त्वित्याशंक्य निराकरोति प्रपंचेति । अनतिरिक्त विषयतयैवेति । न्यून

विषयत्वाधिकविषयत्वाभ्यामेव लोके विशदत्वाविशदत्व व्यवहारादित्यर्थः । ननु परोक्षापरोक्षयोः कारणाधीनवैलक्षण्यमिन्द्रियकरणकत्व तदितरकरणकत्वरूपमस्त्येव, तदेव परोक्षापरोक्ष-शब्दाभ्यां विवक्ष्यते, तत्राह—करणभेदेति । शाब्दज्ञानानुमित्योः करणभेदाधीनभेदे सत्यपि निवर्तकत्वादर्शनादिति भावः । ननु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां इन्द्रियकरणस्य निवर्तकत्वं नेतरस्येत्यत्राह नचास्येति । एवं ब्रह्मस्वरूपभूताज्ज्ञानाद्भिन्नम ज्ञानम् निवर्तकमिति कल्पो विकल्प्य दूषितः ।

एतेन वेदान्तनैरर्थक्यमपि फलितम् , यतः कुतश्चिदनुमानादेरप्यद्वैतज्ञानसम्पादनोपपत्तेस्तदतिरिक्तस्य कस्यचिदंशस्य वेदान्तेपि भवद्भिः प्रतिपादनानभ्युपगमात् । सत्यस्य प्रामाण्यस्योभयत्रानभ्युपगमात ; व्यावहारिकस्य तु तस्योभयत्र सम्मतत्वात , उपासनादिपरवेदान्तभागस्य तत्तत्फलविशेषपर्यन्ततया बन्धकत्वेन बन्धनिवृत्तिं प्रति प्रतिकूलत्वाभिधानात् । अतो यदा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानादिकं न विश्वबाधकं तदा वेदान्तवाक्यान्यपि न तद्बाधकानि स्युः , तदविशिष्टज्ञानजनकत्वात . यदि तानि बाधकानिस्युः , तदा तदविशिष्ट दनुमानादेरपि तद्बाधः स्यादिति निरर्थकस्तत्त्वावेदको वेदान्तभागः । एवञ्च वेदान्तमन्तरेणापि यथावस्थितब्रह्म स्वरूपज्ञानसम्पादनोपपत्तेः शारीरकापशूद्राधिकरणानारम्भप्रसङ्गश्च । ननु भेदवासनाविक्षिप्तचेतसां बुभुत्सोद्बोधने शास्त्रोपयोग इति चेन्न , सांख्यसौगतसमयेपि तत्त्वविचारमारभमाणैः पुरुषैस्तापत्रयाभिहतानां भेदवासनाविक्षिप्तचेतसामपि तत्त्वबुभुत्सोत्पत्तेः । नच प्रतिपत्तृभेदेन शास्त्रमनुमानं च सप्रयोजनमिति वाच्यम् सर्वात्मना साधकबाधकप्रमाणासम्भावनावैदेशिके विषये शास्त्रार्थतत्त्वस्य मीमांसितत्वात् । अतस्तत्र भवतां महत्तरेषु मतगह्वरेषु महावाक्यश्रवणमपि बालव्यामोहनमात्रमित्यापद्यते । अतो न निवर्तकज्ञानं ब्रह्मणो भिन्नम् ।

प्रसादः—इसी प्रतिपादन से आपके मत में वेदान्तों की निरर्थकता भी सिद्ध हो गयी, क्योंकि किसी तरह अनुमान आदि के भी द्वारा अद्वैतज्ञान का सम्पादन सम्भव हैं; और वेदान्तों के द्वारा आप लोग अद्वैत ज्ञान व्यतिरिक्त का प्रतिपादन स्वीकार नही करते । अतएव वेदान्ताध्ययन आपके मत में व्यर्थ ही है । यदि कहें कि अनुमानजन्य अद्वैतज्ञान का प्रामाण्य सत्य नहीं होता तो आपके मतमें वेदान्त वाक्यजन्य ज्ञान का सत्य प्रामाण्य नहीं स्वीकारा जाता है । और व्यावहारिक सत्यत्व दोनों का समान रूपसे होता है । अद्वैतमत में माना जाता है कि उपासना का प्रतिपादन करने वाला वेदान्त भाग, विभिन्न बन्धनकारक फलों का प्रदाता होता है, अतएव वह भाग बन्धनिवृत्ति के प्रतिकूल है । अतएव यदि प्रपंच के मिथ्यात्व का आपादक अनुमान ज्ञान यदि प्रपञ्च का बाधक नहीं होगा तो फिर वेदान्त वाक्य जन्य भी अद्वैत ज्ञान प्रपञ्च का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी अनुमान जन्य अद्वैत ज्ञान के ही समान अद्वैत ज्ञान है । यदि वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान प्रपञ्च के बाधक होगा तो उसके ही समान होने के कारण अनुमान जन्य ज्ञान आदि का भी वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान के द्वारा बाध नहीं हो सकता । इस तरह अद्वैत मत में वेदान्त का तत्त्वापादक भाग व्यर्थ सिद्ध होता है । इस तरह वेदान्त के बिना भी

ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने के कारण शारीरक शास्त्रोक्त अपशूद्राधिकरण को चरितार्थ भी नहीं किया जा सकता है ।

यदि कहें कि जो लोग अन्तःकरण की भेदवासना से विक्षिप्त हो गये हैं, उन लोगों के भीतर ब्रह्मजिज्ञासा को उद्बोधित करने के लिए शास्त्रों का उपयोग होता है; तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सांख्य तथा बौद्धोंके मतमें भी तत्त्व विचारका प्रारम्भ करने वाले पुरुषों द्वारा ताप त्रय से संतप्त तथा भेदवासना से विक्षिप्त अन्तःकरण वाले जीवों को भी तत्त्व ज्ञान की इच्छा उत्पन्न होती है । यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न प्रमाताओं के द्वारा शास्त्र तथा अनुमान दोनों से प्रयोजन सिद्ध होते हैं ; क्योंकि जिन विषयों की सिद्धि अथवा बाध प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण द्वारा बिल्कुल असम्भव है, उन्हीं विषयों की सिद्धि शास्त्र के द्वारा होती है , अतएव आपके बहुत बड़े बड़े सिद्धान्त गुफाओं में महावाक्य का श्रवण भी बालकों को भुलावा देना मात्र है । इस तरह सिद्ध होता है कि निवर्तकज्ञान ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।

इदानीं तत्रैव दूषणान्तरमाह एतेनेति । एष्यदिदानीन्तनज्ञानयोर्विषय भेदाभावे निवर्तकत्वानिवर्तकत्ववैषम्याभावापादनेनानिवर्तकज्ञानभूतानुमितिसमान विषयस्य वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्याप्यनिवर्तकतया वेदान्तानां नैरर्थक्यं फलितमित्यर्थः । ननु शाब्दानुमित्योः प्रामाण्याप्रामाण्याभ्यां वैषम्यान्निवर्तकत्वा निवर्तकत्वे स्त इत्यत्राह सत्यस्येति । ननु यद्यप्यद्वैतविज्ञानमनुमानादेरपि सुसम्पादं, तथापि ब्रह्मोपासनतत्फलादि ज्ञानस्यानुमानादिभिर्दुस्सम्पादत्वात् तत्प्रतिपादनद्वारा उपासनानुष्ठानार्थतया वेदान्तोऽर्थवानपेत्याशङ्क्य अद्वैतोपासनपरवेदान्तवाक्यानामद्वैतज्ञानस्योक्तन्यायेन निवर्तकत्वासिद्ध्या नैष्फल्यस्य सिद्धत्वात् सगुणोपासनपरवेदान्तवाक्यानां तत्फलसिद्ध्या सार्थकत्वेपि प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थतयार्थ वत्त्वासम्भवाद्वेदान्तवाक्यं व्यर्थमेवेत्यभिप्राये-णाह-उपासनेति । प्रत्यक्षादिभि र्भेदस्यैव निश्चयेन कोटचन्तरानुपस्थितेश्च सन्देहासम्भवात्तन्मूलतत्त्वबुभुत्सा नोपपद्यते, तद्विरुद्धाभेदप्रतिपादकशास्त्रदर्शने सति द्वैताद्वैतसन्देहाद्बुभुत्सोपपद्यत इति बुभुत्सोत्पादकत्वान्न शास्त्रवैयर्थ्यमिति शङ्कते-नन्विति , शङ्कया हि ज्ञातृत्वकर्तृत्वादेर्बुद्धिधर्मत्वमङ्गीकुर्बन्त आत्मनो निर्गुणत्वमाहुः, सौगताः प्रपञ्चस्यासत्यत्वमाहुः, अतस्तन्मतश्राविणां प्रत्यक्षादावप्रामाण्यशंकया निर्गुणत्व सगुणत्वप्रपञ्चसत्यत्वासत्यत्वसन्देहाद्बुभुत्सोत्पत्तिसम्भवान्न बुभुत्सोत्पादकत्वेन वेदान्तानां सार्थक्यमित्याह-नेति । भेदवासनाविक्षिप्तचेतसामपि तत्त्वविचारमारभमाणैः पुरुषैस्तत्त्वबुभुत्सोत्पत्ते रिति योजना । यद्वा-सांख्यसौगत समयेपि आत्मनिर्गुणत्वप्रपञ्चासत्यत्वबुभुत्सया हि विचारमारभन्ते, अतस्तत्र येनैव हेतुना बुभुत्सोत्पादस्तेनैव हेतुना प्रकृतेऽपि बुभुत्सोत्पत्तिसम्भवात् किं वेदान्तैरित्याह-नेति । बुभुत्सोत्पत्तेरित्यनन्तरमङ्गीकारादिति शेषः । तत्त्वविचारमारभमाणैः तत्त्वबुभुत्सोत्पत्तेरङ्गीकारादित्यन्वयः । वादिवाक्याद्वा स्वयमेव त्वदुक्ततर्कानुसन्धानाद्वा बुभुत्सोपपत्तेर्वेदान्तनैरर्थक्यमिति तात्पर्यम् । एवं वेदान्तानां नैरर्थक्यात् त्वादृशां तच्छ्रवणं तत्प्रतिवचनञ्च बालव्यामोहनमित्युपालभते अत इति । तत्रभवता मित्युपालम्भोक्तिः । महावाक्यम् जीवब्रह्मणोरभेदप्रतिपादकं तत्त्वमस्यादिवाक्यम् ।

नापि द्वितीयः, ब्रह्मस्वरूपस्य विश्वनिवर्तकत्वे तस्यानादित्वेन प्रपञ्चाध्यासाभावप्रसंगेन प्रपञ्चप्रतिभासस्याप्यनुदयप्रसङ्गात् । एकस्यैव दण्डादेर्घटादिकारणत्वतन्नाशकत्ववदुपपद्यत इति चेत् ? यौगपद्ये विरोधात् ।

क्रमेतु सहकार्यवश्यम्भावात् नहि दण्डो घटकारणसामग्री मध्यमध्यासीन एव घटं नाशयति, अपितु सिद्धे घटे अभिघातरूपसंयोगादिकमपेक्ष्य । अत्रापि तर्हि ब्रह्म स्वरूपेणाध्यासानुगुणम्, अध्यासमेव तु निवर्त्यं सहकारित्वेनापेक्ष्य तन्निवर्तकम्, निवर्तनशक्तस्यापि निवर्त्यासिद्धौ निवृत्तिजनकत्वायोगात ; इति चेन्न,—तथाप्यनादेरध्यासस्य चिरतरानुवृत्तिसङ्गप्रसङ्गात् । एवं पूर्वपूर्वक्षणानुवृत्तिभंगे कदाचिदपि नाध्याससिद्धिः किञ्च परिशुद्धं ब्रह्मस्वरूपमध्यासानुगुणम्, अशुद्धन्तु तन्निवर्तकमिति महदिदमुपपादनम् । अस्तु तर्हि सामग्र्यभावादितः पूर्वमनुत्पन्नं सामग्रीसम्पत्तिदशायामुत्पत्स्यमानान्तःकरणवृत्तिविशेषमेव सहकारित्वेनापेक्ष्य ब्रह्मैव निवर्तकम्, तन्न ; प्राप्ताप्राप्तविवेकेनान्तःकरणवृत्तेरेव निवर्तकत्वप्रसङ्गात् । तथा च सति ब्रह्मस्वरूपान्तर्गतत्वपक्षव्याघातः । अतएव न तृतीयः; अपसिद्धान्ताच्च । किञ्च तस्य सत्यत्वे भेदांशेन ब्रह्मणस्सद्वितीयत्वप्रसङ्गः । मिथ्यात्वे त्वभेदांशेन ब्रह्मणोपि मिथ्यात्व प्रसंगः । नित्यत्वानित्यत्वविकल्पेनापि दूषणमूह्यम् ! चतुर्थस्तूभयप्रतिक्षेपरूपोनिर्वचनीयोक्तदूषणनयेनोभयसिद्ध्यनतिरेकात् दूषणेनैव दूषितः । पञ्चमस्तु परिशिष्यते । तथाभूतं किं तज्ज्ञानं यथाकथंचिदपि प्रतीतिपदवीं नावतरति, अथावतरति ? पूर्वत्र किं साधनदूषणप्रयासेन ? उत्तरत्र कथंचिदपि उक्तकोटिबहिर्भावासिद्धेः न पृथग्दूषणीयमवशिष्टमिति । किञ्च निवर्तकज्ञानं निवर्तिष्यते नवा ? पूर्वत्र तन्निवृत्तेरेवागन्तुकत्वाद्ब्रह्मस्वरूपातिरिक्ताविद्यास्थितिप्रसंगः । उत्तरत्र ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तनिवर्तकज्ञानसद्भावेनैवाविद्यास्थितिरनिवार्या । अतो यदविद्याया निवर्तकत्वेन सम्मतं तदेव स्वात्मना स्वनिवृत्त्या वा तामेव स्थापयतीति विपरीतापत्तिरिति । निवर्तकज्ञानप्रध्वंसोपि निवर्तिष्यत इति चेत् ? तर्हि तत्तन्निवर्तकनिवृत्त्यनुवृत्तिप्रसंगेन ब्रह्मणो यावदात्मभाविन्यविद्यानुवृत्तिस्स्यादिति वैपरीत्यस्थैर्यापत्तिः । इत्यलं हिताहितविपर्यस्तचेतसां शोच्यानां निग्रहणेति ।

॥ इति शतदूषण्यां निवर्तकानुपपत्तिः त्रिचत्वारिंशो वादः ॥४३॥



प्रसाद—यदि निवर्तक ज्ञान को ब्रह्म से अभिन्न मानें तो, ब्रह्म के स्वरूप को ही प्रपञ्च का निवर्तक मानना होगा । वह ब्रह्म का स्वरूप अनादि है, फलतः प्रपञ्च के अध्यास के अभाव का प्रसङ्ग

होगा। फलतः आपके मत में प्रपञ्च की प्रतीति भी अनुपपन्न हो जाती है। यदि कहें कि जिस तरह एक ही दण्ड है वह घट की कारण कोटि में भी आता है तथा उसका प्रध्वंसक भी है। उसी तरह एकही निवर्तकज्ञान प्रपञ्चोदय का कारण तथा निवर्तक दोनों है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि एक ही दण्ड समकाल में ही घट का कारण और विनाशक नहीं देखा जाता और यह अद्वैतज्ञान को तो समकाल में ही कारण और विनाशक मानना होगा। यदि अद्वैत ज्ञान के कारणत्व और विनाशकत्व को क्रमशः मानें तो फिर उसे सहकारी मानना होगा, क्योंकि जिस समय घट की सामग्रियों में दण्ड होता है, उस समय वह घट का विनाश नहीं करता। अपितु घट निर्माण के पश्चात् जब उसके द्वारा घट पर अभिघात किया जाता है, उस समय वह घट का विनाशक होता है। यदि कहें कि; तो फिर यहाँ भी मानना चाहिए कि ब्रह्म अध्यास के अनुकूल है, और निवर्त्य अध्यास को ही सहकारी बनाकर वह अध्यास की निवृत्ति कर देता है, क्योंकि निवर्त्य के अभाव में निवर्तन करने में समर्थ भी किसी का निवर्तन नहीं कर पाता; तो यह भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि ऐसी स्थिति में अनादि अध्यास की अतिचिर काल तक अनुवृत्ति होती रहे यह नहीं सम्भव है। यदि पूर्व पूर्वक्षण में होने वाली अध्यास की अनुवृत्ति उत्तरोत्तरक्षण में निवृत्त होती जाती है, यह मानें तो आप किसी भी कारण से अध्यास की सिद्धि नहीं कर सकते। किञ्च यदि ब्रह्म का परिशुद्ध स्वरूप अध्यास के अनुकूल होगा, तो ब्रह्म के अशुद्ध स्वरूप को अध्यास का निवर्तक मानना होगा। इस तरह आपने अपने सिद्धान्त का बड़ा ही अच्छा प्रतिपादन किया। यदि कहें कि सामग्री अभाव होने से इससे पहले जो नहीं उत्पन्न हुआ है, और जिसकी उत्पति सामग्री की सम्पन्नता होने पर होगी, उस अन्तःकरण की वृत्ति विशेष को ही सहकारी बनाकर ब्रह्म ही प्रपञ्चाध्यास का निवर्तन करता है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्राप्ताप्राप्त विवेक के द्वारा यही सिद्ध होता है कि अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रपञ्च की निवर्तिका है, अन्यथा पहले से ही विद्यमान ब्रह्म उसकी निवृत्ति क्यों नहीं कर लेता। और ऐसा होने पर अद्वैत ज्ञान ब्रह्म स्वरूप के अन्तर्गत ही है, आपकी इस तरह की मान्यता का विरोध होता हैं।

तीसरा पक्ष (अद्वैत ज्ञान ब्रह्म से भिन्नाभिन्न हैं) भी नहीं उपपन्न होता, क्योंकि इसके मानने पर आपके मतमें अपसिद्धान्त होगा। दूसरी बात यह कि उसके (अद्वैत ज्ञान के) सत्य होने पर भेदांश के द्वारा ब्रह्म की सद्वितीयता सिद्ध होगी और मिथ्या होने पर अभेदांश के द्वारा ब्रह्म के भी मिथ्या होने का प्रसङ्ग होगा। इस पक्ष में अद्वैतज्ञान के नित्यत्व तथा अनित्यत्व रूपी विकल्पों से भी दोष होगा।

चौथा पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि अद्वैत ज्ञान को ब्रह्म से भिन्न तथा अभिन्न में से कोई भी नहीं मानने पर तो भिन्नाभिन्न निर्वचनीयत्व में तो अनिर्वचनीय अविद्या के खण्डनार्थ कहे गये दूषणों से ही उसका खण्डन हो जाता है। अब बचा रहा केवल पाँचवा पक्ष। उसके विषय में प्रष्टव्य है कि वह अशक्य वेदन ज्ञान किसी तरह प्रतीति का विषय नहीं बनता है, या बनता है? यदि नहीं बनता तो फिर उसके सिद्धि का खण्डन करना ही व्यर्थ है ? यदि बनता है तो वह किसी भी प्रकार उपर्युक्त कोटियों से बाहर नहीं जा सकता, अतएव उसके खण्डनार्थ अतिरिक्त दूषणों को उपस्थित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

किञ्च प्रश्न है कि प्रपञ्च का निवर्तक वह ज्ञान स्वयं निवृत्त होता है अथवा नहीं ? यदि निवर्तित होगा तो उस निवृत्ति के भी आगन्तुक होने के कारण ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न अविद्या बनी ही रहेगी। यदि अद्वैतज्ञान नहीं निवृत्त होगा तो ब्रह्म के स्वरूप से अतिरिक्त अद्वैतज्ञान के बने रहने के

कारण ही अविद्या के सद्भाव का प्रसङ्ग होगा । अतएव जो अद्वैतज्ञान अविद्या का निवर्तक है, वही अपने सद्भाव तथा अपनी निवति के द्वारा अविद्या का स्थापक सिद्ध होता है । इस तरह इस अद्वैत ज्ञान की मान्यता में विपरीतापत्ति होगी । यदि कहें कि उस निवर्तक ज्ञान के निवर्तक की भी निवृत्ति होगी तो फिर तत् तत् निवर्तकों तथा निवृत्तियों की अनुवृत्ति का प्रसङ्ग होने से, ब्रह्म की अपने में होने वाली का भी अविद्याओं की अनुवृत्ति होते रहने से इस मान्यता में भी विपरीतापत्ति होगी । इस तरह जिन अद्वैती विद्वानों को अपने हित एवं अहित का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है, उनका निग्रह करना ही व्यर्थ है ।

इस तरह शतदूषणी का ४३ वां निवर्तकानुपपत्ति नामक वाद समाप्त हुआ ॥

❀-❀-❀

नापि द्वितीय इत्यादि । ननु ब्रह्मस्वरूपस्येति वाक्ये प्रपञ्चाध्यासाभावे निवर्तकस्यानादित्वं हेतुतयोक्तम्, एकस्यैवेत्यत्र कारणस्यापि निवर्तकत्वसम्भव उपपाद्यः, तत्कथं युज्यते ? पूर्वं कारणत्वस्य निवर्तकत्व विरोधित्वानुपन्यासात्, नच एकस्यैव यथा कारणत्वनाशकत्वे एवमेकस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्याध्यासस्वरूपनिवर्तकत्वतत्सहिष्णुत्वे अप्युपपद्येते इत्येवम्परोऽयं ग्रन्थः, ननु ब्रह्मण एवाध्यासकारणत्वतन्नित्यत्वसम्भवोपपादनपर इति वाच्यम, तत्परिहारग्रन्थस्य यौगपद्ये विरोधादित्यादेः ब्रह्मण एव जनकत्वनाशकत्वानुपपत्ति विषयत्वात्, नहि दण्ड इति वाक्ये दण्डवैधर्म्योक्तिपुरस्सरं ब्रह्मण अध्यास कारणत्वतन्निवर्तकत्वासम्भवोपपादनप्रतीतेश्च, अत्रापीत्यादिशङ्काग्रन्थे दण्डवदेव कारणत्वनिवर्तकत्वोपपादनविरोधाच्च, अतः कथमेते ग्रन्था उपपद्येरन्निति चेत् ? उच्यते, ब्रह्मस्वरूपस्येत्यादिवाक्ये निवर्तकस्य निवर्त्यस्वरूपासहिष्णुत्वात्तस्य चानादित्वात् कदापि प्रपञ्चाध्यासो न स्यादित्येवाभिप्रेतम् । एकस्यैवेत्यादिशङ्कावाक्ये दण्डादेरिव ब्रह्मण एवाध्यासकारणत्वनिवर्तकत्वे अप्युपपद्येते, किं वक्तव्यं निवर्तकस्य तत्स्वरूपसहिष्णुत्वमुपपद्यत इत्यत्रत्यभिप्रेतम् । अस्मिन् वाक्ये निवर्तकस्यापि कैमुत्यन्यायेनाध्यासस्वरूपसहिष्णुत्वोपपादनार्थं ब्रह्मण एवाध्यासकारणत्वतन्निवर्तकत्वयोरुक्तत्वात्तदनुसारेण सर्वोऽप्युत्तरग्रन्थ उपपद्यत इति । यद्वा-एकस्यैवेति वाक्ये दण्डो यथा घटमुत्पाद्य नाशयति, एवं ब्रह्माप्यध्यासमुत्पाद्य निवर्तयतु, निवर्तनशक्तत्वेन निवृत्तिवदुत्पादनशक्तत्वे तदुत्पत्तेरपि सम्भवात्, अतः कथं प्रपञ्चाध्यासाभावप्रसङ्ग इत्यभिप्रेतम् । क्वचित् कोशे प्रपञ्चाध्यासाभावप्रसङ्गादित्यनन्तरं प्रपञ्चप्रतिभासस्याप्यनुदयप्रसङ्गादिति वाक्यं दृश्यते, तत्र पूर्ववाक्येनादित्वमध्यासाभावे हेतुतया विवक्षितं नतूत्तरत्र, प्रपंचप्रतिभासस्याप्यनुदयप्रसङ्गादित्यत्र तत इति विशेषः । ब्रह्मस्वरूपस्य विश्वनिवर्तकत्वे ततः प्रपंचप्रतिभासस्याप्यनुदयप्रसङ्गादित्यन्वयः । निवर्तकस्य कारणत्वासम्भवो वा विवक्षितः । उत्तरग्रन्थाश्च द्वितीयहेत्वनुसारिणः । क्रम इति । कार्यविलम्बस्य कारणविलम्बप्रयोज्यत्वादिति भावः । तथापीति । कार्याध्यासे उक्तपरिहारसम्भवेपीत्यर्थः । अनादेरित्यादि । अविद्याध्यासस्येत्यर्थः । पूर्वंच रविद्यासत्त्वे तदानीमेव तन्निवृत्त्यावश्यकतया नैतावत्कालमनुवृत्तिरुपपद्यते,

तथा तत्पूर्वकालेपि निवृत्त्यावश्यकतया तदानीमपि नाविद्याध्यासस‌म्भवः, एवं तत्पूर्वकालेपि त्वया निवृत्तिर्वाच्येति अविद्याध्यासाधिकरणत्वयोग्यक्षणस्य कस्याप्यलाभात् कदाप्यविद्याध्यासो न स्यात् , तदभावे तन्मूलः कार्याध्यासोपि न स्यादित्यर्थः । एवमविद्याध्यासानुपपत्त्या कार्याध्यासानुपपत्तिरुक्ता । इदानीं कार्याध्यासासम्भवे हेत्वन्तरमाह—किंचेति । शुद्धम्—आरोप्याविषयकम् । अशुद्धम्-आरोप्यविषयकम । अध्यासमेव तु निवर्त्यं सहकारित्वेनापेक्षेत्यत्राध्यासस्यैव सहकारित्वोक्तेः तस्मिन् स्वस्यैव तद्भ्रमरूपत्वादशुद्धस्यैव निवर्तकत्वमित्युक्तं भवति; एतत्प्रतिकोटितया ब्रह्म स्वरूपेणाध्यासानुगुणमित्यत्रारोप्याविषयकत्वलक्षणशुद्धिरेवाभिप्रेता स्यात , ततश्चारोप्याविषयमध्यासानुगुणमारोप्य विषयं तन्निवर्तकमिति व्याहतमित्यर्थः । प्राप्ताप्राप्तविवेकेनेति । एतेन वृत्तिप्रतिबिम्बतचैतन्यं निवर्तकमित्ययमपि पक्षो निरस्तो वेदितव्यः । प्राप्ताप्राप्तविवेकेन वृत्तेरेव निवर्तकत्वप्रसङ्गात् । किञ्च यथाह्ययमित्यादिभिरापातप्रतीत्यान्तःकरणे प्रतिबिम्बकल्पनायामपि न निवृत्तौ प्रतिबिम्बकल्पनम् ; तत्र तादृशस्यापि प्रमाणस्यादर्शनात् । नच तत्परिणामित्वादेस्तत्र प्रतिबिम्बकल्पना , जलपरिणामभूतायां करकायां प्रतिबिम्बादर्शनात् ॥

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायाम् चण्डमारुताख्यायां निवर्तकानुपपत्तिभङ्गो नाम त्रिचत्वारिंशस्स्कन्धः ॥

❀ अथ निवृत्त्यनुपपत्तिवादः चतुश्चत्वारिंशः ४४ ❀

सत्त्वानीव विरुद्धजातिजनुषा सिद्धानि सिद्धाश्रमे
वैरं यत्र मिथस्त्यजन्ति विधयस्सर्वैर्निषेधैस्सह ।
तं रंगेशयमंगनंगिकमलालक्ष्येश्वरप्रक्रियं
शान्तावद्यमनन्तमङ्गलगुणं देवं प्रपद्येमहि ॥

प्रसादः—सिंह तथा हाथी आदि जाति के जीवों में परस्पर में वैर स्वाभाविक है । किन्तु सिद्धाश्रम में उत्पन्न होने वाले सभी जीव परस्पर के स्वाभाविक वैर को त्याग कर एक साथ सस्नेह निवास करते हैं । इसी तरह अखिलहेयप्रत्यनीक तथा अखिलकल्याणगुणगणाकर तथा श्री लक्ष्मी जी को नेत्रों के प्रियतम श्री रङ्गनाथ भगवान् के ही वर्णन में व्यापृत वेदान्तों के समस्त विधि वाक्य निषेध वाक्यों के साथ विरोध का त्यागकर क्रमशः श्रीभगवान् के अखिलकल्याणगुणाकरत्व तथा अखिलहेय प्रत्यनीकत्व का क्रमशः वर्णन करते हैं , हम उन्हीं परब्रह्म श्री रङ्गनाथ भगवान् की शरणागति करते हैं ।

येयं ब्रह्मणः श्रवणमनननिदिध्यासनादिक्रमपरिणतविशदा द्वैतवाक्यार्थविज्ञानहेतुका निश्शेषाविद्यानिवृत्तिरुच्यते , सा किमध्यासरूपा ; नवा ? पूर्वत्र कथं निश्शेषावि

द्यानिवृत्तिः, अध्यासरूपायां तस्यां तन्मूलाविद्याया अपि विद्यमानत्वात्, उपादानमन्तरेणोपादेयस्थित्ययोगात्। आत्मोपादाना सास्त्विति चेन्न, आत्मनः परिणामित्वप्रसंगात्। सत्योपादानायाश्च सत्यत्वेन सद्वितीयत्वप्रसंगात्। नच दोषमन्तरेणाध्यासो भवतामपीष्टः, तथा सत्यविद्याकल्पनस्यैव निर्मूलत्वप्रसंगात्। यदि सा ब्रह्मवदविद्यावच्च उपादानरहिता, तदा कथं सहाविद्या तिष्ठेत्। स्थिता वा किमिति पश्चान्नावतिष्ठते। निवृत्तिरपि ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वैकप्रयोजकप्रयुक्तमिथ्यात्ववशान्निवर्तिष्यत इति निश्शेषाविद्यानिवृत्तिरिति चेन्न, निवृत्तिनिवृत्तौ तन्मिथ्यात्वे च निवर्त्योन्मज्जनतत्सत्यत्वयोः प्रसंगात्। प्रागभावनिवृत्ति रूपस्य घटस्य निवृत्तावपि प्रागभावानुन्मज्जनवत्, जागरदशायां स्वाप्नान्धकरनिवृत्तिरूपस्य स्वाप्नप्रदीपस्य निवृत्तावपि स्वप्नान्धकारमिथ्यात्वद्वयानुन्मज्जनमिथ्यात्वयोस्सिद्धिरिति चेन्न; घट तत्प्रागभावनिवृत्त्यात्मकस्य प्रध्वंसस्य स्वाप्नतेजस्तमोबाधकस्य जागरस्य च विद्यमानत्वेन तद्द्वयानुन्मज्जनमिथ्यात्वयोरुपपत्तेः। अत्र त्वविद्यातन्निवृत्त्योर्द्वयोरपि प्रत्यनीकमन्यन्न परिशिष्यते। अस्ति ब्रह्मस्वरूपमिति चेन्न, तस्य तदुभयप्रत्यनीकत्वे तस्यानादित्वात्तयोः प्रागध्यारोपाभावप्रसंगात्। तथाच सति भेदप्रतिभासादेर्निर्मूलत्वे सर्वप्रमाणविरोधो मोक्षशास्त्रानारम्भश्च, पूर्वं तदविरोधित्वे पश्चादपि तद्वैरासम्भवात्। कैवल्येन रूपेण पश्चाद्विरोध इति चेन्न; कैवल्यस्य स्वरूपमात्रत्वे दत्तोत्तरत्वात्। स्वरूपातिरिक्तत्वे सत्यत्वे सद्वितीयत्वप्रसङ्गात्, तन्मिथ्यात्वे तत एवाविद्यास्थित्यवश्यम्भावात्। एतेन प्रयोजकं यदुक्तम्, तदपि दत्तोत्तरम्। अतएव न द्वितीयः, अनध्यासरूपाया निवृत्तस्स्वरूपान्तर्भावादिविकल्पदुस्स्थत्वात्। अन्तर्भावे ब्रह्मणोऽनादित्वेनाविद्याया नित्यनिवृत्तिप्रसङ्गात्। यद्यपि घटादेः स्वरूपमेव तत्प्रागभावनिवृत्तिरितिवत् ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मैवाज्ञाननिवृत्तिरिति वक्तुम् शक्यम्; तथापि स्वप्रागभावनिवृत्तिरूपघटादेरिव स्वाज्ञाननिवृत्तिरुपब्रह्मणोपि तदनन्तरत्वावश्यम्भावे कादाचित्कत्वादयो दोषास्समुन्मिषेयुः।

प्रसादः—अद्वैती विद्वानों द्वारा यह जो कहा जाता है कि ब्रह्म के श्रवण मनन एवं निदिध्यासन आदि के द्वारा अद्वैत वाक्यों का अर्थविज्ञान क्रमशः परिपक्व होता हुआ विशद हो जाता है। उसी अद्वैत विज्ञान से सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है; उस अविद्या निवृत्ति के विषय में पूछना है, कि क्या वह अध्यास निवृत्ति अध्यास स्वरूपा है या नहीं? यदि अध्यास स्वरूपा है तो फिर सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति कैसे संभव

है । क्योंकि अध्यास रूपा अविद्या की निवृति में उसकी मूलभूता अविद्या अवश्य रहेगी क्योंकि बिना उपादान कारण के कार्य रहता ही नहीं है । यदि कहेंकि अविद्याका निवृत्ति का उपादन कारण आत्मा है तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि आत्मा का आप परिणाम नहीं मानते हैं । किञ्च आपके मत में आत्मा सत्य है ऐसी स्थितिमें अविद्यानिवृत्ति को सत्योपादानक मानना होगा तथा उपादान की सत्यता के कारण अविद्या भी सत्य होगी; फलतः ब्रह्म की सद्वितीयतापत्ति होगी । आप लोग भी दोष के बिना अध्यास को नहीं मानते हैं। दोष के बिना अध्यास को मानने पर आपकी अविद्या की कल्पना ही निर्मूल हो जायेगी । यदि वह अविद्या निवृत्ति) तथा अविद्या ब्रह्म के ही समान उपादन रहित हो, तो फिर उसके साथ अविद्या कैसे रह सकती है ? यदि वह उसके साथ रहती है, तो फिर अविद्या निवृत्ति के पश्चात् क्यों नहीं रहती । यदि कहें कि अविद्या की निवृत्ति का उपादान कारण अविद्या ही है, ब्रह्म नहीं और सम्पूर्ण अविद्या की निवृति इसलिएं हो जाती है कि अविद्या की निवृत्ति भी ब्रह्मव्यतिरिक्त है, अतएव मिथ्या होने के कारण उसकी भी निवृत्ति हो जाती है । तो यह कहना इसलिए उचित नहीं है कि निवृत्ति को मिथ्या तथा उसकी निवृत्ति मानने पर सभी निवर्त्य पुनः उत्पन्न हो जायेंगे तवा वे सत्य सिद्ध होंगे । यदि कहें कि जिस तरह अभाव को भावान्तर वादी आपके मत में प्रागभाव की निवृत्ति रूप घट की निवृत्ति हो जाने पर भी प्रागभाव पुनः उन्मस्तक नहीं होता, अथवा जिस तरह स्वाप्नान्धकार की निवृत्तिरूप स्वाप्नप्रदीप की जागरावस्था में निवृत्ति हो जाने पर भी स्वाप्नान्धकर मिथ्या रहता है ही सत्य नहीं होता, उसी तरह अविद्या की निवृत्ति की निवृत्ति हो जाने पर न तो निवर्त्य उन्मस्तक होंगे और न अविद्या निवृत्ति के मिथ्या होने से निवर्त्य सत्य होंगे , तो यह भी कथन सत्य नही है ; क्योंकि दृष्टात और दार्ष्टान्तिक में बहुत बडा वैषम्य है । घट और घट का प्रागाभव दोनों का विरोधी प्रध्वंस विद्यमान रहता है, अतएव उसकी विद्यमानता में घट और घटप्रागभाव उन्मस्तक नहीं होते। इसी तरह स्वाप्नान्धकार और स्वाप्न प्रकाश दोनों का विरोधी जागरदशा के विद्यमान रहने के कारण स्वाप्नान्धकार सत्य नहीं सिद्ध होता, किन्तु दार्ष्टान्तिक स्थल में अविद्या तथा उसकी निवृत्ति का विरोधी कुछ अवशिष्ट ही नहीं रह जाता। अतएव निवर्त्यों के सत्यत्व तथा उन्मस्तकत्व का प्रसङ्ग होता है । यदि कहें कि ब्रह्म का स्वरूप तो रहता ही है, तो यह भी नहीं कह सकते , क्योंकि अनादि ब्रह्म के स्वरूप को उन दोनों का विरोधी मानने पर अविद्या तथा अविद्या की निवृत्ति के पूर्व भी अध्यास का अभाव सिद्ध होने लगेगा, ऐसी स्थिति में भेद प्रतीति के निर्मूल सिद्ध हो जाने से आपके मत से सभी प्रमाणों का विरोध होगा तथा अध्यास निवृत्यर्थ किये जाने वाले मोक्षशास्त्रारम्भ को भी कोई अवसर नहीं मिलेगा । यदि वहें कि ब्रह्म स्वरूप तथा अविद्या का पहले विरोध नहीं था; तो फिर उसका पीछे भी विरोध नहीं होना चाहिए । यदि कहें कि कैवल्यरूप से उसका पीछे विरोध होता है तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रश्न है कि कैवल्य स्वरूप मात्र है अथवा स्वरूपातिरिक्त । यदि स्वरूप मात्र है तो फिर पहले के ही समान उसका अविद्या और उसकी निवृत्ति से विरोध नहीं होना चाहिए । यदि स्वरूपातिरिक्त हैं तो प्रश्न है कि कैवल्य सत्य है, या मिथ्या । यदि सत्य है तो फिर सद्वितीयतापत्ति होगी । यदि मिथ्या है तो फिर उसी के द्वारा अविद्या की निवृत्ति के पश्चात् भी अविद्या बनी रहेगी । अतएव आपके द्वारा प्रोक्त प्रयोजक का भी उत्तर हो गया ।

यदि अविद्या निवृत्ति को अध्यास स्वरूप नहीं मानें, तो फिर प्रश्न है, कि वह निवृत्ति स्वरूपान्तर्गत है, या स्वरूप व्यतिरिक्त। स्वरूपान्तर्गत मानें तो स्वरूप के नित्य होने से अविद्या को नित्य

निवृत्त मानना होगा । यद्यपि आप कह सकते हैं कि जैसे घट के प्रागभाव की निवृत्ति घटरूप ही है, उसी तरह अज्ञान की निवृत्ति भी ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही है, फिर भी जिस तरह घट घट के प्रागभावान्तर कालिक होता है, उसी तरह ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के भी अज्ञानान्तर कालिकत्व की सिद्धि होने लगेगी। फलतः आप का ब्रह्म नित्य नहीं अपितु कादाचित्क सिद्ध होगा।

अध्यासरूपेति । अध्यासो रूपं यस्यास्साध्यासरूपा, मिथ्येति यावत् । कथमिति । अविद्यातत्कार्ययोस्सत्त्वादित्यर्थः; अपिना कार्यविद्यमानत्वस्य समुच्चयात । सत्योपादानायाश्चेति । उपादानोपादेययोस्तुल्यसत्ताकत्वस्य तेनैवाङ्गीकारादिति भावः । नचेति । दोषनिवृत्तावध्यासनिवृत्तेर्दर्शनाद्यावदध्यासं दोषानुवृत्तिरास्थेयेति भावः । निर्मूलत्वप्रसङ्गादिति । नच दोषत्वेन तदकल्पनेप्युपादानत्वेन तत्कल्पनमस्त्विति वाच्यम, अविद्यानिवृत्तिवदेव प्रपंचस्यात्मोपादानत्वसम्भवादिति भावः । यदीति । निरुपादानत्वे अनादित्वादविद्यया सह स्थितिर्वाच्या, साचानुपपन्नेत्यर्थः । नच निरुपादानत्वेपि नानादित्वम, ब्रह्मज्ञानरूपवृत्तिसापेक्षत्वादिति वाच्यम-कार्यत्वे अविद्योपादानत्व नियमात् । नन्वविद्यानिवृत्तिरविद्योपादानैव, न ब्रह्मोपादाना; नापि निरुपादाना, नच निश्शेषाविद्यानिवृत्त्यसम्भवः, अविद्यानिवृत्तेरपि निवृत्तेः; इति शङ्कते-निवृत्तिरपीति । निवृत्तिनिवृत्तेरपि कार्यत्वेनाविद्योपादानत्वावश्यम्भावात अविद्यास्थितिरवर्जनीयैवेत्यभिप्रायेणाह-नेति । दूषणान्तरमाह-निवृत्तीति । तन्मिथ्यात्व इति । निवृत्तेर्मिथ्यात्वे प्रतियोगिन एव प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधरूपतया मोक्षकालेपि तत्सत्त्वेन प्रतियोगिरूपनिवर्त्यस्य सत्यत्वं स्यादित्यर्थः । यद्वा घटे विद्यमान एव घटो नष्ट इति भ्रमे सति तत्र प्रातिभासिकनिवृत्तिप्रतियोगिनस्सत्यत्वदर्शनादविद्यानिवृत्तेर्मिथ्यात्वे निवर्त्यसत्यत्वं स्यादित्यर्थः । निवृत्त्येपेक्षयोत्कृष्टसत्ताकत्वमापाद्यमिति न व्यावहारिकसत्यत्वसिद्धेरिष्टापादना घटादिनिवृत्तिः पक्षसमेति बोध्यम । स्वाप्नान्धकारनिवृत्तिरूपस्येति । इदं भावान्तराभावमतेन प्रदीपपरं तन्नियताभावपरं वा । प्रदीपस्य निवृत्तावपीति । निवृत्तिपदं तत्प्रयोज्यमिथ्यात्वपरम । स्वाप्नतेजस्तमोबाधकस्येति । बाधकपदं विरोधि परम । जागरपदं तत्कालीनाभावपरम ; भावान्तराभावमतेन जागरस्यैव तदभावत्वविवक्षया तत्परमेव वा । स्वाप्नतमः प्रतियोगिकायास्स्वाप्ननिवृत्तेर्मिथ्यात्वेपि न तमसस्सत्यत्वसिद्धिः जागरकालीनाभावप्रतियोगित्वेन तेजसो मिथ्यात्व सिद्ध्या तन्मिथ्यात्वसिद्धये प्रतियोगिनः प्रतिपन्नोपाधौ निषेधरूपत्वस्य, त्रैक कालिकत्वस्य वाऽनपेक्षणात । तमसो मिथ्यात्वञ्च तेजोवज्जागरकालीनाभाव प्रतियोगित्वादेवेत्यर्थः । अन्यदिति । प्रतियोगिन इति शेषः । तस्य तदुभय प्रत्यनीकत्वेपि अद्वैतसाक्षात्कारात्प्राङ् न तद्विरोधित्वमिति शङ्कामनूद्य परिहरति पूर्वमिति । नित्य निवृत्तिप्रसङ्गादिति । अविद्यास्वरूपस्यैव कदाप्यसम्भवादिति तात्पर्यम । ननु कथं ब्रह्मणोऽविद्यानिवृत्तित्वम ? तथासति घटस्यापि पटनिवृत्तित्वप्रसङ्गात , अतो ब्रह्मैवाविद्यानिवृत्तिरिति पक्षस्यानुत्थितिरेवेति किं तद्दूषणगवेषणेनेत्याशङ्क्य, कथञ्चित्तदुत्थानं समर्थयन् दूषणान्तरमप्याह-यद्यपीत्यादिना । अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावरूपत्वाभावेपि ज्ञानप्रागभावप्रतिपादनयोग्या ज्ञानशब्दबोध्यत्वमात्रेण भावरूपाज्ञानस्य ब्रह्मरूपज्ञानप्रागभावत्वाङ्गीकारेणवा तन्निवृत्तिरूपत्वम् ब्रह्मणो घट

दृष्टान्तेन उपाद्यत इति ध्येयम् । वस्तुतस्तु अन्य स्यासम्भवात् ब्रह्मैवाविद्यानिवृत्तिरिति वक्तव्य-मिति विवक्षितम् ।

ननु कथं तदनन्तरत्वस्यावश्यकत्वम् ? तन्निवृत्तेस्तत्साध्यत्वनियमात , साध्यत्वस्य चानन्तर्यनियतत्वादिति चेन् ? प्रागभावस्येव क्षेमसाधारणसाध्यत्वस्य प्रकृत्यङ्गस्य सम्भवान् इति चेन्न , यस्मिन् सत्युत्तरक्षणे यस्य सत्त्वं यदभावे यदभावस्तत्तत्साध्यमित्यादिना हि क्षेमसाधारणं साध्यत्वं निरूच्यते, तच्च प्रागभावादौ सम्भवत्येव, मङ्गले विघ्नप्रागभावः; तदभावे तदभाव इति सत्त्वात् ; नच प्रकृते तथा सम्भवः, अविद्याभावे ब्रह्माभावासिद्धेः । ननु तत्साध्यत्वाभावेपि तन्निवृत्तित्वमस्तीति चेन्न,-तथाऽदर्शनात् । किंच तदानन्तर्याभावे तत्समानकालीनतया ब्रह्मणस्तद्वि-रोधित्वाभावेन तन्निवृत्तित्वमनुपपन्नमेव । आदिपदेनाविद्योपादानकत्वादिकं विवक्षितम् । अपिच एवं ब्रह्मणोऽविद्यानिवृत्तिरूपत्वाभ्युपगमे ज्ञाननिवर्त्यत्वमविद्याया न स्यात् , ब्रह्मणस्सदातनत्वेन ज्ञानसाध्यत्वासम्भवात् , ज्ञानजन्यनिवृत्तिप्रतियोगित्वस्यैव ज्ञाननिवर्त्यस्वरूपत्वात् ।

अत्राह नवीनः-येन विना यत्तिष्ठत्येव यस्मिन् सति च न तिष्ठति , तत्तन्निवर्त्यम् , अविद्यानिवृत्तिर्ज्ञानेन साध्येत्युपचर्यते , इति । तदसत् , एवं पारिभाषिकनिवर्त्यत्वनिर्वचनेपि तत्त्वज्ञानवैयर्थ्यस्यानुद्धारात् । अविद्याया ज्ञाननिवर्त्यत्वसिद्ध्यर्थत्वान्न वैयर्थ्यमिति चेत् ? न तावत् तदविद्यास्वरूपमेव , अनादित्वेनासाध्यत्वात् । नापि तदतिरिक्तम् , सत्यत्वे अद्वैतहानेः मिथ्यात्वे तस्यानिवर्त्यत्वे तदर्थं तदुपादानाविद्यास्थित्यवश्यम्भावात् ; निवर्त्यत्वे च तस्यापि निवर्त्यत्वादनवस्थितनिवर्त्यत्वपरम्परासिद्धये तत्त्वज्ञानस्याविनाशितया तदुपादाना ज्ञानस्यावस्थितिप्रसङ्गात् । किंचाविद्यायाः ब्रह्मरूपनिवृत्तिप्रतियोगित्वस्य सिद्धत्वात् ब्रह्मणो ज्ञानोत्तरकालीनत्व-सिद्धये ज्ञानार्थप्रवृत्तिरित्यापन्नम् , तच्च न सम्भवति , ज्ञानोत्तरकालीनत्वस्यापुरुषार्थत्वात् । किंच तिष्ठत्येवेत्येवकारेणाविद्याभावो व्यावर्तनीयः, सच कथं व्यावर्तनीयः ? ब्रह्मस्वरूपस्य तस्यानादित्वात् । ननु तद्व्यावृत्तिस्तदभाव एव, अतोऽविद्याभावस्य व्यावृत्तिरविद्यैवेति कथमवि-द्याभावस्य न व्यावर्त्यतेति चेन्न,—अविद्याया मानाभावेन ब्रह्माभावस्यासिद्धेः । तदभावप्रतियो-गिनस्तत्प्रतियोगिकाभावत्वनियमादविद्यायास्स्वाभावरूपब्रह्मप्रतियोगिकाभावत्वं वाच्यम् , नचायं नियमोसिद्धः, घटत्वस्य घटान्योन्याभावात्वेपि घटान्योन्याभावस्य घटत्वाभावत्वासिद्धेरिति वाच्यम् घटान्योन्याभावे घटत्वं नास्तीति व्यवहारस्य घटान्योन्याभावविषयतया घटान्योन्याभावस्य घट-त्वाभावरूपत्वादिति चेन्न,--अप्रयोजकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः । ध्वंसप्रतियोगी न ध्वंसात्यन्ताभाव इत्यपि नियम दर्शनेन ब्रह्मरूपध्वंसप्रतियोग्यविद्यायास्तदभावत्वासिद्धेश्च । नचाविद्याया ब्रह्मप्राग-भावत्वं शङ्कनीयम् , मानाभावात् । ध्वंसप्रतियोगिनस्तत्प्रागभावत्वनियमोऽस्तीति चेन्न, अप्रयोजकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः । प्रतियोगिसमानकालीनत्वाच्च न प्रागभावत्वम् । ब्रह्मणस्सर्वदा सत्त्वेन कदाचिदपि ब्रह्म नास्तीत्यबाधितव्यवहारासिद्धेः न ब्रह्मप्रतियोगिकसंसर्गाभावसम्भवः । नच विद्यमानत्वाभावो व्यावर्त्यः, तद्विद्यमानत्वाभावापेक्षया तदभावस्यैव लघुत्वेन तस्यैव लक्षणानुप्र-वेशात । स्वाधिकरणक्षणोत्तरयावद्यत्प्रागभावकालसम्बन्धि यदिति येन विना यत्तिष्ठत्येवेत्यस्यार्थ

इति विवक्षितमिति चेन्न, एवमपि ब्रह्मस्वरूपमेव निवर्तकं वृत्तिरवच्छेदकैवेति मते असम्भव एव ब्रह्मणः प्रागभावाप्रतियोगित्वात् । किंचैवमविद्यायास्सर्वं प्रागभावप्रतियोगिनिवर्त्यत्वापत्तिः; अविद्यायाः यावद्घटादिप्रागभावकालवृत्तित्वात ; घटादिसमानकालीनब्रह्मरूपाभावप्रतियोगितया यस्मिन् सति यन्न तिष्ठतीत्येतन्नास्त्येव, घटादौ सत्यप्यविद्यमानत्वादिति चेन्न,—यस्मिन् सति न तिष्ठतीत्यनेन यदुत्तरकालीनध्वंसप्रतियोगीति विवक्षितत्वात् । ननु यदुत्तरकाले विद्यमानत्वाभाव एव विवक्षितः, नच घटोत्तरकालेऽविद्याया विद्यमानत्वाभाव इति चेन्न;—विद्यमानत्वाभावस्य व्यावहारिकस्याविद्याकाले प्रतियोगिना साकंविरोधेनासम्भवात ; तदुत्तरकाले चोपादानविरहासम्भवात् । सर्वोपशमादि श्रुतिबलाच्च विद्यमानस्याभावस्य ब्रह्मस्वरुपत्वात्तस्य च घटोत्तरकाले सत्त्वात्सद् विद्याया घटादिनिवृत्तित्वं स्यादेव । किंच मोक्षदशायां परोक्षवृत्त्यभावात अविद्याया अप्यभावात् येन विना यत्तिष्ठत्येवेत्यसिद्धम । ननु येन विनेत्यत्र प्रागभावो विवक्षित इति चेन्न ,-एवमपि घटस्य मुद्गरादिनिवर्त्यत्वाभावापत्तेः , मुद्गरप्रागभावकाले घटावस्थाननियमाभावात् घटप्रागभावकाले घटस्यासत्त्वात् । नच येन विना यत् स्वोत्पत्त्युतरकाले तिष्ठत्येवेति विवक्षितमिति वाच्यम , तथा सत्यविद्याया उत्पत्त्यभावेन निवर्त्यत्वाभावप्रसङ्गात । नच येन बिनायत् स्वाधिकरणोत्तरक्षणे तिष्ठत्येवेति विवक्षितमिति वाच्यम ; एवमपि घटरूपप्रागभावस्य घटस्पर्शनिवर्त्यत्वापत्तेः । किंच-यस्मिन् सति यन्न तिष्ठतीत्यस्य यदधिकरणक्षणोत्तरक्षणवर्त्यभावप्रतियोगीति अर्थः । स च प्रकृते न सम्भवति, अविद्या निवृत्तिकाल एवाऽऽविद्यकस्य कृत्स्नस्यापि निवृत्त्या ज्ञानाधिकरणक्षणोत्तरक्षणस्या भावात । नन्वविद्यानिवृत्तिसाध्यत्वादाविद्यकनिवृत्तेः नाविद्यया सह निवृत्तिः, किन्त्वनन्तरमेवेति ज्ञानस्य द्वितीयक्षणोऽस्त्येवेति चेन्न, अविद्यातत्कार्य निवृत्त्योर्ब्रह्मस्वरूपतया कार्यकारणभावासिद्धेः । घटकीभूतोत्तरक्षणस्योत्तरक्षणाभावेन तस्य निवर्त्यत्वाभावप्रसङ्गाच्च । ननु यस्मिन् सति यन्न तिष्ठतीत्यनेन उत्तर कालो न विवक्षितः, येन तदभावाद्दोषस्स्यात् , किन्तु यद्यत्सत्ताप्रागभावकालयोरविद्यमानाभावप्रतियोगीति विवक्षितमिति चेन्न-ज्ञानतत्प्रागभावकालयोर्ब्रह्मणो विद्यमानत्वेनाविद्यायास्तत्कालाविद्यमानाभावप्रतियोगित्वाभावेन तन्निवर्त्यत्वासम्भवात ।

यदप्याह-यस्मिन् सति यस्य अग्रिमक्षणे सत्त्वं यद्व्यतिरेके चाभावस्तत्तत्साध्यम , आत्मस्वरूपाविद्यानिवृत्तेश्च ज्ञाने सति सत्त्वं तद्व्यतिरेके चाभावः, तत्प्रतियोग्यविद्याया एव तदभावरूपत्वात्तस्या ज्ञानात्पूर्वं कल्पितताया विद्यमानत्वात , नच यद्व्यतिरेके ऽसत्त्वमिति कार्यसत्वाभाव उच्यते, उताविद्या निवृत्तेः नास्ति, तस्यास्सदात्मरूपत्वादिति वाच्यम , यस्य सत्त्वाभावः इत्यस्माद्यस्याभाव इत्यस्यैव लघुत्वात । तस्मान्नित्यसिद्धसत्यात्मस्वरूपैव मुक्तिर्ज्ञानसाध्येति । अत्र ब्रूमः अविद्याया ब्रह्माभावत्वे मानाभावः । नच तदभावप्रतियोगिनस्तत्प्रतियोगिकाभावत्वनियमः अप्रयोजकत्वे व्याप्त्यसिद्धेः । नच घटस्य घटात्यन्ताभावाभावत्वं कथं सिद्ध्येदिति वाच्यम ,-घटवति भूतले इह घटाभावो नास्तीति व्यवहारस्यातिरिक्ताभावविषयत्वे गौरवात् , घटविषयत्वमिष्यते, ब्रह्मणस्तदा सर्वत्र सत्त्वेन इहेदानीं ब्रह्म नास्तीत्यबाधित व्यवहारासिद्धेः न ब्रह्मप्रतियो

गिकाभाववत्वसम्भवः । किंच यदभावे यदभावः इत्यत्र किमभावमात्रं विवक्षितम , उत प्रतियोगिविरोध्यभावः ? नाद्यः, प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोः परस्परसाध्यत्वापत्तेः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नतत्प्रतियोगिकाभावस्य केवलान्वयित्वात् । किञ्चैवं मोक्षसाधनत्वस्य केवलान्वयित्वापत्तिः । न द्वितीयः, ब्रह्मस्वरूपाया निवृत्तेरविद्यालक्षणप्रतियोगिविरोधित्वाभावात । ननु विरोध्यभावो विवक्षितः, नच पूर्वोक्तदोषः, कैवल्यविशिष्टस्य निवृत्तित्वात् , तस्य च विरोधित्वादिति चेन्न , तथा सति क्षेमसाधारणसाध्यत्वोपपादनवैयर्थ्यात्कैवल्यविशिष्टब्रह्मस्वरूपस्य साध्यत्वं हि कैवल्यस्य साध्यत्वे पर्यवस्यति; तस्य च साध्यत्वं घटादिवदेवोपपद्यत इति । किञ्च कैवल्यस्य स्वरूपान्तर्भावबहिर्भावयोरुक्तदोषाः प्रादुष्युः ।

किंचैवमविद्या ब्रह्मणा सह भिन्नसत्ताकत्वेन विरोधाभावादद्वैतसाक्षात्कारात्प्रागिवानन्तरमपि स्यादेवेत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः । किंच दुःखानुत्पादस्य दुःखाविरोधित्वभ्रमे न हि कश्चित्प्रायश्चित्तादौ प्रवर्तते, ततश्चानादिसहचरितयोः प्रतियोग्यनुयोगिनोरविद्याब्रह्मणोरविरोधित्वे ज्ञायमाने कथं कश्चिदपि ब्रह्मस्वरूपा विद्यानिवृत्त्यर्थं श्रवणादौ प्रवर्तेत । किञ्च ब्रह्मणस्सिद्धत्वेन इच्छाया असिद्ध गोचरत्वनियतायास्तत्रासम्भवात न तदर्थं श्रवणादौ प्रवृत्तिसम्भवः । उत्तर कालदुःखप्रागभावसम्बन्धस्यासिद्धत्वात्तदर्थं प्रायश्चित्तादौ युज्यत एव प्रवृत्तिः । नच प्रकृतेपि ब्रह्मण उत्तरकालीनसम्बन्ध एव साध्यः; तत्त्वज्ञानाभावेपि ब्रह्मणो नित्यतया उत्तरकालसम्बन्धस्याक्षतेः । प्रायश्चित्ताकरणे चोत्तरकाल दुःखस्यैवोत्पत्त्या दुःखप्रागभावो न स्यादेवेति युज्यत एव तदर्थिनः प्रायश्चित्ते प्रवृत्तिः । किंच तत्त्वज्ञाने उत्पन्ने अविद्यया अविद्यमानत्वेन तत्कार्यकालस्याप्यविद्यमानत्वेन कथं तत्कालसम्बन्धस्य साध्यता ? ननु कथं दुःखप्रागभावोत्तरकालसम्बन्धस्यासिद्धता ? प्रतियोगिनोरेव सम्बन्धत्वात् , तयोश्च प्रतियोगिनोस्सिद्धत्वादिति चेन्न;—स्वस्य दुःखप्रागभावोत्तरकालसम्बन्धस्यासिद्धतया तदर्थिनः प्रायश्चित्ते प्रवृत्तिसम्भवात ।

ननु पूर्वसिद्धभूतलस्वरूपमेव पश्चात्सिद्धघटादिनिवृत्तिरित्यभावापलापवादिभिरभ्युपगम्यत इति चेत् किमनेन ? अस्माभिरत्रापि घटसंसर्गप्रत्यनीकतारूपस्य पराभिमतघटाभावाविनाभूतभावान्तरात्मक कालविशेषसंसर्गतन्मूलपरिणामादेः अत्यन्तसिद्धस्य भूतलावस्थाविशेषस्य यथायथं घटाभावत्वाभ्युपगमात् तस्य घटसंसर्गोत्तरभावित्वेन पूर्वसिद्धत्वासिद्धिः (द्धेः) । नन्वभाववादिनोऽपि कार्यप्रागभावस्य कारणाश्रयत्वात् कारणेऽपि (णेन) कार्यप्रागभावस्य सम्बन्धोऽभ्युपगतः । सम्बन्धिनः प्रागभावस्य निवृत्तौ चतत्सम्बन्ध निवृत्तिरास्थेया । सा च सम्बन्धनिवृत्तिः कारणस्वरुपानतिरेकिणीष्टा च । कार्यं तु दृश्यमानं स्वप्रागभावस्यैव निवृत्तिः ; एवं कार्यकारणयोस्सम्बन्धोऽपि स्वप्रागभावनिवृत्तिरेवेति परिशेषात् पूर्वसिद्धकारणस्वरूपमेव कार्यप्रागभावकारणयोस्सम्बन्धनिवृत्तिरिति ॥ तदप्यसत् ; कार्यतत्प्रागभावयोः (तत) कारणेन सह स्वरुपातिरिक्तसम्बन्धमनभ्युपगच्छतां पुरतो नेदं

चोद्यम् । अभ्युपगच्छतामपि कार्यसम्बन्धप्रागभावः कार्यप्रागभावकारणयोस्सम्बन्ध एवेति तस्य तन्निवृत्तित्वं युक्तम् । कार्येण वा स्वप्रागभावतत्सम्बन्धयोरप्यभावो भवतु, विरोधा विशेषात् यथैक एव प्रध्वंसः कार्यतत्प्रागभावयोः प्रतिपक्षः (क्षेपः) इत्यादि स्वयमूह्यम् ।

प्रसादः—यदि कहें कि पूर्वसिद्ध भूतल स्वरूप ही पश्चातन कालाभावी घटादि का अभाव है; यह अभाव का अपलाप करने वाले आप लोग तथा मीमांसक मानते हैं तो इसका उत्तर है कि इस कथन से आपके किसी भी अभिमत अर्थ की सिद्धि नहीं होती । क्योंकि वहाँ भी हम लोग घट संसर्ग प्रत्यनीकता विशिष्टता तथा दूसरे वादियों के अभिमत घटाभाव के अविनाभूत भावान्तरात्मक कालविशेष का सम्बन्ध तज्जन्य परिणाम आदि (तत्कालीनद्रव्यान्तर संयोगादि) तथा प्रत्यक्ष सिद्ध भूतलावस्था विशेष को यथा योग्य घटाभाव मानते हैं । यह घटाभाव घटससर्गोत्तर कालीन ही हो सकता है; पूर्वसिद्ध नहीं कहने का अभिप्राय है कि जिसका ज्ञान होने पर जिसका ज्ञान निरुद्ध हो जाता है, वह उसका अभाव होता है, अधिष्ठान का ज्ञान होने से तो आधेय का ज्ञान निरुद्ध होता नहीं, अतएव वह उसका अभाव नहीं हो सकता । यदि कहेंकि अभाववादी भी कार्य के प्रागभाव को कारणाश्रय होने के कारण उसके कार्य के प्रागभाव का सम्बन्ध मानते हैं और सम्बन्धी के प्रागभाव की निवृत्ति होने पर उसके सम्बन्ध की निवृत्ति माननी चाहिए और वह सम्बन्ध की निवृत्ति कारण स्वरूप ही है उससे अतिरिक्त नही । अपने प्रागभाव की निवृत्ति रूप ही दृश्यमान कार्य होता है । इस तरह कार्य एवं कारण का सम्बन्ध भी कार्य के प्रागभाव की निवृत्ति रूप ही होते हैं । इस तरह परिशेषात् कार्य के प्रागभाव तथा कारण के सम्बन्ध की निवृत्ति भी पूर्वसिद्ध कारण स्वरूप ही होता है । तो अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन उचित नहीं है , क्योंकि कार्य तथा कार्य के प्रागभाव का कारण के साथ स्वरूपातिरिक्त सम्बन्ध नहीं मानने वालों के समक्ष आपकी यह शका शोभा नहीं देती । हम प्रागभाव के सम्बन्ध को प्रागभाव रूप ही मानते हैं । प्रागभाव की निवृत्ति रूप कार्य ही अपने प्रागभाव की निवृत्ति है , यह हम मानते है स्वरूपातिरिक्त सम्बन्ध मानने वालों के मत में भी कार्य के सम्बन्ध का प्रागभाव ही कार्य के प्रागभाव तथा कारण का सम्बन्ध है , अतः कार्य का सम्बन्ध ही कार्य के प्रागभाव की निवृत्ति रूप है । अथवा, यह भी मानने में कोई विरोध नहीं है कि कार्य ही अपने प्रागभाव के सम्बन्ध का अभाव है । जैसे एक ही प्रध्वंस कार्य तथा उसके प्रागभाव का प्रतिपक्ष होता है उसी तरह ।

घटसंसर्गप्रत्यनीकतारूपस्येति । प्रत्यनीकता रूपं धर्मो यस्य तत् प्रत्यनीकतारूपम् , तच्च कालविशेषसंसर्गादेर्विशेषणम् । घटाभावाविनाभूतेति । घटाभावाधिकरणत्वेन पराभिमतदेश निष्ठेत्यर्थः । परिणामादेनित्यादिपदेन तदानीन्तनद्रव्यान्तरसंयोगादिकं गृह्यते । तच्चावस्थाविशेषस्य समानाधिकरण विशेषणम् । नेदं चोद्य मिति । प्रागभावसम्बन्धस्य प्रागभावाभिन्नतया प्रागभाव निवृत्तिरूपस्य कार्यस्यैव स्वप्रागभावसम्बन्धनिवृत्तिरूपत्वादित्यर्थः । अभ्युपगच्छतामिति । कार्य-सम्बन्धप्रागभाव एव कार्यप्रागभावकारणयोस्सम्बन्ध इति योजना । तस्य कार्यसम्बन्धस्य । तन्निवृत्तित्वम् कार्यप्रागभावसम्बन्धनिवृत्तित्वम् ।

ननु भवतामप्यविद्यानिवृत्तिः पूर्वसिद्धजीवस्वरूपाविर्भाव एव, 'स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यत' इति श्रुत्यनुसारात् । तद्वत् ब्रह्मस्वरूपाविर्भाव एवास्माकमविद्यानिवृत्तिरस्त्विति

चेन्न, संसारदशायामनाविर्भूतानेकाकारगोचरस्याविर्भावशब्दार्थस्य धर्मभूतज्ञानविकास-विशेषस्य पूर्वं कर्मणा प्रतिबद्धस्य पश्चात्तन्निवृत्तौ स्वरूपानुबन्धित्वादनिवर्तनीयस्यास्माभिरभ्युपगमात् । भवतस्तु निराकारे ब्रह्मणि नित्याविर्भूतज्ञप्ति (व्यक्ति) मात्रस्वरूपे नापूर्वः कश्चिदाविर्भावः । ननु ब्रह्माकारविवृत्ता (वर्ता) न्तःकरणवृत्त्युपलक्षितस्वरूपेणापूर्वेण ब्रह्म स्वाज्ञाननिवृत्तिः; कारणविनाशाच्चोपलक्षकान्तःकरणवृत्तिविनाशे तदुपलक्षणाभावेन न सद्वितीयत्वादि प्रसङ्गावकाश इति चेत्–तदप्यतिमन्दम्, उपलक्षणस्वरूपस्यैव निष्कर्षवशान्निवृत्तिरूपत्वप्रसंगेनाध्यासरूपत्व (वि) कल्पनानुप्रवेशात्; तस्य च दूषितत्वात् । उक्तानां च विकल्पोत्त (रान्त) राणां तथाविधान्तःकरण वृत्ति (वि) नाशे तन्मूलो (तन्निमित्तो) पलक्षणनाशे च तुल्यप्रसरत्वात् (इति) । बहिर्भावे तु सद्वितीयत्वापत्तेः । समुच्चये विरोधात् । आकारभेदकल्पनेऽनवस्थानात् । आकारैक्ये भेदाभेदयोरैक्यप्रसङ्गात् । किञ्च बहिर्भावे [च] किमनादिः, उतादिमती ? पूर्वत्र नित्यमविद्यानिवृत्तिप्रसङ्गः । उत्तरत्र कारणाभावात् कार्याभावः । न हि मिथ्याभूतमविद्यादिकं सत्यभूतायास्तस्याः कारणं सम्भवति असत्यात् सत्योत्पत्तेरन्यत्र (३०) दूषणात् । न च सत्यं ब्रह्मैव तत्कारणमस्तिवति वाच्यम्, तदनादित्वप्रसंगेन प्रागुक्तोपद्रवात् । न च (...... विगलितशबलभावम् ब्रह्मैव तत्कारणम्, शबलभावविगलनस्यैव कारणान्वेषणेनाऽऽत्माश्रय [त्व] प्रसङ्गात् ।

प्रसाद—यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि 'स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते' अर्थात् विद्याप्राप्त जीव शरीर पात के पश्चात् आविर्भूत गुणाष्टक हो जाता है इस छान्दोग्यश्रुति के अनुसार विशिष्टाद्वैती भी जीवोंके पूर्वसिद्ध स्वरूप के आविर्भाव को ही अविद्या की निवृत्ति मानते हैं, इसी तरह हमारे मत में भी ब्रह्मके स्वरूपाविर्भाव को ही अविद्या की निवृत्ति मानी जाती है, तो वे यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि हम मानते हैं कि संसार दशा में जीवों का धर्म भूतज्ञान अविकसित रहता है अतएव अनेक प्रकार का प्रतीत होता है, और मुक्तावस्था में वह विकसित हो जाता है, इस धर्मभूतज्ञान के विकास को ही आविर्भाव शब्द से अभिहित किया जाता है, संसारावस्था में वह धर्मभूतज्ञान कर्मों के द्वारा संकुचित रहता है, प्रतिबन्धक कर्मों के निवृत्त हो जाने पर वह स्वाभाविक रूप से विकसित हो जाता है, यह स्वरूपाविर्भाव स्वाभाविक है, इसमें निवर्तनीय कुछ भी नहीं है। अद्वैतमत में ब्रह्म को निराकार माना जाता है, उसका ज्ञानमात्र स्वरूप नित्य ही विकसित रहता है। उसमें कोई भी नवीन आविर्भाव नहीं होता। अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन कोई महत्व नहीं रखता कि ब्रह्म के आकाररूप से विवर्तित होने वाली अन्तःकरण की वृत्ति से उपलक्षित स्वरूप वाले अपूर्व (अदृष्ट) के द्वारा ब्रह्म के अपने अज्ञान की निवृत्ति होती है; कारण के विनाश हो जाने से उपलक्षक अन्तःकरण की वृत्ति का विनाश हो जाने पर उसके उपलक्षण का अभाव हो जाने से ब्रह्म की सद्वितीयतापत्ति आदि नहीं होंगे। क्योंकि निष्कर्ष के द्वारा उपलक्षण के स्वरूप की ही निवृत्ति हो जाने के कारण ही अध्यास की सिद्धि होती है, उस अध्यास का खण्डन हम

पहले ही कर चुके हैं, और उपर्युक्त दूसरे विकल्पों का खण्डन तो अध्यास के समान ही यह कह कर हो जाता है कि, उस तरह की अन्तःकरण की वृत्ति का विनाश हो जाने से वृत्ति मूलक उपलक्षण का विनाश हो जाने पर उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि वे विकल्प अध्यास बहिर्भूत होंगे तो फिर ब्रह्म की सद्वितीयतापत्ति होगी। और उनको अध्यासान्तर्भूत तथा बहिर्भूत मानने पर तो यह विरोध होगा कि कोई भी वस्तु किसी के अन्तर्भूत तथा बहिर्भूत नहीं होती। इस विकल्पमें अध्यासान्तर्भाव तथा बहिर्भाव दोनों के दोष भी होंगे। यदि कहें कि उस विकल्प की किसी आकार विशिष्ट रूप से अध्यासान्तर्गत तथा किसी आकार विशिष्ट रुप से अध्यास बहिर्भूत रूप से कल्पना करने में कोई दोष नहीं है, तो प्रश्न है कि अन्तर्भाव एवं बहिर्भाव का प्रयोजक आकार भेद भिन्न भिन्न है, अथवा एक हीं ? यदि भिन्न तो फिर उस प्रयोजक का भी प्रयोजक कोई आकार भेदान्तर होना चाहिए, इस तरह अनवस्था दोष होगा। यदि एक ही वह आकार है, तो फिर आपके मत में भेद और अभेद की एकता स्वीकार करना होगा। क्योंकि यहाँ पर आपको अन्तर्भाव एवं बहिर्भाव पदों के द्वारा अभेद एवं भेद ही अभिप्रेत हैं। उन दोनों का एक आकार से भेद अभिप्रेत है। दो विरुद्धों का (अन्तर्भाव एवं बहिर्भाव का) सामानाधिकरण्य होने से दोनों की एकता आपको स्वीकार करनी होगी। किञ्च प्रश्न है कि यदि अविद्या निवृत्ति अध्यास से बहिर्भूत है, तो वह सादि है अथवा अनादि ? यदि वह अनादि है तो फिर अविद्या की निवृत्ति के नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा। यदि वह सादि है तो नियम है कि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। मिथ्या अविद्या तथा उसके कार्य सत्य अविद्या निवृत्ति के कारण नहीं हो सकते। किञ्च आप के असत्य से सत्य की उत्पत्ति की मान्यता का हम तीसवें वाद में खण्डन कर चुके हैं। अविद्या की निवृत्ति का कारण सत्य ब्रह्म को भी नहीं माना जा सकता है, ब्रह्म के नित्य होने से ही नित्य अविद्या की निवृत्ति का प्रसङ्ग होगा। किञ्च (शबल रहित) शुद्ध ब्रह्म अविद्या निवृत्ति का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जब अविद्या निवृत्ति हो तो ब्रह्मका शबलभाव विनष्ट हो और ब्रह्म के शबलभाव के विनष्ट होने पर अविद्या की निवृत्ति हो; इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा।

स्वरूपानुबन्धित्वादनिवर्तनीयस्येति। कर्मनिबन्धनत्वाभावोऽनिवर्तनीयत्वं च "स्वेन रूपेण" इत्यनेन विवक्षितमिति भावः। तदुपलक्षणाभावेनेति। उपलक्षककाकाधीनोत्क्रमणत्ववद-त्राप्युपलक्षकवृत्त्यधीनः कश्चिद्धर्मविशेषः उपलक्षणशब्देन विवक्षितः। अत एवाह-तन्मूलोपलक्षणविनाशेचेति। बहिर्भाव इति। ननु भावाद्वैताङ्गीकारादभावेन सद्वितीयत्वं न दोषायेति चेन्न, अद्वितीयश्रुतेस्सङ्कोचप्रसङ्गात। तदङ्गीकारे च मानान्तरश्रुत्यन्तराविरुद्धविषयत्वमेव युक्तम्। नन्वन्तर्भावान्न बहिर्भावप्रयुक्तो दोषः; बहिर्भावान्नान्तर्भावप्रयुक्तो दोष इति शङ्कामनूद्य परिहरति समुच्चय इति। अन्तर्भावबहिर्भावयोः सत्त्वे उभयप्रयुक्तदोषस्स्यात, नत्वन्यतरेण इतरप्रयुक्तदोषनिरास इत्यपि द्रष्टव्यम्। ननु स्वरूपेणैवैकस्यान्तर्भावबहिर्भावयोः कल्पने विरोधः; नतु किञ्चिदाकारविशिष्टरूपेण तत्कल्पने, इत्याशङ्क्य; किं केनचिदाकारेणान्तर्भावः आकारान्तरेण बहिर्भाव इत्यन्तर्भाव बहिर्भावप्रयोजकाकारभेद इष्यते, उतैक एवाकार उभयप्रयोजक इति विकल्पमभिप्रेत्याद्यं दूषयति-आकारभेदेति। तयोरप्याकारयोरन्तर्भावबहिर्भावान्तराङ्गीकारे तत्तत्पक्षोक्तदोषप्रसंगेन समुच्चयस्यैवाङ्गीकर्तव्यत्वात्, तत्र च विरोधपरिहाराय तत्राप्याकारभेदो वाच्यः, तत्रापि तथेत्यनवस्थेत्यर्थः। द्वितीयं दूषयति-आकारैक्य इति। अन्तर्भावबहिर्भावपदाभ्यामभेदभेदौ विव

क्षितौ। तयोर्भेद एकेनाकारेण विरुद्धयोस्सामानाधिकरण्योपपादनासम्भवात्तयोरैक्यं स्यादिति भावः। किंचेति। सा-अविद्यानिवृत्तिः। नित्यमिति। कदाप्यविद्यातत्कार्ययोरुपलम्भो न स्यादित्यर्थः। किंच ब्रह्मव्यतिरिक्तायाः पारमार्थिकाया जन्याया निवृत्तेरभ्युपगमेपि भिन्नसत्ताकायाः अविद्यायास्तया सह विरोधाभावान्निवृत्त्युत्पत्तावप्यविद्या तिष्ठत्येवेति अनिर्मोक्षप्रसङ्गः। व्याघातादीति। व्याघातपदेन सत्त्वासत्त्वयोस्स्वरूपतो विरोधो दर्शितः। आदिपदेनाद्वैतश्रुतिविरोधादयो विवक्षिताः। नचेति। मोक्षदशायां यावत्प्रपञ्चनिवृत्तेर्वक्तव्यतया निवृत्तेर्मिथ्यात्वे स्वप्रतियोगित्वं वक्तव्यम्, तच्च व्याहतमित्यर्थः।

नन्वविद्यानिवृत्तिर्न सती, ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वात। नापि सदसदात्मिका, व्याघातादिदोष शतोन्मेषात्। न च सदसद्विलक्षणा, सदसद्विलक्षणानिवृत्त्यात्मकत्वव्याघातात। अतः परिशेषादसती वा; तामपि कोटिं परित्यज्य पञ्चमप्रकारो (रा) वा। भावाभावयोरेव हि सदसदादिप्रकारा निवृत्तयः। सदसद्विलक्षणश्चा (त्व) ज्ञानम्, तन्निवृत्तिश्च प्रमाणसिद्धेति सदसदनिर्वचनीयाज्ञानानुसारेण यक्षानुरूपो बलिरिति न्यायात सदसदादिसर्वप्रकारविलक्षणा तन्निवृत्तिः कल्प्यत इति किं नोपपन्नमिति चेत् (चेन्न)– अहो परापादनीयमात्मनः परिवादमात्मनैवाऽऽविष्कृत्य वैदग्ध्यमभिनयसि। तथा हि—कोटित्रयस्य भवतैव दूषितत्वात् अल्पशेषं कृतं शत्रुकार्यम्। यत्तु-असतीवेत्युक्तम्; तत्र भावान्तराभावनयेन भावान्तरविवक्षायां सद्वितीयत्वप्रसङ्गः। अतिरिक्ताभावविवक्षायां च सद्वितीयत्वं तेनैवाभावेन तत्प्रतियोगिना च सत्येन (सत्यत्वेन) दुस्त्यजम्, अभाववादिनां सत्यस्यैवाभावप्रतियोगित्वात। निरुपाख्यविवक्षायां च तस्याः शशशृङ्गादिवत् अकार्यत्वप्रसङ्गः, ततश्च पूर्ववत् सर्वदैवाविद्यानिवृत्तिर्निवार्येत्यसंसारः। तस्याः संसारस्य चाविरोधे अनिर्मोक्षः॥ परमार्थतः सर्वदा संसाराभावात् [वः ?] तत एव परमार्थमोक्षाभावश्चेति नानिष्टप्रसङ्गाविमाविति चेन्न, व्यावहारिकबन्धमोक्षव्यवस्थाभङ्गस्यैव प्रसज्यमानत्वात। तामपि व्यवस्थां परित्यजतः लौकिकवैदिकसर्वव्यवहारविलोपप्रसङ्गः।

प्रसाद—यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि अविद्या की निवृत्ति सत् नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म व्यतिरिक्त है। वह सत् एवं असत् दोनों नहीं है, क्योंकि इस मान्यता में विरोध आदि अनेक सत् एवं असत् दोनों पक्षों के दोष आयेंगे। उसे सत् एवं असत् से विलक्षण भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस विकल्प में आपके द्वारा सत् एवं असत् विलक्षणत्व खण्डन में प्रोक्त सभी दोष आयेंगे। इसीलिए उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। इस तरह इस चौथी कोटिका भी परित्याग करके कोई पाञ्चवाँ ही प्रकार मानना होगा। क्योंकि सत् एवं असत् आदि (मिथ्यात्व) की निवृत्ति सत् एवं असत् पदार्थ की ही होती है। अज्ञान तो सत् एवं असत् से विलक्षण है। अज्ञान की निवृत्ति भी प्रमाण सिद्ध है। अतएव जैसा यक्ष वैसी ही बलि होती है; इस नियम के अनुसार सदसदनिर्वचनीय अज्ञान की निवृत्ति को भी सदसद

निर्वचनीय मान लेना चाहिए । ऐसा मानने में कौन सी आपत्ति है ? तो प्रश्न है कि क्या दूसरों द्वारा दिखाये जाने वाले दोषों को स्वयम् दिखाकर आप अपनी निपुणता का अभिनय कर रहे हो क्या ? क्योंकि अविद्या निवृत्ति विषयक तीन कोटियों का तो स्वयम् खण्डन करके आपने शत्रु का कार्य थोड़ा हल्का कर दिया है । चौथी कोटि में उसे आपने असतीवा कहा है, उसके विषय में कहना है कि अभाव को भावान्तर रूप मानने वालों के अनुसार आपकी अविद्या निवृत्ति को भावान्तर रूप मानने पर सद्वितीयतापत्ति होगी । यदि भावान्तर व्यतिरिक्तअभाव को मानें तो उसकी अभाव तथा अभाव के प्रतियोगी के द्वारा सद्वितीयतापत्ति होगी ही । क्योंकि अभाववादी सत्य को ही अभाव का प्रतियोगी मानते हैं । यदि आप अभाव को भाव रूप नहीं मानकर निरुपाख्य(तुच्छ)मानें तो फिर वह उसी तरह कादाचित्क नहीं होगी जिसतरह शशशृङ्गादि । फलतः आपके मतमें पहले के ही समान सर्वदा अविद्या की निवृत्ति बनी रहती संसार रहता ही नहीं । यदि कहेंकि अविद्यानिवृत्ति तथा ससार का परस्पर में अविरोध है; तो फिर कभी भी संसार की निवृत्ति ही नहीं होगी । यदि कहेंकि परमार्थतः तो सर्वदैव ससार का अभाव है, अतएव परमार्थतः मोक्ष होता ही नहीं, इस तरह आपके द्वारा प्रोक्त दोनों दोषों से हमारे मत की कोई भी क्षति नही है ; तो ऐसा आप नही कह सकते, आपके मत में व्यावहारिक ही सही बन्ध एवम् मोक्ष की व्यवस्था के भङ्गका प्रसङ्ग तो होगा ही । यदि आप उस व्यवस्था का भी परित्याग कर दें, तो आप के मत में सभी लौकिक एवं बौदिक व्यवहारों का लोप हो जायेगा ।

ननु सत्त्वमसत्त्वं मिथ्यात्वं वा स्यात् , कथं पञ्चमप्रकारत्वमित्यत्राह-भावाभावयोरिति । सदसतोरित्यर्थः । आदिपदेन मिथ्यात्वं विवक्षितम् । सतो घटादेस्सद्रूपा मिथ्यारूपा च निरुपाख्यस्य निरुपाख्येत्यर्थः । ननु कथं सद्विलक्षणाया असद्विलक्षणायाश्च निवृत्तेस्सदसद्विलक्षणत्वम् , व्याघातादिति चेन्न,-सदसद्विलक्षणत्वेपि मिथ्यावैलक्षण्यसम्भवात् । ननु दृष्टानुसारेण सत्त्वमनिर्वचनीयत्वं वा स्यात् , यदि च तथा नेष्यते , तर्हि निवृत्तिरसत्यैव स्यादित्यत्राह तन्निवृत्तिरिति । सदादिरूपत्वस्यासम्भवात् ख्यातिबाधाभ्यां प्रामाणिकार्थविलक्षणानिर्वचनीयवत् तद्विलक्षणतन्निवृत्त्यङ्गीकारो युक्त इत्यर्थः । किमसतीत्यनेन भावरूपत्वम् , उत निरुपाख्यत्वमिति विकल्पमभिप्रेत्य आद्यं दूषयति तन्नेत्यादिना अभावप्रतियोगित्वादित्यन्तेन । सद्वितीयत्वप्रसङ्ग इति । मिथ्यात्वस्य पूर्वोक्तन्यायेनासम्भवादिति भावः । तेनैवेति । पूर्वोक्तन्याय एव विवक्षितः तत्प्रतियोगिनेत्यत्र हेतुमाह-अभाववादिनामिति । ध्वंसस्य निरुपाख्यत्वमनभ्युपगच्छतां तदन्यूनसत्ताकस्येव तत्प्रतियोगित्वादित्यर्थः ।

किञ्च अविद्यानिवृत्तेरसत्त्वे नित्यमविद्यासद्भावप्रसङ्गः । ननु घटप्रध्वंसस्यासद्रूपत्वेऽपि घटादेः कादाचित्कत्ववत् अविद्याप्रध्वंसस्यासद्रूपत्वेऽप्यविद्यायाः कादाचित्कत्वमुपपद्यत इति चेन्न, घटप्रध्वंसस्य असद्रूपत्वाभावात् । स ह्यभावात्मकोऽपि तत्कालीनतया प्रमाणात्सिद्धः । अन्यथा घटनित्यत्वस्यापि दुर्निवारत्वात् ॥ असद्रूपमेव घटप्रध्वंसमभ्युपेत्य दूषणं ब्रूया इति चेन्न—शमलं भक्षय , शापितोऽसि गुरुणेत्यादिवदशक्यत्वाद शक्यत्वाभ्युपगमे वा त्वयैव दूषणमनुमतमिति किमस्माकं तत्समर्थनेन ?

प्रसादः—किञ्च अविद्या निवृत्ति को अभाव रूप मानने पर अविद्या के नित्य सद्भाव का प्रसङ्ग होगा। यदि कहें कि जिस तरह घट का प्रध्वंस यद्यपि अभावरूप होता है, फिर भी घट आदि कादाचित्क हैं उसी तरह अविद्या का प्रध्वंस असत् रूप होता है फिर भी अविद्या कादाचित्क होती है। तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि घट का प्रध्वंस असत् रूप है ही नहीं। घट का प्रध्वंस अभावात्मक होने पर भी तत्कालीन प्रमाण सिद्ध है। अन्यथा घट प्रध्वन्स को असत् मानने पर घट की नित्यतापत्ति होगी। यदि कहें कि अभाव को असद्रूप ही मानकर आप दूषण दें तो आपकी यह बात नहीं मानी जा सकती है क्योंकि न्याय भाष्यकार को अभाव भावव्यतिरिक्त रूप से ही अभिप्रेत है; तुच्छरूप से नहीं। अभाव को असद्रूप मानने को आपके ही आचार्य ने मल भक्षण के सदृश घृणित बतलाया है। अतएव अभाव को तुच्छ नहीं माना जा सकता। अविद्या निवृत्ति को तुच्छ मानने पर आपके ही मत में अविद्या की नित्य स्थिति का प्रसङ्ग रूपी दोष होगा।

अशक्यत्वादिति। अभ्युपगमस्येति शेषः। दूषणमनुमतमिति। अभ्युपगममापादयता त्वया तथा स्वरूपानङ्गीकाराद्दूषणमनुमतमेवेत्यर्थः। यद्वा निवृत्तेर्ब्रह्मस्वरूपत्वतदतिरिक्तत्वपारमार्थिकत्वपञ्चमप्रकारत्वान्यतर पक्षमेव समर्थयता त्वया अविद्यानिवृत्तेरसत्त्वे दूषणमनुमतमेवेत्यर्थः।

पञ्चमीं कोटिमाटीकमानस्यापि ते न काचित् गतिः। सा हि माध्यमिकगोष्ठीमध्ये भवन्तमध्यारोप्य अनिर्वचनीयाग्रहाविशिष्टं च सदद्वितीयं ब्रह्म विलुम्पन्ती त्रय्यन्तवादवारवाणमवधूय अन्तर्गतं प्रकाशयेत्। ते ह्येवमाहुः, 'न सन्नासन्न सदसन्न चाप्युभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥' इति। न चैकदेशवैषम्याद्विशेषः, पञ्चमकोटिपरिग्रहस्य भिक्षुपादप्रसरणन्यायेन समस्तभवत्सिद्धान्तावस्कन्दात [न्दकत्वात् ?] व्यवस्थाहेतूनामपि व्यावहारिकत्वेनाव्यावस्थितत्वस्यैव व्यवस्थितत्वात्। न च यक्षानुरूपो बलिरिति न्यायस्यात्रावकाशः, आनुरूप्यस्य विरोधित्वरूपत्वे सदसदनिर्वचनीयाज्ञाननिवृत्तेरप्यनिर्वचनीय [रूप] त्वप्रसङ्गात्। विरोधिरूपत्वे त्वनिर्वचनीयप्रत्यनीकत्वस्य निर्वचनीयत्वेन सदसत्त्व [तत्] समुच्चयकोटिबहिर्भावायोगात्। तस्याश्च दूषितत्वात्। यदा च भवदभिमता सदसद्विलक्षणकोटिरपि निशिततर्कशूलकोटिमारोपिता, तदा कैव कथा निर्विशेषपरब्रह्माधिष्ठानानिर्वचनीयभावरूपाज्ञानविक्षेपात्मकात्मव्यतिरिक्तजडरूपाहमर्थाहङ्कारवृत्तिविशेषरूपमिथ्यास्वरूपतत्त्वमस्यादिवाक्यलक्षणाप्रभवब्रह्मात्मैक्यविज्ञानकृत [जन्य] सदसदनिर्वचनीयविश्वनिवृत्तिरूपाया गन्धर्वनगरगोपुराधिरूढगगनारविन्दमकरन्दपानरतमरुमरीचिवन्ध्यासुतशुभकरतलकलितखरविषाणकोदण्डकोटिघटितकमठरोमशिञ्जिनीनिर्यन्त्र निर्यदैन्द्रजा-

लिकशरशलाकाकृतभविष्यद्देवदत्तपुत्रशिरश्छेदसोदरायाः दुरभिलपकारकज्ञापकायाः पञ्च-म्याः कोटेरित्यलमपरिणतभणितिपरिहसनेनेति ॥

॥ इति शतदूषण्याम् निवृत्त्यनुपपत्तिवादः चतुश्चत्वारिंशः ॥



प्रसाद—अविद्या निवृत्ति को सदसदनिर्वचनीय मानने पर भी आपका निर्वाह होना असम्भव है। आपकी यह मान्यता आपको माध्यमिकों की गोष्ठी में बैठा देगी और आपके औपनिषदत्व कवच को विनष्ट कर देगी। क्योंकि आपकी इस मान्यता से आपका यह जो आग्रह है कि ब्रह्म व्यतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुएँ सदसदनिर्वचनीय हैं वह विनष्ट हो जायेगी; साथ ही आपका अद्वितीय ब्रह्म भी विलुप्त हो जायेगा, क्योंकि आपको द्वितीय निवृत्ति पदार्थ इष्ट है। माध्यमिकों ने कहा भी है—माध्यमिकों को अभिमत शून्य तत्त्व, न तो सत् है, न असत्, न सदसत् और न तो सदसद् व्यतिरिक्त। यदि कहें कि थोडी समता होने पर भी माध्यमिक और अद्वैतमत में अनेक विषमताएँ हैं, अतएव माध्यमिक मत प्रवेश का प्रसङ्ग नहीं है। तो ऐसी बात नहीं है, यह आपका पाञ्चवी कोटि स्वीकार भिक्षुपाद प्रसरण न्याय से आपके सम्पूर्ण मत को विनष्ट कर देगा। व्यवस्था हेतूनामपि० इत्यादि—प्रातिभासिक से भिन्न व्यावहारिक व्यवस्था के सिद्धयर्थं ही आप को व्यावहारिक सत्यत्व अभिप्रेत है; उसको स्वीकार करने पर भी व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रपञ्च के व्यावहारिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रपञ्च की निवृत्ति के ही समान यह पञ्चम विकल्प भी असम्भव है। यहाँ पर यक्षानुरूप बलि न्याय का भी अवकाश नहीं है। आनुरूप्य को सजातीयत्व रूप मानने पर सदसदनिर्वचनीय अज्ञान की निवृत्ति को भी अनिर्वचनीय मानना होगा। यदि आनुरूप्य को विसजातीयत्वरूप मानें तो सदसदनिर्वचनीयत्व के निर्वचनीयत्व रूप होने के कारण अविद्या निवृत्ति सत् एवं असत् कोटियों के बाहर नहीं जा सकती है। और उन कोटि का हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं। जब कि आपको अभिप्रेत सदसद् विलक्षण कोटि भी तीक्ष्ण तर्क रूपी शूल की कोटि पर चढा दी गयी तो फिर आपकी इस पाँचवीं कोटि के विषय में क्या कहना है, जो निर्विशेष पर ब्रह्माधिष्ठानक अनिर्वचनीय भावरूप अज्ञान की विक्षेप शक्ति रूप आत्मा से भिन्न जड अहमर्थ रूप अहङ्कार की वृत्ति विशेष रूप मिथ्या स्वरूप वाले तत्त्वमसि आदि वाक्यों में लक्षणावृत्ति के द्वारा उत्पन्न ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान जन्य सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति रूप है, तथा जो गन्धर्व नगर के गोपुर पर आरूढ आकाश कमल के मद्यपान से मत्त, बन्ध्यासुत के शुभकर कमलोंमें विराजमान शशशृङ्ग धनुष के अग्रभाग में बँधे हुई कछुए की पीठ के रोम की डोरी से विना प्रयास के ही छूटने वाले मायिक बाणों के अग्रभाग से भविष्यत् कालिक देवदत्त के शिरश्छेद के समान तुच्छ है, तथा जिसका न तो कोई कारक है और न तो कोई ज्ञापक है इस तरह अपरिपक्व बुद्धिजन्य अद्वैत मत का अधिक मजाक उड़ाना व्यर्थ है।

इस तरह शतदूषणी का निवृत्त्यनुपपत्ति नामक चौवालिसवाँ वाद समाप्त हुआ ॥



अविशिष्टमिति क्रियाविशेषणम् । अविशेषेणेत्यर्थः । अन्तर्गतमिति । त्वत्स्वान्तान्तर्गतत्वात् गतं त्वद्गुरुपक्षपक्षपातमित्यर्थः । यद्वा कञ्चुकपिहितं बौद्धत्वमित्यर्थः । नचेति । किञ्चित्साम्यमात्रात्तन्मतप्रवेशापादनेऽतिप्रसङ्ग इति भावः । व्यवस्थाहेतूनामिति । प्रातिभासिकव्यावृत्तव्यावहारिकव्यवस्थासिद्धये हि व्यावहारिकसत्यत्वमिष्यते, तदङ्गीकारेपि व्यवस्थाया असिद्धेर्न प्रपञ्चस्यापि व्यावहारिकत्वमेष्टव्यम् , तन्निवृत्तिवदेव पञ्चमप्रकारत्वसम्भवादित्यर्थः । आनुरूप्यस्येति । अविरोधित्वम् सजातीयत्वम् । विरोधिरूपत्व इति । विजातीयत्वरूपत्व इत्यर्थः । निवृत्तेस्सदसदनिर्वचनीयाविद्याकल्पनं प्रत्यानुकूलम् विजातीयत्व एव सिद्ध्यति ; सजातीयत्वे यावन्मिथ्यावस्तुनिवृत्त्यभावप्रसङ्गादित्यर्थः । किञ्च निवृत्तेः प्रतियोगिसमानसत्ताकत्वाभावे तद्विरोधाभावादनिर्मोक्षप्रसङ्गः । नच निवृत्तित्वेनैव प्रतियोगिना साकं विरोधः, घटे विद्यमान एव प्रतिभासिक रूपायास्तन्निवृत्तेदर्शनात् । नच भिन्नसत्ताकत्वाभाव एव विरोधप्रयोजकः; लाघवेन तुल्यसत्ताकत्वस्यैव प्रयोजकत्वात् । किंचास्या निवृत्तेरध्यस्तत्वे पञ्चम प्रकारत्वभंगः ; अनध्यस्तत्वे प्रकाशाभावप्रसङ्गः , स्वतस्संविद्रूपत्वविरहात्तदध्य स्तत्वविरहाच्च , संविदतिरिक्तस्य दृग्दृश्यसम्बन्धनिराकरणेन संविदध्यासादेव हि प्रकाशम् ब्रूषे । यदि चात्रान्यसम्बन्ध इष्यते , किम् परार्थं घटादिना ।

अत्र पञ्चमप्रकारमुपपादयन् यदाह नवीनः-अविद्यानिवृत्तिर्नात्मा, अभावत्वात् , किन्तु पंचमप्रकारा, सा च न पुरुषार्थः; सद्विलक्षणत्वादसुखत्वाच्च; किंच आत्मैव परमानन्दः पुरुषार्थः नचैवमविद्यानिवृत्तेरप्रार्थ्यत्वात्तदुपायज्ञानप्रयासो व्यर्थः , पुरुषार्थप्रतिबन्धकनिवेत्तित्वेन तस्याः काम्यमानत्वात् , नन्वविद्या किं प्रतिबध्नाति ? नतावन्मोक्षस्वरूपम् , तस्यात्मस्वरुपतया सदानपायात् , नापि तज्ज्ञानम् , तत एवेति चेन्न,-आनन्दात्मस्वरुपोपि मोक्षः , अनर्थश्च दुःखात्मा तत्प्रतिकूलः अविद्या च तद्धेतुः, एवञ्च आनन्दात्मकब्रह्मविपरीतानर्थदर्शनेन नित्यात्मभूतोपि मोक्षोऽसत्कल्पो नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यो बभूव, ततश्चाकृतार्थता; निवृत्ते चाज्ञाने निरस्तनिखिलानर्थपरमानन्द आ,माऽऽप्यत इवेत्यविद्यानिवृत्तिपुरुषार्थोपि काम्यत इति । तत्र किमिदमाप्यत इवेति ? किमपारमार्थ्यं विवक्षितम् , उत सादृश्यम् ? नाद्यः , ब्रह्मणो नित्याप्तत्वात् । पूर्वमनवाप्तत्वे सति इदानीमाप्तत्वं नास्तीति चेत् ? तर्हीदानीमाप्यत इति बुध्द्युत्पत्तये निवृत्तिः काम्यत इत्यागतम् । तत्र सा किं ब्रह्मस्वरूपमेव, उत वृत्तिः ? नाद्यः, तस्य नित्यसिद्धत्वात् । न द्वितीयः, अविद्यायां निवृत्तायां कारणाभावेन वृत्त्युत्पत्तेरयोगात् । न द्वितीयः , आप्तत्वादेव । तस्मात्पुरुषार्थसाधनत्वरहिताया निवृत्तेस्स्वतः पुरुषार्थत्वाभावे काम्यत्वमेव न स्यादिति श्रवणादौ न कश्चित्प्रवर्तेत । यदुक्तमनर्थदर्शनेन नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यो बभूवेति , तत्स्ववचनव्याहतम् , अविद्याधीनतिरोधानेन हि कर्तृत्वाद्यध्यासरूपानर्थसम्बन्धम् ब्रूषे , नास्तीति व्यवहारयोग्यतामेव च तिरोधानम् ।

अत्रायमस्मदाचार्याणां संग्रहः-

"निवृत्तेश्चेत्सदन्यत्वमनिर्मोक्षः प्रसज्यते । निवृत्तेर्यदि सत्यत्वमनिर्मोक्षः प्रसज्यते ॥

सत्ताभेदाद्विरोधौ न प्रतियोग्यनुयोगिनोः ।
मिथ्याकार्यं विना ऽविद्यां न तिष्ठेत् कदाचन ॥
यक्षानुरूपबलिना सत्तासाम्यं न विद्यते । गौरवाद्भिन्नसत्ताया विरहो न प्रयोजकः ॥

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायाम् चण्डमारुताख्यायां निवृत्त्यनुपपत्तिभङ्गो नाम चतुश्चत्वारिंशस्स्कन्धः ॥



❀ अथ शब्दावेद्यत्वनिरासवादः पंचचत्वारिंशः ४५ ❀

यन्नामानि परोरजांसि गृणतां यादृच्छिकैर्हेतुभिः
दुर्लंध्योऽप्युपयाति गोष्पदतुलां संसारवारांनिधिः ।
दूरे नित्यमसीमभूमकतया वाचां यदाचक्षते
तद्वन्देमहि सर्वशब्दविषयं त्र्यन्तवेद्यम् महः ॥

प्रसाद—जिन श्रीभगवान् के शुद्धसात्त्विकनिर्दोष नामों का स्मरण करने वाले जीवों के लिए यह अपार संसारसागर भगवन्नामस्मरण के स्वतन्त्र हेतुओं के द्वारा गोखुर के समान अत्यल्प बन जाता है, जिन श्रीभगवान् के सीमातीतवैपुल्य के कारण 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियाँ उन्हें वाणी का अविषय बतलाती हैं , उन सर्वशब्द वाच्य तथा वेदान्तवेद्य ज्योतिः स्वरूप श्रीभगवान् को हम वन्दना करते हैं ।

स्वार्हाभिधानमपनीय पराह्नुवानैरुत्सन्ननाम कथकैर्यदकारि मूर्खैः ।
तन्नामवर्गपरिरक्षणलब्धवर्णं सङ्कीर्तयामि सततं कविवादिसिंहम् ॥

समस्तवचसाम् लक्ष्यमपि मुख्यम् समर्थयन् ।
चित्रम् ब्रह्म चिरम् जीयाच्छ्रीनिवासगुरुर्महान् ॥

यन्नामानीति । परोरजांसीत्यस्य रजसो दूरे विद्यमानानीत्यर्थः । 'कर्तृकरणे कृता बहुलम् ' इति बहुलग्रहणात्समासः । परश्शतमित्यत्र बहुलग्रहणात्समास इति कैयटोक्तेः । पर इति च व्यत्ययेनासिप्रत्ययः । परस्तादित्यर्थः । "यत्र सप्तर्षीन् पर एवमाहु " रित्यत्र भाष्ये व्यत्ययेन परशब्दादसिप्रत्यय इति भट्टभास्करेणैवाभिधानात् । अयञ्च शब्दोऽव्ययम् वैदूर्यवचनम् । "परो दिवा पर एने" त्यत्र भाष्ये परशब्दोयमन्तोदात्तसकारान्तोऽव्ययं वैदूर्यमाचष्ट" इति भट्टभास्करेणैवाभिधानात् । वारां निधिरित्यत्र दिवस्पतिः यादसां पतिरित्यादाविव बहुलग्रहणात् षष्ठ्या अलुक् ।

यदूचिरे—निर्धूतानखिलकल्पनाजाले स्वप्रकाशचिन्मात्रे ब्रह्मणि न कस्यचिच्छब्दस्य वृत्तिः सम्भवति । न हि निमित्तमन्तरेण शब्दाः प्रवर्तेरन् । न चावेद्ये वेदकानामवकाशः । न च सर्वेषामात्मसाक्षिकं प्रकाशमाने प्रकाशकापेक्षा । न चैवमुपदेशनैरर्थक्यम् , स्वत एव प्रकाशमानेऽपि स्वरूपे कल्पितोपप्लवप्रशमनमात्रार्थतया प्रतिपन्नार्थप्रतिष्ठापनार्थप्रत्यभिज्ञापकतया वोपदेशसाफल्यात् । अतएव वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रवृत्तिरपि व्याख्याता । यद्यप्यविद्योपाधिकोपरागप्रशमनपरेषु वाक्येषु सद्ब्रह्मात्मज्ञानादिशब्दैर्ब्रह्म निर्दिश्यते , तथाऽप्युपलक्षणभूतैस्तैश्चन्द्रमस इव शखया न ब्रह्मणस्संस्पर्शः । अत एव न ब्रह्मादिशब्दनिर्देशेन स्ववचनविरोधः । न च नामकीर्तनविधीनां विरोधः , सगुणब्रह्मविषयत्वात् तेषाम् । अतएव हि परस्मिन् ब्रह्मणि, 'मौनं मन्त्रजपः' इत्याचार्याः । अन्यथा कथमसंप्रज्ञातोऽपि समाधिस्स्यात् । न च विचित्रनामरूपभाक्त्वश्रुतिविरोधः, तस्यास्तत्कार्योपहितविषयत्वस्य युष्माभिरप्यङ्गीकारात् । न च शब्दतत्त्वमेव ब्रह्मेति स्वप्रकाशत्वे स्ववाच्यतया शब्दवाच्यता ; शब्दब्रह्मणोऽपि ब्रह्मविवर्तमात्रत्वात् । अत एव स्मरन्ति ; 'शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इति । आह च साम्बः , 'शब्दार्थत्वविवर्तमान—परमज्योतीरुचो गोपतेः' इति । न च ब्रह्म शब्दवाच्यं वस्तुत्वात् घटवदित्यनुमानोदयः, काल्पनिकवाच्यत्वेन सिद्धसाधनात् । तदतिरिक्तस्य तु दृष्टान्तेऽप्यस्मन्मतेनासिद्धेः । घटादिषु (च) वस्तुत्वानभ्युपगमेन साधनविकलत्वाच्च । न च प्रकाशमानत्वादिमात्रं वस्तुत्वमिति विवक्षितमिति वाच्यम् , तथाऽपि प्रकाशमानैः शुक्तिरजतादिभिः शशविषाणादिभिश्चानैकान्त्यात् / न हि तेषां पारमार्थिकं वाच्यत्वं वोऽभी (भी) ष्टम् , स्वयमसतः परमार्थधर्मानाधारत्वात् । किञ्च यदि वाच्यत्वं वाच्यम् ; ततस्तस्यापि वाच्यत्वान्तरम् ; एवं तस्यापीत्यनवस्था । यदि पुनरवाच्यम् , तेनैवानैकान्त्यं दुष्परिहरम् । ब्रह्म न शब्द वाच्यं निर्विशेषत्वादिति प्रत्यनुमानं (मातव्यं) च । आगमे च परिपन्थिनि कथमनुमानगन्धः । तथाहि , 'यतो वाचो निवर्तन्ते , अप्राप्य मनसा सह'; 'न शब्दगोचरो यस्य योगिध्येयं परं पदम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतैर्बाधः स्फुट एव । न च सामान्य (तासामन्य ?) परत्वम् , ब्रह्मस्वरूपोपदेशपरतयैव प्रवृत्तेः । न च कतिपयशब्द निषेध [विषय] परतया सङ्कोचः , तथा सति सर्ववस्तुसाधारण्येनातिशयासिद्धेः । असङ्कोचे चास्मदुक्त-

न्यतरपक्षपरोखण्डो ग्रन्थ इति व्याख्यातम् । अथवा खण्डशो वा तत्तत्पक्षपरो ग्रन्थः । तथाहि-वृत्तिमात्रनिषेधक आह निर्धूतेति । शक्तिनिरासवाद्याह नहीति । वृत्तिसामान्यनिषेधवाद्याह-नचावेद्य इत्यारभ्य स्ववचन विरोध इत्येतदन्तम् । नाच नामेति वाक्यं मतद्वयसाधारणम् । अतएवहीत्यादिवाक्यं अन्यथे त्यादिवाक्यञ्च वृत्तिनिषेधकस्य । नच विचित्रे त्यादिवाक्यन्तु साधारणम् । वाच्यत्वाभाववादिन एकदेशी पारमार्थिकवाच्यत्वनिषेधवाद्याह-सिद्धसाधनादिति, साधनवैकल्योद्भावनम् , किचेत्यादिकं सर्वसाधारणम् ।

अत्रोच्यते-यदुक्तं समस्तविशेषरहिते ब्रह्मणि निमित्ताभावेन (भावादेव) न शब्दप्रवृत्तिरिति ; तत्र सविशेषत्वोपपादनादेव हेतुरसिद्धः । यथा च निमित्तं निमित्तान्तरमन्तरेण शब्दवाच्यं भवति , तथा स्वरूपमपीति निरूप्यतां त्वया । येषां शब्दानां यत्र यन्निमित्तद्वारेण प्रवृत्तिः , तेषामेव हि तत्र तदभावे निवृत्तिः ॥ अन्यादृशस्तु शब्दो ब्रह्मणि न दृश्यते इति चेत्-किं कुर्मः ? संकेत्यतां व्यवहाराय तथाविधः शब्दोऽपि (ब्रह्म) यच्च-'अवेद्ये वेदकानां नावकाशः ; न च स्वयंप्रकाशे प्रकाशकापेक्षा' इति—तत् स्वप्रकाशस्यापि ज्ञानान्तरवेद्यत्वस्थापनादेव परिहृतम् । यच्चोपदेशानां वेदान्तानां च कल्पितोपप्लवप्रशमनमात्रार्थत्वमुक्तम् ; तदपि तदा शोभते ; यदि स्वरूपमनिर्दिश्य उपप्लवाः शमयितुं शक्येरन् । अन्यथा ब्रह्मणो निर्विशेषत्वमपि नोक्तं स्यात् ॥ ननु किं ब्रह्म (णो) निर्देशेन ? विशेषा एव प्रतीयमाना मिथ्यात्वेन ज्ञाप्यन्ते , ब्रह्म तु स्वप्रकाशं तिष्ठत्येवेति चेत् तदपि न, 'निर्गुणम्' , 'निरञ्जनम्' इत्यादीना ब्रह्मणो विशेषणतयैव प्रयोगात् । प्रकाशमानमात्रनिषेधे च ब्रह्मणोऽपि निषेधप्रसङ्गात् । यदि अप्रख्यातप्रकारमिति विशेष्येत ; तदा (था) पि सिद्धस्तन्निर्देशः । प्रतियोगितयेति तु विशेषः । रच्चोपदेशादेः प्रत्यभिज्ञापकत्वमिति , ततः किमायातमवाच्यत्वस्य ? पूर्वप्रतिपन्नेऽपि शब्दप्रवृत्त्यनपगमात् । न [म्यु] पगमात् । यत्तु शाखाचन्द्रन्यायेन सद्ब्रह्मादिशब्दैरुपलक्षणभूतैर्न ब्रह्मणः संस्पर्श इति-तदप्यसत् । उपलक्ष्योपलक्षणयोरपि बोध्यबोधकभावलक्षणसंस्पर्शस्य सर्वत्र दुरपह्नवत्वात् ; तावतैव च शब्दवेद्यत्वसिद्धेः ॥ लक्षणामात्रं तु तत्र, न तु वाच्यत्वमिति चेत्; कुतः ? तावताऽपि शब्दवेद्यत्वस्य स्थितत्वात् । मुख्यार्थसम्बन्धादेश्च लक्षणानिमित्तस्य लाक्षणिकशब्देनापि अपेक्षा (लक्ष्य) णीयत्वाच्च ॥ एतावन्मात्रं शब्दवेद्यत्वमिष्यत इति चेत् , किमन्यदिष्यते, न तावन्निमित्ताभावादेरित्युक्तम् । न च वाङ्मनसातिगश्रुतिर्लक्षणामनुजानातीति नियामकं पश्यामः ॥ विरोधपरिहाराय वृत्तिविशेषविषयत्वेन (विषय) व्यवस्था क्रियत इति चेत्-तर्हि लक्षणावृत्तिरेव निषिद्ध्यताम् , नियामकाभावात् । अरम

स्यापि स्वप्रकाशत्वं वक्तव्यम् , शब्दप्रकाश्यत्वमेव च शब्दवाच्यत्वमिति शब्दस्य शब्दवाच्यतया तदभिन्नब्रह्मणोपि शब्दवाच्यत्वमवर्जनीय मेवेत्यत्राह नचेति । यद्यपि शब्दशक्तिविषयत्वमेव शब्द वाच्यत्वं नतु प्रकाश्यत्वमात्रमिति अभेदे सत्यपि न शब्दवाच्यत्वसिद्धिः , तथापि अभेदे सत्ये वहीयं चिन्ता, स एव नास्ति, किन्तु ब्रह्माधिष्ठानकतया तत्तादात्म्यमात्रमित्याह-शब्दब्रह्मण इति; अतएवेति । यतो भेदः , अतएव 'शब्दब्रह्म परं ब्रह्म' ति भेदेन स्मरन्तीत्यर्थः । शब्देति । "शब्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपतेरुद्गीथोभ्युदितः पुरोहणतया यस्य त्रयीमण्डले । भास्वद्वर्णपदक्रमेरिततनुस्सप्तस्वराश्वैर्वियद्वीथ्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे ॥" इति साम्ब कृतसूर्यस्तोत्रस्यायं प्रथमः श्लोकः । शब्दरूपेणार्थरूपेण च विवर्त्तमानमित्यर्थः । नचेति । वृत्ति- निषेधपक्षेपि वाच्यत्वसाधनशङ्का विरुध्यते, सामान्यं विना विशेषासिद्धेः , तस्यापि तत एव सिद्धेः । काल्पनिकेति । वाच्यत्वमङ्गीकृत्य बोध्यसमानसत्ताकशक्तिनिषेधपक्षे सिद्धसाधनमेवा वृत्तिनिषेधपक्षे शक्तिनिषेधपक्षे च ब्रह्म शब्दवाच्यमिति केषांचित्प्रतीत्या प्रातिभासिकवाच्यत्वम् ब्रह्मण्यभ्युपगम्य प्रौढ्या सिद्धसाधनोद्भावनमिति मन्तव्यम् । पारमार्थिकमेव शक्यत्वं साध्यत इत्य त्राह तदतिरिक्तस्येति । घटादिष्विवेति । व्यावहारिकसत्त्वन्तु स्वरूपासिद्धेरिति भावः । नचेति । आदिपदेन सत्त्वसामान्यं विवक्षितम् । तथापीति । सत्त्वसामान्यस्यापि शुक्तिरजताद् वेव व्यभि चार इति भावः । नहीति । पारमार्थकपदं हेतुगर्भम , नतु सत्त्वान्तरव्यावर्तकम् , सिद्धान्ते सत्त्वभेदाभावात् । एवञ्च वाच्यत्वस्य सिद्धान्ते पारमार्थिकत्वाच्छुक्तिरजतादौ तन्नेष्टम , तथाच सिद्धान्ते शुक्तिरजतादौ व्यभिचार इति भावः । यद्वा पारमार्थिकवाच्यत्वसाधन एवेदं व्यभिचा रोद्भावनम । प्रपञ्च पारमार्थिकत्वं वदतामपि भवतां शुक्तिरजतपारमार्थिकत्वं नेष्टमित्यर्थः । अत्र च पक्षे मतद्वयेपि व्यभिचार एव । वोपादिष्टमिति । युष्माभिरपि नाभ्युपगम्यत इत्यर्थः । स्वयमस सत इति । सिद्धान्तिन प्रति व्यभिचारोद्भावने भवद्भिश्शुक्तिरजतादेः प्रातिभासिकत्वानभ्युपगमात् तेषामसत्त्वमेवेष्टव्यम , अतः कथमसतः सदाधारत्वमित्यर्थः । पारमार्थिकवाच्यत्वव्यभिचारोद्भा- वने मतद्वयेपि व्यभिचारोपपादनमेव । किञ्चेत्यादि । अनवस्थाभयाद्वाच्यत्वे वाच्यत्वासम्भवा- दनैकान्त्यमित्यर्थः । न शब्दवाच्यमिति । व्यावहारिकवाच्यत्वाङ्गीकारेणोपि तस्य मिथ्यात्वान्न शब्दवाच्यत्वमिति त्वनुमानमुपपद्यते । घटो व्यतिरेक इति दृष्टान्तः । इतिशब्दः प्रकारार्थः । एवंविधानुमानान्तराणि स्वप्रकाशत्वविद्यत्वशक्यतावच्छेदकधर्मवदन्यत्वादिलिङ्गानि विवक्षितानि आगमबाधमाह-आगमेचेति । आगमादेरपि वृत्तिनिषेधश्शक्तिनिषेधः पारमार्थिकशक्तिनिषेधो वार्थतया विवक्षिता । आसमर्थवादत्वमाशङ्क्य विधिशेषत्वाभावान्नार्थवादत्वमित्याह नचेति । तत्स्वरूपपरता च सिद्धान्तिनाप्यङ्गीक्रियत एवेति भावः । नच कतिपयेति । कतिपयशब्दवाच्यत्व ब्रह्मणोङ्गीकृत्य निषेधस्य कतिपयशब्दवाच्यत्वविषयतया सङ्कोचो न युक्त इत्यर्थः । सत्त्वसङ्कोचेन निषेधे निर्देशोनुपपन्न इत्यत्राह असङ्कोचेन चेति । असङ्कोचस्यैव कर्तव्यत्वे सिद्धे निषेधस्य वृत्ति विषयत्वं शक्तिविषयत्वं पारमार्थिकशक्तिविषयत्वं वा ग्राह्यम , तथाच शाखाचन्द्रन्यायेन लक्षणया व्यावहारिकशक्त्यैव वा स्वरूपोपस्थितिसम्भवात् न कश्चिद्विरोध इति भावः । अत्रैव विकल्पेना-

वक्ष्यमाणत्वात् उपक्रमे निषेधमात्रे तात्पर्यम् , नतु प्रकारान्तरेण बोधनेपि; तेन हेत्वोरुत्थान= सम्भवः । सिद्धान्तिना वैयर्थ्ये आपादिते प्रकारान्तरेण तद्बोधनं विना तत्परिहारासम्भवात् तदप्युत्तरत्राङ्गीक्रियते । आद्यहेतुमुपपादयति नहीति । प्रवृत्तिनिमित्तलक्ष्यतावच्छेदक सादृश्यानि विना शब्दस्य वृत्तिरेव न सम्भवतीत्यर्थः । यद्वा-प्रवृत्तिनिमित्ताभावात् शक्तिर्न सम्भवतीत्यर्थः । यद्वा-बोध्यसमानसत्ताकनिमित्ताभावान्न तादृश शक्तिसम्भव इत्यर्थः । मात्रचा विवक्षितां युक्तिं विवृणोति नचावेद्य इति । स्वप्रकाशपदोक्तं हेतुं विवृणोति । नच सर्वेषा मिति । कल्पितेति । प्रशमनपदं बाधपरम् । उपदेशेन प्रपञ्चमिथ्यात्वमेव बोध्यते, नतु ब्रह्मेत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञापकतया वेति । स्वतः प्रकाशमानस्य पुनर्बोधनात् स्वरूपात्मकाभेदविषयत्वाच्च प्रत्यभिज्ञात्वोक्तिः । प्रत्यभिज्ञां विना स्वरूपप्रकाशमात्रात् नाविद्यानिवृत्तिरिति भावः । नचैवं प्रत्यभिज्ञार्थं वृत्त्यङ्गीकारप्रसङ्गः , पूर्वाप्रतिपन्नवाक्यार्थे क्वचि दुगामानयेत्यादौ पदानां पदार्थे वृत्तिदर्शनात् वाक्यार्थस्यापूर्वत्व एव पदार्थस्य वृत्त्या बोधननियमः, नतु वाक्यार्थस्य पूर्वं प्रतिपत्तावपि, अतो ब्रह्मणो वाक्यार्थस्य स्वप्र काशतया प्रतिपन्नत्वात् तद्विषयप्रत्यभिज्ञायाश्च वक्ष्यमाणरीत्या शाखाचन्द्र न्यायेनापि सम्भवान्न वृत्त्यपेक्षेति पूर्वपक्षिणोभिमानात् । यद्यपीति । धर्मिनिर्देशाभावे तत्र निषेधासम्भवेन उपराग-प्रशमनमेव न सम्भवतीति भावः । तथापीति । यथा शाखा संयोगादिकं केनचित्सम्बन्धविशे-षेण चन्द्रं ज्ञापयति तथा शब्दोपि वृत्त्या विनैव ब्रह्म अन्येन केनचित्सम्बन्धेन ज्ञापयतीत्यर्थः । संस्पर्श शब्दो वृत्तिविषयत्वपरः । यद्वा शक्त्या विना शाखापदवल्लक्षणया ज्ञापयतीत्यर्थः । सम्भ वति हि काचिच्छाखापदेन चन्द्रलक्षणा । संस्पर्शशब्दः शक्तिविषयत्वपरः । व्यावहारिकं शक्य-त्वमङ्गीकृत्य पारमार्थिकशक्यत्वनिषेधपक्षे शक्त्या बोधनमस्त्येव , तथाप्यन्येषामिव बोध्यसमान-सत्ताकशक्तिमच्छब्देन निर्देशो वाच्य इत्याशङ्कितु भावः । शक्त्या विनापि बोधदर्शनेन बोधमात्रे शक्तेरप्रयोजकत्वे विशिष्टायास्सुतरामप्रयोजकत्वमिति परिहाराभिप्रायः । उपलक्षणशब्दः अन्य-त्रैव शक्यसमान सत्ताकशक्त्यभावादौपचारिकः । संस्पर्शशब्दो बोध्यसमानसत्ताकशक्तिपरः । यद्यपि ब्रह्मादिशब्दैस्स्वरूपं शक्त्या निर्दिश्यते, तथापि न पारमार्थिकशक्त्या निर्देशः कार्यः, अन्य थापि प्रतीतिसम्भवादित्यर्थः । ननु त्वया ब्रह्मशब्देन ब्रह्मनिर्दिश्य तदवाच्यमिति प्रतिज्ञातव्यम् ; ततश्च त्वयैव शब्देन ब्रह्मणो बोधनात् स्ववचनविरोध इति शङ्कापि उक्तयुक्त्यैव निरस्तेत्याह-- अतएवेति । वृत्त्यभावे वा शक्त्यभावे वा बोध्यसमानसत्ताकशक्त्यभावे वा नामत्वमनुपपन्नमित्या शंक्याह नच नामेति । मौनं मन्त्रजप इति । वृत्तिनिषेधपक्षे स्पष्ट एवार्थः । शक्तिनिषेधपक्षे सौदर्शनादिमन्त्रस्थपदानां सुदर्शनादाविव शक्त्या बोधनाभावात् तद्विषये मन्त्रजपो मौनप्राय इत्यर्थः । यद्वा अन्यत्रैव मन्त्रस्थपदानां ब्रह्मणि शक्त्यभावात्तद्विषये मौनमेव कर्तव्यम् , न मन्त्र जप इत्यर्थः । बोध्यसमानसत्ताकशक्तिनिषेधपक्षे तादृशशक्त्यभावान्मौनप्राय इति वा तत एव मौनमेव कार्यमिति वार्थः । नच विचित्रेति । वृत्त्यभावश्शक्त्यभावो बोध्यसमानसत्ताकशक्त्यभावो वा विरोधहेतुः । ननु शब्दस्य ब्रह्माभेदस्त्वयाङ्गीक्रियत एव, ब्रह्मणस्स्वप्रकाशतया तदभिन्नशब्द-

स्यापि स्वप्रकाशत्वं वक्तव्यम् , शब्दप्रकाश्यत्वमेव च शब्दवाच्यत्वमिति शब्दस्य शब्दवाच्यतया तदभिन्नब्रह्मणोऽपि शब्दवाच्यत्वमवर्जनीयमेवेत्यत्राह नचेति । यद्यपि शब्दशक्तिविषयत्वमेव शब्द वाच्यत्वं नतु प्रकाश्यत्वमात्रमिति अभेदे सत्यपि न शब्दवाच्यत्वसिद्धिः , तथापि अभेदे सत्ये वहीयंचिन्ता , स एव नास्ति, किन्तु ब्रह्माधिष्ठानकतया तत्तादात्म्यमात्रमित्याह-शब्दब्रह्मण इति, अतएवेति । यतो भेदः , अतएव 'शब्दब्रह्म परं ब्रह्म' ति भेदेन स्मरन्तीत्यर्थः । शब्देति । "शब्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपतेरुद्गीथोभ्युदितः पुरोरुणतया यस्य त्रयीमण्डले । भास्वद्वर्णपदक्रमेरिततनुस्सप्तस्वराश्वैर्वियद्वियात् स्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे ।।" इति साम्ब कृतसूर्यस्तोत्रस्यायं प्रथमः श्लोकः । शब्दरूपेणार्थरूपेण च विवर्त्तमानमित्यर्थः । नचेति । वृत्ति-निषेधपक्षेपि वाच्यत्वसाधनशङ्का विरुध्यते ; सामान्यं विना विशेषासिद्धेः ; तस्यापि तत एव सिद्धेः । काल्पनिकेति । वाच्यत्वमङ्गीकृत्य बोध्यसमानसत्ताकशक्तिनिषेधपक्षे सिद्धसाधनमेवा वृत्तिनिषेधपक्षे शक्तिनिषेधपक्षे च ब्रह्म शब्दवाच्यमिति केषांचित्प्रतीत्या प्रातिभासिकवाच्यत्वम् ब्रह्मण्यभ्युपगम्य प्रौढ्य सिद्धसाधनोद्भावनमिति मन्तव्यम् । पारमार्थिकमेव शक्यत्वं साध्यत इत्य त्राह तदतिरिक्तस्येति । घटादिष्विवति । व्यावहारिकसत्त्वन्तु स्वरूपासिद्धेरिति भावः । नचेति । आदिपदेन सत्त्वसामान्यं विवक्षितम् । तथापीति । सत्त्वसामान्यस्यापि शुक्तिरजतादावेव व्यभि-चार इति भावः । नहीति । पारमार्थिकपदं हेतुगर्भम् , नतु सत्त्वान्तरव्यावर्तकम् ; सिद्धान्ते सत्त्वभेदाभावात् । एवञ्च वाच्यत्वस्य सिद्धान्ते पारमार्थिकत्वाच्छुक्तिरजतादौ तन्नेष्टम् , तथाच सिद्धान्ते शुक्तिरजतादौ व्यभिचार इति भावः । यद्वा पारमार्थिकवाच्यत्वसाधन एवेदं व्यभिचा रोद्भावनम् । प्रपञ्च पारमार्थिकत्वं वदतामपि भवतां शुक्तिरजतपारमार्थिकत्वं नेष्टमित्यर्थः । अत्र च पक्षे मतद्वयेपि व्यभिचार एव । वोपीष्टमिति । युष्माभिरपि नाभ्युपगम्यत इत्यर्थः । स्वयम-सत इति । सिद्धान्तिन प्रति व्यभिचारोद्भावने भवद्भिश्शुक्तिरजतादेः प्रातिभासिकत्वानभ्युपगमात् तेषामसत्त्वमेवेष्टव्यम , अतः कथमसतः सदाधारत्वमित्यर्थः पारमार्थिकवाच्यत्वव्यभिचारोद्भा-वने मतद्वयेपि व्यभिचारोपपादनमेव । किञ्चेत्यादि । अनवस्थाभयाद्वाच्यत्वे वाच्यत्वासम्भवा-दन्वेऽन्त्यमित्यर्थः । न शब्दवाच्यमिति । व्यावहारिकवाच्यत्वाङ्गीकारिणोऽपि तस्य मिथ्यात्वान्न शब्दवाच्यत्वमिति प्रत्यनुमानमुपपद्यते । घटो व्यतिरेक इति दृष्टान्तः । इति शब्दः प्रकारार्थः । एवंविधानुमानान्तराणि स्वप्रकाशत्ववेद्यत्वशक्यतावच्छेदकधर्मवदन्यत्वादिलिङ्गानि विवक्षितानि आगमबाधमाह-आगमेचेति । आगमादेरपि वृत्तिनिषेधश्शक्तिनिषेधः पारमार्थिकशक्तिनिषेधो वार्थतया विवक्षिता । आसमर्थवादत्वमाशङ्क्य विधिशेषत्वाभावान्नार्थवादत्वमित्याह नचेति । तत्स्वरूपपरता च सिद्धान्तिनाप्यङ्गीक्रियत एवेति भावः । नच कतिपयेति । कतिपयशब्दवाच्यत्व ब्रह्मणोङ्गीकृत्य निषेधस्य कतिपयशब्दवाच्यत्वविषयतया सङ्कोचो न युक्त इत्यर्थः । सत्त्वसङ्कोचेन निषेधे निर्देशोनुपपन्न इत्यत्राह असङ्कोचेन चेति । असङ्कोचस्यैव कर्तव्यत्वे सिद्धे निषेधस्य वृत्ति विषयत्वं शक्तिविषयत्वं पारमार्थिकशक्तिविषयत्वं वा ग्राह्यम , तथाच शाखाचन्द्रन्यायेन लक्षणया व्यावहारिकशक्त्यैव वा स्वरूपोपस्थितिसम्भवात् न कश्चिद्विरोध इति भावः । अत्रैव विकल्पेना-

न्तरपक्षपरःखण्डो ग्रन्थ इति व्याख्यातम् । अथवा न्यण्डशो वा तत्तत्पक्षपरो ग्रन्थः । तथाहि— वृत्तिमात्रनिषेधक आह निर्धूतेति । शक्तिनिरासवाद्याह नहीति । वृत्तिसामान्यनिषेधवाद्याह— नचवेद्य इत्यारभ्य स्ववचन विरोध इत्येतदन्तम् । नाच नानेति वाक्यं मतद्वयसाधारणम् । अतएवहीत्यादिवाक्यं अन्यथे त्यादिवाक्यञ्च वृत्तिनिषेधकस्य । नच विचित्रे त्यादिवाक्यन्तु साधारणम् । वाच्यत्वाभाववादिन एकदेशी पारमार्थिकवाच्यत्वनिषेधवाद्याह-सिद्धसाधनादिति; साधनवैकल्योद्भावनम् ; किंचेत्यादिकं सर्वसाधारणम् ।

अत्रोच्यते-यदुक्त' समस्तविशेषरहिते ब्रह्मणि निमित्ताभावेन (भावादेव) न शब्दप्रवृत्तिरिति ' तत्र सविशेषात्वोपपादनादेव हेतुरसिद्धः । यथा च निमित्तं निमित्तान्त रमन्तरेण शब्दवाच्यं भवति , तथा स्वरूपमपीति निरूप्यतां त्वया । येषां शब्दानां यत्र यन्निमित्तद्वारेण प्रवृत्तिः , तेषामेव हि तत्र तदभावे निवृत्तिः ॥ अन्यादृशस्तु शब्दो ब्रह्मणि न दृश्यते इति चेत्-किं कुर्मः ? संकेत्यतां व्यवहाराय तथाविधः शब्दोऽपि (व्दः) यच्च-'अवेद्य वेदकानां नावकाशः ; न च स्वयंप्रकाशे प्रकाशकापेक्षा' इति—तच्च स्वप्र- काशस्यापि ज्ञानान्तरवेद्यत्वस्थापनादेव परिहृतम् । यच्चोपदेशानां वेदान्तानां च कल्पितो- पप्लवप्रशमनमात्रार्थत्वमुक्तम् , तदपि तदा शोभते ; यदि स्वरूपमनिर्दिश्य उपरागाः शमयितुं शक्येरन् । अन्यथा ब्रह्मणो निर्विशेषत्वमपि नोक्त' स्यात् ॥ ननु किं ब्रह्म (णो) निर्देशेन ? विशेषा एव प्रतीयमाना मिथ्यात्वेन ज्ञाप्यन्ते; ब्रह्म तु स्वप्रकाशं तिष्ठ त्येवेति चेत् तदपि न, 'निर्गुणम्', 'निरञ्जनम् इत्यादीना ब्रह्मणो विशेषणतयैव प्रयो- गात् । प्रकाशमानमात्रनिषेधे च ब्रह्मणोऽपि निषेधप्रसङ्गात् । यदि ब्रह्मव्यतिरिक्तमिति विशेष्येत ; तदा (श्रा) पि सिद्धस्तन्निर्देशः । प्रतियोगितयेति तु विशेषः । यच्चोपदेशादेः प्रत्यभिज्ञापकत्वमिति ; ततः किमायातमवाच्यत्वस्य ? पूर्वप्रतिपन्नेऽपि शब्दप्रवृत्तमात्रस्या न [भ्यु]पगमात् । यत्तु शाखाचन्द्रन्यायेन सद्ब्रह्मादिशब्दैरुपलक्षणभूतैर्न ब्रह्मणः संस्पर्श इति-तदप्यसत् । उपलक्ष्योपलक्षणयोरपि बोध्यबोधकभावलक्षणसंस्पर्शस्य सर्वत्र दुस्त्यज- त्वात् , तावतैव च शब्दवेद्यत्वसिद्धेः ॥ लक्षणामात्रं तु तत्र, न तु वाच्यत्वमिति चेत्, किमतः ? तावताऽपि शब्दवेद्यत्वस्य स्थितत्वात् । मुख्यार्थसम्बन्धादेश्च लक्षणानिमित्तस्य लाक्षणिकशब्देनापि अपेक्ष (लक्ष) णीयत्वाच्च ॥ एतावन्मात्रं शब्दवेद्यत्वमिष्यत इति चेत् , किमन्यन्नेष्यते , न तावन्निमित्ताभावादेरित्युक्तम् । न च वाङ्मनसनिषेधश्रुतिर्ल- क्षणामनुजानातीति नियामकं पश्यामः ॥ विरोधपरिहाराय वृत्तिविशेषविषयत्वेन (विषय) व्यवस्था क्रियत इति चेत्-तर्हि लक्षणावृत्तिरेव निषिद्ध्यताम् , नियामकाभावात् । अस्म

नयेन सर्वप्रमाणाविरुद्धे नापरिच्छेद्यमाहात्म्यं तदर्थमातिष्ठस्व । अतः सर्वप्रकारशब्दवेद्यत्व-निषेधस्य दुश्शकत्वात् स्ववचनविरोधो दुष्परिहरः (दुस्तरः) । यत्तु नामकीर्तनविधीनां सगुणब्रह्मविषयतेति, तत् तावत् सत्यम्, यदि तदतिरिक्तं ब्रह्म नाभिसन्दध्याः । यश्चासौ 'मौनं मन्त्रजपः' इति व्याहतोपदेशः, सोऽपि मौनप्रशंसापरश्चेत्, उपपद्यते, न तु मन्त्र-जपं विहितं प्रतिषेद्धुं क्षमते (क्षमेत) । न चाधिकारिविशेषेण विषयव्यवस्था, समाधिनि-ष्ठमधिकृत्यैव तद्विधानात् । असंप्रज्ञातसमाधिरपि न शब्दवाच्यताविरोधी ; अपितु केवलं तदातन शब्दानुसन्धानपरिपन्थीति समाधिशास्त्रविदः । यत्तु-विचित्रनामरूपभावत्वश्रुतिरत [त्] त्कार्योपहितविषयेति-तदस्माभिरपीष्यत एव (ष्यते । एव) तथाऽपि तत्तदुपहितब्रह्म-ण्यपि तत्तन्नामपर्यवसानविवक्षा दुर्वारा । अन्यथा ; 'बहु स्याम्' इति सङ्कल्पस्य; 'तन्ना मरूपाभ्यां व्याक्रियत' इत्यादेश्च दुर्निर्वाहत्वात् । शब्दतत्त्वस्य ब्रह्मव्यतिरेकसाधनं त्विष्टमेव । विवर्तता तु प्रकृतानुपयोगिनी, पराकृता च यत्तु—शब्दवाच्यत्वसाधने काल्पनिकवाच्यत्वा भ्युपगमात् सिद्धसाधनत्वमुक्तम् ; तदपि स्वबाधपर्यवसितम्, घटाद्यविशेषप्रसङ्गात् । घटा-दीनां शब्दवाच्यत्वमभ्युपगम्य ब्रह्मणि तन्निषेधप्रवृत्तत्वात् । घटादितुल्यशब्दवाच्यत्वाभ्युप-गमे च विवादाभावात् । न हि वयं ब्रह्मणि लोके सिद्धातिरिक्तप्रकारं वाच्यत्वमिच्छामः येन तन्निषेधसिद्धिः । न च वाच्यत्वमात्रस्य दुर्निरूपतया ब्रह्मणि तदभावः, सामान्यतो दुर्निरूपत्वप्रक्रियायाः, प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकानां च निरस्तत्वात् । अतएव वस्तुत्वादि[ति] हेत्वसिद्धिरपि परिहृता ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि ब्रह्म सभी विशेषों से रहित है ; अत एव निमित्ताभाव के कारण; उसको कोई भी शब्द अपना विषय नहीं बनाता । क्योंकि कोई भी शब्द सवि-शेष वस्तु को ही अपना विषय बनाता है । तो उनके इस कथन का खण्डन तो हमारे पूर्वोक्त ब्रह्म के सविशेषत्व सिद्धि के ही द्वारा हो गया । अतएव 'निर्विशेष ब्रह्म न शब्दावाच्यम्, निमित्ता भावात्' इस अनुमान का हेतु ही असिद्ध है । किञ्च आप यह सिद्ध करें कि जिस तरह निमित्त निमित्तान्तर के बिना भी शब्दवाच्य होता है, उसी तरह स्वरूप भी । देखा जाता है कि जिस निमित्त के द्वारा जिन शब्दोंकी जहाँ पर प्रवृत्ति होती है; उन शब्दों की उस निमित्त के अभाव में वहाँ पर प्रवृत्ति नहीं होती । यदि कहें कि-शब्द और ब्रह्म दोनों दो प्रकार के हैं अतएव ऐसा कैसे कहा जा सकता है, तो फिर हम क्या करें । आपको व्यवहारार्थ शब्द को भी अनिमित्तक मानना चाहिए । अतएव स्वरूप के विषय में जिस किसी के द्वारा जिस किसी भी शब्द का सकेत सम्भव होने के कारण ब्रह्म की वाच्यता अवर्जनीय है । अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि अवेद्य ब्रह्म के विषय में वेदक शब्दों के अवकाश का कोई प्रश्न ही नहीं है और न तो स्वयम् प्रकाश ब्रह्म को प्रकाशक शब्दों की कोई अपेक्षा ही है । इसका

उत्तर है कि स्वयम्प्रकाश भी ज्ञान ज्ञानान्तर वेद्य है इस बात का हम अवेद्यत्वभङ्गवाद में प्रतिपादन कर चुके हैं। अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि उपदेश तथा वेदान्तवाक्य, कल्पित उपद्रव का उपशमन करते हैं; उनका कथन तब शोभा देता जब कि वे स्वरूपका निर्देश किए बिना ही उन कल्पित उपद्रवों का उपशम करने में समर्थ होते। यदि ऐसा नहीं हो तो आप के अभिमत ब्रह्म के निर्विशेषत्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहें कि ब्रह्म के निर्देश से कौन सी क्षति है? वेदान्त वाक्यों के द्वारा तो प्रतीयमान ब्रह्म के विशेषो (भेदों) के ही मिथ्यात्व को बतलाया जाता हैं, ब्रह्म तो स्वप्रकाश रूप से बना ही रहता है; तो इसका उत्तर है कि; वेदान्त वाक्य ब्रह्म के विशेषण रूप से ही निर्गुणत्व; निरञ्जनत्वआदि को बतलाते हैं। यदि वेदान्त वाक्य सभी प्रकाशमानों का निषेध करते हैं, तो फिर मानना होगा कि वे प्रकाशमान ब्रह्म का भी निषेध करते हैं। यदि वे ब्रह्म व्यतिरिक्त का निषेध करते हैं तो भी इससे ब्रह्म का निर्देश सिद्ध हो ही गया। और वे ब्रह्म का प्रतियोगी रूपसे निर्देश करते हैं? उपदेश आदि को जो प्रत्यभिज्ञापक बतलाया गया है; उससे ब्रह्म के अवाच्यत्व में क्या अन्तर पड़ता है। तो इसका उत्तर है कि वेदान्तों के प्रत्यभिज्ञापक होने पर भी ब्रह्म का वाच्यत्व तो निर्बाध ही है। कहने का अभिप्राय है कि पूर्वप्रतिपत्ति ज्ञान की बिरोधिनी है शक्ति की विरोधिनी नहीं। यह जो कहा गया है कि सद् ब्रह्म आदि शब्द शाखाचन्द्रन्याय से ब्रह्म के उपलक्षक हैं, अतएव वे ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाते हैं, वह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उपलक्ष्य और उपलक्षण में परस्पर में स्वीकार किया जाने वाला बोध्य बोधक भावरूप सम्बन्ध ब्रह्म के विषय में नहीं त्यागा जा सकता है। और इस बोध्यबोधक भावरूप सम्बन्ध मात्र से ही ब्रह्म के शब्द वेद्यत्व की सिद्धि हो जाती है। यदि कहें कि वहाँ पर केवल लक्षणा मात्र होती है शब्द की इससे ब्रह्म की वाच्यता नही सिद्ध होती तो इससे क्या हुआ? इतने पर ब्रह्म की शब्दवेद्यता तो सिद्ध ही हो गयी। किञ्च लक्ष्य किसी शब्द की तब होती है जब कि लक्षण वस्तु की लाक्षणिक शब्द के मुख्यार्थका सम्बन्ध हो। मुख्यार्थ सम्बद्ध अर्थ में ही लक्षणा होती है। यदि कहेंकि हम ब्रह्म की इतनी मात्र शब्द वेद्यता स्वीकारते हैं, तो प्रश्न है कि आप अन्य प्रकार की ब्रह्म की शब्दवेद्यता क्यों नहीं स्वीकारते क्या निमित्ताभाव के कारण? तो निमत्ताभाव का खण्डन तो हम कर ही चुके हैं, किञ्च 'यतोवाचो' श्रुति लक्षणा वृत्ति के द्वारा ब्रह्म को बोधित करती है; इस बात को स्वीकारने का कोई कारण भी नहीं है। यदि कहें कि विरोध का परिहार करने के लिए हम वृति विशेष के विषयरूप से इस अर्थ की स्थापना करते हैं तो, अच्छा है कि आपलक्षणावृत्ति का ही निषेध कर दें। क्यों कि 'यतो वाचो' श्रुति की मुख्यावृत्ति का ही निषेध किया जाय; इसमें कोई भी नियामक नहीं है। जैसा कि हम सर्व प्रमाणानुकूल 'यतो वाचो' श्रुति के विषय में ब्रह्म के अपरिच्छेद्य माहात्म्य को मानकर मुख्या-वृत्ति का निर्वाह करते हैं, उसीको आपभी स्वीकार करें। अतएव ब्रह्म सभी प्रकार की (सगुण एवम् निर्गुण) श्रुतियों द्वारा वेद्य है, इस बात का आप निषेध नहीं कर सकते हैं, अतएव आप के मत में होने वाले स्ववचन विरोध को आप दूर नहीं कर सकते हैं। आप ने यह जो कहा है कि 'ब्रह्म के नाम कीर्तन का विधान करने वाली श्रुतियों का विषय सगुण ब्रह्म है, यह तब सत्य होती जब कि आप सगुण ब्रह्म व्यतिरिक्त ब्रह्म का अभिसन्धान नहीं करते। 'मौन मन्त्र जपः' जो कहा गया है, उस कथन का तात्पर्य मौन की प्रशंसा करने में है उससे विहित मन्त्रजप का प्रतिषेध होना सम्भव नहीं है। यहाँ पर अधि-कारी विशेष के लिए मौनत्व विषय की व्यवस्था भी नहीं मानी जा सकती है; क्योंकि उक्त विधान समाधिनिष्ठ के ही लिए किया गया है। किञ्च योग शास्त्र के जानकारों का कहना है कि असम्प्रज्ञात समाधिमें भी शब्द वाच्यता का विरोधी नहीं है, अपितु असम्प्रज्ञात समाधिकाल में शब्द का अनुसन्धान

नहीं होता है। यह जो कहा गया कि 'ब्रह्म के विचित्र नाम रूप युक्तत्व को बतलाने वाली श्रुति का विषय ब्रह्मभूत कार्योपहित ब्रह्म है, तो उसे हम भी मानते है, फिर भी तत् तत् कार्योपहित ब्रह्मके विषयमें भी तत् तत् नामों के स्वीकारता ही होगा। अन्यथा ब्रह्म के भी 'मैं अनेक हो जाऊँ,' इस संकल्प का तथा 'उन सृष्ट पदार्थों को ब्रह्म ने नाम रूप प्रदान किया' इत्यादि श्रुतियों का निर्वाह नहीं हो सकता। शब्द तत्त्व का ब्रह्मव्यतिरेक साधन तो हमें भी इष्ट हैं। शब्द को ब्रह्म की विवर्तता प्रकृतानुपयोगी है, तथा उसका हम खण्डन भी कर चुके हैं। यह जो कहा गया है कि ब्रह्म की सद् आदि शब्दों की काल्पनिक वाच्यता है, अतएव ब्रह्म की शब्द वाच्यता सिद्ध करने में सिद्ध साधनता दोष हैं, इस कथन का पर्यवसान ब्रह्म के अवाच्यत्वोक्ति के परित्याग में ही होता है, क्योंकि आपका ब्रह्म कल्पनिक शब्द-वाच्य है, काल्पनिक शब्दवाच्य घटादि के समान इस अनुमान से आपके मत का विरोध होता है। आप तो घटादि की काल्पनिक शब्दवाच्यता स्वीकार करके उसका ब्रह्म में निषेध करते हैं। यदि अद्वैती विद्वान् ब्रह्म को घटादि के समान शब्दवाच्य मानते हैं, तो फिर हमारा उनसे कोई विवाद ही नहीं है। हम तो ब्रह्म की उसी प्रकार की शब्दवाच्यता मानते हैं जैसी शब्दवाच्यता घटादि पदार्थों की है। यह भी नही कहा जा सकता है कि वाच्यत्व का ही निरुपण नहीं किया जा सकता, अतएव ब्रह्म में वाच्यत्व का अभाव है, क्योंकि हम सामान्यतः वाच्यत्व दुर्निरूपत्व का तथा प्रपञ्च के मिथ्यात्व साधक युक्तियों का खण्डन कर चुके हैं। किञ्च प्रपञ्च के अवास्तविकत्व आदि का भी खण्डन हो चुका है।

तदेवं बहुधा निष्पन्नं पूर्वपक्षमनुवदति-यदुक्तमिति। अत्र सिद्धान्तिना पारमार्थिक-शक्तिरेव साध्यते। प्रवृत्तिनिमित्ताभावेपि न दोष इत्याह यथेति। निर्विकल्पकस्य शब्दे तजन कत्वस्य च त्वयागींकारात्प्रवृत्तिनिमित्तं विनापि शक्त्यङ्गीकारे न किंचिद्बाधकमिति भावः। युक्तं चैतदित्याह येषामिति। येषां शब्दानां निमित्तद्वारेण प्रवृत्तिः तेषां तदभावे निवृत्तिरित्युक्तेर-सम्भवः, सर्वत्र कस्यचिन्निमित्तस्य सत्त्वात्। अत उक्तम्-यन्निमितेति। एवं सति निमित्ते प्रवृ-त्तिर्नस्यादित्यत उक्तम् यत्रति। अत्र निमित्तद्वारा प्रवर्तमानशब्दानामेव हि निमित्ता भावे निवृत्तिः, नतु निर्निमित्तकशब्दानामपि, अतो ब्रह्मणि निर्निमित्तकशब्द प्रवृत्तौ न विरोध इत्ये-तावदिहोपजीव्यम्। शक्तिनिवृत्तिप्रयोजकनिमित्तनिवृत्ति शिक्षणं यत्रे त्यादिना क्रियत इति मन्त-व्यम्। नन्विद व्याहतमिव प्रतिभाति। यत्र यन्निमित्तपुरस्कारेण प्रवृत्तिस्तत्र तदभावासम्भवात् इति चेन्न—यत्रेति। यद्धर्मावच्छिन्न इत्यर्थस्य विवक्षितत्वात्। अतएव घटत्वनिमित्तपुरस्कारेण द्रव्ये प्रवर्तमानो घटशब्दः, पटरूपद्रव्ये तदभावान्निवर्तते। घटत्वस्याद्रव्यत्वात्तत्र तदभावेपि न ततो निवर्तते। ननु यद्धर्मावच्छिन्न इत्यस्य यदि यद्धर्मवत् इत्यर्थः, तदा प्रमेयत्ववति घटे घट-त्वनिमित्तद्वारा प्रवर्तमानस्य घटशब्दस्य प्रमेयत्ववत्येव घटत्वे निमित्तशून्येपि प्रवृत्तेर्व्यभिचारः, किंच नानार्थेषु सैन्धवादिपदेषु लवणत्वादिरूपनिमित्ताभावेपि तुरगादिषु प्रवृत्तेर्व्यभिचारः, यदि धर्मस्य वाच्यतावच्छेदकत्वं विवक्ष्यते, तदा द्रव्यत्वस्य वाच्यतानवच्छेदकत्वाद्व्याप्त्यसिद्धिः, इति चेन्न-यद्धर्मवति प्रवृत्तये न्निमित्तद्वारैव तद्धर्मावच्छिन्ने तदभाव इत्यर्थस्य विवक्षितत्वात्। सचधर्मो द्रव्यत्वादिरेव। नतु प्रमेयत्वादिः। नानार्थेषु तु तुरगादन्यत्वे सति द्रव्यत्वादि। तथाच यच्छ-ब्दवाच्यत्वं यद्धर्मसामानाधिकरण्यावच्छिन्नयादृशनिमित्तव्याप्यताकं तद्धर्मवति तादृशनिमित्तनिवृत्तौ तच्छब्दवाच्यत्वनिवृत्तिः। भवति हि व्यापकनिवृत्त्या विशेषणवति विशिष्टानिवृत्तौ विशेष्यनिवृत्तिः

अतो द्रव्यत्वे सति घटपटशक्तिविषयत्वस्य घटत्वव्याप्यतया घटरूपद्रव्यनिमित्तनिवृत्तौ घटपटशक्तिर्निवर्तते। ननु ब्रह्मादिशब्दास्तन्निमितका एव; "बृहति बृंहयती" त्याद्यनुशासनात्। निर्निमित्तकस्तु शब्दो ब्रह्मणि नास्त्येवेति शंकते—अन्यादृशस्त्विति। संकेत्यता मिति। तथाविधः-निर्मिमित्तकः। नच संकेतस्य विषयोपस्थितिपूर्वकत्वात्तस्याश्च शब्दान्तराधीनत्वेनानवस्थेति वाच्यम्;—तेन तर्कोपस्थितेर्लक्षणाङ्गीकारेण तत्रैव संकेते बाधकाभावात्। वस्तुतस्तु उपहितशक्तेनैव पदेन तदन्तर्गतस्वरूपस्याप्युपस्थितौ तत्र संकेतस्सम्भवत्येव। नच उपहितशक्तेन पदेन लक्षणया स्वरूपव्यवहारसम्भवान्न संकेत इति वाच्यम्,-निमित्तवदेव मुख्यार्थ सम्बन्धादेरप्यभावेन लक्षणाया असम्भवात्। एव गत्यन्तराभावाभिप्रायेणैव कि कुर्म इत्युक्तम्। अतः स्वरूपे येन केनचित् यस्य कस्याप्यनुशिष्टस्य संकेतसम्भवेन तद्वाच्यत्वमवर्जनीयमेवेत्यपि द्रष्टव्यम्। ज्ञानान्तरवेद्यत्वस्थापनादिति। अवेद्यत्वभंगे ज्ञानान्तरवेद्यत्वस्य स्थापनादेव "अवेद्ये वेदकानां नावकाश" इत्येतत्परिहृतम्। स्वंप्रति स्वसत्तयैव प्रकाशमानत्वेपि पुरुषान्तरं प्रति तदीय ज्ञानेनैव प्रकाशमानतया ज्ञानान्तरवेद्यत्वस्थापनादेव "नच स्वप्रकाशे प्रकाशापेक्षे" त्येतच्च निरस्तमित्यर्थः। अपीति—प्राधान्येन स्थाप्यमानत्वं सूच्यते। ननु ब्रह्मज्ञानाभावे कथमविद्यानिवृत्तिः? ब्रह्मज्ञानस्यैव मोक्षसाधनतया श्रुतत्वादित्यत्राह-ब्रह्मत्विति। विशेषमिथ्यात्वज्ञानसहकृतेन स्वरूपप्रकाशेन निवृत्तिरिति भावः। विशेषणतयेति। ततश्च ब्रह्मणो विशेष्यत्वमवर्जनीयमिति भावः। किञ्च, किं प्रकाशमानमात्रस्य निषेधः, उत ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य? नाद्य इत्याह प्रकाशमानमात्रेति। द्वितीये दोषमाह—यदीति। प्रतियोगितयेति। अतस्तन्निर्देशाभावे तदतिरिक्तत्वप्रतीत्यसम्भवात्, तन्निर्देश आवश्यक इति भावः। विशेष इति। पूर्वं ब्रह्म निर्दिश्य प्रपञ्चमिथ्यात्वबोधने सम्भवत्यपि निर्गुणमित्याद ब्रह्म निर्देशो दृश्यत इत्युक्तम्; इदानीं त्वया ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वबोधनाङ्गीकारे ब्रह्मनिर्देशाभावे प्रपञ्चमिथ्यात्वबोधनमेव न सम्भवतीति पूर्वोक्तयुक्ते र्विशेषस्सिद्ध्यतीत्यर्थः। ततः किमायातमिति। प्रत्यभिज्ञापकत्वेपि वाच्यत्वं निर्बाधमेवेत्यर्थः। तदेव विवृणोति पूर्वेति। पूर्वप्रतिपत्तिर्हि विधिविरोधिनी नतु शुक्तिविरोधिनीति भावः। गूढाभिसन्धिराह-तदप्यसदात अभिसन्धिमजानानश्शङ्कते-लक्षणामात्रमिति। नहि वयं शब्दबोध्यत्वं निषेधामः, किन्तु वाच्यत्वमात्रम्, ततश्च शाखावद्वा लक्षणया वा बोधेपि न दोष इत्यर्थः। अभिसन्धिमुद्घाटयन्नेव पूर्वोक्त परिहारं स्मारयति किमत इति। ननु शाखावद्बोधकत्वपक्षे कथं शब्दवेद्यम्, व्यक्त्या बोधनाभावात्? कथं किंचिद्बोधन मात्रेण शब्दवेद्यत्वे घटशब्देन गुणत्वेनानुमीयमानस्याप्याकाशस्य घटशब्दवेद्यत्वप्रसङ्गादिति चेत्? शाखावद्बाधकस्यापि तत्तात्पर्यकतया वृत्तिमत्पदतुल्यत्वात् ननु घटशब्देनायमाकाशमनुमिनोत्विति तात्पर्येण यदि घटशब्दः प्रयुज्यते तदा तस्यापि वृत्तिमत्पतुल्यतया आकाशस्यापि तेनानुमीयमानस्य तद्वाच्यत्वप्रसङ्ग इति चेन्न;—घटपदेनानुमीयमानस्य घटपदसमभिव्याहृतपदान्तरार्थान्वययोग्यताविरहात्। चन्द्रवदुपलक्षितस्य ब्रह्मणः पदान्तरार्थान्वयसत्त्वात् येनैव विशेषेण तद्योग्यता तेनैव शब्दवेद्यत्वसिद्धेः। दूषणान्तरमाह मुख्यार्थेति। ननु उपहितेनानुपहितस्य स्वाभाविकाभेदरूपस्सम्बन्धोऽस्तीति चेन्न,-तथात्वेति वाच्यत्वस्यैवापत्त्या।

लक्षणाया असम्भवात् । आदिपदेन लक्ष्यतावच्छेदकं गृह्यते । लाक्षणिकेनेत्येतदुपलक्षकस्याप्युपलक्षणम् । तावतापि शब्दवेद्यत्वस्य स्थितत्वादित्यत्र शंकते एतावन्मात्रमिति । उपलक्षकेण वा बोधनमिष्यत इत्यर्थः । अभिसन्धिमुद्घाटयति । शक्त्याबोधनं कुतो नेष्यत इत्यर्थः । शक्तयनङ्गीकारे श्रुतिरेव हेतुरित्यत्राह नचेति । वाङ्निवृत्तिरेव हि श्रूयते, नतु शक्तिनिवृत्तिरितिभावः। अनेन अभिसन्धिरुद्घाटितो भवति । ननु 'अप्राप्ये' ति शक्तिरेव निषिद्धाइति चेन्न,-'मनसासहे' ति श्रुतेर्मनस्साधारणसम्बन्धस्यैव वाच्यत्वात् ; मनसो वृत्त्यात्मकशक्तयसिद्ध्या परिच्छिद्यतद्बोधनसामर्थ्याभावस्यैवाप्राप्तिशब्देन विवक्षणीयत्वात् । एतदभिप्रेत्यैव वाङ्निषेधश्रुतिरित्यनुक्त्वा वाङ्मनसनिषेधश्रूतिरित्युक्तम् । किंच, शक्तिरूपप्राप्तिनिषेधे लक्षणारूपप्रातिनिषेधोपि कथम् न स्यात् ? ननु शक्तिर्हि शब्दार्थयोस्सम्बन्धः, नतु लक्षणा , तस्याशशक्यार्थसम्बन्धत्वेन परम्परासम्बन्धत्वादितिचेत् ? तर्हि सम्बन्धान्तरसत्त्वेपि शक्तिरूपसम्बन्ध एव निषिद्ध्यत इति कुतोवगम्यते ? शब्दस्यार्थावबोधकत्वे शक्तिरूपसम्बन्धस्यैव प्रयोजकतया तदभावस्यैवार्थानवबोधरूपनिवृत्तिप्रयोजकत्वादिति चेत् ? तथा सति लक्षणाया अपि बोधप्रयोजकत्वात् सापि निषेध्येति तुल्यम् अन्यथा निवृत्त्यसिद्धेः । नच निवृत्तिपदं शक्त्यधीनबोधाभावपरम् , सङ्कोचकाभावात् । उपक्रमस्थत्वेनच तस्यैवानुरोद्धव्यतया तदनुसारेणैवा प्राप्तेर्वर्णनीयत्वात् । एतदुदेवाभिप्रेत्योक्तं लक्षणामनुजानातीति नियामकं पश्याम इति । विरोधेति । "यत" इति निर्देशस्य वाङ्निषेधस्य च विरोधपरिहारायेत्यर्थः । नियामकाभावादिति । तथा च शब्दबोध्यत्व सामान्यमेव त्वत्पक्षे निषेध्यं स्यादिति भावः । श्रुतेः कथं निर्वाह इत्यत्राह-अस्मन्नयनेति । एवं शक्तिनिषेधासिद्धेरविद्योपरागप्रशमनपरेषु वाक्येषु सदादिशब्दैश्शक्त्यैव स्वरूपनिर्देशः कर्तव्य इति स्थितम् , उक्तहेतोरेव पूर्वपक्षोक्तस्ववचनविरोधोपि दुस्तार इत्याह-अत इति । स्वरूपमनिर्दिश्येति शेषः । एवं श्रुतेः शब्दवेद्यत्वसामान्यनिषेधपरत्वस्य त्वया वाच्यत्वादेव ब्रह्म श्रुतिबलाच्छब्दवेद्यं न भवतीति प्रतिज्ञाने प्रतिज्ञास्थब्रह्मपदनिषेधयोर्विरोध इत्यर्थः । यस्त्विति । यदि सगुणब्रह्मातिरिक्तं किञ्चिन्निर्गुणब्रह्म ब्रूयाः, तदा नाम कीर्तनविधेस्सगुणब्रह्मविषयत्वमवाच्यत्वविधेर्निर्गुणविषयत्वमिति वक्तुम् शक्येत- नच तदस्ति, परमार्थतो निर्गुणस्यैव ब्रह्मणो मिथ्याभूतगुणाश्रयस्याङ्गीकारादित्यर्थः । नाभिसन्दध्या इति पाठे सगुणपदव्यावर्तनीयं निर्गुणं ब्रह्म यदि नाभिसन्दध्याः, किन्तु वस्तुतस्सगुणमेव ब्रह्म तादृशमेव च नामविषय इत्यभिसन्दध्याः, तदास्मन्मतप्रवेशात्त्वदुक्तं सम्यगेवेत्यर्थः विषयव्यवस्थेति । जपविधेः मौनं मन्त्रजप इत्यस्य चेति शेषः । मौनं मन्त्रजप इत्यस्य समाधिनिष्ठमुमुक्षुविषयत्वात्स्वरूपे जपनिषेधविषयत्वं जपविधेः काम्यविषयत्वात्सगुणविषयत्वमित्यर्थः । समाधीति । "यः पुनरेतं त्रिमात्रेण ओमित्य नेनैवाक्षरेण परमपुरुषमभिध्यायीतं; स तेजसि सूर्ये सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचाविनिर्मुच्यते एवं ह वै पाप्मभिर्निर्मुक्तस्स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं" "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" इत्यादिभिस्समाधिनिष्ठमधिकृत्यैव मन्त्रविधानादित्यर्थः । तत्तदुपहितेति । उपधेयविशेष्यभूतब्रह्मस्वरूप इत्यर्थः । विवक्षेति । नामरूपभाक्त्वश्रुतेरिति शेषः । दुर्वारेति । ततश्च तदतिरिक्तब्रह्मणोऽसिद्धेरेवावाच्यत्वम् दुरुपपादमिति भावः । अन्यथेति । ब्रह्मणस्तत्कार्यवाचि

शब्दे वाच्यत्वाभावे तद्वाचकब्रह्मशब्देन 'बहुस्या' मिति सामानाधिकरण्यायोगात्; "तद्व्याक्रियते" ति नामरूपव्याकरणकर्मत्वप्रतिपादनायोगाच्चेत्यर्थः। स्वबाधे पर्यवसितमिति। स्वाभ्युपगतावाच्यत्वपरित्यागपर्यवसितमित्यर्थः। घटाद्यविशेषेपि कथं बाधपर्यवसानमित्यत्राह-घटादीनामिति। ननु घटादितुल्यं वाच्यत्वं नास्माभिर्निषिध्यते; किन्त्वन्यादृशमेवेत्यत्राह-नहि वयमिति। ननु घटादितुल्यस्यैव वाच्यत्वस्य मिथ्यात्वाद्ब्रह्मणि तदभावस्साध्यते; घटादेश्चानधिष्ठानत्वान्न तत्र तदभाव इति न घटाद्यविशेषप्रसङ्ग इत्येकदेशिमतं दूषयति नचेति। अयं च सिद्धसाधनोद्धारः पारमार्थिकवाच्यत्वप्रतिषेधवादिनं प्रत्येव; मतान्तरे घटाद्यविशेषासिद्धेः। अस्तु वा वाद्यन्तरम् प्रत्यपि, तत्र च यदि कल्पितं वाच्यत्वमिष्यते तदा सर्वत्राधिष्ठानसत्ताया अविशेषाद्घटाद्यविशेष इत्येवम्भावो बोध्यः।

यत्तु प्रकाशमानत्वादिति हेतोः शुक्तिरजतादिभिरनैकान्त्यमिति—तन्न, तत्रापि प्रकाशमानस्य सर्वस्याधिष्ठानारोप्यसम्बन्धादेः शब्दवाच्यत्वसिद्धेः तदतिरिक्तस्य कस्यचिदस्माभिः प्रकाशमानत्वानभ्युपगमात्। असद्व्यवहारप्रसङ्गस्यान्यत्र निरस्तत्वात्। यत्तु वाच्यत्वधर्मेणानैकान्तिकत्वमित्युक्तम्—तदप्यसत्, तस्यापि वाच्यत्वशब्देन वाच्यत्वात्। अन्यथा वाच्यत्वमिति वक्तुमशक्यत्वात्। न चानवस्था, घटादिगतवाच्यत्वस्य वाच्यत्वगतवाच्यत्वस्य च वाच्यत्वशब्दवाच्यसामान्यरूपेणैकतया तदतिरिक्तगवेषणाभावात्। प्रतिवस्तुनियतशब्दव्यापारभेदेऽपि दोषाभावात्। स्वपरनिर्वाहकसमाधिं च स्वप्रकाशवादादौ परिगृहीतं विस्मरसि?

प्रसादः—अद्वैती विद्वानों ने जो प्रकाशमानत्व हेतु के द्वारा शुक्तिरजतादि में पारमार्थिक शब्द वाच्यत्व का अभाव दिखलाया है, उनका वह भी कथन इसलिए उचित नहीं है कि जितने भी आरोप्यमान शुक्तिरजतादि अधिष्ठान में प्रकाशित होते हैं, उनके अधिष्ठान में होने वाले आरोप्य सम्बन्ध आदि तो शब्दवाच्य हैं ही। हम लोग सम्बन्ध आदि से भिन्न वस्तु को प्रकाश मानता नहीं मानते। यदि ब्रह्म उनको आप असत् कहें तो सम्बन्धादि की असत्यता आदि का खण्डन हम पीछे कर चुके हैं। किञ्च यह जो कहा गया है कि वाच्यत्व वाच्य नहीं है, तो उत्तर है कि वाच्यत्व भी वाच्यत्व शब्दाभिलप्य है ही, यदि वाच्यत्व वाच्यत्वशब्द वाच्य नहीं होता तो फिर वह वाच्यत्व शब्द से कहा ही नहीं जा सकता था, यहाँ पर पूर्वपक्षोक्त अनवस्था दोष भी नहीं है, क्योंकि घटादि गत वाच्यत्व तथा वाच्यत्वगत वाच्यत्व दोनों वाच्यत्व शब्दवाच्य सामान्य रूप से एक हैं; अतएव तदतिरिक्त वाच्यत्वान्वेषण अनावश्यक है। प्रत्येक वस्तु में होने वाली शब्द व्यापार की भिन्नता रहने पर भी सामान्य एकता के कारण यहाँ पर अनवस्था दोष नहीं हो सकता है। किञ्च स्वप्रकाशवाद आदि में आपने ही स्वपर निर्वाहक न्याय को स्वीकार किया है, उसे आप यहाँ भूल क्यों रहे हैं?

तत्रापीति। तत्रापीत्यतः पूर्वं तन्नेति पूरणीयम्। तत्र शुक्तिरजतादौ। अन्यथाख्यातिमतेनाह सर्वस्येति। अधिष्ठानस्यारोप्यस्य तत्सम्बन्धस्य च वाच्यत्वादित्यर्थः। आदिपदेन यथार्थ

ख्यातिवाद्यभिमतशुक्तिसंसृष्टरजतावयवो गृह्यते । शशविषाणादिभिरनैकान्त्यं परिहरति-असद्व्यवहारेति । तत्रापि प्रकाशमानशशविषाणसम्बन्धानां सत्यत्वमेवेति भावः । नचानवस्थेति । घटादौ प्रवृत्तिनिमित्तभेदाद्वाच्यत्वभेदः, ततश्च घटादिगतवाच्यत्वे वाच्यत्वगतवाच्यत्वे च वाच्यत्वमेकमिति तेन रूपेणानुगतीकृतेषु वाच्यत्वशब्दवाच्यत्वमेकमेव, ततश्च घटादिवाच्यत्वगतमेव स्वस्मिन्नपि वाच्यत्वमिति नानवस्थेत्यर्थः । वाच्यत्व शब्दवाच्यत्वशब्दसामान्य वाच्यत्वत्वम्, यदि च प्रवृत्तिनिवृत्ताभेदेऽप्याश्रयभेदाद्वाच्यत्वभेदः तदानीमपि प्रामाणिकत्वान्नानवस्था दोषायेदमाह-प्रतिवस्त्विति । नन्वेवमप्यात्माश्रय इत्यत्राह स्वपरेति ।

यत्तु निर्विशेषत्वादिति प्रत्यनुमानम्; तत्र केषांचित् स्वरूपासिद्धिः । सिद्धानामपि स्वयम्प्रकाशत्वादीनां स्ववचनविरोधादिभिर्निरासः । ब्रह्मेति धर्मिनिर्देशात्तत्पर्यवसितसाध्यहेतुनिर्देशाच्च । अन्यथा आश्रयासिद्ध्यनन्वयस्वरूपासिद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात् । मुख्यवृत्तिनिषेधस्साध्यते; लक्षणया तु धर्मिस्वरूपादिनिर्देश इति चेन्न, ब्रह्म न लक्ष्यं निर्विशेषत्वादित्यपि वक्तुम् शक्यत्वात् । सर्वस्य च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य येन केनापि शब्देन लक्ष्यत्वसिद्धेर्न सपक्षत्वप्रसङ्गः । माभूल्लक्ष्यत्वमपीति चेत् ? तर्हि धर्मिनिर्देशादित्यागे कथमनुमानकथा । "यतो वाचो निवर्तन्त" इत्यादिकं तु न ब्रह्मणश्शब्दवाच्यतां बाधते; तस्य शतगुणितोत्तरक्रमेण ब्रह्मगुणानन्त्यं प्रतिपाद्य तथाविधापरिच्छेद्यत्वनिबन्धनवाङ्निवृत्तिप्रतिपादनपरत्वात् । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा' निति व्यतिरेकनिर्देशेन च गुणविषयत्वं व्यक्तम्। अन्यथा वाच्यत्वमात्रनिषेधे स्वतन्त्रयच्छब्दादेस्समुद्रघोषत्वप्रसङ्गः । एवं च यत्र गुणप्रकर्षप्रसङ्गमन्तरेणैव शब्दवाच्यत्वं निषिद्धं तत्राप्ययमेव शास्त्रार्थोऽनुगमयितव्यः । नचैवंविधा वाचो निवृत्तिर्वस्त्वन्तरेषु विद्यते, येन कतिपयशब्दमात्रागोचरत्वे अतिशयासिद्धिं शंकेथाः । या पुनस्तत्रासंकोचेन विषयव्यवस्थाभिमता; साप्याशामात्रसिद्धा, लक्षणावृत्तेर्ब्रह्मणि काल्पनिकवाच्यत्वस्य वा दुस्त्यजत्वात् । अन्यथा स्ववचनविरोधादेः प्रतिपादितत्वात् ।

अवाच्यमिति वाच्यम् चेत् ब्रह्मवाच्यत्वमृच्छति ।
अवाच्यमित्यवाच्यम् चेत् ब्रह्मवाच्यत्वमृच्छति ॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने ब्रह्मशब्दवाच्य नहीं है, क्योंकि वह निर्विशेष है ।' यह जो सिद्धान्ती के विरोध में अनुमान किया है, उस अनुमान में कुछ हेतु तो स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि कोई भी वस्तु सर्व विशेषविरहित नही होती, कुछ विशेषणों से विशिष्ट ही कोई भी वस्तु होती है । सिद्ध भी स्वयम् प्रकाशत्वादि हेतुओं का खण्डन अद्वैती विद्वानोंके स्ववचन विरोधादि दोषोंके द्वारा हो जाता है, क्योंकि यदि ब्रह्म स्वयम्प्रकाश है तो फिर वह निर्विशेष कैसे कहा जा सकता है । उसमें स्वयम्प्रकाशत्वादि विशेष तो हैं

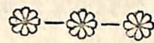
ही । किञ्च ब्रह्म पद से धर्मी(ब्रह्म)का निर्देश करके, उसे स्वयम्प्रकाशत्व, निर्विशेषत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट बतलाते ही हैं आप । यदि यह नहीं मानें तो; फिर आप के अनुमान में आश्रयासिद्धि 'अनन्वय' स्वरूपा सिद्धि आदि दोष भी होंगे । यदि कहेंकि हम शब्दों की मुख्यावृत्ति का । ब्रह्म में निषेध करते हैं, शब्द की लक्षणा वृत्ति के द्वारा तो धर्मी के स्वरूपादि का निर्देश हम मानते ही हैं, तो आप यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि आपके इस कथन के विरोध में यह भी तो कहा जा सकता है कि ब्रह्म लक्ष्य नहीं है, क्योंकि वह निर्विशेष है । किञ्च ब्रह्म व्यतिरिक्त सभी वस्तुएँ किसी न किसी शब्द के द्वारा लक्षित ही होती हैं; अतएव वे सपक्षत्वान्तर्गत भी नहीं हो सकती हैं । यदि ब्रह्म को लक्ष्य न मानें तो फिर धर्मी इत्यादि के निर्देश के बिना ब्रह्म के निर्विशेषत्व का अनुमान कैसे सम्भव है ? 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के वाच्यत्व का निषेध नही करती हैं , क्योंकि ब्रह्मा नन्दवल्ली भी की ये श्रुतियाँ शतगुणितोत्तर क्रमशः आनन्द की कल्पना करते हुए ब्रह्म के आनन्दादि गुणों के आनन्त्य को बतलाकर , उन गुणों की असीमितता के कारण उन गुणों को वाणी आदि का कार्त्स्न्येन अविषय बतलाती हैं । 'आनन्दम् ब्रह्मणो विद्वान्' श्रुति ब्रह्म को आनन्द गुणवान् बतलाकर उसके, आनन्द ज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाती है । 'यतो वाचो' श्रुति के द्वारा ब्रह्म की वाच्यता का निषेध मानने पर तो इस श्रुति का 'यत्' शब्द व्यर्थ हो जायेगा । इसी तरह जहाँ पर गुण प्रकर्ष के प्रसङ्ग के बिना ही ब्रह्म की शब्द वाच्यता का निषेध किया जाय वहाँ भी यही शास्त्रार्थ स्वीकारना चाहिए । किसी दूसरी वस्तु के विषय में इस प्रकार की वाणी की निवृत्ति देखी नहीं जाती; अतएव उसको कतिपय शब्द मात्र के अविषयत्व स्वीकारने में कोई आतिशय्य नहीं है । आपने जो ब्रह्म के अवाच्यत्व की संकोच रहित रूप से व्यवस्था की है; वह आपका आशामोदक मात्र है ; क्योंकि आपको ब्रह्म में शब्द की लक्षणावृत्ति अथवा काल्पनिक वाच्यत्वको अवश्य स्वीकारना होगा । अन्यथा आपके मत में स्ववचन विरोध आदि दोष अवश्य होगे । यदि आप के मत में ब्रह्म अवाच्य शब्द वाच्य हैं तो ब्रह्म की शब्दवाच्यता सिद्ध हो गयी; यदि वह अवाच्य नहीं कहा जा सकता तो भी उसकी शब्दवाच्यता सिद्ध हो ही गयी ।

अन्यथेति । आश्रया सिद्धिराश्रयाज्ञानात् , अनन्वयः साध्यविशिष्टपक्षप्रतिपादनाभावः पर्वतो धूमवत्त्वादितवत् , स्वरूपासिद्धिर्हेतोः पक्षे अज्ञानात् । असाधारण्यं परिहरति सर्वस्य-चेति । न ब्रह्मण इति । अस्याः श्रुतेः गुणविषयत्वादिति भावः । वाच्यत्वनिषेधपरत्वमप्यसिद्ध मित्याह-तस्येति । असङ्कोचेनेति । वाच्यत्व निषेधस्येति शेषः । ब्रह्मणि, अनुपहित इति शेषः । धर्मिसमानसत्ताकवाच्यत्वाभावेपि विषमसत्ताकवाच्यत्वं वा लक्षणावाङ्गीकार्या , ततश्च वाक्-निवृत्तिश्रुते र्नासङ्कोचसिद्धिरित्यर्थः । अनुपहितबोधनाङ्गीकारे बाधकमाह-अन्यथेति । अवाच्य मिति । अवाच्यपदेनेत्यर्थः । नचावाच्यमित्येतद्वाक्यमेव; नच तथापि अवाच्यमिति वाक्यैकदेश-भूतनञवाच्यत्वमस्तीति वाच्यम् , नञः पर्युदासलक्षकत्वात ; इति वाच्यम ,-अवाच्यमित्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे विहितप्रथमा वाच्यत्वस्यावर्जनीयत्वात् । इदञ्चोपलक्षणम् लक्ष्यादिपदे प्रत्यय वाच्यत्वमावश्यकमित्यपि द्रष्टव्यम् ।

यत्तु ; 'प्रत्यस्तमितभेदम्' इत्यादि-तदपि परिशुद्धात्मस्वरूपोपदेशपरमिति प्रकरणा (द)नुसारेण व्याख्यातं भाष्ये । भवतु वा तस्य परब्रह्मविषयत्वम् , तथापि न

सर्वशब्द (सर्वथा) वाच्यत्वनिषेधशङ्का, स्ववचनविरोधादेरत्रापि दुर्निरासत्वात । येन महर्षिणैवमुक्तम् ; "शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते । मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥ तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः । शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥ एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति । परब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥" इति–स कथं ब्रह्मणः [सर्वथा] शब्दवाच्यत्वं प्रतिक्षिपेत् ? न च त्वदुक्ता एव श्रुति–स्मृतयः, 'बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म' ; 'तस्योदिति नाम' ; 'तस्योपनिषदहमिति'–अधिदैवतम्–; 'तस्योपनिषदहमिति'–' अत्यध्यात्मम्, 'सर्वाधारं धाम विष्णुसंज्ञम्' इत्यादिश्रुतिशतैः तत्तच्छब्दानां ब्रह्मणश्च नामनामिभावेनैव व्यपदेशात् । 'ओमिति ब्रह्म इत्यादिना प्रणववाच्यत्वं [च ?] श्रूयते । स्मरन्ति च , 'नतास्स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती' ; 'वचसां वाच्यमुत्तमम' इति । आह च स्वयमेव; 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति । अतः, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिसर्वश्रुत्याद्यविरोधाय स्ववचनविरोध (ादि) परिहाराय च मुमुक्षूपादेयब्रह्मनामवर्गसंरक्षणाय अपरिच्छेद्यमाहात्म्यादिनिबन्धनैव ब्रह्मणि वाचोनिवृत्तिः श्रुतिस्मृतिभिर्विवक्षितेति न ब्रह्मणि शब्दवाच्यत्वमात्रम् प्रतिक्षेप्तु' शक्यमिति ।

॥ इति शतदूषण्याम् शब्दावेद्यत्वनिरासवादः पञ्चचत्वारिंशः ॥



प्रसादः—'प्रत्यस्तमित भेदंयत्' इत्यादि जो महर्षि पराशर ने विष्णुपुराण में कहा है, वह श्लोक परिशुद्ध आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करता है, इस बात को प्रकरणादि के आलोचन पूर्वक श्रीभाष्य में कहा गया है। यदि उस वाक्य का विषय पर ब्रह्म का भी प्रतिपादन माना जाय तो भी ब्रह्म के सर्वशब्दवाच्यत्व के निषेध की शङ्का नहीं की जा सकती है , क्योंकि ऐसा मानने पर श्रीविष्णु पुराण में स्ववचन विरोधादि दोषों का प्रसङ्ग होगा। स्वयम् महर्षि ने ही विष्णुपुराण में कहा है—हे मैत्रेय ! सभी कारणों के कारण महाविभूति संज्ञक पर ब्रह्म के लिए ही 'भगवत्' शब्द का प्रयोग होता है। हे मैत्रेय ? इस प्रकार यह महान् 'भगवान्' शब्द पर ब्रह्म स्वरूप श्री वासुदेव का ही वाचक है , किसी अन्य का नहीं।' (वि० पु० ६-५-७२ तथा ७६ श्लोक) तथा 'पूज्य पदार्थों को सूचित करने के लक्षण से युक्त इस 'भगवान्' शब्द का परमात्मा में मुख्य प्रयोग होता है तथा औरों के लिए इसका गौण प्रयोग होता है। (वि० पु० ६–५–७७) इस तरह से कहने वाले महर्षि परब्रह्म के वाच्यत्व का कैसे निषेध कर सकते हैं ? भवदुक्त प्रकार की ही श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ हों ऐसी बात नहीं है, निम्नांकित

अनेक श्रुतियाँ है जो अनेक शब्दों से ब्रह्म के नाम नामी भावरूप सम्बन्ध को अभिव्यक्त करती हैं। वे है (१) बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म' स्वेतर समस्त वस्तुओं से महान् होने तथा उन्हें बढाने के कारण श्रीभगवान् परं ब्रह्म शब्द से अभिहित किए जाते हैं। (२) 'तस्योदिति नाम' उस पर ब्रह्म का 'उत्' नाम है। (३) पर ब्रह्म का अधिदैवत रहस्यात्मक नाम हरि है 'तस्योपनिद् हरिरित्यधि दैवतम्।' (४) 'तस्योपनिषद मिति' उस पर ब्रह्म का रहस्यात्मक नाम 'मैं' है। (५) 'अत्याध्यात्मम्' पर ब्रह्म आत्माओं का स्वामी है। (६) सर्वाधारं धाम विष्णुसंज्ञम्' विष्णु नामक तेज सबों का आश्रय है। इत्यादि। 'ओमिति ब्रह्म' ब्रह्म ओम् शब्द वाच्य है; यह श्रुति ब्रह्म को ओम् शब्द का वाच्य बतलाती है, महर्षियों ने भी कहा है-शाश्वत काल से सभी वाणियाँ जिसे बतलाती है, हम उसी ब्रह्म को नमस्कार करते हैं। तथा 'वचासां वाच्यमुत्तमम्' वह सभी वाणियों का उत्तम वाच्य है। भगवान् ने स्वयम् गीता में कहा है—सभी वेद वाक्य मेरा ही प्रतिपादन करते हैं। अतएव सभी वेद वाक्य जिस पर ब्रह्म का आम्नान करते हैं' इत्यादि सभी श्रुतियों तथा स्मृतियों से विरोध का परिहार करने के लिए तथा स्ववचन विरोध नामक दोष का परिहार करने के लिए; मुमुक्षु जीवों के लिए उपादेय ब्रह्म के नामों का संरक्षण करने के लिए यही मानना चाहिएँ कि, श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ ब्रह्म के ऐश्वर्य की असीमितता के कारण उसे वाणी का अविषय बतलाती हैं। ब्रह्म की शब्दवाच्यता मात्र के निषेध में उनका तात्पर्य है।

इस तरह शतदूषणी का शब्दावेद्यत्व नामक ४५ वाँ वाद परिपूर्ण हुआ।

❀-❀-❀

शुद्ध इति। नन्वियं स्मृतिरुपहितविषयैव ; नच शुद्धपदविरोधः, अविद्यामनङ्गीकुर्वता भवता हेयगुणराहित्यपरत्वस्य वाच्यतया तस्यैव मयाप्यङ्गीकारे दोषाभावादिति चेन्न,-- अविद्यामङ्गीकुर्वता त्वया शुद्धपदस्य तदनुपहितपरत्वस्यैव वाच्यत्वात्, इति भावः।

अत्रायमस्मदाचार्याणां निष्कर्षः-

"ब्रह्मण्यशब्दवाच्ये स्याद्वचसां वाच्यमुत्तमम्।
इत्यादिमानविद्वेषो वाच्यतोपहितस्य चेत्॥

स्वरूपस्यापि वाच्यत्वं तदन्तर्भावतो भवेत्।
उपधानेन शून्यस्यावाच्यत्वे व्याहतिर्भवेत्॥

वाच्यत्वं ब्रह्मणो वाच्येनुपधाने न लक्षणा।
समानसत्ववाच्यत्वाभावे तौल्यम् घटादिना॥

निमित्तोपहिते शब्दस्वरूपम् चेन्न गोचरः।
यतो वाचो निवर्तन्ते श्रुतिस्तु गुणगोचरा॥

स्वरूपगोचरत्वेपि कथं शक्तिर्निवार्यते।
अप्राप्येति निषेधे तु कथम् मृष्येत लक्षणाम्॥

निर्दिश्यवृत्तिमात्रस्य निषेधव्याहतिस्ततः ।
शक्तेर्निषेधश्चेत्तर्हि लक्षणा वा निषिध्यताम् ॥

लक्षणाया निषेवे हि वाच्यत्वश्रुत्यनुग्रहः ।
तात्पर्यमपरिच्छेदे श्रुतेः प्रकरणात्ततः ॥

मनसा सममाम्नानान्निवृत्तिर्दुर्वचा गिरः ।
इष्यते हि मनोवृत्तिः परैरपि परात्मनि ॥" इति ।

अयमर्थः-ब्रह्मणशब्दवाच्यत्वाभावे "वचसां वाच्यमुत्तम" मित्यादिविरोधः । उपहितस्य वाच्यत्वे न विरोध इति चेत् ? किं तर्ह्यवाच्यम् ? अनुपहितमिति चेत् ? किं तदनुपहितम् किं स्वरूपमेव, उतोपधानशून्यम् स्वरूपम्, किं वा उपधानाभावः ? आद्ये-उपहितस्य वाच्यत्वे स्वरूपस्यापि तत्प्रवेशेन वाच्यत्वमनिवार्यमेव । द्वितीयेपि किमुपहितस्वरूपमेवोपधानशून्यम विवक्षितम्, किं वा ततोन्यत् ? आद्ये व्याघातः । यदि चोपहितस्याप्युपधानस्यापारमार्थिकतया पारमार्थिकोपधानशून्यत्वान्न व्याघातः, एवमपि तादृशं ब्रह्म वाच्यमेवेति कथमवाच्यता । द्वितीयमसिद्धमनङ्गीकृतं च । एतेन तृतीयमपि निरस्तम् । ब्रह्मणो वाच्यत्वाविरोधाच्च । यदि चोपहितान्तर्भावेन स्वरुपस्य वाच्यत्वेपि घटादिवद्धर्मिसमानसत्ताकवाच्यत्वाभावमात्रेणावाच्यत्वसिद्धिं मन्यसे तर्ह्यवाच्यमिव ब्रह्म लक्ष्यमपि स्यात् । लक्षणावैयर्थ्यं च । यदि च प्रवृत्तिनिमित्तोपहितप्रतीतेः शक्त्यधीनत्वेपि स्वरुपमात्रप्रतीतेश्शक्त्यधीनत्वाभावात् स्वरुपमवाच्यम्, प्रवृत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयकप्रतीतेरविद्यानिवर्तकत्वाभावात्, शब्दजन्य स्वरुपमात्रविषयकापरोक्षवृत्तये स्वरुपलक्षणेति ब्रूषे, तर्हि घटाद्यविशेषः । नहि घटत्वाद्युपहिता शक्तिस्तदनुपहितं बोधयति । नच वाच्यत्वे ब्रह्मणो 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतिविरोधः, तस्या गुणापरिच्छेदतात्पर्यकत्वात् । स्वरुपानन्दविषयत्वेपि वाङ्मात्रनिवृत्तिप्रतीत्या कथं शक्तिनिवृत्तिः । ननु "अप्राप्य निवर्तन्त" इति शक्तिरुपसम्बन्धाभावाद्वाङ्निवृत्तिः प्रतीयत इति चेन्न;-वृत्ति मात्रस्य शब्दार्थसम्बन्धतया लक्षणाया अपि निषेधप्रसङ्गात् । यत इति निर्दिश्य वृत्तिमात्रनिषेधे व्याघाताच्छक्तिर्निषिद्ध्यत इति चेन्न,--विपरीतस्य सुवचत्वात् । तथासति हि "वचसां वाच्यमुत्तम" मित्याद्यनुग्रहश्च । किञ्चैवं सङ्कोचे प्रकरणानुसारात् मानुषादीनां प्राजापत्यपर्यन्तानामिवानन्दानां ब्रह्मानन्दस्य परिच्छेदाभावात् शब्दो न मानुषाद्यानन्दानिव प्राप्नोति-प्रकर्षेण सम्बन्ध्यते, न तथा बोधनसमर्थः; अतो निवर्तत इत्येव श्रुत्यर्थ एष्टव्यः । किञ्च मनोवृत्तिनिषेधासम्भवेन तन्निषेधस्य उक्तार्थपरत्वे वाच्ये वाङ्निषेधस्यापि तत्परत्वमेव युक्तमिति ।

अन्येतु—न ब्रह्म सर्वशब्दावाच्यम्, अवाच्यशब्देनाभिधानात्, नच तेनापि लक्ष्यते अवाच्यरूपमुख्यार्थस्याभावात्, भावे वा ब्रह्म वाच्यमेव अवाच्यपदवाच्यरूपमुख्यार्थसम्बन्धीति स्यात् । मुख्यार्थहीनस्य ब्रह्मलक्षकत्वे घट शब्दोपि घटलक्षकस्स्यात् । एवं निर्विशेषं स्वप्रकाशम् परमार्थं सदित्यादिभि र्ब्रह्मोच्यते चेत् वाच्यत्वसिद्धिः । नच तैलक्ष्यते, निर्विशेषस्वप्रकाशादिरुप

मुख्यार्थस्यान्यस्याभावात् । एवं लक्ष्यशब्देनोच्यते चेत् ? वाच्यत्वसिद्धिः । लक्ष्यते चेत् लक्ष्यत्वहानिः, गङ्गाशब्दलक्ष्यस्यागङ्गात्ववल्लक्ष्यपदलक्ष्यस्यालक्ष्यत्वात् । ननु निर्विशेषादिशब्दानां विशेषाभावादिविशिष्टम् वाच्यम् , नच न ब्रह्म, तस्य विशेषाभावाद्युपलक्षितत्वादितिचेत ? तर्हि विशेषाभावोपलक्षितशब्द वाच्यत्वम् । ननु विशेषाभावोपलक्षितत्वादिकं तद्विशिष्टम् वा निर्विशेषादिपदवाच्यम् , तच्च न ब्रह्म, किन्तु तदाश्रयव्यक्तिभूतं विशेष्यं वा, एवं च मुख्यार्थत्वसिद्धिः; ब्रह्मणो निर्विशेषादिशब्दवाच्यत्वेपि निर्विशेषत्वाद्यहानिश्चेति चेन्न,-व्यक्तिशब्दार्थो जातिरुपधानमिति मते जातिविशिष्टा व्यक्तिशब्दार्थ इति मते च यत्र विशेष्ये निर्विशेषत्वादिकं तस्य तत्पदवाच्यत्वायोगात् । 'जातिशब्दार्थ' इति मते तु घटादि व्यक्तेरपि घटादिशब्दावाच्यत्वेन ब्रह्मणस्ततो विशेषार्थ जातिवाचिभिश्शब्दैर्ब्रह्म जात्याधारव्यक्तिसम्बन्धितयैव लक्ष्यत इति वक्तव्यत्वेन मुख्यार्थाभावादिदोष तादवस्थ्यात् ; 'सत्यं ज्ञानमनन्त' मित्यादौ ब्रह्मणस्सत्यत्वादिधर्माश्रयतयैव लक्ष्यत्वाल्लक्ष्यघटादिवत्सखण्डत्वापाताच्च । निर्गुणस्वप्रकाशादेरब्रह्मत्वे यद्यद्ब्रह्मतयेष्यते तत्तदब्रह्मेति साधु समर्थितो ब्रह्मवादः । अन्ववाच्यादिशब्दास्समासरूपाः , लक्ष्यादिशब्दास्तु यौगिकाः, उभयेषामपि वाक्यतुल्यत्वान्न वाचकतेति चेन्न,-समासे पदार्थसंसर्गस्य यौगिके प्रकृतिप्रत्ययार्थसंसर्गस्य चानभिधेयत्वेपि पदार्थस्य प्रत्ययार्थस्य च वाच्यत्वेन तदर्थस्य ब्रह्मणो वाच्यत्वापरिहारात । यदि च ब्रह्म न पदार्थः, किन्तु पदार्थसंसर्गरूपम् , तर्हि सखण्डं स्यात । यदि त्ववाच्यत्वमित्यादि न पदार्थद्वयाधिकस्वार्थससर्गपरम् ; किन्तु ब्रह्ममात्रलक्षकम् , तर्हि न तेनावाच्यत्वादि सिद्धिः । तस्मान्निर्विशेषादिशब्दवाच्यत्वं दुर्वारम् । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'अशब्दमस्पर्श' इत्यादिश्रुतिस्तु अद्भुतत्वाद्यभिप्राया । 'नहीदृगितिविज्ञेयम् ' 'न वाच्यं नच दृश्यते' ' पश्यन्तोपि न पश्यन्ति ' इत्यादिश्रुतौ तद्दर्शनात् । पराभिमते अर्थे अशब्दमित्यादि शब्दवाच्यत्वस्यापि निषेधेन तदसिद्धेः । 'यतो वाच' इत्यत्रापि 'मनसा सहे' ति श्रुतौ मनोवृत्तेरिव अन्तःकरणवृत्तिव्याप्ये ब्रह्मणि वाग्वृत्तेरपि निषेधा योगाच्च । आनन्दाद्यनेकशब्दमुख्यार्थत्वाय 'निवर्तन्त' इत्येकस्यैवानुख्यार्थत्वस्य न्याय्यत्वाच्च । 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म' ' यस्मादुच्यते पर ब्रह्म ' ' वचसा वाच्यमुत्तमम् ' इत्यादिश्रुतेश्च । वेदान्ततात्पर्यविषयो ब्रह्म वाच्यम् , वस्तुत्वाल्लक्ष्यत्वात्तीरवत् , परमार्थसदादिपदं कस्यचिद्वाचकं; पदत्वात , घटादिपदवत् , सत्यज्ञानादिवाक्यं वाच्यार्थतात्पर्यवत , वाक्यत्वात् अग्निहोत्रादिवाक्यवत , इत्यनुमानैश्च विरोधाच्च । विपक्षे लक्ष्यत्वं न स्यात् , तथाहि लाक्षणिकशब्दो न श्रुत एवार्थान्तरधीहेतुः; तत्रागृहीतशक्तित्वात । किन्तु स्ववाच्यार्थे अनुपपत्तिदर्शने सति तत्त्यागे स्वार्थसम्बन्धित्वेनावगतस्यावबोधकः , गङ्गादिशब्दादौ तथा दर्शनात । अन्यथातिप्रसंगाच्च । तथाच ब्रह्मणोपि लक्ष्यत्वे वाच्यार्थसंसर्गितया ज्ञेयत्वादौपनिषदस्य चाशाब्देनाज्ञेयत्वात् , स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धौ च शब्दवैयर्थ्यात् , अवाच्ये लक्षकस्यैतस्य वक्तव्यत्वात् , तत्रापि स्वार्थसम्बन्धित्वेन ज्ञेयत्वेनानवस्थेति कथमवाच्ये लक्षणा ? नच वाचकस्यापि गृहीतसंकेतस्यैव बोधकत्वात् , सम्बन्धग्रहणस्य च सम्बन्धि ज्ञानाधीनत्वात , तदर्थस्य च ब्रह्मणश्शब्दैकमेयत्वात् , तत्राप्यनवस्थेति वाच्यम् ,-यौगिकशब्दानां वाक्यतुल्यत्वेनानपेक्षणात् । ननु प्रवृत्ति-

निमित्ता भावात्कथं वाच्यत्वम् ? नच गुणक्रियाजात्यन्यतममात्मन्यस्ति, नच घटादा विवारोपितनिमित्तमस्तीति शङ्कनीयम् , आरोपिते श्रुतितात्पर्यायोगेन तात्पर्यं विषयस्य वाच्यत्वायोगादिति चेन्न,-सत्यादिशब्दानां लक्षकत्वे सिद्धे निमित्ताभावः तस्मिन् सिद्धे च लक्षकत्वमित्यन्योन्याश्रयात् । स्वरूपमात्रप्रश्नोत्तरत्वेन लक्षकत्वमित्यस्याखण्डार्थत्वभङ्ग एव निरस्तत्वात् । निर्विशेषवाक्यस्य स्वरूपमात्रपरत्वे विशेषाविरोधात् , तस्य निर्विशेषत्वविशिष्टपरत्वे तु निमित्तस्यु सत्त्वेन निर्विशेषशब्दवाच्यतापातात् , अभावनिमित्तकशब्दवाच्यत्वे प्रामाणिकत्वाविशेषेण भावनिमित्तक शब्दवाच्यत्वस्यापि दुरपह्नवत्वात् । तस्मात् ब्रह्मणि सर्वेषां वेदान्तानां लक्षणेत्येतदयुक्तमिति ।

अत्र नवीनः-तात्पर्येण सत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यम् ब्रह्म न तद्वाक्यस्थपदशक्यम् , तद्वाक्यार्थत्वात् , सम्मतवत् , 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'औपनिषदम्' इत्यादिश्रुत्या च वाक्यार्थत्व सिद्धिः । नचान्विताभिधानवादे नियोगादौ व्यभिचारः, अन्वयविशेषस्य तद्विशिष्टस्य वा वाक्यार्थस्य तत्पदाशक्यत्वात् । नहि धात्वर्थपुरुषविशेषान्वितो नियोगस्तेन तदन्यतो वा केनचित्प्रतीयते ? अप्रतीतेः पदान्तरवैयर्थ्याच्च । नच प्रमेयो घट इत्यत्र प्रमेय घटाभेदस्य वाक्यार्थस्य प्रमेयपदाभिधेयत्वात् व्यभिचार इति वाच्यम्। प्रमेयत्वस्यैकस्यासम्भवेन तारादिशब्दवदनेकार्थत्वस्यैव वक्तव्यतया पदार्थवाक्यार्थयोरेकपदानभिधेयत्वात । एवं सम्बन्धपदार्थोप्येको द्वुवेच इति दण्डस्सम्बन्धीति वाक्यार्थे न व्यभिचारः । नच विशिष्टधीनियामकत्वं सम्बन्धत्वम ; वैशिष्ट्यस्यैव सम्बन्धत्वेनान्योन्याश्रयात् । नापि विशेषणधीजन्यज्ञानासाधारणविषयत्वं सम्बन्धत्वम् , असाधारणत्वं यदि तदजन्यज्ञानाविषयत्वं तदा असम्भवः, स्वरूपसम्बन्धाव्याप्तिश्च, विषयत्वस्या प्यननुगतत्वात् । तद्वाक्यस्थपदशक्यतावच्छेदकधर्मवदन्यत्वादिति वा हेतुः । शक्तिविषयत्वस्य च निषेधान्न साध्याविशेषः । नचासिद्धिः; वक्ष्यमाणन्यायात । नचाप्रयोजकत्वम् , सत्यज्ञानानन्दात्मनि ब्रह्मणि सत्यादिपदस्यैकैकस्य शक्तावेकपदेनैव तादृगुपस्थितेः पदान्तरवैयर्थ्यस्य च प्रसङ्गात् । नच सिद्धान्ते ब्रह्मणस्सन्मात्रत्वात् सतश्च सत्पदात्प्रतीतेरनुपस्थितांशः कोपि नास्तीति वाच्यम् , सतो ज्ञानानन्दाद्यभेदसंशयविरोधिप्रतीतेरेवापादनात् । नचैकस्मात्पदात्साहश्यम् , तेन च तत्र ज्ञायमानेपि दाषादेव संशय इति वाच्यम् ,—ज्ञानादिपदसामानाधिकरण्यप्रतिसन्धानम् विना तत्संशयानवृत्त्यदर्शनेन तत्प्रतीते र्वाक्यकृत्यत्वात् । किंच सर्वपदानां तत्र शक्तौ सत्यज्ञानादिपदानां पर्यायतापत्तिश्च । प्रवृत्तिनिमित्तभेदे च तद्विशिष्टस्य धर्ममात्रस्य वा शक्यतापातात् नागमाभिमतब्रह्मणश्शक्यत्वम् । सत्यादिपदमपि न ब्रह्मवाचकम ; तत्प्रतिपादकवाक्यैकदेशपदत्वात ; यद्यदर्थवाक्यैकदेशपदं न तत्तद्वाचकम । घटानयनादिसंसर्गप्रतिपादकघटमानयेतिवाक्यस्थघटादिपदवत । वाक्यार्थस्य तदेकदेश पदार्थत्वे सहश्रुतनिखिलपदानां परस्परान्वितस्वार्थबोधकता व्युत्पत्तिसिद्धा बाध्येत । नच लक्ष्यत्वे ऽप्ययं दोषः प्राशस्त्यस्येव एकस्याप्यनेकपदलक्ष्यत्वसम्भवात् । नच लक्ष्यस्यापि शक्यसम्बन्धितया पूर्वमवगमनीयत्वात ब्रह्मणोऽपूर्वता क्षतिः , मानान्तरं विनापि वचारेण शक्येन सत्यत्वादिविशिष्टेन लक्ष्यस्य विशेष्यस्य तादात्म्यसम्बन्धा

वगमात् । किञ्चाभिहितान्वयवादिनां अन्विताभिधानवादिनां वा वाक्यार्थमात्रं लक्ष्यमेव च वक्तव्यम् , अन्यथा तत्प्रतीत्यनुपपत्तेः । नच शक्त्यैव पदार्थज्ञानद्वारा वाक्यार्थप्रमा, अपर्यवसानालभ्यस्य शक्तिजन्यज्ञानविषयस्य शक्यत्वनियमात् । नहि जातिपदार्थवादिनां व्यक्तिरिव पदार्थसंसर्गो पर्यवसानलभ्यः, येन शक्तिजन्यज्ञानविषयत्वेपि वाच्यत्वं न स्यात् । अन्यथा एकपदादपि संसर्गविशेषो भायात् । आकाङ्क्षाद्यपेक्षाभावप्रसङ्गाच्च । विनिगमकाभावेन पर्यायतापत्तेश्च । नच विनापि वृत्त्या पदानामाकांक्षादिमहिम्नैव संसर्गबोधकत्वमस्तीति वाच्यम् ,-प्रतिपादनसामर्थ्यस्य हि आकांक्षादिसहकार्यं पेक्षणम् , सामर्थ्यञ्च शब्दस्यार्थे वृत्तिरेव । तथाच वाक्यार्थज्ञानं लक्षणाजन्यम् , शक्त्यजन्यत्वे सति शब्दजन्यत्वात् ; सम्मतवत् । अन्यथा वाक्यार्थे शाब्दत्वं न स्यात् नच लाक्षणिकत्वे पदानां संसर्गानुभावकत्वं न स्यात् ; संसर्गस्यैव सर्वपदैर्लक्ष्यत्वात् , तस्य च पूर्वमननुभूतत्वात् । लाक्षणिकगङ्गापदस्याप्यन्वयप्रतियोग्युपस्थापकतया पदान्तरपदानुभवजनकत्वाच्च । पदस्यानुभावकत्वेऽन्वयप्रतियोग्युपस्थापकत्वमेव तन्त्रम् , नतु शक्तत्वम् ; अशक्तादपि तदुपस्थितिदशायां ततोनुभवदर्शनात् । समभिव्याहृतपदानां सम्भूयकारित्वव्युत्पत्तिविरोधाच्च । विभक्तेस्स्वप्रकृत्या सह स्वार्थान्वयबोधकत्वानुभवाच्च । नच वाक्ये शक्त्यभावात कथं तेन संसर्गो लक्षणीयः, शक्यसम्बन्धाभावादिति वाच्यम ,-पदसमूहो हि वाक्यम् , समूहश्चैकधर्मावच्छिन्नपदान्येव, तानि च शक्तानीति तत्संसर्गस्तदर्थसम्बन्ध्येव । लाक्षणिक पदाथसंसर्गोपि परम्परया शक्यसम्बन्ध्येव; अन्यथा अर्थवादपदसमुदाये लक्षणा न स्यात् । वाक्यार्थप्रतीत्युद्देशेन वाक्यप्रयोगानुपपत्तिर्लक्षणा बीजम् । नन्वेवमपि वाक्यार्थस्य शक्यसम्बन्धित्वेनानवगमात कथं तत्र लक्षणेति चेन्न,-स्मृत्यर्थं हि पूर्वमनुभवापेक्षा, नहि वाक्यार्थस्य स्मृतिरपेक्षिता ? नन्वेवमेकस्मिन् प्रयोगे पदेषु वृत्तिद्वयं विरुद्धमिति चेन्न,-एकस्य ज्ञानस्य वृत्तिद्वयाजन्यत्वात् । गङ्गायां यादांसि घोषश्चेत्यत्र तात्पर्यज्ञाने युगपदन्वयबोधस्य परैरभ्युपेयत्वाच्च । ननु संसर्गविशेष एव वाक्येन लक्षणीयः, संसर्गे च विशेषः पदार्थ एवेत्यजहल्लक्षणा स्यात् , सा चानुपपन्ना, शक्यलक्ष्यसाधारणरूपाभावात् , इति चेन्न,-तीरत्वावच्छिन्ने तीर इव पदार्थविशेषावच्छिन्ने संसर्गे ऽजहल्लक्षणोपपत्तेः । एकधर्मावच्छेदेन पदार्थद्वयोपस्थितौ ह्यजहल्लक्षणा । अतो वाक्यार्थस्य ब्रह्मणो लक्ष्यत्वमविरुद्धम् । किञ्च-विशिष्टब्रह्मशक्तैः केवल धर्मशक्तैर्वा पदैर्निर्गुणब्रह्मप्रमितिसिद्धौ न तत्रापि शक्तिः कल्प्या, अन्यलभ्ये तदयोगात् । मुख्यार्थत्वाय शक्तिकल्पनायां गङ्गापदस्यापि तीरे शक्तिः प्रसज्येत । ततश्च ब्रह्मपदं वृद्धिविशिष्टवाचकम , वृद्धिश्चोपचयः , स चात्र सर्वात्मत्वयोग्यता ; नत्ववयवोपचयः, नापि गुणाधिक्यम , गुणाधिक्यमात्रस्य सर्वत्र सुलभत्वात् , सर्वगुणवैशिष्ट्यस्य तदर्थत्वे सर्वात्मत्वस्याप्यन्तर्भावात् आवश्यकत्वात् स्वरूपोपचयरूपत्वाच्च तदेव ब्रह्मशब्दार्थः आत्मशब्दार्थोपि व्याप्तिरूपसातत्यविशिष्टः । एवं सत्यादिशब्दार्थोपि बाधायोग्यत्वादिविशिष्टः । अतस्सत्यज्ञानाद्यात्मकब्रह्मणि ब्रह्मादिपदानां लक्षणैव । यत्तु लक्ष्यमवाच्य मित्यादिपदवाच्यत्वाद्ब्रह्मणो न सर्वपदलक्ष्यत्वमिति ; तन्न , तत्र प्रमाणाभावात । किं सर्वशब्दलक्ष्यत्वमुपपादयितुमलक्ष्य तत्पदवाच्यत्वम् , उत लक्ष्यादिपद प्रवृत्तिनिमित्तस्य ब्रह्मणि सत्त्वेन, त्वदुक्तानवस्थापरिहा-

रायवा ? नाद्यः, लक्ष्यादि पदवाच्यत्वे तदयोगात् । ननु ब्रह्मणो लक्ष्यादिपदवाच्यत्वाभावे कथं ब्रह्म सर्वपदलक्ष्यमिति प्रतिपादनीयमिति चेत् ? का तर्हि प्रतिपादनेनुपपत्तिः ? न तावत् तेन विना योग्यताद्यभावः, प्रत्युत तस्मिन् सत्येव न योग्यता, नापि लक्ष्यादिपदवाच्याप्रसिद्ध्या तल्लक्षणानुपपत्तिः, तत्तत्पदलक्ष्यतोरादेः लक्ष्यपदार्थत्वात् । ननु लक्ष्यपदेनापि तस्य लक्ष्यत्वे कथं वाक्यार्थप्रतीतिः ? लक्ष्यपदवाच्यसम्बन्धत्वेन हि ज्ञाते लक्ष्यपदस्य लक्षणा, तज्ज्ञानं च सिद्धान्ते लाक्षणिकपदेनैव वक्तव्यमिति तत्तल्लक्ष्यज्ञानार्थं तत्तल्लाक्षणिकपदापेक्षया अनवस्थानादिति चेत् ? तर्हि स एव दोषः । सच निरसिष्यते । नापि द्वितीयः, तत्तद्धर्मविशिष्टस्य ब्रह्मणो वाच्यत्वेपि तदधिष्ठानस्य विशेष्यस्य तदभावात् । विशेष्यस्य सर्वस्मादपि विशिष्टादन्यत्वात्तल्लक्ष्यते । अतएव यद्यद्ब्रह्मत्वेनोपेतं तद्ब्रह्मेति परोक्तं निरस्तम्, विशेष्यस्य निर्द्धर्मकस्यैव ब्रह्मत्वात् । नन्वानन्दादि पदलक्ष्यस्य तद्वाच्याद्विशिष्टादन्यत्वे आनन्दत्वादिकं न स्यादिति चेन्न,-दण्डिदेवदत्तादन्यत्वेपि विशेष्यदेवदत्तो देवदत्तस्वरूपस्येव विशेष्यानन्देपि तत्स्वरूपा नपायात् । सत्यादिपदलक्ष्ये वाच्यान्यस्वरूपे सत्यादिपदवाच्यत्वं नाम कश्चिद्धर्मः, तद्विशिष्टमवाच्यशब्दार्थ इति तस्यापि विशिष्टवाचकत्वमेव । तथा च वाच्य पदमपि लक्षणयैव वाच्यार्थं ब्रह्मोपस्थापयति । अन्यथा यावद्वाच्यान्यत्वप्रतिपादकावाच्यपदस्य योग्यताया अभावात् । अतएवावाच्यपदलक्ष्यत्वे अवाच्यम् न भवेदिति निरस्तम्; अवाच्यस्वरूप एव व्यावहारिकावाच्यत्वस्य कल्पिततया अवाच्यपदलक्ष्यस्यापि तस्य तत्स्वरूपानपायात् । वस्तुतस्त्ववाच्यमिति वाक्यमेव, नञ् लक्षणया ब्रह्मान्यत्प्रतिपादयति । ननु स्वरूपमात्रमेव लक्ष्यादिपदशक्यं भवत्विति चेत् ? शक्तः परमतेपि विशिष्टविषयत्वात् । नापि त्वदुक्तानवस्था, विचारादिना तस्य वाच्यसम्बन्धित्वेन निर्णीतत्वात् । लक्ष्यतावच्छेदक च नात्रापेक्षितम्, लक्ष्य स्वरूपस्य स्वतो व्यावृत्तत्वादेकत्वाच्च । ननु लक्ष्यस्य लक्षकशब्दैरेव परं प्रतिपादनेनवस्थेति मूकतापत्तिरिति चेन्न,-ब्रह्मण उक्तविधया निर्धर्मत्वं सत्यज्ञानाद्यात्मत्वं तस्मिन् सत्यादिपदव्युत्पत्तिप्रकारमानन्दादिस्वरूपस्यैवानन्दादिपदलक्ष्यत्वमवगच्छतः आनन्द एव ब्रह्मेत्युपदेशादेव योग्यतानुसारेण धर्मिणोरेवाभेदावगम सम्भवात् । विशेषणभेदप्रयुक्तमेव भेदं विशिष्टयोरवगच्छतः सदभेदप्रतीतेस्स्वरूपविषयत्वात् । प्रवृत्तिनिमित्ताभावादपि न ब्रह्मणि पदानां शक्तिः, पारमार्थिक जातिगुणक्रियादेरसम्भवात् । तदसम्भवश्च लक्षणा विनापि दृश्यत्वाद्यनुमानैर्निषेध वाक्यैश्च निरूपयितुं शक्यत इति न त्वदुक्तान्योन्याश्रयः । कल्पितगुणक्रियावैशिष्ट्ये च वेदान्ततात्पर्यायोगात् । ननु वेदान्ततात्पर्यगोचरत्वविशिष्टब्रह्मणस्स्वप्रतिपादकवाक्यस्थपदाशक्यत्वसिद्धावपि न विशेष्यब्रह्मणस्तत्सिद्धिरिति चेन्न,—अनुमितिर्हि पक्षतावच्छेदकधर्माश्रयस्यैव शक्यान्यत्व विषयीकरोति, सर्वत्रापि साध्यस्य पक्षताश्रयवैशिष्ट्यस्यैवानुमितिविषयत्वात् । नन्वेवमपि वेदान्ततात्पर्यगोचर इति पदाद्विशेष्यस्यानुपस्थितः कथं तत्पक्षकानुमितिरिति चेन्न;-निर्धर्मके ब्रह्मणि वेदान्ततात्पर्यं बिदुषः वेदान्ततात्पर्यगोचर इति पदाल्लक्षणया तस्यैवोपस्थितेर्वक्तव्यत्वात् । अन्यथा योग्यतासम्भवात् । अन्यथा त्वदीयानुमानमपि नास्मदभिमतब्रह्मणो वाच्यत्वं विषयीकुर्यात् । ब्रह्मादिपदं विशिष्टस्य धर्ममात्रस्य वा वाचकम्, पदत्वात्सम्प्रति

पन्नवत , इति वानुमानमस्तु । एवं " यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे " ति श्रुतिरपि शब्दस्य प्राप्तिं वारयन्ती तस्य शक्तिं ब्रह्मणि निषेधति, शब्दस्यार्थेन शक्तेरेव प्राप्तित्वात् । लक्षणा तु शक्य सम्बन्धरूपा परम्परयैव शब्दसम्बन्ध इति अमुख्यप्राप्तिरेवेति तन्निषेध योगात् । लक्षणानिषेधे "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च । मनसा सहेति च मनसः करणत्वमेव निषिध्यते, स्वरूपेण निषेधायोगात् वृत्तिमात्रस्य मनोजन्यत्वात् । 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति श्रुतिविरोधाच्च । केवलमनोगम्यत्वं वा निषिध्यते । नन्वमेयगुणत्वं 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेरर्थं इति चेत् ? अमेयत्वं यदि गुणस्य मानागोचरत्वं तदा निर्गुणमेव ब्रह्मेति वाच्यत्वनिषेधः प्रवृत्ति निमित्ताभावात् । अथ संख्याशून्यत्वम् , तन्न, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्नबिभेती' ति वाक्यशेषेण ब्रह्मस्वरूपभूतानन्दस्यैव ज्ञानात् भयनिवृत्तिश्रवणेन गुणान्तरैर्विना ऽनुपपत्त्यभावेन लक्षणायोगात् । मुक्तिसाधनज्ञानाविषयस्य श्रुति प्रतिपाद्यत्वायोगाच्च । प्रत्युत वाक्योपक्रमे अनन्तगुणं प्रक्रम्यानन्दज्ञानान्मोक्ष इत्युक्ते देवदत्तो वामेन चक्षुषा पश्यतीत्युक्ते दक्षिणेन दर्शननिषेधवत् गुणान्तराणामपुरुषार्थत्वमेव प्रतिपादितं भवेत् । ततश्च ब्रह्मणोपि हेयगुणवत्त्वमिति साधु समर्थितस्तन्त्रसमयः । नचानन्दमित्यत्रापि गुणान्तरलक्षणा, सिद्धान्तेपि तच्छब्दे लक्षणाभ्युपगमादिति वाच्यम् ;-आत्ममात्रज्ञानस्यैव सर्वत्र श्रुतौ मुक्तिसाधनत्वावगमात् , त्वदुक्तलक्षणायोगात् । अस्मन्मतसिद्धलक्षणायास्तथैव श्रुत्याभ्युपेयत्वात् । किंचास्मन्मतसिद्धलक्षणा श्रुतितुल्यैव, प्रसिद्धार्थानपायात् । यथा रेवतीवाक्ये एतच्छब्दस्य प्रकृतानिष्टधर्मलक्षणायामपि श्रुतितुल्यता । न वाच्यमिति त्वदुदाहृत श्रुतौ साक्षाद्वाच्यत्वनिषेधाच्च । यत्तु अनया श्रुत्या अद्भुतत्वं प्रतिपाद्यत इति , तन्न;--तस्य पदार्थवाक्यार्थयोरन्यतरत्वाभावात् । नापि तत्र लक्षणा , तत्र न तावदन्वयानुपपत्त्याद्भुतत्वलक्षणा , वाच इत्यस्य तेनाप्यन्वयायोगात् । नापि यतोद्भुता वाचो भवन्तीत्यर्थः, भवन्त्यश्रवणात् । सृष्टेरतीतत्वाच्च । नापि तात्पर्यानुपपत्त्या सर्वपदलक्षणा; अद्भुतत्वस्य तस्मिन् प्रकरणे उपक्रमान्तर्गतस्य तात्पर्यगोचरत्वायोगात् । सर्वपदलक्षणायाश्च दृष्टत्वाभावात् । तस्य सम्बन्धित्वेनाप्रतीतेश्च । वाक्यशेषपर्यालोचनया तस्याप्यपुरुषार्थत्वेन श्रुत्या अप्रतिपाद्यत्वाच्च । 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म' इत्यादि तु ब्रह्मशब्दतात्पर्यविषयत्वाभिप्रायम् ; गङ्गा पदेन तीरमुच्यत इति प्रयोगात् ।

तस्मादखण्डवाक्यार्थे सत्यज्ञानसुखात्मनि ।
न कस्यापि पदस्यास्ति शक्तिरित्यात्मवित्स्थितिरिति ॥

अत्रोच्यते-तात्पर्येण सत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यं ब्रह्मेत्यत्राखण्डार्थत्वपक्षे स्वरूपस्यैव वाक्य प्रतिपाद्यत्वात् व्यर्थं तात्पर्यविषयविशेषणम् । सत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यत्वविशेषणं च व्यर्थम् । तदप्रतिपाद्य व्यावृत्त्यर्थमेतद्विशेषणमिति चेत् ? तदप्रतिपाद्यं किं घटादि, उत ब्रह्म ? नाद्यः, ब्रह्मपदादेव तद्व्यावृत्तिसिद्धेः । द्वितीयेपि किं तदभिन्नम् सत्यज्ञानादिवाक्यार्थापेक्षया , उत भिन्नम् ? नाद्यः , व्यावृत्त्यसिद्धेः , अव्यावर्तनीयत्वाच्च । द्वितीयेत्वसिद्धमेव , उपहितम् ब्रह्म सत्यज्ञानादि वाक्यार्थापेक्षया भिन्नमेवेति चेत् ? किं सत्यज्ञानादिवाक्यार्थोपि केनचित् उपहितः, उत अनुपहितः?

नाद्यः , उपहितस्य वाच्यत्वस्य त्वदिष्टत्वात् । उपहितस्यावाच्यत्वसाधने स्वरूपस्यावाच्यत्वासिद्धिश्च । न द्वितीयः , तस्य स्वरूपमात्रतया उपहितस्य ततो भेदासिद्धेः । किंचिदुपाध्युपहितं उपाध्यन्तरोपहितापेक्षया भिद्यते ननु स्वरूपापेक्षयापि , तथा सति घटाकाशस्यानाकाशत्वापत्तेः । किंचैवमौपाधिकभेदे सत्यपि स्वाभाविकाभेदस्यानपायात् विशेष्यशक्तेरनपायाद्बाधः । किंच तात्पर्यविषयपदेनापि स्वरूपं लक्ष्यम् , अन्यथा योग्यताविरहात् । ब्रह्मपदेनैव च तत्सम्भवति । तस्माद्व्यर्थं विशेषणम् । किञ्च उपहितभिन्नस्यानुपहितस्य तात्पर्यविषयादिपदेन लक्षणीयतया त्वयोच्यमानस्य पक्षतयाभिमतस्यासिद्धेराश्रयासिद्धिः । वाक्यार्थत्वं च किं विवक्षितम् ? किं पदार्थसंसर्गत्वम् , उत वाक्य जन्यप्रतीतिविषयत्वम् ; वाक्यजन्यप्रतीतिविशेष्यत्वं वा ? नाद्यः स्वरूपासिद्धेः न द्वितीयः , पदार्थे व्यभिचारात् । न तृतीयः, स्वरूपासिद्धेः । सत्यादिवाक्यान्निष्प्रकारकस्वरूपमात्रविषयप्रतीतेस्त्वयाङ्गीकारात् । पदार्थे व्यभिचाराच्च । नच तदन्यत्वेन विशेषणम् , पदजन्यप्रतीतिविषयान्यत्वविवक्षायामसिद्धेः , पदानामेव वाक्यार्थबोधहेतुत्वात् । पदशक्तिविषयभिन्नविवक्षायां साध्याविशेषात् ।

नच स्वविषयत्वावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिककारणताश्रयपदमात्रघटितस्वप्रतिपादकवाक्यवत्वादिति हेतुः , वाक्यार्थप्रतीतौ हि तत्पदार्थान्वयानुभवत्वं तत्तत्पदजन्यतावच्छेदकमिति वाच्यम् ,—अधिकरणे अधिकरणत्वमित्यत्राधिकरणत्वस्य प्रकृतिप्रत्ययपदान्तररूपसकलप्रतिपाद्यत्वात् ; नीलमुत्पलमित्यत्र पदद्वयस्यापि विशेष्यवाचित्वेन विशेष्ये व्यभिचाराच्च । संयोगिदण्डवान् देवदत्त इत्यत्र व्यभिचाराच्च । घटान्यवान् घटः नित्यवदाकाशं प्रपञ्चो मिथ्येत्यादौ व्यभिचाराच्च । ननु स्वप्रकारकस्वाविशेष्यकज्ञाननिष्ठत्वमपि स्वविषयत्वावच्छिन्नकार्यताविशेषणमिति चेन्न,-सत्यज्ञानादिवाक्यजन्यप्रतीतौ ब्रह्मणो विशेष्यतया स्वरूपासिद्धेः । नच वाक्यस्याखण्डार्थत्वात् तज्जन्यप्रतीतौ ब्रह्म न प्रकारो विशेष्यं वेति वाच्यम् ,-तथासति प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यस्यापि तथात्वेन चन्द्रादिपदार्थे व्यभिचारात् । नच तत्रापि स्वरूपमात्रस्य वाक्यार्थत्वाचन्द्रत्वादिविशिष्टस्य शक्यत्वेपि स्वरूपस्याशक्यत्वात् न व्यभिचार इति वाच्यम् ,-तथापि शब्दवदाकाशमिति लक्षणवाक्यार्थे आकाशे व्यभिचारात् ; आकाशस्वरूपमात्रस्याकाशपदशक्यत्वात् । नच पदजन्यस्मृत्यविषयत्वे सति वाक्यजन्यप्रतीतिविषयत्वं विवक्षितम् , विशिष्टस्यार्थत्वेपि स्वरूपस्यापि तदन्तर्भावेन हेत्वसिद्धेः; साध्याविशेषात् , विशेष्यवैयर्थ्याच्च ।

तद्वाक्यस्थपदशक्यतावच्छेदकधर्मवदन्यत्वादित्यपि न हेतुः ; शक्यतावच्छेदकधर्माश्रयान्यत्वविवक्षायां यत्किंचिद्घटभिन्नत्वाद्घटे व्यभिचारात् । शक्यप्रतियोगिकयावद्भेदविवक्षायां सुन्दरम् मुखमित्यादौ बिम्बात्मना मुखभेदस्य प्रतिबिम्बात्मनि तस्मिन्नेव सत्त्वाद्व्यभिचारः । धर्मिसमानसत्ताकान्यत्वविवक्षायां स्वरूपासिद्धिः । अतएवाभेदविरोध्यन्यत्वविवक्षापि निरस्ता । व्यावहारिकान्यत्वविवक्षायामपि संयोगवति वृक्षादौ तद्भेदस्य त्वयाङ्गीकारात् वृक्षत्वा श्रययावद्भेदसत्त्वाद्वृक्षे व्यभिचारः । ननु वाच्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रति योगिकान्योन्याभाववत्वम

विवक्षितम् , वृत्ते च न तादृशान्योन्याभावः ; अन्योन्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकेन विरोधादिति चेन्न,-ब्रह्मणोपि प्रवृत्तिनिमित्ताश्रयत्वेनासिद्धेः । यावद्विशेषाभावातिरिक्तसामान्याभावस्य त्वयानङ्गीकाराच्च । प्रवृत्तिनिमित्ते व्यभिचाराच्च । शक्यतावच्छेदकधर्मविशिष्टान्यत्वविवक्षायाम व्यर्थविशेषणत्वम् , विशिष्टान्यत्वस्यैव व्याप्यत्वात् । आकाशे व्यभिचारश्च , आकाशपदशक्यत्वात् । आकाशपदस्य स्वरूपमात्रशक्तत्वाच्च परपक्षकानुमानेपि बाधः । अनुपहितत्वविवक्षायामपि उपहितार्थस्य भेदा सिद्धेर्बाध एव । अनुपधानशक्तत्वसाधने स्वरूपस्य वाच्यत्वं निर्बाधमेव । तत्प्रतिपादकत्वेच यदि तद्विषयप्रतीतिजनकत्वम् , तदा व्यभिचारः । यदि पदजन्यस्मृत्यविषयतत्प्रतीतिजनकत्वम् , तदा स्वरूपासिद्धिः । यदि तत्तात्पर्यकत्वम , तदानीमपि व्यभिचारः । प्राधान्येन तत्तात्पर्यकत्वविवक्षायामपि यदि प्राधान्यं विशेष्यत्वं तदा व्यभिचार एव । यदि पदार्थप्रतीत्यविषयत्वं तदा स्वरूपासिद्धिः । अप्रयोजकत्वं च । नच सत्यज्ञानानन्दात्मनि ब्रह्मणि सत्यादिपदस्य एकैकस्य शक्तौ एकैकपदेनैव तादृगुपस्थितेः पदान्तरवैयर्थ्यस्य प्रसङ्गः ; एकैकस्मात्तादृगुपस्थितेरिष्टत्वात् । तत्रापि सत्यज्ञानानन्दात्मक ब्रह्मणः सन्मात्रत्वात् सतश्च सत्पदेन प्रतीतेरेकस्मात् पदात्तादृगुपस्थितेरावश्यकत्वात् । यदुक्तं-सतो ज्ञानानन्दाद्यभेदसंशयविरोधिप्रतीतेरेवापादनादिति , किं तत्रापादकम् ? सत्यत्वादिप्रकारत्रयविशिष्टार्थस्य सत्याद्येकैकपदशक्यत्वम ; उत वस्तुतस्तादृशस्वरूपस्य ? नाद्यः असिद्धेः , तस्य त्वया वाक्यार्थत्वानङ्गीकाराच्च । न द्वितीयः , तत्प्रकाराविशिष्टस्वरुपप्रतीतेस्तादृशसंशयविरोधित्वाभावात् । वस्तुतस्तादृशस्वरुपशक्ताद्वस्तुतस्तादृशविषयमेव ज्ञानमुत्पद्यते । स्वरुपमात्र प्रतीतेस्संशयविरोधित्वे धर्मिज्ञानाभावे संशयासिद्धेः तस्मिन् सति तद्विरोधादेवासिद्धेः संशयमात्रोच्छेदप्रसङ्गः । ननु वाक्यार्थभूतसत्यज्ञानानन्तात्मकब्रह्मणि अवधारणरुपा प्रतीतिर्या वाक्यलक्षणया जन्यते सा शुक्तिजन्या चेदेकैकस्मात्पदात्तादृशप्रतीतेरुत्पत्तेः पदान्तरवैयर्थ्यं स्यादित्यापाद्यत इति चेन्न,-यथा तव एकस्मात् सदानन्दज्ञानात्मकस्वरूपप्रतीतावपि तद्विषयावधारणस्याजननात् तादृशावधारणम् लक्षणया वाक्यकृत्यम , तथा ममापि शक्तपदसमुदायादेव तादृशावधारणोत्पत्तेर्वक्तुम् शक्यत्वात् । किञ्च सत्पदाद्ब्रह्मणोनुपस्थितांशः कोपि नास्तीति त्वयोक्तत्वात् बाधो दुर्वारः ।

नच स्वगोचरसंशयविरोधिज्ञानजनकद्वाक्यस्थपदशक्तिविषयो नेति साध्यम , अर्थान्तरत्वात् । शक्यत्वेपि शक्तेस्स्वगोचरसंशयविरोधिज्ञानजनकत्वाभावेन साध्यपर्यवसानात् । कश्चायं स्वगोचरसंशयः ? यदि स्वधर्मिकसंशयः; तदा सत्य ज्ञानानन्दात्मकवाक्यार्थधर्मिकसंशयविरोधिजनकशक्त्यविषयत्वेपि सत्यस्य ज्ञानाद्यभेदसंशयविरोधिज्ञानजनकशक्ति विषयत्व सम्भवेनार्थान्तरत्वम् । स्वकोटिकसंशयस्त्वप्रसिद्धः । तद्वाक्यजन्यज्ञाननिवर्तनीयसंशयविवक्षायामप्रसिद्धिः सत्यादिवाक्यजन्यज्ञाननिवर्तनीयसंशयविरोधिज्ञानजनकतद्वाक्यस्थपदशक्तिविषयाप्रसिद्धेः । वाक्यार्थमात्रस्य लक्ष्यत्वपक्षे सर्वत्राप्यप्रसिद्धेश्च । पदार्थेपि तद्वाक्यजन्यज्ञाननिवर्तनीयसंशयविरोधिज्ञानजनकशक्त्यसम्भवात् , पदार्थ स्मृतेस्संशयाविरोधित्वात् वाक्यार्थज्ञानस्य लक्षणाजन्यत्वात् ।

यदुक्तम् विशिष्टस्य शक्यत्वेनागमाभिमतब्रह्मणोऽशक्यत्वमिति । तन्न, आगमाभिमत-ब्रह्मणोऽपि विशिष्टान्तर्भावेन शक्यत्वात् । आगमाभिमतं ब्रह्मस्वरूपमेव, न त्वन्यत् ।

यच्च द्वितीयानुमानस्याप्रयोजकत्वनिराकरणार्थमुक्तम्—वाक्यार्थस्य पदार्थत्वे सम्भूयकारित्वव्युत्पत्तिहानिरिति , तन्न, पदार्थसाधारणस्य वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वमात्रस्य सम्भूयकारित्वाविरोधित्वात् पदार्थप्रतिपन्नसंसर्गबोधाय तदुपपत्तेः । वाक्यजन्यप्रतीतिविशेष्यत्वस्यापि दण्डी देवदत्त इत्यादौ देवदत्तादिपदवाच्ये सत्त्वेन तदविरोधित्वात् । पदेभ्यो ऽप्रत्याय्यत्वे सति वाक्य प्रत्ययस्य वाक्यार्थपदेन विवक्षायां तु इष्टापत्तिः, तादृशस्य संसर्गस्यास्माभिर्वाच्यत्वानङ्गीकारात् । ब्रह्मणः पदेभ्यो ऽप्रत्याय्यत्वाभावेन वाक्यार्थत्वविरोधाच्च ।

यदप्युक्तम्--वाक्यार्थमात्रम् लक्ष्यमेवेति । तन्न, कल्पकाभावात् । आकाङ्क्षाद्युपेत-व्युत्पन्नपदसमुदायादेव वाक्यार्थप्रतीत्युपपत्तौ गौरवेण वृत्तेरकल्पनात् ।

यदुक्तं प्रतिपादनसमर्थस्य ह्याकाङ्क्षादिसहकार्यपेक्षणम् , सामर्थ्यं च शब्दस्यार्थे वृत्तिरेवेति । किं तत् सामर्थ्यम् ? किं कारणत्वम् , उतान्यत् ? नाद्यः; तत्र वृत्तिपदम् संकेत्य कारणत्वसमर्थने अस्मदिष्टत्वात् । न द्वितीयः, करणत्वस्यैव सहकार्यपेक्षाप्रयोजकत्वेन तस्य तदप्रयोजकत्वात् । नच तदेवाकाङ्क्षादिसहकारिविशेषापेक्षाप्रयोजकमिति वाच्यम् , मानाभावात् । पदे तादृशासामर्थ्यसत्त्वेन पदार्थस्मृतौ आकाङ्क्षाद्यपेक्षाप्रसङ्गात् । पदे तदसत्त्वे च वाक्येऽपि वृत्तिसिसाधयिषिता पदादप्यपहृतेति महदिदं कौशलम् ।

किंचास्तु यत्किंचित् सामर्थ्यम , अस्तु च वृत्तिरेव तत् । तथापि तादृश सामर्थ्यवत् एवार्थप्रतिपादने आकाङ्क्षादिसहकार्यपेक्षणं कुत्र दृष्टम ? येन तद्दृष्टान्तेन वाक्यार्थसंसर्गेऽपि सामर्थ्यात्मकवृत्तिः कल्प्येत । न तावत्पदे, पदार्थस्मृतिदशायामसिद्धेः । नापि वाक्यार्थानुभवदशायाम् वाक्यार्थे अद्यापि वृत्तेरसिद्धेः । अथ मतम्--पदानि हि वाक्यार्थज्ञानम् जनयन्ति पदार्थांशे शक्त्यैव जनयन्ति , तथाच तत्र वृत्तिरूपसामर्थ्यवत एव तत्प्रतिपादने आकाङ्क्षादिसहकार्यपेक्षणम् पदानां पदार्थांशानुभवे दृष्टमिति, तदपि मन्दम् ; वृत्तिद्वयविरोधात् ' पूर्वोक्तोपस्थितिभेदेन परिहारानुपपत्तेश्च , तीरत्वावच्छिन्ने तीर इव पदार्थविशेषावच्छिन्ने संसर्गे ऽजहल्लक्षणा , तथैव पदार्था अप्यवच्छेदकतया भासन्त इत्युक्तिविरोधाच्च ।

यच्च लक्षणाजन्यत्वे अनुमानमुक्तम , तत्र हेतुरसिद्धः , वाक्यार्थज्ञानस्य शक्तिजन्यत्वात् । नचैवमन्वयस्य शक्यत्वप्रसङ्गः , शक्यत्वेऽपि दोषाभावात् । नचैकपदादपि संसर्गबोधापत्तिः , अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् तद्वाक्यस्थपदशक्तिसमुदायस्यैवान्वयधीहेतुत्वकल्पनात् । नचान्वयेऽपि व्युत्पत्तिग्रहापेक्षाप्रसङ्गः , पदार्थे व्युत्पत्तिग्रहमात्रेण शक्तिसमुदायाद्वाक्यार्थप्रतीत्युपपत्तौ संसर्गे तदनपेक्षणात् ।

किञ्च किमिदं शक्यत्वम् ? किं शक्तिजन्यज्ञानविषयत्वमात्रम् , उत सम्बन्धविशेषः ? आद्ये आपाद्यापादकयोरभेदप्रसङ्गः । न द्वितीयः , कल्पकाभावात् । नच शक्तिजन्यप्रतीतिवि-

षयत्वमेव कल्पकम् , अप्रयोजकत्वात् । अथ शक्तेर्ज्ञानस्य च समानविषयत्वेन कार्यकारणभावः तदा लक्षणायामपि तथा स्यात् । नचेष्टापत्तिः , शक्यार्थसम्बन्धरूपलक्षणायाः क्वचिदतीतादिरूपतया व्यभिचारात् । एवञ्च तज्ज्ञानस्य कारणत्वे वाच्ये तस्य संसर्गांशानुभवे व्यभिचारात् । संसर्गस्यापूर्वत्वात्तदर्थम् लक्षणाज्ञानम् समानविषयस्मृतौ हेतुरिति कल्पने शक्तावपि तथात्वापत्तेः ।।

इति श्रीबाधूलकुलतिलक श्रीनिवासाचार्यपादसेवासमधिगतपरावरतत्त्वयाथात्म्येन तदेकदैवतेन तच्चरणपरिचरणपरायणेन तत्प्रसादलब्ध महाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायाम् शतदूषणीव्याख्यायाम् चण्डमारुताख्यायाम् अशब्दवेद्यत्वभङ्गो नाम पञ्चचत्वारिंशस्स्कन्धः ।।४५।।



❋ अथ निष्प्रपञ्चीकरणनियोगभङ्गवादः षट्चत्वारिंशः ।।४६।। ❋

आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत् ।
यस्यैतदक्षयम् नित्यं जगत् ; तं विष्णुमाश्रये ।।

प्रसाद—जिस भगवान् विष्णु का आविर्भाव एवम् तिरोभाव रूपी सृष्टि तथा संहार आदि विकल्पों से युक्त यह जगत् अक्षय एवं नित्य है, हम उन भगवान् विष्णु का शरण ग्रहण करते हैं।

आविर्भावेत्यादि । जगन्नित्यत्वप्रतीतेः निष्प्रपञ्चीकरणासम्भवादुवादार्थ स्सूचितः ।

ये पुनः सर्वशब्दानां कार्यपरत्वं वदतां मतमपि कटाक्षयन्तः; सिद्धरूपे ब्रह्मणि स्वतो निरतिशयपुरुषार्थरूपे ज्ञानजननमात्रेण प्रयोजनपर्यवसाने वेदान्तानां सम्भवत्यपि अत्यन्ताबाधितनिरतिशय पुरुषार्थरूपब्रह्मज्ञाने स्वतःप्रामाण्यमपि विस्मरन्तः, तथाविधपरिनिष्पन्नब्रह्मस्वरूपशु (सि) द्धयर्थं तस्य निष्प्रपञ्चताकरणनियोगविषयतामाहुः—तेषां तथाविधनियोग(विधि) वाक्यासम्भवात् सपरिकरनियोगासिद्धेश्च निर्मूलः प्रलापः । तथाहि—न तावत् , 'निष्प्रपञ्चम् ब्रह्म कुर्यात्' इति विधिवाक्यमधीमहे । न च फल–करणादर्शनादिभिः कल्प्यते । न च स्मृत्याद्यनुसारेण तथाविधश्रुतिरनुमीयते । न च नित्यानुमेया श्रुतिरुपपद्यते । न च तदनुमितिलिङ्गतया निष्प्रपञ्चताकरणाचारः केनचित् क्वचिदपि दृष्टपूर्वः । न च निष्प्रमाणकोऽपि विधिः ; अस्तीति वाङ्मात्रेणापि सिध्यति ।। ननु किमनेन कदर्थनेन [विकत्थनेन] ? नानात्वदर्शननिन्दावचनैः नानादर्शन [नानात्व] निषेधवचनैः निर्गुणादिश्रु-

तिभिः ; मायोपादानत्वान्यथानुपपत्त्यादिभि [स्तिभि] श्चानुगृहीतः, 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्येवमादिको विधिः उपलक्षणपरस्सन्, 'द्रष्टृदृश्यादिसमस्तभेदशून्यं दृशिमात्रं ब्रह्म कुर्यात्' इति नियुञ्जानः प्रकृतार्थे परिपूर्णं प्रमाणम् , नित्यसिद्धस्यापि ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चतारूपेण साध्यत्वमप्यविरुद्धमिति चेन्न—[चेत्—तन्न] अनुग्राहकत्वेनाभिमतानां सर्वेषां प्रत्येकं विस्तरतो दूषणात् ।

प्रसाद—मीमांसक विद्वान् बतलाते हैं कि सभी शब्द कार्यार्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। मीमांसकों के इस मत का खण्डन करते हुए अद्वैती विद्वानों ने कहा है कि सिद्ध ब्रह्म निरतिशय पुरुषार्थ रूप हैं; उसका ही ज्ञान कराने मात्र से वेदान्त वाक्यों का प्रयोजन में पर्यवसान हो जाता है, ब्रह्म ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नहीं बाधित होती है, अतएव वेदान्तों का सिद्धब्रह्म के बोधन में स्वतः प्रामाण्य हैं। अपने इस कथन की परवाह किए बिना ही अद्वैती विद्वानों ने अविद्या के सम्बन्ध से अशुद्ध ब्रह्म को शुद्ध करने के लिए ब्रह्म को संस्कार का विषय, तथा कार्यान्तर से अन्वय न हो सकने के कारण निष्प्रपञ्चीकरण विधि को नियोग का विषय बतलाया। अद्वैती विद्वानों के उस प्रकार के विधि नियोग वाक्यों के असम्भव होने के कारण उनके साङ्गोपाङ्ग नियोग की सिद्धि नहीं हो सकने के कारण, उनका निष्प्रपञ्चीकरण नियोग निर्मूल तथा प्रलाप मात्र है, क्योंकि 'निष्प्रपञ्चम् ब्रह्म कुर्यात्' ब्रह्म को प्रपञ्च रहित करना चाहिए, इस प्रकारका कोईभी विधि वाक्य उपलब्ध नहीं होता। जिस तरह 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजति।' अर्थात् अश्वमेधयाग करने वाला ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है; इस अर्थवाद वाक्य में जिस तरह से ब्रह्म हत्या से मुक्ति रूपी फल तथा उसके साधकतम 'अश्वमेध' का दर्शन होता है, उसी तरह किसी फल विशेष तथा उसके साधकतम को देखकर आप निष्प्रपञ्चीकरण नियोग की कल्पना करते हों ऐसी बात भी नहीं है। आप किसी स्मृति विशेष के आलोक में निष्प्रपञ्चीकरण नियोग श्रुति का भी अनुमान नहीं कर सकते हैं। नित्यश्रुति का अनुमान भी नहीं सम्भव है। न तो निष्प्रपञ्चीकरण नियोग श्रुति का अनुमान करके, उसी के आधार पर निष्प्रपञ्चीकरण का शिष्टाचार चला आता हो, ऐसा किसी ने कहीं भी देखा है। निष्प्रपञ्चीकरण का विधान है ; यह कह देने मात्र से कोई विधि भी नहीं हो सकती है; विधि के लिए प्रामाणिकता अपेक्षित है। ननु किमनेन इत्यादि—यदि कहें कि आप की इस बात से क्या लाभ है ? वेदान्तों के अनेक वाक्य नानात्व दर्शन की निन्दा करते हैं, वेदान्तों के अनेक निर्गुणम् आदि वाक्य नानात्व दर्शन का निषेध करते हैं, किञ्च निष्प्रपञ्चीकरण को स्वीकारे विना जगत् के मायोपादानकत्व की सिद्धि भी नहीं हो सकती है, अतएव मानना पड़ता है कि-'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यादि विधि वाक्य निष्प्रपञ्चीकरण नियोग के उपलक्षण हैं। इस वाक्य का तात्पर्य है कि—द्रष्टा ; दृश्य आदि समस्त भेदों से रहित दृशि (ज्ञान) मात्र ब्रह्म को करे। इस तरह यह प्रेरक वाक्य ही निष्प्रपञ्चीकरण नियोग में पूर्ण प्रमाण है। नित्य सिद्ध ब्रह्म का भी निष्प्रपञ्चीकरण से कोई विरोध नहीं है। तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि निष्प्रपञ्चीकरण नियोग के सभी अनुग्राहकों का विस्तार पूर्वक खण्डन किया जा चुका है।

येपुनरिति। सर्वशब्दानां कार्य एव प्रामाण्याद्वेदान्तानामपि नियोगपरत्वं वाच्यम् ; सिद्धे प्रामाण्येपि प्रयोजनपर्यवसनार्थं तद्वाच्यम् , परमपुरुषार्थरूपब्रह्मप्रतिपादनेन सद्यः प्रीतिहेतु

तथा प्रयोजनपर्यवसानसम्भवेपि तत्प्रयोजनस्य काव्यनाटकादिवदतत्वप्रतिपादनेनाप्युपपत्तेः ब्रह्मणि प्रामाण्यं न स्यादिति पराशयः ; सच न युक्तः ; सिद्धेपि प्रामाण्यस्थापनात् ; ब्रह्मणश्च निरतिशयानन्दरूपतया तत्प्रतिपत्तेः स्वयम्प्रयोजनत्वात् , प्रामाण्यस्वतस्त्वस्थापनेन प्रामाण्यस्यापि तत्र सिद्धेरित्याशयः । तथाविधेति । यथा पूर्वतन्त्रे "सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरती" त्यत्र द्वितीयाबलात् संस्कारकर्मत्वं सूक्तवाक्मन्त्रप्रकाश्यदेवतान्वयबलाद्यागरूपतया नियोगविषयत्वञ्च प्रहरणस्य, यथा स्वाहाकारप्रयाजस्य इष्टदेवताप्रतिपत्तिरूपं नियोगविषयत्वम् ; यथा वस्तुबलवादिविवरणमते अध्ययनस्य नियोगविषयत्वेपि अधिकारापेक्षितवात् द्वितीयाबलात् साध्यत्वेन प्रतीत स्वाध्यायस्यैवाधिकारिविशेषणत्वेन स्वीकारात् संस्कार्यत्वम् , यथा आधानस्य नियोगविषयत्वेपि द्वितीयाश्रुत्यवगतसाध्यत्वानामग्नीनामधिकारिविशेषणत्वेन स्वीकारात्संस्कार्यत्वमुक्तम् , एवमिहाप्यविद्यासंसर्गादशुद्धब्रह्मशुद्धयर्थत्वेन संस्कार कर्मत्वं कर्मान्तरानन्वयात् विधेश्च निष्प्रपञ्चीकरणस्य नियोगविषयत्वम् । नच भूतभाव्युपयोगाभावात् कथं ब्रह्मणः संस्कार्यत्वमिति वाच्यम् ,—प्रयोजनान्वयार्थम् ह्युपयोगापेक्षा, शुद्धश्च ब्रह्म स्वयमेव प्रयोजनमिति न तत्र तदपेक्षेति भावः । तस्येति । ब्रह्मणः । नियोगविषयत्वं निष्प्रपञ्चीकरणद्वारा विवक्षितम् । एवं दूषितमिमं सपरिकरनियोगतत्प्रामाण्यासिद्धयापि दूषयति नचेति । "तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत" इति अर्थवादे फलकरणदर्शनाद्विधिः कल्प्यते, न तथेह दर्शनमित्यर्थः ।

विधिस्वरूपमपि पश्यामः (विमृशामः ?)—कोऽत्र ब्रह्मवाचकश्शब्दः , कश्च तस्य निष्प्रपञ्चताकरणवाचीति ॥ दृष्टिमतिश्रुत्यादयः शब्दाः संविद्रूपब्रह्मवाचकाः द्रष्टृमन्तृप्रभृतिदर्शननिषेधो निष्प्रपञ्चताकरणवाचीति चेत्—किं व्युत्पत्तिसिद्धोऽय (मेषा) मर्थः उत तदनुपपत्त्या लक्षणादिवशादङ्गीक्रियते , किं वा भवत्सैद्धान्तिकसंकेतादिति ? न प्रथमः ; दृष्टिमतिश्रुत्यादिशब्दानां तावत् ब्रह्मशब्दपर्यायत्वाभावात् । तत्तत्करणायत्तबुद्धिविशेषा एव हि तैरभिधीयन्ते । अन्यथा पुनरुक्तिः स्यात् । द्रष्टृप्रभृतिदर्शननिषेधोऽपि तत्तज्ज्ञानवृत्तिमेव वदति ; न तु तत्तन्निवृत्तिम् । नापि द्वितीयः ; अनुपपत्तेरदर्शनात् ॥ उचितार्थान्तरादर्शनमेवानुपपत्तिरिति चेन्न , तथाप्यनुचितार्थान्तरकल्पनायोगात् । दृश्यते चार्थान्तरमुचितम् । तथाहि—यदा दृष्टेरतिरिक्तं द्रष्टारं न पश्येरित्यतिरिक्तपदाध्याहारेण योजना , तदा द्रष्टुः पुरुषस्यापि स्वयंज्योतिषः स्वधर्मभूतदृष्टिमत्यादिशब्दाभिलप्यज्ञानसाजात्येन तदतिरिक्तत्वनिषेधोपपत्तेः न कस्यचिदपि मिथ्यात्वसिद्धिः । अनध्याहारे तु दृष्टेर्द्रष्टेति जीवात्मा निर्दिश्यते । ओदनपाकं पचतीतिवत् कर्तृत्वमात्रविवक्षया द्रष्ट्रादिशब्दः । ततश्च तत्तत्करणायत्तज्ञानकर्तारं जीवात्मानं नोपासीथाः , अपितु तदन्तर्यामिणं

करणनिरपेक्षस्वाभाविकनिरतिशयज्ञानादिगुणगणम् अशेषदोषवैदेशिकं परमात्मानमुपास्स्वेत्युक्तं भवति । न च जीवस्यापि विशेषणतया उपास्यत्वाभ्युपगमात् तद्दर्शननिषेधानुपपत्तिरिति वाच्यम् , करण [अ] वृत्तिलङ्गिस्वाभाविकविकासशालिपरिशुद्धस्वरूपजीवविशिष्टस्य परमात्मन उपास्यत्वात् । एव मर्थान्तराण्यपि कर्तृत्वाभिमानत्यागादिरूपाणि प्रत्यक्षाद्यविरुद्धानि समुचितानि कल्पयितुं शक्यानि । अतो नानुपपत्तिलेशः । नापि तृतीयः अतिप्रसङ्गात् । परसिद्धान्तसिद्ध (न्तरसिक) संकेतवशादपि भवत्पक्षस्य कार्त्स्न्येन भङ्गप्रसङ्गात् । एवं विधिवाक्यासम्भवो दर्शितः ।

प्रसाद—आपके अभिमत इस विधि वाक्य की हम परीक्षा करते हैं । प्रश्न है कि इस वाक्य में ब्रह्म का वाचक कौन सा शब्द है ? और इस वाक्य का कौन शब्द निष्प्रपञ्चीकरण का वाचक है ? यदि कहें कि दृष्टि; मति, श्रुति आदि शब्द; ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के वाचक हैं, द्रष्टा, मन्ता आदि के दर्शन का निषेध ही निष्प्रपञ्चताकरण का वाचक है । तो प्रश्न है कि आपको अभिप्रेत यह अर्थ व्युत्पत्ति सिद्ध है, अथवा मुख्यार्थानुपपत्ति के कारण आप इस प्रकार का लाक्षणिक अर्थ करते है । उक्त अर्थ को व्युत्पत्ति लभ्य इसलिए नहीं माना जा सकता है कि-दृष्टि , मति और श्रुति शब्द ब्रह्म शब्द के पर्यायवाची नहीं हैं । दृष्टि, श्रुति तथा मति आदि शब्दों द्वारा भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का ही अभिधान होता है । यदि ऐसा नहीं मानें तो 'न दृष्टेः' इत्यादि श्रुति में पुनरुक्ति दोष ही होगा । द्रष्टा आदि के दर्शन आदि का निषेध से भी ज्ञान की विभिन्न वृत्तियों का ही निषेध होता है, द्रष्टा आदि का निषेध नहीं होता । अनुपपत्ति जन्य उसे लाक्षणिक अर्थ भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि यहाँ व्युत्पत्ति की अनुपपत्ति कोई दिखायी नहीं पडती । उचित अर्थान्तर का दर्शन ही अनुपपत्ति है , यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनुचित अर्थान्तर की कल्पना करना ठीक नहीं । किञ्च 'न दृष्टेः' श्रुति का उचित अर्थान्तर इस प्रकार है । जब दृष्टि (ज्ञान) से भिन्न द्रष्टा न दिखायी पड़े तो इस तरह से अतिरिक्त पद का अध्याहार करके अर्थ किया जाय तब द्रष्टा स्वयम् ज्योति पुरुष का भी स्वधर्म भूत दृष्टि मति आदि शब्दों से कहे जाने वाले ज्ञान से साजात्य होने के कारण, दृष्टि व्यतिरिक्त का निषेध उपपन्न हो जाता है , किन्तु इससे द्रष्टा आदि के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती ।

यदि अतिरिक्त पद का अध्याहार न करें तो श्रुति के 'दृष्टेः द्रष्टा' पद से जीवात्मा का निर्देश मानना चाहिए , 'ओदनपाकं पचति' वाक्य के समान द्रष्टा आदि शब्दों की विवक्षा कर्तृत्व मात्र में हैं । इस तरह श्रुति का अर्थ है कि तत्-तत् इन्द्रियों के अधीन होने वाले ज्ञान के कर्ता जीवात्मा की उपासना न करो, अपितु उसके अन्तर्यामी इन्द्रिय निरपेक्ष स्वाभाविक सीमातीत गुण समूहों वाले , अखिलहेय प्रत्यनीक परमात्मा की उपासना करो । यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जीव के विशेषण रूप से उपास्यता स्वीकृत होने के कारण श्रुति उसीके दर्शन का निषेध करती है । क्योंकि कारण निरपेक्ष स्वाभाविक विकासशाली परिशुद्ध स्वभाव वाले परमात्मा ही उपास्य है । इस तरह कर्तृत्वाभिमानत्यागादि रूप, प्रत्यक्षादि के अनुकूल समुचित अर्थान्तर की कल्पना भी की जा सकती है । अतएव इस श्रुति में किसी प्रकार की व्युत्पत्ति की अनुपपत्ति नहीं है । आपके सैद्धान्तिक संकेत के कारण भी उपर्युक्त कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि ऐसा करने पर अति प्रसङ्ग होगा । किञ्च ऐसा करने

पर दूसरों के सिद्धान्ताभिमत संकेतों के द्वारा आपके सम्पूर्ण पक्ष के खण्डन का प्रसङ्ग होगा । इस तरह इस बात की सिद्धि की गयी कि निष्प्रपञ्चीकरण विषयक कोई भी विधि नहीं है ।

स्मर्तृभिर्दृष्टा नित्यानुमेयाश्रुतिरनुमीयत इत्यत्राह--नचेति । तदनुपपन्नेति । वाक्यार्थानुपपत्त्येर्थः ।

उचितेति । ज्ञानस्याविधेयत्वेन तन्निषेधस्यापि विध्यनर्हत्वादित्यर्थः । तथापीति । दर्शनवाचिपदानन्वयप्रसंगेन सम्भूयकारित्वव्युत्पत्तिविरोधादयमप्यर्थो ऽनुचित इति भावः । तदतिरिक्तत्वेति । इदमस्मान्नातिरिच्यत इत्यादावविशेषे ऽनतिरेकव्यवहारादतिरिक्तपदं विशेषपरमिति भावः । कर्तृत्वाभिमानः-स्वतन्त्रकर्तृत्वाभिमानः । आदिशब्देन द्रष्टारम् नपश्येरिति परमात्मनि करणायत्तज्ञाननिषेध इत्यादिकं सह गृहीतम् ।

अथ सपरिकरनियोगासिद्धिं ब्रूमः । तथाहि-नियोगवाक्यार्थवादिना नियोगः, नियोज्यः; तद्विशेषणं विषयः करणमितिकर्तव्यता प्रयोक्ता च वक्तव्याः । तत्रासौ नियोगस्तावत् सामान्यतो विशेषतोऽपि प्रमाणादर्शनादेव निरस्तः ॥ कश्चात्र नियोज्यः ? न तावत् ब्रह्म, त्वन्मते तस्याज्ञत्वात् अनियोज्यत्वात् । अस्मन्मते तु सर्वज्ञत्वादेव नियोक्तव्यत्वाभावात् । अतएव नाप्यविद्या । नाप्यहङ्कारादिकम्, तत्प्रतिफलितचैतन्यादिकं वा, तेषामपि विमृश्यकारिणां स्वोच्छेदकरणे नियोक्तुमशक्यत्वात् । अविमृश्यकरणे तु न शास्त्रयोग्यता । न च निर्विशेषानुभूतिस्थितये निरूपकः बालो (परीक्षको भ्रान्तो) वा कश्चित् स्वोच्छेदमनुमन्यते । अतएव तेषामधिकारित्व प्रयोक्तृत्वाद्यवस्थान्तरमपि भग्नम् । न च शास्त्रम् वायूदकादिवत् मुमुक्षा (विवक्षा) मनुत्पाद्यैव प्रवर्तयति, अशास्त्रत्वप्रसङ्गात् ततोऽपि नियोगस्य मूलोच्छेदः ॥

प्रसाद—अब हम नियोगवादियों के मत में नियोग की सपरिकर असिद्धि का प्रतिपादन करते है । नियोगवाक्यार्थवादी को बतलाना होगा कि उनका नियोग; नियोज्य, उसका विशेषण; विषय, करण, इतिकर्तव्यता तथा प्रयोक्ता को बतलाना चाहिए । इनमे नियोग का निरास तो सामान्यतः तथा विशेषतः प्रमाण के अभाव में ही हो जाता है । किञ्च यहाँ पर नियोज्य कौन है ? ब्रह्म इसलिए नहीं हो सकता है कि वह अज्ञ होने के कारण अनियोज्य है । हमारे मत में तो सर्वज्ञ होने के कारण ही वह नियोज्य नहीं है । अतएव अविद्या, अहङ्कारादि अथवा अहङ्कार प्रतिफलित चैतन्य भी नियोज्य नहीं हो सकते हैं । किञ्च यदि ये विचार पूर्वक कार्य करने वाले हैं तो ये कभी भी अपने विनाश में नहीं प्रवृत्त हो सकते यदि अविमृश्यकारी हैं तो फिर इनमें शास्त्रयोग्यता ही नहीं है । शास्त्र तो कोई भी विधान विचार पूर्वक कार्य करने वाले के लिए ही करता है । चूंकि कोई भी परीक्षक अथवा मूर्ख निर्विशेषानुभूति के लिए अपना नाश नहीं करवाना चाहेगा, अतएव वे न तो अधिकारी हो सकते हैं और न तो प्रयोक्ता ही । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वायु प्रवाह तथा जल प्रवाह आदि के समान शास्त्र मोक्षेच्छा के ज्ञान के बिना उत्पन्न किए ही, तत्-तत् कार्यों में नियोज्य को लगा देता है, क्योंकि ऐसा कहना शास्त्रों के विपरीत है; इससे तो नियोग के मूल का ही विनाश हो जायेगा ।

सामान्यत इति । " फलमत उपपत्ते " रिति सामान्यतो ऽपूर्वं निरस्तम् , निष्प्रपञ्चं ब्रह्म कुर्यादिति वाक्यं नाधीमह इति पूर्वोक्तेरर्थे नियोगो विशिष्यापि निरस्त इत्यर्थः । अतए-वेति । "त्वन्मत" इत्युक्तपरामर्शः । विवक्षेति ज्ञानं विवक्षितम् ।

किं वाऽत्र (तावत्) नियोज्यविशेषणम् ? ब्रह्मस्वरूपयाथात्म्यानुभव इति चेत् तत् किं निमित्ततया स्थित्वा नियोज्यं विशिनष्टि , उत फलतया ? नाऽऽद्यः , जीवनपुत्र जन्मादिवत् तस्यासिद्धत्वात् , सिद्धत्वे वा किं नियोगेन ; तत एव तत्फलसिद्धेः ॥ अथ श्रवणजन्यः परोक्षानुभवस्सिद्धस्सन् विशेषणमिति चेन्न , श्रवणेन तथाविधानुभवजन-नस्यैव निष्प्रपञ्ची (भूता) करणरूपत्वात् । न हि ततोऽतिरिक्तं किंचिदत्र पुरुषव्या-पारविषयं पश्यामः ॥ साक्षात्कारज्ञानं तद्विषय इति चेन्न , साक्षात्कारस्य नियोगसाध्य त्वाभ्युपगमात् ततः पूर्वं तदसिद्धेः । तत्सिद्धौ वा किं नियोगेनेत्युक्तम् । अथ यदि नित्य ब्रह्मस्वरूपप्रकाश एव निमित्तमित्युच्येत ; न तर्हि (हि) तत् कस्यचिद्विशेषणम् , अनन्य निष्ठत्वात् । तस्य च निमित्तत्वे तन्नित्यत्वेन जीवननिमित्ताग्निहोत्रवन्नित्यं विषयानुष्ठान-प्रसङ्गः । नापि द्वितीयः ; तथापि हि (स ?) याथात्म्यानुभवः शब्दजन्यो वा, अक्षजन्यो वा ; स्वरूपभूतानुभव एव वा ? आद्ये नियोगात्पूर्वं [वं] सिद्धस्य कथं नियोगफलत्वम् ? द्वितीये [ऽपि] तु असम्भवः, न हि निष्प्रपंचतायां असिद्धायामक्षाणि तज्जन्यं वा ज्ञानं सम्भवति । सम्भवे वा कथं निष्प्रपंचता ? तृतीये तु कथं नित्यसिद्धस्य फलत्वम् ? स यदि साध्यः , तदा स्वर्गादिवदनित्यः स्यात् । प्रपञ्चनिवृत्तिरूपेण साध्यत्वमिति चेत् , न तर्ह्य [न ह्य] न्यरूपेणान्यस्साध्यस्स्यात् । अतः प्रपंचनिवृत्तिरेव साध्येत्युक्तं भवति । ततश्च हेतुसाध्ययोरैक्यप्रसङ्गः ॥

प्रसाद—किंच प्रश्न है कि नियोज्य का विशेषण क्या है ? यदि ब्रह्म के स्वरूप याथात्म्य के अनुभव को नियोज्य का विशेषण मानें तो प्रश्न है कि वह किस प्रकार से नियोज्य को विशेषित करता है ? निमित्त रूप से अथवा फल रूप से ? निमित्त रूप से उसे इसलिए नहीं माना जा सकता है कि वह सिद्ध नहीं है जीवन तथा पुत्रजन्मादि के समान । यदि वह सिद्ध है तो फिर नियोग से क्या लाभ ? उसीसे ही मोक्षावाप्ति हो जायेगी । यह भी नहीं कह सकते हैं , कि श्रवणजन्य सिद्ध परोक्ष नुभव ही नियोज्य का विशेषण है तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि श्रवण से उस प्रकार का ही उत्पन्न अनु-भव निष्प्रपञ्चीकरण का साधकतम हो सकता है । पुरुष के व्यापार का विषय उससे भिन्न कोई दूसरी चीज नहीं हो सकती है । साक्षात्कार ज्ञान को उसका विषय नहीं माना जा सकता है, क्योंकि साक्षा-त्कार तो नियोग का फल है , अतएव वह उससे पहले कैसे सम्भव है । यदि उससे पूर्व ही स्वरूप का साक्षात्कार हो गया तो फिर नियोग व्यर्थ होगा । यदि नित्य ब्रह्म के स्वरूप का प्रकाश ही निमित्त है

तो वह किसी का विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वनिष्ठ है । नित्य ब्रह्म के स्वरूप प्रकाश को निमित्त मानने पर चूंकि वह नित्य है, अतएव जीवन के निमित्त अग्निहोत्र आदि के समान निन्य ही विषयानुष्ठान का प्रसङ्ग होगा । नापि द्वितीय इत्यादि—यदि ब्रह्म के स्वरूप याथात्म्य के प्रकाश को नियोज्य के फल रूप से विशेषण मानें, तो प्रश्न उठता है कि वह याथात्म्यानुभव, शब्दजन्य है, या प्रत्यक्षजन्य है अथवा स्वरूपभूत अनुभव ही है ? यदि शब्दजन्य मानें तो प्रश्न है कि नियोग से पहले ही विद्यमान याथात्म्यानुभव नियोग का फल कैसे हो सकता है ? क्योंकि फल तो पीछे होता है । उसका प्रत्यक्षजन्य होना इसलिए असम्भव है कि निष्प्रपञ्चता की सिद्धि हो जाने पर न तो इन्द्रियों का होना सम्भव है और न तो इन्द्रियज ज्ञान का होना सम्भव है । यदि इन्द्रिय और इन्द्रियज ज्ञान होते हैं तो फिर निष्प्रपञ्चता नहीं है । यदि याथात्म्यानुभव को स्वरूपभूतानुभव मानें तो वह तो नित्य सिद्ध है, अतएव वह फल नहीं हो सकता । यदि स्वरूपभूतानुभव को नियोग का फल (साध्य) मानें, तो फिर वह स्वर्गादि के समान अनित्य होगा । यदि उसकी साध्यता प्रपञ्च की निवृत्ति रूप से मानें, तो यह भी नहीं सम्भव है, क्योंकि अन्य वस्तुको अन्यरूप से साध्य मानें तो फिर हेतु और साध्य दोनों एक होंगे, क्योंकि प्रपञ्चनिवृत्ति रूप निष्प्रपञ्चता ही हेतु भी है ।

परोक्षानुभव इति । तथाचापरोक्षज्ञानेनैवाविद्यानिवृत्तेर्न नियोगवैफल्यमिति भावः । तथाविवेति । तस्य च विषयत्वान्न नियोज्यविशेषणत्वमिति भावः । साक्षात्कारस्येति । उत्पत्ति-फलावच्छिन्नक्रियाक्षणनिचय उत्पादनम्, तदेवात्र जननम्, तथाच साक्षात्कारो नियोगात्प्राक् स्यादित्यर्थः । आद्य इति । अपरोक्षज्ञानस्यापि निष्प्रपञ्चीकरणानन्तरमसम्भवात्तद्विषयनियोगस्य न फलत्वमिति भावः । नच श्रवणजन्यशाब्दानुभवस्य निष्प्रपञ्चताकरणरूपत्वादपरोक्षज्ञानं फलमस्त्विति वाच्यं; शाब्दापरोक्षनिरासात, प्रपञ्चनिवृत्तिफलावच्छिन्नक्रियाक्षणनिचयस्य निष्प्रपंची-करणशब्दार्थत्वाच्चेति भावः । प्रपंचेति । तथा च निवृत्तेः प्रायश्चित्तजन्यपापध्वंसवदनः तत्वा-न्नानित्यत्वमिति भावः ।

कश्चात्र नियोगविषयः ? किं ब्रह्मैव, उत निष्प्रपंच (ञ्चं) ब्रह्म, अथ प्रपञ्च-निवृत्तिरेव ? न प्रथमः, तस्य नित्यत्वेनाभाव्यत्वात ; अभावार्थत्वाच्च । अत एव न द्वितीयः, न हि निष्प्रपंचमपि ब्रह्म भावार्थः ॥ तथापि तस्य साध्यत्वं सम्भवतीति चेत् किं ततः ? न हि स्वर्गादिकं साध्यमित्येतावता विधिविषयो (ऽपि) भवति । अतोऽ-त्रापि केवलं फलत्वमात्रं सम्भाव्येत । तत्र च प्राप्ताप्राप्तविवेकेन विशेषणस्यैव साध्यत्व-मिति कथं ब्रह्मस्वरूपस्य विधिविषयत्वम् ? अत एव न तृतीयः, तस्याः फलत्वाच्च । न हि प्रपंचनिवृत्त्यतिरिक्तो मोक्षो नाम भवन्मते । किमर्थं च तया नियोगः साध्यते ? न हि नियोगसाध्यं तदतिरिक्तं किंचित् । कथं च सर्वप्रपंचनिवृत्तौ नियोगस्वरूपलाभः ? तस्याश्च नियोगविषयत्वे, तया नियोगः, तेन च सेति परस्पराश्रयणं च । उक्तन्यायेन

प्रपंचनिवृत्तेः करणत्वमपि निरस्तम्; विषयकरणयोरतीव भेदाभावात्। स चायं नियोगः किं स्वयमेव प्रपञ्चं निवर्तयति, उत तत्त्वज्ञानमुत्पाद्य? पूर्वत्र किं मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य ज्ञानबाध्यत्वं परित्यज्य नियोगबाध्यत्वमङ्गीकारोषि? तथा सति प्रायश्चित्तनिवर्त्यदुरितवत् सत्यता प्रपञ्चस्य। अन्यथा तत्त्वज्ञानेनैव बाध्यत्वे नियोगकृत्यं न पश्यामः। उत्तरत्रापि आकाङ्क्षादित्रयवता वाक्येनैव तत्त्वज्ञानं जायत इति किं नियोगात्? (नियोगेन) तेनैव च तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मव्यतिरिक्तसमस्तबाधात् कथं सपरिकरनियोगोत्पत्तिश्च॥ परोक्षापरोक्षनिवर्तकज्ञानयोरविशेषोपपादनादिकमन्यत्र ग्राह्यम्। किञ्च प्रपञ्चनिवर्तकोऽयं नियोगो न तावत् ब्रह्मस्वरूपम्, निवर्तकस्य [तस्य] नित्यतया नित्यं प्रपञ्चाभावप्रसङ्गात्, निवर्त्यस्य विषयानुष्ठानसाध्यत्वायोगाच्च। अतो ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्त एष्टव्यः / स च कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपविषयानुष्ठानेन प्रयोक्तुरपि नष्टत्वान्निराश्रयः कथमुत्पद्येत? आश्रयस्थितौ वा कथं विषयलाभः? निराश्रयोत्पत्तावपि नियोगाख्यमिथ्यापदार्थस्थितौ कथं कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिः (सिद्धिः)? सिद्धावपि किमन्यन्नियोगसाध्यं मोक्षाख्यं फलमिति।

प्रसाद—किञ्च प्रश्न है कि नियोग का विषय क्या हैं? ब्रह्म ही अथवा निष्प्रपञ्च ब्रह्म? अथवा प्रपञ्च की निवृत्ति ही? ब्रह्म नित्य है; अतएव वह भाव्य (साध्य) नहीं हो सकता, अतएव वह नियोग का विषय नहीं हो सकता। किञ्च भावार्थाधिकरण के विरोध के कारण भी वह विषय नहीं हो सकता। निष्प्रपञ्च ब्रह्म को भी नियोग का विषय भावार्थाधिकरण विरोध के ही कारण नहीं माना जा सकता है। यदि भावार्थाधिकरण विरोध के बाद भी निष्प्रपञ्च ब्रह्म को नियोग का विषय मानें तो इससे भी कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि जिस तरह साध्य होने मात्र से स्वर्गादि विधि के विषय नहीं बनते, उसी तरह से प्रपञ्चरहित ब्रह्म केवल नियोग का फल मात्र होगा। किञ्च उसमें भी प्राप्त विवेक उचित एवं अनुचित का भेद पूर्वक विचार) करने पर पता चलेगा निष्प्रपञ्चता ही साध्य होगी, अतएव ब्रह्म का स्वरूप विधि का विषय कैसे बन पायेगा? प्रपञ्च की निवृत्ति को भी नियोग का विषय नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वह तो नियोग का फल है। आपके मत में प्रपञ्च निवृत्ति ही तो मोक्ष है। उसके द्वारा नियोग के किस अर्थ की सिद्धि होगी? प्रपञ्च निवृत्ति व्यतिरिक्त नियोग का कोई दूसरा साध्य है नहीं। सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाने पर प्रपञ्चान्तर्गत नियोग कैसे रह सकता है? प्रपञ्च की निवृत्ति को नियोग मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि प्रपञ्च की निवृत्ति जब हो तो नियोग होगा और जब नियोग हो तो प्रपञ्च की निवृत्ति हो। इस तरह प्रपञ्चनिवृत्ति नियोग का करण भी नहीं हो सकती है, क्योंकि विषय और करण में अत्यन्त भेद नहीं होता। अतएव जब प्रपञ्च की निवृत्ति नियोग नहीं हो सकती तो वह नियोग का कारण भी नहीं हो सकती है। किंच प्रश्न है कि नियोग स्वयम् प्रपञ्च की निवृत्ति करता है, अथवा तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करके वह प्रपञ्च की निवृत्ति करता है। यदि प्रथम पक्ष मानें तो प्रश्न है कि क्या आप मिथ्याभूत प्रपञ्च की ज्ञान बाध्यता का त्याग करके अब उसकी नियोग बाध्यता स्वीकार कर रहे हैं? ऐसी स्थिति में प्रायश्चित्त बाध्य

जैसे पाप सत्य होता है, उसी तरह नियोग बाध्य प्रपञ्च की भी सत्यता सिद्ध होगी। अन्यथा जब तत्त्व ज्ञान के द्वारा ही प्रपञ्च बाधित होता हैं, तो उसको बाधित करने में नियोग कौन सा कार्य करेगा ? यदि कहें कि वह तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करके प्रपञ्च को निवृत्त करता है; तो प्रश्न है कि आकांक्षादि (आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि)से विशिष्ट वाक्य से ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है , तो फिर वहाँ नियोग की कौन सी आवश्यकता है ? उस तत्त्वज्ञान से ही ब्रह्म व्यतिरिक्त समस्त प्रपञ्च का बाध हो जाता है, तो फिर सपरिकर नियोग की उत्पत्ति कैसे होगी ? किञ्च आप के अभिमत परोक्ष एवं अपरोक्ष निवर्तक ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है ; इस बात का प्रतिपादन मैंने अन्यत्र किया है । साथ ही प्रपञ्च का निवर्तक यह नियोग ब्रह्म स्वरूपभी नहीं है, उसे ब्रह्म स्वरूप मानने पर ब्रह्मके नित्य होने से नित्य ही प्रपञ्चाभाव का प्रसङ्ग होगा । किञ्च नित्य नियोग विषयों के अनुष्ठान का फल नहीं हो सकता , अतएव इसे ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न ही मानना होगा । सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति रूप विषय के अनुष्ठान के कारण संसारस्थ नियोगकर्ता के भी नष्ट हो जाने से निराश्रय नियोग कैसे उत्पन्न होगा?यदि नियोग प्रयोक्ता पुरुष रहेगा ही तो फिर निष्प्रपञ्चता कैसे होगी ? यदि निराश्रय भी नियोग की उत्पत्ति मान ली जाय तो फिर नियोग नामक मिथ्या पदार्थ के रहने पर प्रपञ्च निवृत्ति होगी कैसे ? यदि प्रपञ्चनिवृत्ति हो भी गयी तो उस नियोग का फलभूत मोक्ष उससे भिन्न क्या होगा ?

अभाव्यत्वात । असाध्यत्वादित्यर्थः । अभावार्थत्वादिति । भावार्थाधिकरणविरोधान्न विषयत्वमित्यर्थः । अभ्युपेत्य च ब्रह्मणः साध्यत्वमिदमुक्तम् , वस्तुतस्तदेवासिद्धमित्याह–तत्र चेति निष्प्रपंचत्वविशिष्टब्रह्मणीत्यर्थः । अतएवेति । असाध्यत्वादेवेत्यर्थः पारमार्थिकतया तस्या ब्रह्म–स्वरूपत्वादिति भावः । विषयेति । कृत्यवच्छेदद्वारा कार्यावच्छेदकत्वं विषयत्वम ; ज्ञानतया नियोगाख्यकार्यनिरूपककृतेर्विषयनिरूप्यत्वात्, नियोगकरणत्वन्तु नियोगोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वमिति भेदः । स्वयमेवेति तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं व्यवच्छिद्यते, नतु तत्त्वज्ञानम् । कि तत्त्वज्ञानमनिवर्तकं नियोग एव निवर्तक इत्यभिमतम् , किं वा नियोगतस्य ज्ञानाभ्यां बाध्यत इति विकल्पम् हृदि निधायाद्यमनूद्य निराकरोति किमित्यादिना । प्रत्याह अन्यथेति । केवलनियोगस्यानिवर्तकत्वको-टावित्यर्थः । तेनैवेति । प्रथमं वाक्योत्पन्नज्ञानेनैवेत्यर्थः । ननु प्राथमिकज्ञानस्य परोक्षत्वम् , न तेन प्रपञ्चनिवृत्तिः , किन्तु नियोगसाध्यापरोक्षज्ञानादेवेत्यत्राह परोक्षेति । परोक्षञ्चापरोक्षनि–वर्तकज्ञानञ्चेति द्वन्द्वः । अविशेषेति । स्वरूपप्रकाशानधिकविषयत्व मवश्यम्भावि, अन्यथा भ्रान्तित्वप्रसङ्गात् ; ततश्चानिवर्तकत्वमित्यर्थः ।

किञ्च कारणभूतायाः प्रपञ्चनिवृत्तेः का नामेतिकर्तव्यता ? न काचिदिति चेन्न अनुपकृतस्य करणत्वायोगात् । यथाहुः ; ' न हि तत् करणं लोके वेदे वा किंचिदीदृशम् । इति कर्तव्यतासाध्ये यस्य नानुग्रहेऽर्थिता ॥' इति । अस्तु या काचिद्भावरूपेति चेन्न , सा हि सन्निपत्योपकारिका वा स्यात् , आरादुपकारिका वा ? नाद्यः; कृत्स्नप्र-पंचनिवृत्तिरूकरणशरीरनिविष्टतस्य कस्याचिददर्शनात् ॥ अद्वैतज्ञानं दृश्यत इति चेन्न ;

तेनैव प्रपञ्चनिवृत्तिरूपमोक्षसिद्धौ करणादिनिष्पाद्यासिद्धिप्रसङ्गात । नापि द्वितीयः, कृत्स्न-प्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणस्वरूपासिद्धेः, तत्सिद्धौ तदनुग्राहकांशानवस्थानमित्युभयतस्पाशारज्जुः यथाभावरूपानुग्राहकस्थितौ न विरोध इति मन्यसे ; तन्न, तस्य कृत्स्नप्रपंचनिवृत्त्यन्तर्गत त्वेन करणेतिकर्तव्यताभेदासिद्धेः । तदेतदभिप्रेत्याह, 'अभावरूपत्वे चाभावादेव न कर-णशरीरम् निष्पादयति ; नाप्यनुग्राहकम् ' इति । अभावात–कृत्स्नप्रपंचनिवृत्त्यन्तर्गतत्वेन करणात्पृथगभावाभावादित्यर्थः । केचित्तु अस्य भाष्यस्यैवमर्थमाहुः, अभावत्वादेव न हेतु-त्वमित्युच्यत इति । तत्र शब्दास्वारस्या (स्यम ?) र्थानौचित्यादिकम् च द्रष्टव्यम् । तदेव विधायकादर्शनात सपरिकरनियोगानुपपत्तेश्च निष्प्रपंचब्रह्मविषयो विधिर्न सम्भवतीति सिद्धम् ॥

॥ इति शतदूषण्यां निष्प्रपंचीकरणनियोगभङ्गवादः षट्चत्वारिंशः ॥



प्रसाद—प्रश्न है कि नियोग के कारण प्रपञ्चनिवृत्ति की इतिकर्तव्यता क्या है ? उसकी कोई इति कर्तव्यता न हो, ऐसी बात तो है नहीं । क्योंकि करण वही होता है जो उपकृत हो। कहा भी गया है कि लोक अथवा वेद में कोई ऐसा करण नहीं देखा जाता है , जो इति कर्तव्यता के द्वारा अनुगृहीत न हुआ हो । कोई भावरूपा इतिकर्तव्यता भी नहीं मान सकते , क्योंकि उसके विषय में प्रश्न उठता है कि वह करण की सन्निपत्योपकारिका है अथवा आरात् उपकारिका ? उसे सन्निपत्योप-कारिका इसलिए नहीं कह सकते हैं कि सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्तिरूप करण का निवर्तक कोई भावपदार्थ नहीं देखा जाता है । अद्वैत ज्ञान को भी प्रपञ्चनिवृत्ति का निवर्तक नही माना जा सकता है, क्योंकि अद्वैतज्ञान के ही द्वारा प्रपञ्च की निवृत्तिरूप मोक्ष की सिद्धि होने पर वह करणादि का निष्पादक नहीं हो सकता है । भावरूपा इतिकर्तव्यता को प्रपञ्च की निवृत्ति रूप करण का आरात् उपकारक भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि फिर सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति रूप रह ही नहीं सकता है । यदि वह करण रहे तो फिर उसका अनुग्राहक अंश करणोपकारक नहीं रह सकता । इस तरह उभयतो पाशर्वा-रज्जू है । यदि कहें कि अभावरूप अनुग्राहक के रहने पर कोई विरोध नहीं होगा, तो यह भी नहीं कह सकते हैं , क्योंकि वह अभावरूप अनुग्राहक भी कृत्स्न प्रपंचान्तर्गत है, प्रपञ्च की निवृत्ति के साथ उसकी भी निवृत्ति हो जाने से करण और इति कर्तव्यता में कोई भेद नहीं हो पायेगा । इसी बात को हृदयमें रखकर के कहा गया है, इतिकर्तव्यता के अभाव रूप होने पर अभाव के ही कारण वह करण का निष्पा-दक नहीं हो सकता । वह अनुग्राहक भी नहीं हो सकता । इस वाक्य के 'अभावात्' का अर्थ हैं–सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति के अन्तर्गत होने के कारण, उसका करण से पार्थक्य न हो सकने के कारण, कुछ लोग ने श्रीभाष्य के इस वाक्य का इस प्रकार से अर्थ किया है—इतिकर्तव्यता अभाव रूप होने के कारण हेतु नहीं हो सकता, यह इस वाक्य में कहा गया है । किन्तु इस व्याख्यान में न तो शब्द का स्वारस्य है ;

और न तो अर्थ का औचित्य ही । इस तरह विधायक वाक्य के अभाव में निष्प्रपंच ब्रह्मविषयक नियोग सर्परिकर अनुपपन्न हो जाता है । इस तरह सिद्ध होता है कि निष्प्रपञ्च ब्रह्म को विषय बनाने वाला कोई भी विधि वाक्य नहीं है ।

इस तरह शतदूषणी का निष्प्रपञ्चीकरणनियोगभङ्ग नामक ४६वां वाद समाप्त हुआ ॥

❀-❀-❀

आदि शब्देनापरोक्षत्वासम्भवो विवक्षितः । अनुग्राहकांशः--इतिकर्तव्यताबाध्यः करणोपकारः ।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायाम् शतदूषणीव्याख्यायाम् चण्डमारुताख्यायाम् निष्प्रपञ्चीकरणनियोगभङ्गो नाम षट्चत्वारिंशस्स्कन्धः ॥४६॥



❀ अथ विकल्पप्रामाण्यभङ्गवादः सप्तचत्वारिंशः ॥४७॥ ❀

संसारसागरोत्तारकारणं वारणाचले । अविकल्पविकल्पाभ्यामध्यक्षितमुपास्महे ॥

प्रसाद—इस संसार से पार करने वाले तथा निर्विकल्पक एवं सविकल्पक समाधि के माध्यम से जिनका वारणाद्रि (काञ्चीपुरम्) में साक्षात्कर किया गया है ! उन श्रीभगवान् वरदराज की हम उपासना करते हैं ।

निर्विष्टेषु हरेर्गुणादिषु गलद्भोग्यान्तरैरागमै
र्यन्मत्याभिनिविष्टया बहुतपस्सिद्धाः परेषां धियः ।
लभ्यन्ते स्फुटनिर्विकल्पगणना बाधूलवंशोद्भवं
तं श्रीवासगुरुम् प्रमोदभरिताकूतास्सदोपास्महे ॥

हरिगुणमणिपूरितान्तराले श्रुतिगणदुग्धपयोनिधौ गभीरे ।
मतिमयमतिजाङ्घिकां दधानो मनसि विभातु ममागमान्तसूरिः ॥

अविकल्पेति । निर्विकल्पकसविकल्पकभेदेन समाधिशास्त्रे प्रतिपादिताभ्याम् समाधिभ्यामित्यर्थः । न्यूनाकारविषयम् निर्विकल्पकम् , अधिकाकारविषयम् च सविकल्पकम् स्वाभिमतम् ।

यदुच्यते—विप्रतिपन्नो विकल्पो मिथ्याविषयः विकल्पत्वात् ; यथा शुक्तिरजतविकल्पः । यो न मिथ्याविषयः ; नासौ जात्यादिविशिष्टप्रत्यय इति सर्वस्यापि भेदस्य विकल्पविषयतया मिथ्यात्वे परिशेषादद्वैतसिद्धिरिति–तदेतत् सविकल्पकमपि प्रत्यक्षविभागतयोदाहरद्भिर्भाष्यकारैर्निरस्तप्रायम् । तद् विस्तृणीमहे । तत्र तावत् पक्षादयो न निर्विकल्पकविषयतया सिद्धाः, तथा सति अभिलापसम्बन्धानर्हत्वप्रसङ्गात् । विकल्पविषयतया सिद्धौ तु, य एते पक्षादिग्राहिणो विकल्पाः, किं तेऽपि पक्षीक्रियन्ते, उत तद्व्यतिरिक्ता इति । न प्रथमः ; व्याघातात् । विकल्पानां विसंवादित्वविकल्पस्य विसंवादे, पुनः (?); तेषामपि संवादपर्यवसानत्वत् । सम्वादे पुनः तेषां विसंवादे पर्यवसानात् आश्रयाद्यसिद्धिप्रसंगात् । अविसम्वादातिरिक्तायाश्च तत्सिद्धेरनिरूपणात् । (विसम्वादातिरिक्तायास्तद्सिद्धेरनिरूपणात् ।) विसंवादेऽपि वा तत्सिद्धौ सर्वत्र विशिष्टार्थसिद्धेर्दुर्निवारत्वात् । नापि द्वितीयः, तैरेवानैकान्त्यात् ।। अविसंवादोऽपि तेषामनिश्चित इति चेन्न, तथाऽपि सन्दिग्धानैकान्त्यस्य स्थितत्वात् । अन्यतस्तेषां विसंवादसाधनेऽप्युक्तदोषानुधावनात् । यदि च सर्वे विकल्पा विसंवादिनः, कथमनुमानादिविकल्पास्ते प्रमाणं भवेयुः ? परम्परया अर्थप्रतिबन्धादिति चेत्, तुल्यम् विकल्पेऽपि । मा भूत तेषां प्रामाण्यमिति चेत ; तदा (तर्हापि) कथमेतदनुमानं समीहितसाधनायोदाहरसि ? ।। लोकव्यवहारसिद्धतया, परमतसिद्धतया वेति चेन्न, आत्मघातिनामीदृशानां लौकिकैः [बालिशैः] परीक्षकैश्च[वा] साध्यसिद्ध्यंगत्वानभ्युपगमात् ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने विवादास्पद विकल्प (भेद) का विषय मिथ्या है, क्योंकि वह विकल्प है ; शुक्तिरजत विकल्प के समान । यह जो ज्ञान होता है ; वह किसी जाति आदि से विशिष्ट नहीं होता, अतएव जितने भी भेद हैं, वे सबके सब विकल्प का विषय होने के कारण मिथ्या हैं। सभी भेदों के मिथ्या होने के कारण अभेद रूप अद्वैत के परमार्थत्व की सिद्धि होती है—जो अनुमान कहा है, उस अनुमान का श्रीभाष्यकार ने प्रत्यक्ष के सविकल्पक एव निर्विकल्पक आदि भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत करके प्रायः खण्डन कर दिया है। प्रकृत विवेचन में श्रीभाष्यकार की ही बातों का विस्तार किया जा रहा है। तथाहि इस अनुमान के पक्ष आदि (सपक्ष आदि) आदि भेद रहित (निर्विकल्प) रूप से नहीं सिद्ध हैं, क्योंकि ऐसा होने पर उनका व्याहार ही असम्भव हो जायेगा। निर्विकल्पक का भी प्रयोग निर्विकल्पकत्वावच्छिन्न में ही होता है। यदि पक्षादि विकल्प (भेद) का विषय हैं; तो प्रश्न है कि ये जो पक्ष आदि (साध्य, हेतु, परामर्श आदि) के बोधक विकल्प हैं वे भी पक्षान्तर्गत हैं, या पक्षबहिभूत ? उन्हें पक्षान्तर्गत मानने पर तो परस्पर में विरोध होगा। भेदों के मिथ्यात्व के ग्राहक अनुमान के ही मिथ्या

हो जाने पर भेदों के सत्यत्व की सिद्धि सुतराम् उपपन्न हो जायेगी । फलतः इस अनुमान का हेतु ही आश्रयासिद्ध हो जायेगा । किञ्च उस अनुमान को आप मिथ्या रूप से निरूपित भी नहीं कर सकते हैं । यदि उस अनुमान को विसम्वादी मानें तो फिर विशिष्ट अर्थ की ही सिद्धि होगी । यदि पक्षादि के ग्राहक विकल्पों के ग्राहकों को पक्षान्तर्गत नहीं मानें, तो फिर उनके ही द्वारा आपका यह अनुमान अनैकान्तिक दोषों से दूषित हो जायेगा । यदि कहें कि उन पक्षादि के ग्राहकों का विसम्वाद राहित्य भी अनिश्चित है; तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर भी उसका संदिग्ध अनैकान्त्य तो बना ही रहेगा । यदि पक्षादि का विसम्वाद साधनान्तर से सिद्ध किया जाय तो भी अनैकान्तिकत्व दोष बना ही रहेगा । यदि सभी भेद मिथ्या ही हैं तो फिर अद्वैती कल्पित अनुमान भी भेदान्तर्गत होने के कारण मिथ्या ही हो जायेंगे । यदि कहें कि अनुमान का प्रामाण्य इसलिए स्वीकारना चाहिए कि वे परम्परातः निर्विशेषार्थ के प्रतिपादक हैं । अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन इसलिए उचित नहीं है कि प्रत्यक्षविकल्प भी अनुमानादि विकल्पों के ही समान प्रामाणिक होंगे । यदि आप अनुमान का प्रामाण्य न स्वीकार करें तो फिर आप अपने समीहित अर्थ निर्विशेष की सिद्धिके हेतु रूपसे अनुमान को क्यों उद्धृत करते हैं?यदि कहें कि लोकव्यवहार से सिद्ध तथा दूसरों के मत से सिद्ध होने के कारण हम उनको उद्धृत करते हैं , तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है ; क्योंकि ऐसे आत्मघातियों तथा मूर्ख परीक्षकों द्वारा साध्य की सिद्धि असम्भव है ।

विप्रतिपन्न इति । ननु एकस्य विषयस्य मिथ्यात्व मात्रेणापि उक्तसाध्योपपत्तेः कथम् परिशेषादद्वैतसिद्धिरिति चेन्न,-ब्रह्मान्ययावत्स्वविषय विषयकत्वस्य पक्षतावच्छेदकतया सर्वविषय-मिथ्यात्वसिद्धेः । ब्रह्मान्यत्वञ्च परमते बाधवारणार्थम् । यद्वा मिथ्याभूतयावत्स्वविषयकत्वम साध्यम् । न च ब्रह्मणस्सत्यत्वाद्बाधः, दृष्टान्ते च साध्यवैकल्यम् , शुक्तेर्मिथ्यात्वासिद्धेरिति वाच्यम् ,-यत्किंचित्स्वविषयापेक्षया अन्यूनसत्ताकेतरत्वस्य यावत्स्वविषयविशेषणत्वात् । नन्वेव-मपि अयं घट इत्यादिविकल्पेपि स्वविषयभूतघटाद्यन्यूनसत्ताकत्वेन घटस्य तदन्यस्य च घटत्वादे-र्निश्चितत्वात् बाध इति चेन्न,-तत्समानसत्ताकत्वेनानिश्चितत्वस्य इतरप्रतियोगिविशेषणत्वात् , यथाच मिथ्याभूतयत्किंचित्स्वविषयान्यूनसत्ताकतत्समानसत्ताकत्वेनानिश्चितेतरयावत्स्वविषयकत्वं पर्यवस्यति । यत्किंचित्स्वविषयान्यूनसत्ताकंच तत्तत्समानसत्ताकत्वेनानिश्चितंचेति कर्मधारयः । तच्छब्देन प्रकृतस्य यत्किंचित्स्वविषयपदस्यार्थः परामृश्यते । मिथ्याभूतशब्दस्य कृत्स्नेनोत्तरखण्डेन बहुव्रीहिः । नच शुक्तिरजतविकल्पे रजतान्यूनसत्ताकब्रह्मेतरशुक्तौ मिथ्यात्वासिद्धेः साध्यवैकल्य-मिति वाच्यम् ,-इतरपदेन सामान्याभावस्य विवक्षितत्वात् । नचैवमपि स्वविषयीभूतशुक्त्यन्यून-सत्ताकतत्समानसत्ताकत्वेनानिश्चित ब्रह्मेतरशुक्तौ मिथ्यात्वासिद्धेस्साध्यवैकल्यं शङ्क्यम् ; स्वविष-यीभूतरजतान्यूनसत्ताकब्रह्मशुक्तीतर रजतमादाय साध्यसत्त्वात् । एतदर्थमेव यत्किंचित्स्वविषयेत्यु-क्तम् । तदेतदिति ॥ ॥ स्तम्भादिप्रत्ययो मिथ्या प्रत्ययत्वात् , तथाहि यः । प्रत्ययस्ते मृषा दृष्ट-स्वप्नादि प्रत्ययो यथा ॥ ॥ इति बौद्धोक्तमिदमनुमानमिति प्रत्यभिजानाति । तथासतीति । निर्वि कल्पकस्य प्रवृत्तिनिमित्तार्थविषयकत्वादिति भावः । पक्षादीत्यादिशब्देन साध्यानुमितिहेतुपरामर्शादयो गृह्यन्ते । व्याघातमेव विवृणोति । विकल्पनामिति । विकल्पनां विसंवादित्वमाहित्या

अनुमितेरित्यर्थः । दोषान्तरमाह आश्रयादीति । आश्रयग्राहिविकल्पस्य मिथ्याविषयत्वे आश्रयासिद्धिः । आदिशब्देन हेतुग्राहिविकल्पस्य विसंवादित्वे स्वरूपासिद्धिरित्यादि विवक्षितम् । सर्वत्रेति । द्वन्द्वेऽपि बाध्यादिना बह्न्यनुमित्या वह्निसिद्धिप्रसङ्ग इति भावः । अविसंवादोपीति । विकल्पस्य मिथ्याविषयत्वानुमितेः पाक पक्षादि ग्राहिविकल्पेषु विसंवादित्वस्यानिश्चयादित्यर्थः । पूर्वोक्तं व्याघातं विस्मृत्य या व्यभिचारपरिहारशङ्का तामनूद्य पूर्वोक्तव्याघातेन परिहरति अन्यतस्तेषामिति । यद्वा तस्मिन्नप्यनुमाने पक्षादिग्राहिविकल्पानां पक्षीकरणापक्षीकरणयोः पूर्वानुमानोक्तदोषप्रसङ्गात् इति उक्तदोषानुधावनादित्यस्यार्थः । अस्यानुमानस्य बौद्धोपदेशलब्धत्वात्तेन चानुमानस्य प्रामाण्याङ्गीकारात्तदन्तेवासिनामपि तदेवमतमापाद्य दूषयति यदि चेति । "स्वलक्षणप्रसूतनिर्विकल्पकजनिते" त्यादिवक्ष्यमाण वाक्यानामप्ययमेवाशयः । तुल्यमिति । प्रत्यक्षविकल्पस्याप्रामाण्यमनुमानविकल्पस्य तु प्रामाण्यमिति विभागो न सिद्ध्येदिति भावः । तथापीति । यथानुमानादेः प्रामाण्याङ्गीकारे तेषामप्रामाण्यप्रसङ्गात्सर्वविकल्पाप्रामाण्यसाधकानुमानस्यासम्भवः, तथानुमानाद्यप्रामाण्येऽप्येतदनुमानासम्भवः, स्वस्याप्यप्रमाणत्वादिति भावः ।

किंच निर्विकल्पकस्यापि संवादः किं विकल्पगृहीतः, उत निर्विकल्पकगृहीतः ? नाऽऽद्यः; निर्विकल्पकस्य विसंवादित्वप्रसङ्गात् । अन्यथा क्वचिद्विकल्पप्रामाण्याभ्युपगमे अनैकान्त्यादिदोषात् । न द्वितीयः, स्वस्यापि संवादित्वग्रहणे तस्यानधिकारात् । अधिकारे वा विकल्पत्वप्रसंगात् । तेन विकल्पात् निर्विकल्पकस्यापि प्रामाण्यनिर्मूलनादप्रयत्नविजयिनो माध्यमिकाः ।

प्रसाद—किञ्च प्रश्न है कि अद्वैत्यभिमत निर्विकल्प का सत्यत्व विकल्पों के द्वारा सिद्ध होता है अथवा निर्विकल्पक के द्वारा ? विकल्प द्वारा उसको सिद्ध मानें तो वह गृहीत निर्विकल्प भी विसंवादी होने के कारण मिथ्या सिद्ध हो जायेगा । यदि ऐसा न हो तो फिर विकल्प का कहीं प्रामाण्य तथा कहीं पर अप्रामाण्य स्वीकार करने पर विकल्प का विसंवादित्व भी अनैकान्तिक होगा । निर्विकल्पक को निर्विकल्पक गृहीत इसलिए नहीं माना जा सकता है कि अपने से ही अपना प्रामाण्य ग्रहण करने में उसका अधिकार नहीं हो सकता है; क्योंकि एक ही वस्तु का एक ही क्रिया में कर्तृत्व एवं कर्मत्व असम्भव है । यदि उसका अधिकार में तो फिर वह निर्विकल्प रूप होगा; क्योंकि ग्राह्य निर्विकल्प से ग्राहक निर्विकल्प का भेद अवश्य होगा । इस तरह विकल्प के ही समान निर्विकल्प का भी प्रामाण्य समाप्त हो जाने के कारण माध्यमिक बौद्ध विना प्रयास के ही अद्वैती विद्वानों पर विजय प्राप्त कर लेंगे ।

निर्विकल्पकस्येति । तदविसंवादिग्राहिविकल्पस्यापि विसंवादित्वादिति भावः । अन्यथेति । निर्विकल्पकाविसंवादित्वग्राहिविकल्पस्य प्रामाण्य इत्यर्थः । अनैकान्त्यादीति । क्वचित्प्रामाण्याङ्गीकारे तुल्यन्यायतया विकल्पान्तरेपि प्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यादिशब्देन विवक्षितम् । अनधिकारादिति । असामर्थ्यादित्यर्थः । निर्विकल्पकेनाविसंवादित्वग्रहे बाधमाह अधिकार इति । इष्टापत्तिशङ्कायामाह तेनेति । निर्विकल्पक प्रामाण्यग्राहिणोपि विकल्पत्वेन तद्विषयीभूतनिर्विक-

रूपकप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वादित्यर्थः । ब्रह्मविषयनिर्विकल्पकस्यापि अप्रामाण्यात् सर्वशून्यता स्यादिति भावः ।

कश्चायं विसम्वादः ? किं १–संवादिज्ञानान्तरराहित्यम् ; २–आहोस्वित् अर्थक्रियास्थित्यभावः, ३–बाधकज्ञानान्तरोदयो वा, ४–यद्वा अनर्थज (भूत) त्वम् ; ५–अथवा अनर्थविषयत्वम् ; ६–यद्वा अन्यस्यान्यात्मनोल्लेखः ; ७–अन्यद्वा किंचित् इति । न प्रथमः ; क्वचिद्बाधात, क्वचिदिष्टप्रसङ्गात्, अकिंचित्करत्वाच्च ।। संवादकाभावे कथमध्यवसाय इति चेत्-यथा सम्वादकस्येति पश्य । परस्परसंवादात उभयाध्यवसाय इति चेन्न, शुक्तिरजतबोधधारावाहिकसन्ततौ तदसिद्धेः ।। अर्थक्रियाविरहव्यवसायविसंवादात तत्र सर्वत्राप्रमात्वमिति चेत, एतेन द्वितीयः कल्पः परिजिघृक्षितः । सोऽपि न, सर्वासामार्थक्रियाणां विकल्पोपज्ञत्वात् । न हि निर्विकल्पकेन कश्चित् प्रवर्तते । न च विकल्पतः प्रवृत्तस्यार्थक्रिया न सम्भवति (सिध्यति), मणिप्रभाविषयमणिविकल्पप्रवृत्तस्येव स्वलक्षणप्रसूतनिर्विकल्पक जनिततदारोपितार्थोल्लेखविकल्पप्रवृत्तस्यापि पारम्पर्येणार्थसम्बन्धात निर्विकल्पकनिदान एवं सम्वाद इति चेन्न, नियामकाभावात् । बाधितत्वमिति चेत्—ततस्तृतीयः पक्षः स्वीकृतः । सोऽप्यसारः, असिद्धेः । अत एवानुमानात् तत्सिद्धिरिति चेन्न-अद्यापि तत्प्रामाण्यानिश्चयात् ।। अर्थजत्वात तत्सिद्धिरिति चेन्न, साक्षाद सिद्धेः । परम्परयात्वविशेषात् । अत एव न चतुर्थः, न च जात्यादिविशिष्टस्य जात्यादिविशेषणस्य वा दृष्टोपलम्भसिद्धस्याबाधितस्याप्यनर्थत्वं निश्चिनुमः, यतस्तत्प्रसूतस्य विकल्पस्यानर्थजत्वम् । अतएव न पञ्चमः, अनुमानादिनिर्मूलनाच्च ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों के प्रकृत अनुमान का साध्य मिथ्याविषयत्व रूप विसम्वाद है । उसके विषय में प्रश्न है कि विसम्वाद पदार्थ क्या है ? (१) क्या वह संवादी (सत्य) ज्ञानन्तर से राहित्य रूप है (२) अथवा उसमें सार्थक क्रिया का अभाव रहता है । (३) अथवा विसम्वाद में दूसरा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ? (४) अथवा वह अनर्थजन्य है ? (५) या वह अनर्थ का विषय होता है ? (६) वह अन्य वस्तु की प्रतीति रूप है ? (७) अथवा उसका इन सबों से कोई दूसरा ही रूप है ? उसे सम्वादी ज्ञानान्तर राहित्य रूप मानें तो ; इस मान्यता का कहीं पर तो बाध होगा, कहीं पर उस मान्यता में सिद्ध साधनता होने के कारण हमें इष्टापत्ति होगी । और कहीं पर यथार्थ ज्ञान का अभाव रहने पर भी उस ज्ञान के बाधित न होने के कारण उस ज्ञान का यथार्थ्य ज्यों के त्यों बना रहेगा । यदि कहें कि सम्वादी ज्ञान के अभाव में उस ज्ञान का प्रामाण्य कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर है कि जिस तरह संवादी ज्ञानान्तर के अभाव में सम्वादी ज्ञान का प्रामाण्य होता है, उसी तरह इस ज्ञान का भी प्रामाण्य होगा, यदि कहें कि विसंवादी दोनों ज्ञानों के विसम्वादी होने के कारण दोनों में से किसी का भी निश्चय हो

जायेगा, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है. क्योंकि देखा जाता है कि शुक्तिरजत के धारावाहिक ज्ञान में दोनों ज्ञानों के प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता। यदि कहें कि शुक्तिरजत ज्ञान में रजत के अर्थ क्रिया कारित्व का अभाव होने के कारण उस ज्ञान में बिसम्वाद होता है, अतएव वह सर्वत्र अप्रामा रूप माना जाता है; तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि आपके इस कथन से आपने विसंवाद विषयक दूसरे विकल्प को अपना लिया। आपके इस कथन का अर्थ हुआ कि आप अर्थ क्रिया के अभाव को अप्रमा मानते है; फलतः इस कथनकपर्यवसान अर्थक्रिया का अभाव विसम्वाद है, इस द्वितीय कल्प के रूप में हो गया। और आपका वह भी कल्प सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आपके इस कथन से सिद्ध है कि सभी अर्थक्रियाओं में विकल्प के द्वारा प्रवृत्ति होगी। विकल्प में अर्थ क्रिया के रहने के कारण विकल्प भी सार्थक होगा। इस तरह आप का उपर्युक्त अनुमान बाधित हो गया। इसके द्वारा विकल्पो के मिथ्या विषय की सिद्धि के बदले में विकल्पों के सत्यत्व की सिद्धि हो गयी। फलतः आपका निर्विकल्पक अप्रामाणिक हो जायेगा। निर्विकल्प के द्वारा तो किसी की निवृत्ति होती नहीं। यह तो कहा नहीं जा सकता है कि विकल्प के द्वारा प्रवृत्त होने वाले की क्रिया सार्थक होती ही नही है। मणिप्रभाविषय० इत्यादि—यदि कहें कि–जैसे मणि की प्रभा को देखकर जिसको मणि का भ्रम हो जाता है, और उसको प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होकर वह मणि को प्राप्त कर लेता है, किन्तु उसकी यह प्राप्ति साक्षात् नहीं होती अपितु परम्परातः होती है। विकल्प स्वलक्षण विषयक निर्विकल्पक जन्य होता है, अतएव वह निर्वि कल्प में अध्यस्त होकर ही विषयों का प्रकाश करता है। इस तरह विकल्प का विषय स्वलक्षणारोपित होने के कारण उसका विषय से सम्बन्ध परम्परातः ही होता है, साक्षात् नही। अतएव सविकल्पकत्व का विषय अर्थ क्रिया शून्य होता हैं, निर्विकल्पक का ही विषय अर्थ क्रिया रूप सम्वाद से युक्त होता है। तो यह भी कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अद्वैती विद्वानों के इस कथन में कोई नियामक नही है। यदि कहें कि विकल्प का बाधित होना ही नियामक है, तो यह भी नही कह सकते हैं, क्योंकि आपने यह कह कर विसम्वाद विषयक तीसरे विकल्प को स्वीकार लिया। और विकल्प का बाधितत्व असिद्ध होने के कारण यह तीसरा भी विकल्प निस्सार ही है। विकल्प का बाधितत्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि आज तक भी आप के उस अनुमान का प्रामाण्य नहीं सिद्ध हो पाया हैं। उस अनुमान को निर्विकल्प का साधक होने के कारण भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है क्योंकि उस अनुमान की साक्षात् सिद्धि नहीं हो सकती है। परम्परातः तो उसकी सिद्धि और असिद्धि दोनों समान रूप से होती है। उपर्युक्त साक्षात् एवं परम्परा रूप विकल्पों के खण्डन द्वारा ही चतुर्थ विकल्प भी खण्डित हो गया। जिनकी साक्षात् उपलब्धि होती है; उन जात्यादि विशिष्ट को अथवा जात्यादि विशेषण को तो अनर्थ माना नहीं जा सकता। और न तो उनसे (जात्यादि विशिष्ट अथवा जात्यादि विशेषण से) उत्पन्न विकल्प को अनर्थ माना जा सकता है। आपके अनुमानआदि का खण्डन हो जाने के कारण पाचवां पक्ष भी उपपन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि आपके अनुमान भी जात्यादि विषयक ही हैं। अतएव जात्यादि को अनर्थ मानने पर आप के अनुमान भी अप्रामाणिक ही होंगे।

साध्ये मिथ्याविषयत्वं विसंवाद इति तं विकल्पयति कश्चायमिति। अनर्थभूतत्वम्—अनर्थाद्भूतत्वम्, अनर्थजत्वमिति यावत्। इष्टप्रसङ्गादिति। सिद्धसाधनादित्यर्थः। अकिंचित्करत्व दिति। संवादिज्ञानाभावेपि बाधाभावे यथार्थ्योक्षतेरिति भावः। अध्यवसायः-तत्प्रामाण्याध्यवसायः। ततश्च प्रामाण्यासिद्धः तद्विषयो न परमार्थ इति भावः। शुक्तीति। बाधे सति परस्पर

संवादेपि प्रामाण्यानदुध्यवसायादित्यर्थः । अर्थक्रियेति । अर्थक्रियाविरहव्यवसायरूपो विसंवाद इत्यर्थः । एतेनेति । अर्थक्रियाविरहव्यवसायः--अर्थक्रियाविरह प्रमा , तथाच अर्थक्रियाविरहो विसंवाद इत्यत्र पर्यवसितमिति भावः । सर्वासामिति । विकल्पेन तद्विषये प्रवृत्तो अर्थक्रियादर्शनाद्विकल्पविषयस्यैवार्थक्रियावत्त्वम् , ततश्चानुमाने बाध इति भावः । सर्वासामित्यनेन निर्विकल्पकस्या प्रामाण्यप्रसङ्गो विवक्षितः । एतदुपपादयति-नहीति । बाधमुपपादयति-नचेति । शङ्कते मणिप्रभेति । जनितान्तं विकल्पविशेषणम् । तदारोपितः-स्वलक्षणाध्यस्तः, उल्लेखात्मको विकल्पः निर्विकल्पकनिदान इति । स्वलक्षणविषयनिर्विकल्पकजन्यत्वादेव स्वलक्षणारोपितार्थोल्लेखित्वम् , ततश्च विकल्पविषयस्य स्वलक्षणारोपिततया स्वलक्षणरूपार्थसम्बन्धाद्विकल्पस्य पारम्पर्येणार्थसम्बन्धित्वम् , तथाच निर्विकल्पकविषय एवार्थक्रियालक्षणसंवाद इति सविकल्पकविषयोऽर्थक्रिया-शून्य एवेत्यर्थः । निगूढाभिसन्धिराह असिद्ध रिति । अभिसन्धिमजानानश्चोदयति अत एवेति । एतदनुमानादेवेत्यर्थः । अभिसन्धिमुद्घाटयति । अद्यापीति । अनुमितेरपि विकल्पत्वेनाप्रामाण्याद्विकल्पस्य बाधितत्वं न सिद्ध्यतीत्यर्थः । यद्वा असिद्धे रिति । बाधस्यानुपलब्धिबाधितत्वादित्यर्थः; इदानीं बाधानुपलम्भेपि कालान्तरीयबाधो नानुपलब्धिबाध्य इत्याह अतएवानुमानादिति । अत-एव नेति । साक्षात्परम्पराविकल्पयोरुक्तदूषणा दित्यर्थः । दूषणान्तरमाह नचेति । अनर्थत्वम्--अपरमार्थत्वम् । प्रत्युत पारमार्थ्य मेव निश्चिनुमः, अतो बाध इत्यर्थः । अतएवेति । अनर्थत्वा-निश्चयादित्यर्थः । अनुमानादीति । अनुमानादेरपि जात्यादिविषयत्वेन विसंवादे एतदनुमानमप्य प्रमाणं स्यादित्यर्थः ।

षष्ठोऽपि स्वलक्षणाकारतयैव जात्यादिसिद्धे र्निरस्तः । न चाशब्दात्माऽर्थः शब्दात्मना विकल्पे भातीति वाच्यम् , सर्वेषु विकल्पेषु शब्दानुवेधाभावात् ; यत्र च शब्दानुवेधः , तत्रापि न शब्दोऽर्थात्मना (शब्दात्मनाऽर्थः ?) प्रतिभाति , अशब्दात्मनैव पूर्वमेवाध्यवसायात् । न च गौरित्यत्र गकारौकारविसर्जनीयात्मकोऽयमिति मन्यन्ते (न्यते) अपितु गोशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतगोत्वाश्रय इति । एकार्थानेकशब्देषु अनेकार्थैकशब्देषु च शब्दानामर्थानां च परस्परविरोधादेव नैकता (नैतत्ता ?) दात्म्याध्यवसायसम्भवः । न चात्र साम्यसन्निकर्षादिकमध्यासनिमित्तं पश्यामः । न च चाक्षुषनीलादिप्रत्यये श्रावणनीलादि-शब्दात्मनोल्लेखो युक्तः । न च विकल्पाः सर्वे मनसाः; (समानाः; मानस) बाह्येन्द्रियव्यापारा-न्वयव्यतिरेकानुविधानविरोधात् । न च गोशब्दात्मना खण्डशब्दात्मना च गोव्यक्तौ विकल्पितायां जातिव्यक्तिशब्दविभागनिमित्तं सम्भवति । न च जातिशब्दो व्यक्तौ नाध्यस्यत इति वाच्यम् ; गौरयमित्येव प्रतिभासात् । तथा (तदा ?) च व्यक्तिशब्दस्यापि तुल्य

न्यायतया नाध्यासः। अतस्तटस्थ एव शब्दः स्वविषयमावेदयति वस्त्वन्तराच्च व्यवच्छिनत्तीति न शब्दाध्याससंभवः।

नापि सप्तमः, बाधपर्यवसितस्य कस्यचिदन्यस्यानुपलम्भात्,
अन्यादृशस्य साधनेऽपि विरोधाभावादिति॥

न च संस्कारप्रसूततामात्रेण विकल्पस्याप्रामाण्यम्; स्मृतिप्रामाण्यवादिषु तस्य दुर्वचत्वात्; संस्कारमात्रासाधारणकारणकस्य स्मृतित्वात्। स्मृत्यनुभवात्मकत्वपक्षेऽप्यंशे स्मृतित्वलक्षणमप्रामाण्यम् प्रसज्येत, न पुनर्विसंवादित्वलक्षणम्।

प्रसाद—जाति आदि के भी स्वलक्षणाकार (परमार्थ) सिद्ध हो जाने के कारण छठा विकल्प भी खण्डित हो गया। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अर्थ शब्दात्मक न होने पर भी विकल्प में शब्दात्मक रूप से प्रतीत होता है, क्योंकि सभी विकल्पोंमें शब्दानुप्रवेश नहीं देखा जाता। जहाँ पर शब्द का अनुवेध भी रहता है, वहाँ भी अर्थ शब्दात्मक रूप से नहीं प्रतीत होता। क्योंकि पहले ही उसका अशब्दात्मक रूप से ही निश्चय होता है। कोई भी गौ को गकार औकार तथा विसर्जनीयात्मक रूप से नहीं मानता, अपितु उसे गोत्वावच्छिन्न रूपही माना जाता है। किञ्च एकार्थक अनेक शब्दों एवं अनेकार्थक एक शब्द में परस्पर में विरोध होने के कारण ही, उनके तादात्म्य का निश्चय होना असम्भव है। शब्द एवं अर्थ के विषय में साम्य तथा सन्निकर्ष आदि भी अध्यवसाय के कारण नही बन सकते हैं। नीलादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर उनका (नीलादि का) श्रावण प्रत्यक्ष मानना युक्तियुक्त भी नहीं है अतएव भी शब्दार्थ तादात्म्याध्यास नहीं हो सकता। सभी विकल्प एक तरह के भी नहीं होते हैं; कुछ बाह्येन्द्रियों के विषय होते हैं तथा कुछ आभ्यन्तरेन्द्रिय के। जैसे गौः यह विकल्प मानसान्वय व्यतिरेकी है; तथा 'खण्डोऽयम्' यह विकल्प चाक्षुषान्वयव्यतिरेकी है। एक ही गो व्यक्ति में गो शब्द से तथा खण्ड आदि शब्दों से जाति तथा व्यक्ति रूप शब्दका विभाग होने के कारण भी तादात्म्याध्यास नहीं सम्भव है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जातिवाचक शब्द का व्यक्ति में अध्यास नहीं होता; जाति शब्द जाति का ही वाचक होता है और व्यक्ति शब्द उससे भिन्न है, क्योंकि जिस तरह की प्रतीति के द्वारा आप शब्दाध्यास स्वीकारते हैं, उसी तरह की प्रतीति 'यह गौ है' यहाँ पर भी होती है, अतएव जाति का भी व्यक्ति में आपको अध्यास मानना ही होगा। यदि जाति का अध्यास न मानें तो फिर उसी तरह व्यक्ति का भी जाति में अध्यास नहीं माना जा सकता है। अतएव यही मानना चाहिए कि तटस्थ रहकर ही शब्द अपने विषय को प्रकाशित करता है तथा अपने बोध्य विषय को वस्त्वन्तर से पृथक करता है। उसका अर्थ में अध्यास नहीं होता। विसम्वाद विषयक सातवाँ विकल्प इसलिए नही माना जा सकता है कि उसके विषय में प्रश्न है कि वह बाध में पर्यवसित होता है कि नहीं? प्रथम पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता हैं कि बाध में जिसका पर्यवसान हो ऐसी उपर्युक्त विकल्प व्यतिरिक्त वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। यदि अबाधित वस्तु की सिद्धि आप करें तो हमारा उससे कोई विरोध भी नहीं है। यदि कहें कि विकल्प चूंकि संस्कार मात्र जन्य होता है, अतएव अप्रामाणिक होता है, तो ऐसा इसलिए नहीं कह सकते है; कि कुछ अद्वैती विद्वान् ही संस्कारमात्रजन्य स्मृति का प्रामाण्य स्वीकारते हैं। स्मृति

अनुभवात्मकत्ववादी अद्वैती विद्वानों के भी मत में, अंशतः स्मृतित्व रूप अप्रामाण्य होगा, विसंवादित्व रूप नहीं।

स्वलक्षणेति। परमार्थसदित्यर्थः। अन्यस्यान्यात्मना मानमस्तीति शङ्कते। नचाशब्देति। शब्दात्मना प्रतिभानाभावं विशेषदर्शनानुपलम्भेन चोपपादयति अशब्दात्मनैवेत्यादिवाक्यद्वयेन। अपिरिवेति। इदमुपलक्षणम्, क्वचिद्गोशब्दवाच्य इत्यापि भासत इति भावः। शब्दार्थभेदग्रहस्यावश्यकत्वमाह एकार्थेत्यादिना। कारणाभावाच्च न शब्दाध्याससम्भव इत्याह— नचेति। नच विकल्पा इति। एकेन्द्रियग्राह्यत्वात् आरोप उपपद्यत इति भावः। नच निर्विकल्पके तदुपक्षयः, मनसोपि तथा प्रसङ्गादिति भावः। नच गोशब्दात्मनेति। जातिव्यक्तिवाचकत्वनिबन्धनत्वात्तद्विभागस्येति भावः। शब्दाध्याध्यास पक्षे वाच्यवाचकभावग्रहो न समयग्रहः समयग्रहाभावे विकल्पे शब्दानुवेधाभावेन तस्य शब्दानुवेधोपयोगित्वात्, शब्दाध्यासरूपशब्दानुवेधे च पूर्वं शब्द तादात्म्यग्रहस्यैव उपयोगितया तस्यैव समयग्रहत्वात्, अतो जातिवाचित्वादि विभागो नास्तीति तात्पर्यम्। नचजातीति। जातिशब्दो जातिवाचक एव, तदितरश्च व्यक्तिशब्द इति विभाग इति भावः। यादृश्या प्रतीत्यात्वया क्वचिच्छब्दाध्यास उच्यते तादृश्येवेयं प्रतीतिरिति जातिशब्दस्याप्यध्यासो दुर्वार इति भावः। अस्तु तर्हि जातिशब्दस्याध्यासः, व्यक्तिशब्दस्य तु माभूत्, अतस्सिद्धो विभाग इत्यत्राह-तथाचेति। अतइति। ततश्शब्दाध्यासे प्रत्यक्षादिविरोधादिः, अतश्शब्दस्तटस्थस्सन् विषयानन्तर्भूत एव व्युत्पन्नमर्थं बोधयति, प्रत्यक्षादिष्वपि क्वचिद्वाच्यवाचकभावसम्बन्धेन विशेषणतया भासमानो वस्त्वन्तराद्व्यवच्छिन्नस्सीत्यर्थः। उपसंहरति-इति न शब्दाध्याससम्भव इति। सप्तमोपि किं बाधपर्यवसितः, उत नेति विकल्प्याद्यं दूषयति-बाधेति। ननु संस्कारप्रसूतायास्स्मृतेरप्रामाण्यदर्शनात्संस्कारजन्यत्वमप्रामाण्यप्रयोजकम्; अतस्तादृशत्वाद्विकल्पस्याप्रामाण्यं वाच्यमित्यत्राह- नच संस्कारेति। संस्कारजन्यत्वंच परेण स्वमतानुसारेणोक्तम्। अभ्युपगमेन परिहारः। न वयमयाथार्थ्यलक्षणमप्रामाण्यमापादयामः परन्तु स्मृतित्वलक्षणाप्रामाण्यमित्यत्राह- संस्कारमात्रेति। मात्रपदं प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय। असाधारणपदमसम्भववारणार्थम्। स्मृत्यनुभवेति स्मृत्यनुत्वात्मकत्वाङ्गीकारयीत्यर्थः।

विकल्पत्वादिति हेतुश्च विशिष्टप्रत्ययत्वमात्रम्? तद्विशेषो वा? नाद्यः, निर्विकल्पकस्याप्यस्मन्मतेन यत्किंचिद्विशिष्टप्रत्ययत्वेनानैकान्त्यात्। तस्यापि पक्षीकारे तदतिरिक्तनिर्विकल्पकस्यानुपपत्त्या सर्वप्रत्यक्षोच्छेदप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, प्रथमाक्षसन्निपातजविशिष्टप्रत्ययादुपरितनविशिष्टप्रत्ययस्य कारणदोषादिविशेषाभावात्, सर्वदा रसरूपादेश्चादोषरूपत्वस्थापनात्। अतो विशिष्टप्रत्ययमात्राप्रामाण्यवादिना सर्वप्रत्यक्षनिर्मूलनेपरिशेषोऽपि शून्यतत्त्वमुपस्थापयेत्; न पुनरद्वैतम्। किञ्च परकल्पितबाह्यविषयनिर्विकल्पकस्य त्वन्मतेन मिथ्याविषयत्वात् तद्दृष्टान्तेनाद्वैतविषयनिर्विकल्पकस्यापि मिथ्याविषयत्व—

मनुमेयमिति । किञ्च-

श्लो-विकल्पाविषयत्वं चेत्—ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते ।
श्रोतव्यादिविधीनाम् स्यादश्रोतव्यत्वमेव ते ॥

अतो न निर्विशेषस्य (स्यापि) ब्रह्मणो विकल्पाविषयत्वमपीति ॥

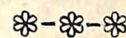
॥ इति शतदूषण्यां विकल्पप्रामाण्यभङ्गवादः सप्तचत्वारिंशः ॥



प्रसाद—किञ्च अद्वैती विद्वानों के अनुमान का 'विकल्पत्वात्' यह हेतु वाक्य विशिष्ट प्रत्ययत्व मात्र को बोधित करता है अथवा विशिष्ट प्रत्ययत्व के अन्तर्गत आने वाले इन्द्रियों के सन्निकर्ष जन्य प्रथम ज्ञान के पश्चात् होने वाले विशिष्ट प्रत्ययत्व आदि को बोधित करता है ? विशिष्ट प्रत्ययत्व मात्र को इसलिए नहीं माना जा सकता है कि हम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को भी यत्किञ्चित् विशेषण विशिष्ट वस्तु विषयक ही मानते हैं ; अतएव आपका निर्विकल्पक ज्ञान भी विकल्पान्तर्गत होने के कारण मिथ्या विषयक हो जायेगा । यदि उसको भी आप पक्षान्तर्गत मानें तो फिर सभी प्रत्यक्षों का ही उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई दूसरा निर्विकल्प हो नहीं सकता । दूसरा पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि प्रथमेन्द्रिय सन्निकर्षजन्य विशिष्ट प्रत्यय के पश्चात् होने वाले विशिष्ट प्रत्यय में, कोई कारण दोष आदि विशेषता का अभाव होने से तथा संसार का सम्पर्क आदि के दोष रूपत्वाभाव का प्रतिपादन करने के कारण, वह ज्ञान मिथ्या वस्तु विषयक नही हो सकता है । इस तरह विशिष्ट ज्ञान के मिथ्यात्व प्रतिपादन करने वाले अद्वैती विद्वानों के मत में परिशेषात् शून्य तत्त्व ही अवशिष्ट रहेगा अद्वैत नहीं । किञ्च कल्पित बाह्य वस्तु विषयक निर्विकल्पक को आप मिथ्या विषयक मानते हैं , उस निर्विकल्प का दृष्टान्त देकर अद्वैत विषयक निर्विकल्पक का भी मिथ्यात्वानुमान किया जा सकता है । तथाहि—अद्वैत विषयकं निर्विकल्पकं ज्ञानम् मिथ्या ; निर्विकल्पकत्वात् , कल्पितबाह्यवस्तुनिर्विकल्पकवत् ।

किञ्च यदि आप ब्रह्म को विकल्प का विषय नहीं मानें तो फिर आपके मत में ब्रह्म के श्रवण , मनन एवं निदिध्यासन का विधान आश्रोतव्य ही हो जायेगा । अतएव निर्विशेष भी ब्रह्म विकल्प का अविषय नही सिद्ध हो सकता है ।

इस तरह शतदूषणी का विकल्पप्रामाण्यभङ्ग नामक सैंतालिसवाँ वाद समाप्त हुआ ॥



तद्विशेष-विशिष्टप्रत्ययत्व व्याप्यः प्रथमाक्षसन्निपातजप्रत्ययोत्तरविशिष्टप्रत्ययत्वादिरित्यर्थः । किमुभयसम्प्रतिपन्नो विकल्पः पक्षः ? उत विशिष्टप्रत्ययमात्रम् ? आद्ये दोषमाह ; निर्विकल्पकस्यापीति । अनैकान्त्यात्-सन्दिग्धाऽनैकान्त्यात् । पक्षतमत्वे च वक्ष्यमाण प्रत्य-

क्षच्छेदो द्रष्टव्यः। द्वितीये दोषमाह तस्यापीति। उच्छेदः अप्रामाण्यम्। द्वितीये अप्रयोजकत्वमाह प्रथमाद्येति। सर्वप्रत्ययेति। निर्विकल्पकाभिमतस्य ब्रह्मप्रत्यक्षस्यापि विशिष्टप्रत्ययत्वात् प्रत्यक्षमात्रं निर्मूलमिति भावः। श्रोतव्यादीति। श्रवणादीनां विशिष्टप्रत्ययत्वेन विकल्पाविषये ब्रह्मण्यसम्भवात् श्रवणादिविधीनामप्रामाण्येनाऽनुपादेयत्वं स्यादित्यर्थः। अत इति। अश्रोतव्यत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। ततो ब्रह्मणोपि मिथ्यात्वं स्यादिति भावः।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायाम् शतदूषणीव्याख्यायाम् चण्डमारुताख्यायाम् विकल्पप्रामाण्यभङ्गो नाम सप्तचत्वारिंशस्स्कन्धः ॥४७॥



※ अथ उपबृंहणवैयर्थ्यवादः अष्टचत्वारिंशः ॥४८॥ ※

गुणविभूतिविशेषविचित्रितं निगमसीमनि यत् समधीमहे।
स्मृतिपुराणशतैरुपबृंहितं तदिदमस्तु सदा हृदयेषु नः॥

प्रसाद—जो भगवान् कल्याणकारी वात्सल्यादि गुणों तथा लीला विभूत तथा नित्यविभूति आदि से विशिष्ट, वेदान्तों के प्रतिपाद्यभूत तथा स्मृतियों एव पुराणों के अनेक वाक्यों से उपबृंहित हैं, वे हमारे हृदय में निवास करें।

उपनिषदुपबृंहणप्रतीपप्रशमपटूरमृतश्रुतेरसिद्धाः।
हयमुखहृदयङ्गमाः पिबेम श्रवणपुटैः कविवादिसिंहवाचः॥

इयत्तानालीढाखिलगुणविभूति स्मृतिमुखैः
सह क्रोशन्तीनाम् हयमुखमिदङ्कारमनिशम्।
श्रुतीनाम् प्रत्यूहानसुरजनमोहाय विहितान्
निरुन्धन् शैवादीन् स जयति भृशं श्रीनिधिगुरुः॥

गुणविभूतीति। अनेनानुक्तविशेषैः सहावगतार्थव्यक्तीकरणमुपबृंहणं स्वमते उपपद्यते परमते तु तद् घटचमिति सूच्यते। तेन वादार्थः सङ्गृहीतो भवति। निगमसीमनि--वेदान्त इत्यर्थः।

यदुच्यते—निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मात्मैक्यं त्रय्यन्तसिद्धं स्मृतिपुराणादीन्युपबृंहयन्तीति तत्र तावत् तत्तत्प्रकरणादिपरामर्शेन भाष्कारैरेव तेषां यथास्थितोऽर्थः प्रदर्शितः। सामान्यत किञ्चिदुच्यते—यदा शब्दमात्रस्य निर्विशेषबोधनसामर्थ्यं नास्तीत्युपपादिपदाम ; तदा

कैव कथा तद्विशेषाणाम् ? यदा च श्रुतिपरिषदशेषाऽपि विशिष्टविषयेति निरणैष्म; तदा कथं तदुपबृंहणानि तत्प्रतीपानि (तत्प्रतिपादकानि) प्रतिपद्येमहि ? यदा पुनः निर्विशेषपरा सेति पश्यसि , तदा तत्रोपबृंहणं नाम (१) किं यथोक्तानुवादमात्रम् ? (२) उत तद्व्यक्तीकरणम् ? (३) अथानुक्तवस्त्वन्तरवर्णनम् , (४) अन्यद्वा किञ्चित् इति / न प्रथमः , अनुवादमात्रेऽपबृंहणत्वप्रसिद्ध्यभावात् , प्रयोजनाभावाच्च । ज्ञातस्थिरीकरणम् प्रयोजनमिति चेन्न , श्रुतिप्रामाण्ये तदर्थे च यथावन्मीमांसिते तदनुवादमात्रेण तदतिरिक्तस्थिरीकरणासम्भवात् । यदि तत्रानाश्वासः , तदा कैव कथा सम्भवद्भ्रमप्रमादादिदोषेषु वाक्येषु । न च साक्षात्सौगतमतमाश्रित्य संवादात्प्रामाण्यमनुमन्तुमर्हसि । नचैवमु- [चैतदु ?] पबृंहणान्तरसापेक्षम् ; अनवस्थाप्रसङ्गात् । न च तन्निरपेक्षम् ; श्रुतिवदेव तव तत्राप्यनाश्वासप्रसङ्गात् ॥ परस्परसंवादादुभयत्राश्वास इति चेत् , न [मास्तु], असकृदनुसंहितैकश्रुतिवाक्यमात्रजन्मनि तत्प्रत्ययप्रवाहेऽपि तस्य कर्तुं शक्यत्वात् , अतिप्रसङ्गश्च तदेति ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि वेदान्तों में निर्विशेष तथा ज्ञानमात्र ब्रह्म का आत्मा से अभेद बतलाया गया है । उसी ब्रह्म का उपबृंहण स्मृतियों तथा पुराणों के वाक्य करते हैं । इसके विषय में श्रीभाष्यकार ने ही उन वाक्यों के प्रकरणादि के समालोचन पुरस्सर उनका यथोचित अर्थ कर दिया है, अतएव अद्वैती विद्वानों की उपर्युक्त मान्यता के खण्डन में सामान्यतः हम कुछ कह रहे हैं । हमारा कहना है कि किसी एक शब्द का भी निर्विशेष वस्तु का बोध कराने में सामर्थ्य नहीं , इस बात का हम प्रतिपादन कर चुके हैं । ऐसी स्थिति में अनेक शब्दों से बने वाक्यों के द्वारा निर्विशेष का प्रतिपादन कैसे सम्भव होगा ? जब कि हम लोग यह निर्णय कर चुके हैं, कि सारी श्रुतियाँ विशिष्ट ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि वेदार्थों के व्याख्याभूत इतिहास पुराणादि निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं ? किञ्च जब आप यह कहते हैं कि स्मृतियाँ आदि निर्विशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, तो प्रश्न उठता है कि आप उपबृंहण का क्या अर्थ मानते हैं ?(१) क्या श्रुतियों में प्रोक्त निर्विशेष ब्रह्म का अनुवाद मात्र ? (२) अथवा उसका प्रकाशन ? (३) या जिन बातों को वहाँ नहीं बतलाया गया है उनका वर्णन ? (४) या अन्य कुछ ?

अनुवाद मात्र तो इसलिए नहीं माना जा सकता है कि अनुवाद मात्र को उपबृंहण नहीं कहते है। किञ्च श्रुत्युक्त निर्विशेष ब्रह्म का इतिहासादि के द्वारा अनुवाद मात्र का कोई प्रयोजन भी नहीं होगा । यदि कहें कि उसका प्रयोजन श्रुतियों में ज्ञात अर्थ का दृढीकरण ; तो यह भी नहीं कह सकते, हैं, क्योंकि श्रुतियाँ जिसका यथावत् विवेचन करके स्वयम् उसमें प्रमाण बन गयी हैं, उसका अनुवादमात्र करके पुराणादि उसका कौन सा स्थिरीकरण करेंगे ? यदि अपौरुषेय श्रुतियों में अविश्वास मानें तो फिर पौरुषेय वाक्यों में विश्वास अवश्य होगा, क्योंकि पौरुषेय पौराणिक वाक्यों में तो भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा तथा करणापाटवादि दोषोंके लिए भरपूर अवकाश रहता है । यदि आप साक्षात् बौद्ध मत को अपनाकर,

स्मार्त वाक्यों के संवाद के द्वारा श्रुतियों का प्रामाण्य मानना चाहते हों; ऐसी भी बात नही है। संवाद के द्वारा प्रामाण्य मानने में दूसरा दोष यह है कि आप संवादिवचनान्तर के द्वारा प्रामाण्य मानते हैं, अथवा सम्वाद मात्र के द्वारा ? प्रथम पक्ष में उस वचनान्तर के द्वारा प्रामाण्य मानने में अन्योन्याश्रय दोष होगा ; क्योंकि जब श्रुतियों का प्रामाण्य हो तो उसके द्वारा दूसरे वाक्य की एक वाक्यता हो, और एक वाक्यता हो जाने पर उनके द्वारा श्रुतियों में प्रामाण्य होगा। यदि द्वितीय पक्ष मानें तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि जिस वाक्य से श्रुतियों का संवाद (एकवाक्यता) होगा उसके साथ सम्वाद रखने वाले वाक्य की भी संवादकी अपेक्षा होगी और उस वाक्य कोभी अपने से भिन्न की। यदि सम्वाद निरपेक्ष आप प्रामाण्य मानें तो फिर आपका जिस तरह श्रुतियों में अविश्वास है, उसी तरह उपबृंहण वाक्यों में भी अनाश्वास होगा। यदि श्रुतियों तथा उपबृंहण वाक्यों के परस्पर में सम्वाद के द्वारा दोनों में विश्वास मानें तो ऐसा आप नहीं कह सकते हैं, क्योंकि बार-बार अनुसंधान करने के कारण केवल एक श्रुति में जो विश्वास आप का उत्पन्न हुआ है, वह विश्वास श्रौत ज्ञान प्रवाह रूप उपबृंहणों भी सभव है, और ऐसा होने पर बाह्यागमों के भी परस्पर में एक वाक्यता होने पर उनमें भी विश्वास का प्रसङ्ग होगा।

इह तत्तद्वाक्यानां प्रकरणादिपर्यालोचनया सविशेषपरत्वोपपादनमुखेन निर्विशेषवस्तूपबृंहणासम्भवानुपपादने हेतुमाह तत्र तावदिति। अनेन प्रकरणादिविरोधान्न निर्विशेषोपबृंहणत्वमिति सूच्यते। यद्वा निर्विशेषोपबृंहणासम्भवे हेतुमाह तत्र तावदिति। "भाष्यकारैः प्रदर्शित" इत्यनेन निर्विशेषे प्रकरणादिविरोधस्याविचाल्यत्वमिहानुपपादने हेतुश्च सूच्यते। हेत्वन्तरं प्रतिजानीते सामान्यत इति। किमर्थं निश्चय एव स्थिरीकरणम् उतान्यत् किञ्चित् ? नाद्यः तस्य निश्चितप्रामाण्येन मीमांसितेन श्रुतिवाक्येन सिद्धतयाऽनुवादनैरपेक्ष्यात्, न द्वितीयः; अनुवादात् स्थिरीकरणाश्रयस्यान्यस्य कस्यचिद्दर्शनादित्याह न श्रुतिप्रामाण्य इत्यादिना। तादृश्यापि श्रुत्या अर्थानवधारणे हेतुमाह यदीति। तत्रेति। कैव कथेति। अर्थनिश्चयहेतुनैश्चल्येपि श्रुतेरर्थनिश्चयाभावे सन्देहहेतौ जागरूके स्मृत्यादिना अर्थनिश्चयः सुतरां न सम्भवतीति भावः। ननु संवादादेव शब्दस्य प्रामाण्यनिश्चयः; ततश्चोपबृंहणसंवादात्प्राक् श्रुतेरर्थनिश्चयाभावादुपबृंहणाधीनमेवात्रार्थावधारणात्मकं स्थिरीकरणमित्यत्राह नचेति। साक्षादिति। बाह्यत्वप्रच्छादनं विनेत्यर्थः। तथाच संवादेन वेदप्रामाण्योक्तौ सौगतमतप्रवेशापत्तिरिति भावः। संवादात्प्रामाण्ये दोषान्तरमाह नचैवमिति। किं संवादिवचनान्तरप्रामाण्यनिश्चयाधीन आश्वासः किं वा संवादमात्राधीनः ? नाद्यः--अन्योन्याश्रयप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्य द्वितीये। दोषमाह असकृदनुसंहितेति। तस्येति। आश्वासस्येत्यर्थः। न च प्रमाणान्तरसंवाद एवाश्वासहेतुरिति वाच्यम्, अनिश्चितप्रामाण्यत्वाविशेषे स्वसंवादादप्याश्वाससम्भवादिति भावः। अतिप्रसंगश्चेति। बाह्यागमानामपि परस्परसंवादात्प्रामाण्यप्रसङ्ग इति भावः।

नापि द्वितीयः ; निर्विशेषपक्षे तदयोगात्। तथाहि--यन्निर्विशेषं श्रुतम्, तत् श्रुत्यैव व्यक्तम्। तदतिरिक्तप्रकाशने तु सविशेषत्वावश्यंभावादुपबृंहणोपबृंहणीयवैघट्यम्। मिथ्याभूतातिरिक्ताकारबोधनेऽपि कथं तत्त्वावेदकस्यातत्त्वावेदकमुपबृंहणं स्यात्। अथ

श्रुतौ कस्यचिदप्रतिपन्नं कस्यचित्प्रतिपन्नं ब्रह्मस्वरूपमेवात्र व्यज्यत इति मन्यसे—तदपि न, श्रुतिं प्रति अनङ्गत्वप्रसङ्गात् ॥ तदाभिमुख्यजननात् तदङ्गत्वमिति चेत्, तत्फलसिद्धौ किं तदाभिमुख्येन ? असिद्धौ वा कुतस्तत् ?

नापि तृतीयः, अनुपबृंहणत्वप्रसङ्गादेव । अन्यथा परस्परभिन्नार्थानां वेदभागानामेव परस्परोपबृंहणत्वप्रसङ्गात् ।

प्रसाद— उपबृंहणों को श्रौतार्थ का व्यक्तिकरण मात्र भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि निर्विशेषपक्ष में वह उपपन्न नहीं हो सकता, किञ्च श्रुत निर्विशेष ब्रह्म तो, श्रुति के द्वारा ही व्यक्त हैं, उपबृंहण वाक्यों द्वारा उससे भिन्न का प्रकाशन होने पर उस प्रकाशित वस्तु को सविशेष अवश्य मानना होगा, और ऐसी स्थितिमें उपबृंहण और उपबृंहणीय में विरोध होगा। तत्त्वावेदक उपबृंहण वाक्यों का उपबृंहण अतत्त्वावेदक वाक्य कैसे हो सकते हैं। यदि कहें कि ब्रह्म का स्वरूप किसी को तो श्रुति में प्रतीत हुआ है किन्तु किसी को नहीं प्रतीत हुआ है; उसी ब्रह्म के स्वरूप का प्रकाशन उपबृंहण वाक्य करते हैं, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर उपबृंहण ग्रन्थ श्रुति के अङ्ग नहीं हो सकते, क्योंकि श्रुति का उपकारक ही उपबृंहण होता है, स्वतन्त्रतया किसी के प्रति बोधक को उपबृंहण नहीं कहा जाता। श्रुति के प्रति आभिमुख्य पैदा करके भी उपबृंहण ग्रन्थ श्रुत्यङ्ग नहीं हो सकते, श्रुत्यर्थ का निर्णय हो जाने पर उनके प्रति आभिमुख्य से कोई लाभ नहीं, अथवा श्रुत्यर्थ के निर्धारण के अभाव में, उपबृंहणों द्वारा आभिमुख्य भी असम्भव है। अनुक्त वस्त्वन्तर वर्णनरूप भी उपबृंहण को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसे तो उपबृंहण कहते नहीं हैं। अन्यथा भिन्नार्थ के प्रतिपादक वेद के तत्-तत् भाग ही परस्पर में एक दूसरे के उपबृंहण सिद्ध हो जायेंगे।

किं निश्चयमात्रं व्यक्तीकरणम् उत सामान्यतः प्रतिपन्नस्य विशेषाकारनिश्चयः ? आद्ये दोषमाह यन्निर्विशेषमिति। द्वितीये तदतिरिक्ताकारः किं सत्यः उत मिथ्या ? आद्ये आह तदतिरिक्तेति। द्वितीये मिथ्याभूतेति। अत्रेति। उपबृंहण इत्यर्थः। श्रुतिप्रतीति न श्रुत्या प्रतिपन्नेऽर्थे विशेषबाधनेन श्रुतौ संशयितार्थव्यक्तीकरणादिना वा श्रुत्युपकारकत्व एव उपबृंहणत्वं स्यात्, न तु स्वातन्त्र्येण कञ्चित्प्रति बोधकत्वमात्रेणेति भावः। तदाभिमुख्यजननादिति स्वमूलभूतश्रुतौ प्रवर्तनेनेत्यर्थः। तत्फलेति फलमर्थावधारणम्। असिद्धाविति तत् आभिमुख्यम्। उपबृंहणावधारितस्यार्थस्य उपादेयत्वबुद्ध्या हि तत्प्रतिपादकश्रुतौ तन्मूलभूतायां प्रवृत्तिः स्यादिति भावः। अनुक्तवस्त्वन्तरमात्रवर्णनमिति तृतीयः पक्षः, तं दूषयति नापि तृतीय इति।

नापि चतुर्थः, अत्यन्तभिन्नार्थत्वस्य, अभिन्नार्थत्वेऽप्यन्यूनानतिरिक्तविषयत्वस्य अतिरिक्तविषयत्वेऽपि सत्यमिथ्यार्थत्वयोर्दूषितत्वात् न्यूनबोधनमवशिष्यते। न च तदाऽप्युपबृंहणता, उक्तांशस्य तुल्यतया नैरपेक्ष्यात्। अनुक्तांशेऽनुक्ततेरेवोपबृंहणत्वगन्धाभावादिति। किञ्च, यच्चाधिकं श्रुतौ बोध्यते, तत्सत्यत्वे सविशेषता। तन्मिथ्यात्वे श्रुतिरत-

स्वावेदिका, पुंवाक्यं तु न तथेत्यापन्नम् । न च मा भूदुपबृंहणमिति वाच्यम्, शारीरकाधिकरणेषु तत्रतत्र स्मृतिसंवादोदाहरणादिविरोधात् । अन्यथा वेदा (चेद) नुग्राहकतर्कस्यापि प्रहाणप्रसंगात् । तत्प्रहाणे पुनः; 'आर्षं धर्मोपदेशम्' इत्यादिमहर्षिवचनविरोधः, न चैवमस्मन्मते प्रसङ्गः, श्रुतिप्रतिपन्नस्यैव ब्रह्मणोऽनन्तगुणविभूतेरप्रतिपन्नानेकगुणविभूतिवैशिष्ट्यबोधनेन व्यक्तीकरणोपपत्तेः । न चाप्रतिपन्नस्यांशस्यावेदार्थत्वम् विप्रकीर्णानन्तशाखे महति वेदवृक्षे यत्र क्वचित् कोटरे तस्यापि निलीनत्वात् । तस्य चाल्पभागश्चावि भिरयोगिभिरधिगन्तुमशक्यत्वात्, तत्कृते च योगिभिरुपबृंहणप्रणयनोपपत्तेः । कति कति च [न] दृश्यन्ते अधीयमानास्यापि शाखाष्वप्रतिपन्नाः संशयिताश्च उपबृंहणाधीनाध्यवसायाः सारार्थाः । अन्यथा कथं वेदार्थे वादिनां मतभेदसमुत्थानम् ? न चोपबृंहणानां मिथो विरोधान्निर्णयासिद्धिः, उपबृंहणीयविरोधाभ्यां विशेषात् । अत एव हि शारीरक स्मृत्यधिकरणे कपिलादिस्मृतेर्निरासः । उपबृंहणीयाविरुद्धमन्वादिस्मृतिसन्निधौ तद्विरुद्धकपिलादिस्मृतेरप्रमाणत्वान्न तैरुपबृंहणम्; नाप्युपबृंहणीयबाध इति हि तत्रार्थः । तेन ताम सराजससङ्कीर्णपुराणादिभि र्वेदोपबृंहणं पुराणविभागविवेकपरिज्ञानशून्यानामविवेकितानिबन्धनमिति तन्नाद्रियामहे । उक्तं हि मात्स्ये, "अग्नेः शिवस्य माहात्म्यम्" इत्यारभ्य, "सात्त्विकेष्वथ कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः । तेष्वेव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम् ॥" इत्यन्तम् । तदेतत् सर्वमर्थतो निदर्शितं भाष्ये–'उपबृंहणं नाम विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतवेदतत्त्वार्थानां वाक्यैः स्वावगतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणम् सकलशाखानुगतस्य वाक्यार्थस्याल्पभागश्रवणादुरवगमत्वेन तेन विना निश्चयायोगादुपबृंहणं हि कार्यमेव' इति । एवं च सामान्यतो निर्विशेषतया उपबृंहणासम्भवेऽनुपबृंहितेन वेदेनार्थनिश्चयायोगात् वेदविप्लावक एव निर्विशेषवादः । स्मरन्ति च–'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥इति॥

॥ इति शतदूषण्याम् उपबृंहणवैयर्थ्यवादः अष्टचत्वारिंशः ॥४८॥

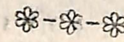


प्रसाद—उपर्युक्त प्रकार से भिन्न प्रकार का भी उपबृंहण आप नहीं स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि प्रश्न है कि वह उपबृंहण उपबृंहणीय से भिन्नार्थक है, अथवा अभिन्नार्थक है ? यदि अभिन्नार्थक है; तो उसका विषय उपबृंहणीय से अतिरिक्त है; या नहीं ? यदि उसका विषय अतिरिक्त है, तो प्रश्न है कि वह विषय सत्य है; कि मिथ्या ? यदि उपबृंहण का विषय उपबृंहणीय से अभिन्न है, तो प्रश्न है कि उपबृंहण का विषय अन्यूनानतिरिक्त (समान) विषयक है; अथवा न्यूनविषयक ? इन सभी पक्षों में से आप उपबृंहण को न्यूनविषयक ही मान सकते हैं। किन्तु वह भी उपबृंहण नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रश्न हैं, कि स्मृति आदि अपने प्रतिपाद्यभूत श्रुति के अर्थांश का उपबृंहण करते हैं या अपने अप्रतिपाद्य श्रुत्यर्थांश का ? प्रथम पक्ष को इसलिए नहीं माना जा सकता है कि स्वोक्तांश का जैसा प्रतिपादन श्रुति करेगी, वैसा ही प्रतिपादन स्मृति भी करेगी। आकार विशेष से उसका प्रतिपादन अनपेक्षित है। दूसरा पक्ष इसलिए अमान्य है कि स्मृति द्वारा प्रतिपादन किया जाने वाला अंश स्मृति आदि का विषय नहीं हैं। यह यदि कहा जाय कि श्रुति-स्मृति की अपेक्षा अधिक विषय का प्रतिपादन करती है, तो वह विषय यदि सत्य है? तो श्रौत ब्रह्म की सविशेषत्वापत्ति होगी। यदि वह मिथ्या है तो फिर श्रुति को अतत्त्वावेदक मानना होगा। किन्तु पौरुषेय वाक्य अतत्त्वावेदक अतत्त्वावेदक नहीं हैं। यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह भी नहीं कह सकते हैं कि उपबृंहण अनावश्यक है, क्योंकि शारीरक मीमांसा के विभिन्न अधिकरणों में स्मृतियों के तत्-तत् वाक्यों के संवाद को महर्षि बादरायण ने उद्धृत किया है। अतएव इस कथन का उन उदाहृत स्थलों से विरोध होगा। उपबृंहण ग्रन्थों का परित्याग करने पर ब्रह्मानुग्राहक तर्कों के भी विनाश का प्रसङ्ग होगा। अनुग्राहक तर्कों का परित्याग करने पर 'आर्षं धर्मोपदेशम्' इत्यादि महर्षि के वाक्यों का, आपकी मान्यता से विरोध होगा। ऐसा मानने पर सिद्धान्ती के मत में भी स्मृत्यनुपपत्ति का प्रसङ्ग नहीं हो सकता है, क्योंकि हम मानते हैं, कि श्रुति प्रतीत ही अनन्त गुण तथा विभूति से विशिष्ट ब्रह्म का, तथा उस ब्रह्म की अनन्तगुण विभूतियों से विशिष्टता—जो श्रुतियों में नहीं प्रतीत होती, उसका प्रतिपादन करके सफल हो जाते हैं। यह भी आप नहीं कह सकते हैं, कि वेदों में अप्रतीत अर्थ वेदार्थ नहीं हैं क्योंकि महान् वेदवृक्ष की अनन्त शाखाओं के किसी कोटर विशेष में वह अर्थ छिपा है, उसको वेद का अल्पभाग श्रवण करने वाले सामान्य लोग नहीं जान सकते है, उसी अर्थ को बतलाने के लिए महर्षियों ने उपबृंहण ग्रन्थों का प्रणयन किया। किञ्च जिन शाखाओं का हम अध्ययन करते हैं उनके भी अनेक अर्थों की प्रतिपत्ति बिना उपबृंहण ग्रन्थों के सहारा के नहीं होती, यह देखा भी जाता है। यदि ऐसी बात नहीं होती तो वेदार्थों के विषय में वैमत्य कैसे होता? यदि कहें कि उपबृंहण वाक्यों के परस्पर विरोधी होने के कारण उनके द्वारा निर्णय नहीं हो सकता है, क्योंकि उपबृंहणीय अर्थों में विरोध तथा अविरोध के कारण ही उपबृंहणों में परस्पर में विरोध तथा अविरोध होते हैं। इसीलिए शारीरक मीमांसा के स्मृत्यधिकरण में कापिलादि स्मृतियों का खण्डन किया गया है। उस अधिकरण का यही अभिप्राय है कि आप्ततम मन्वादि स्मृतियों की सन्निधि में उसके विरोधी कापिलादि स्मृतियों का प्रामाण्य नहीं है, अतएव उन स्मृतियों के द्वारा न तो वेदार्थ का विषयीकरण होता है और न तो उन स्मृतियों द्वारा उपबृंहणीय ब्रह्म का बाध ही होता है। अतएव तामस; राजस तथा संकीर्ण पुराणादि के द्वारा वेदों का उपबृंहण करना पुराण के विवेक का ज्ञान न रहने के कारण उपबृंहकों का अज्ञान मात्र है, अतएव हम उनकी मान्यता का समादार नहीं करते हैं। मत्स्य पुराण में अग्नेः शिवस्य माहात्म्यम्—इस वाक्य से प्रारम्भ कर अन्त में कहा गया है कि—सात्त्विक पुराण में श्री हरि का माहात्म्य अधिक होता है। उन्हीं पुराणों में श्रद्धा रखने वाले परम पद को प्राप्त करेगी। इन सारी बातों को श्रीभाष्य में कहा भी गया है—

जिन लोगों ने अपने योग की महिमा से वेद तथा उसके अर्थों को जानकर उनका साक्षात्कार कर लिया है; उनके वाक्यों द्वारा, अपने ज्ञान वेद वाक्य के अर्थों को समझने का नाम उपबृंहण है। सम्पूर्ण शाखाओं में प्राप्त वाक्य को वेद के अल्पभाग का श्रवण करने के कारण समझना कठिन है, अतएव उस वाक्य के अर्थ का निश्चय उपबृंहण के विना न हो सकने के कारण उपबृहण करना आवश्यक है। अतएव सामान्यतः निर्विशेष रूप से ब्रह्म का उपबृंहण न हो सकने के कारण तथा अनुपबृंहित वेद के द्वारा अर्थ का निश्चय न हो सकने के कारण; निर्विशेषवाद वेद का विनाशक ही है। महर्षियों ने कहा भी है—

इतिहास एवम् पुराणों के माध्यम से वेदार्थ का उपबृंहण करना चाहिए। अल्पश्रुत लोगोंसे वेद भी डरता है कि यह मेरा अनादर करेगा।

इस तरह शतदूषणी का उपबृंहण वैघट्यवाद नामक अड़तालिसवें वादका प्रसाद पूर्ण हुआ।



नापि चतुर्थ इति। अस्तूपबृंहणत्वं यत्किञ्चित्, तथाहमुपबृंहणत्वेनाभिमतमत्यन्तम् उपबृंहणं येन भिन्नार्थं अभिन्नार्थं वा? अभिन्नार्थत्वेपि अतिरिक्तविषयं न वा? अतिरिक्तविषयत्वेपि सत्यविषयं मिथ्याविषयं वा? अतिरिक्तविषयत्वाभावेपि अन्यूनानतिरिक्तविषयं न्यूनविषयं वा? तत्र पक्षान्तरेषूपबृंहणत्वस्य त्वया वक्तुमशक्यत्वाच्चरमः पक्षः परिशिष्टते, तत्राप्युपबृंहणत्वं न सम्भवति तथाहि-किं स्मृत्यादि स्वप्रतिपाद्यं श्रुत्यर्थांशमुपबृंहयति उत स्वाप्रतिपाद्यं श्रुत्यर्थांशम्? नाद्यः स्वोक्तांशो यथा श्रुत्या प्रतिपाद्यते तथैव स्वेनपि प्रतिपाद्यमानो दृश्यते नत्वाकार-विशेषेणेति तस्य स्वनैरपेक्ष्यात्। न द्वितीयः, तदंशस्य स्वाविषयत्वादित्यर्थः। यच्चाधिकमिति उपबृंहणस्य न्यूनविषयत्वम्। श्रुतेस्तदधिकविषयत्वादिति भावः। नच उपबृंहणविषयोंऽशोमिथ्या तद्विषयस्तु सत्य इति, ब्रह्मोपबृंहणत्वस्य तथासत्यनुपपत्तेः। उपबृंहणविषयांशेनैव श्रुतेरतत्त्वावेदकत्वप्रसङ्गाच्च।

इयता ग्रन्थेन पूर्वं परोक्ततयानूदितं निर्विशेषचिन्मात्रोपबृंहकत्वं दूषितम्। यदि कश्चिदुपबृंहणं क्वाप्यनपेक्षितमिति ब्रूयात्तमपि प्रसङ्गान्निराकरोति न च माभूदिति। अन्यथा चेदिति अन्यथोच्यते चेत्, उपबृंहणापेक्षा नास्तीति चेदित्यर्थः। श्रुत्यनुग्राहकतया प्रसिद्धयोस्तर्कोपबृंहणयोरन्यतरस्य त्यागे तर्कोपि त्याज्यः स्यात्। ननु भवतामपि स्मृतिर्न श्रुतिप्रतिपन्नार्थस्योपबृंहणम्, तदंशे भवदुक्तन्यायेन वैयर्थ्यात्, न च श्रुत्यप्रतिपन्नांशे, तद्विषयत्वे श्रुतिमूलत्वाभावेना प्रामाण्यप्रसङ्गात्, तस्माद्भवन्मतेप्युपबृंहणानुपपत्तिस्तुल्येत्याशङ्क्य परिहरति नचैवमिति। [वि] प्रकीर्णेत तथा चाधीयमानश्रुत्यर्थस्य श्रुत्यन्तरप्रतिपाद्यविशेषैस्सह प्रतिपादनमुपबृंहणमिति भावः उपबृंहणप्रणयनेति।

ननु कथमत्र समासः? "उभयप्राप्तौ कर्मणी" ति ह्यत्र षष्ठी; अन्यथा कर्मण्येवेति नियमाभावे "कर्तृकर्मणो" रिति षष्ठीप्रसंगः योगिभिरिति कर्तरि तृतीयानुपपत्तेः, तस्याश्च

षष्ठ्याः 'कर्मणिचे' ति समासानिषिद्ध इति चेत् , उच्यते; शेषषष्ठीयम् ; अतः समासोपपत्तिः। न च तृतीयानुपपत्तिः , 'उभयप्राप्तौ कर्मणी' त्यस्य नैवमर्थः , कर्तरि कर्मणि चोभयस्मिन् कारके विवक्षिते "कर्तृकर्मणो" रिति षष्ठी कर्मण्येव न कर्तरीति, येनायं दोष , स्यात् ; यदि कर्तृ-कर्मोभयविवक्षा तदानम नियमेन कर्तृकर्मणोरिति षष्ठ्या भाव्यम् , तस्याश्च समासो निषिद्धः ; यदि तु न विवक्षा तदा उभयप्राप्ताविति नियमाभावात् "कर्तृकर्मणो" रिति षष्ठीप्राप्त्या तृतीया-नुपपत्तिरिति । किन्तूभयत्र कर्तरि कर्मणि च षष्ठी यत्र प्राप्नोति, प्रसज्यते भवितुमर्हतीति यावत् तत्र कर्ता यदि विवक्षितः तत्र षष्ठी न भवति कर्मणि तु विवक्षिते षष्ठी भवतीति । इदमेव प्राप्ति ग्रहणस्य प्रयोजनम् , अतएव "अन्तर्धौ येनादर्शन" मिति निर्देशः । अत्र तु यद्यपि कर्तृकारकं विवक्षितं कर्मकारकमविवक्षितम् , तथापि कदाचिदुभयविवक्षायां सत्यामुभयत्र षष्ठी भवितुमर्ह-तीति नियमोऽयम् वर्तते तत्र तृतीयोपपद्यते । कर्मकारकन्त्वविवक्षितमिति कृत्वा न तत्रानेन षष्ठी नापि समासनिषेधः । शेषार्थन्तु विवक्षित इति तदाश्रया षष्ठी । तस्याश्च समासो भवति ।

ननु यद्युभययोग्यतामात्रादयं नियमः , नतूभयोपादानमपेक्ष्य तदा 'अथ शब्दानुशा-सन' मित्यत्र "आचार्यस्य कर्तुः प्रयोजनाभावात्तदनुपादानान्नोभयप्राप्तौ कर्मणी त्यनेन षष्ठी" ति कैयटविरोध इति चेन्न,—यत्र कर्तृकर्मणोरुभयोरपि तात्पर्यविषयत्वं तत्रैवोभयप्राप्ति , आचार्यस्य कर्तुः प्रयोजनाभावात्तदनुपादानाच्च तात्पर्यविषयत्वाभावान्नोभयप्राप्तिरित्येव कैयटतात्पर्यात् । अन्यथा " येना दर्शन " मिति प्रयोगानुपपत्तेः । "येनादर्शन" मित्यत्र आत्मन इति व्याख्या तत्वात् तत्र तात्पर्यमवगम्यते । "योगिभिरुपबृंहणप्रणयनोपपत्ते" रित्यत्र कर्तृकर्मोभयसम्बन्ध-स्यापि तात्पर्यविषयत्वादस्त्युभयप्राप्तिः । इयानेवानयोर्विशेषः 'येनादर्शन' मित्यत्र कर्मत्वरूपं तस्य कारकत्वमित्युभयञ्च न शब्दतः प्रतिपाद्यते , प्रकृते तु वस्तुतः कर्मभूतमुपबृंहणस्वरूपम् शब्दत उपादीयते, तस्य कर्मकारकत्वन्तु शब्दतो न प्रतिपाद्यते किन्तु शेषविवक्षायां सम्बन्धमात्रं प्रति-पाद्यत इति । कर्मकारकत्वस्य तात्पर्यविषयत्वं उभयत्रापि विशिष्टमिति ।

यत्तु पदमञ्जर्याम्–" यदा उभयप्राप्ताविति नियमेन कर्तरि तृतीया तदा कर्मणिचेति निषेधात्पाणिनिना सूत्रकृतिः , 'आचार्येण शब्दानुशासन' मित्यसाधु समास" इति ; तदपि यदा कर्मणि षष्ठी तदा न साधुरित्यभिप्रायम् । शेषषष्ठ्यान्तु साधुरेव । तत्रैव प्राप्तिग्रहणाच्च प्राप्तिमात्रे नियम इति कर्मणोऽप्रयोगेपि कर्तरि तृतीया भवति, यथा "अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छ" तीति । कर्मापि यदा शेषत्वेन विवक्ष्यते तदा तत्रापि शेष षष्ठी भवत्येव । तस्याश्च 'कर्मणिचे" ति निषेधाभावात् समासो भवतीति चोक्तत्वात् । तस्मान्निरवद्य एवञ्जातीयकः प्रयोगः ।

ननूपबृंहणापेक्षायां श्रुत्या निर्णयो न सिद्ध्येत् ; उपबृंहणानां परस्परविरोधात् , अन्यतरपरित्यागे नियामकाभावादित्याशङ्क्य निराकरोति नचोपबृंहणाना मिति ।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायाम् चण्डमारुताख्यायां उपबृंहणवैघट्य नाम अष्टाचत्वारिंशः स्कन्धः ।।४८।।

❀ अथ ऐक्योपदेशान्यथानुपपत्तिभङ्गवादः एकोनपंचाशः ॥४६॥ ❀

त्रिविधचिदचिदन्तर्यामितां प्राप्य तिष्ठन् निखिलनिगमनिष्ठैर्नित्यमैक्योपदेशैः ।
भ्रममलधियां यो वारयत्येकभक्त्या भवतु शरणवाणी तत्पदे शाश्वती नः ॥

प्रसाद—तीनों प्रकार के चेतनों तथा तीनों प्रकार के अचेतनों के अन्तर्यामी रूप से उनके भीतर आत्मा रूप से विद्यमान जो परमात्मा सम्पूर्ण वेदों के ऐक्योपदेश के द्वारा निर्मल बुद्धि वाले भक्तों को स्वनिष्ठत्व भ्रम तथा ब्रह्मात्मैक्यभ्रम से बचाते हैं, उनके ही चरण कमलों को एक मात्र रक्षक रूप से हमारी वाणी मानती रहे ।

त्रिविधेति । अन्यभक्त्या सहितैरैक्योपदेशादिशास्त्रैः शरीरात्मभावनिबन्धनैः शुद्धभावंगतानां स्वनिष्ठत्वभ्रमं स्वरूपैक्यभ्रम च यो वारयति, तस्य जनार्दनस्य, पदे, नः, भगवतः फलप्रदानोत्तरमिवाद्यापि चरितार्थम्मन्यतामापादयन्ती मम शरणवाणी भवत्वित्यर्थः । इह अन्तर्यामिब्राह्मणादि "शुद्धभावं गतः" "ऋणं प्रवृद्धमिवमे" इत्यादीनि विवक्षितानि । त्रिविधेत्यादिना अन्यथोपपत्तिरुक्ता । भ्रमं वारयतीत्यनेनान्यथैवोपपत्तिरुक्ता, तेन वादार्थसंग्रहः ।

यदाहुः-'तत्त्वमसि'; 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्याद्यैक्योपदेशान्यथानुपपत्त्या परिशुद्धे ब्रह्मण्येवाज्ञानं भेदभ्रमश्चावश्यं कल्पनीयम् । न चात्रैक्यं न प्रतीयते; न चाविवक्षितम्; सामानाधिकरण्यस्य तन्निष्ठत्वात्; विशिष्टैक्यवादिनाऽप्यैक्यमात्रस्याऽऽस्थितत्वाच्च । न चेदमारोपवृत्त्या सामानाधिकरण्यम्; तत्त्वोपदेशप्रकरणविरोधात् । न च सम्बन्धादिद्वारोपचारः; बाधकाभावात् । यद्यप्यस्मन्मतेऽपि लक्षणा, तथाऽपि प्रधानभूतसामानाधिकरण्यप्रतिपाद्यस्य मुख्यस्यैक्यस्यापरित्यागात् तत्संरक्षणाय च स्वरूपोपलक्षणभूतनिमित्तमात्रप्रहाणादिकं न दोषाय भवति । न च भेदाभेदसमुच्चयः, व्याघातात् । अत एव नोभयत्यागः । तात्पर्यविरोधस्योक्तत्वाच्च । अन्यथा शून्यतैव पर्यवस्येत् । न चेयं दृष्टिविधिः, उपासनैकवाक्यत्वाभावात्, तत्सद्भावेऽपि तल्लिङ्गाभावाच्च । अतो जीवपरयोरैक्ये तद्भेदे च प्रतीयमाने द्विचन्द्रदर्शनमूलभूतदोषवत् आत्मभेददर्शनहेतुरविद्याऽभ्युपगन्तव्या । तन्मूलभेदभ्रमोन्मूलनेन सप्रयोजन एवैक्योपदेशः यथैकश्चन्द्र इतीति ॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने जो कहा कि 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादि श्रौत तथा स्मार्त वाक्य ब्रह्म एवम् आत्मा के अभेद का उपदेश करते हैं । इन अभेदोपदेशों की उपपत्ति परिशुद्ध ब्रह्म में ही अभेद भ्रम को स्वीकारे बिना नहीं हो सकती है । ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि

इन वाक्यों में आत्मा और ब्रह्म की एकता की प्रतीति नहीं होती है। और न तो विवक्षित है, क्योंकि सामानाधिकरण्य वाक्य सामानाधिकरण्येन प्रोक्त वस्तुओं के अभेद का ही प्रतिपादन करते है विशिष्टाद्वैतवादी भी सामानाधिकरण्य वाक्यों को एकार्थ का प्रतिपादक मानते हैं। इन वाक्योंके शब्द की आरोपित वृत्ति के द्वारा सामानाधिकरन्य नहीं स्वीकारा जा सकता है; क्योंकि छन्दोग्योपनिषद् का आत्मविद्याप्रकरण तत्त्वोपदेश का प्रकरण है। आरोपवृत्ति के द्वारा सामानाधिकरण्य मानने पर इस प्रकरण का विरोध होगा। इन वाक्यों में शक्यसम्बन्ध तथा समान गुणकत्व के कारण भी ऐक्योपदेश का उपचार नहीं माना जा सकता है ; क्योंकि मुख्यार्थ की अनुपपत्ति का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। अतएव यहाँ लाक्षणिक प्रयोग भी नहीं माना जा सकता हैं। यद्यपि अद्वैत मत में भी यहाँ लक्षणा स्वीकारी जाती है, फिर भी सामानाधिकरण्य का प्रधान प्रतिपाद्य सामानाधिकरण्येन प्रोक्त वस्तुओं के ऐक्य का परित्याग हम नहीं करते, उस ऐक्य के संरक्षण के लिए, स्वरूप के उपलक्षण भूत निमित्त मात्र के परित्याग में कोई हानि नहीं है। ब्रह्म और जीव में भेदाभेद भी नहीं स्वीकारा जा सकता है, क्योंकि भेद और अभेद दोनों परस्पर में विरोधी हैं। दोनों एक साथ नहीं हो सकते। यदि कहें कि भेद प्रतीति का विषय अभेदाभाव होता है और ऐक्योपदेशका विषय भेदाभाव है इसतरह भेद एवं अभेद दोनों का त्याग कर देना चाहिए, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों में से किसी एक का त्याग दूसरे के विधान के विना हो नहीं सकता है। किञ्च ऐसा करने पर सामानाधिकरण्य वाक्य के तात्पर्य का भी विरोध होगा। यदि भेद और अभेद दोनों का त्याग भी किया गया, तो फिर शून्यवाद की प्रसक्ति होगी। इन सामानाधिकरण्य वाक्यों में अभेद की दृष्टि का भी विधान नहीं माना जा सकता है; क्योंकि ये वाक्य उपासना के प्रकरण में नहीं पढ़े गये हैं। इन वाक्यो को उपासना परक मानने पर भी भेदाभेद के स्वीकार में कोई प्रमाण नहीं है। अतएव जीव तथा ब्रह्म में इन वाक्यों द्वारा अभेद तथा भेद की प्रतीति होनेका कारण उसी तरह अज्ञान है जिस तरह मूलतः एक चन्द्र के रहने पर भी जो द्विचन्द्रदर्शन हुआ करता है, उसका कारण तिमिरादि दोष हुआ करता है। इस सामानाधिकरण्य वाक्योपदेश का प्रयोजन भेद दर्शनोन्मूलन है, जिस तरह एकचन्द्रोपदेश द्विचन्द्रदर्शन के उन्मूलनार्थ किया जाता है।

यदाहुरिति। ऐक्योपदेशो हि तत्त्वज्ञानाद्द्वारा मोक्षार्थः। नचैतदैक्यस्यापारमार्थ्ये उपपद्यते; अतः श्रुतिसिद्धस्य जीवब्रह्मैक्यस्य परमार्थ्यात् तदनुपपत्त्या भेदज्ञानस्य भ्रमत्वं परिशुद्धेपि ब्रह्मणि भ्रमोपपादकमज्ञान तन्निवृत्तया उपदेशस्य सप्रयोजनत्वञ्च कल्पनीयमित्यर्थः। भेदभ्रमनिवृत्तिरूपमोक्षोपदेशस्य सप्रयोजनत्वं चेत्यपि विवक्षितम्। "अतो जीवपरयो" रित्यादिना तस्याप्युपसंहरिष्यमाणत्वात्। "नपुंसकमनपुंसकेने" त्येकशेषात् कल्पनीय मिति निर्देशः। भेद प्रतीतिवलात् ऐक्योपदेशोऽन्यपर इत्यत्राह नचात्रैक्य मिति। सम्भाव्यमानान्यथासिद्धेः प्रत्यक्षादसम्भाव्यमानदोषगन्धा श्रुतिर्बलीयसीत्यभिप्रायेणाह सामानाधिकरण्यस्येति। ऐक्याविवक्षायामपसिद्धान्तमाह विशिष्टैक्येति। आस्थितत्वादिति। श्रुतितात्पर्यविषयत्वाङ्गीकारादित्यर्थः। "समुद्रः कुण्डिकाविद्धो" "वर्द्धीतक" मित्यादाविवस्तुत्यर्थमारोपोस्त्विति सामानाधिकरण्यस्यान्यथासिद्धिमाशङ्क्य विधिशेषत्वाभावान्नैवमित्याह नचेदमिति। नच सम्बन्धेति। आदिशब्देन मुख्यार्थानुपपत्तिर्विवक्षिता। द्वारशब्दः प्रयोजकपरः। क्वचित्सम्बन्धसादृश्यद्वारेत्येव पाठः। बाधकाभावादिति। मुख्यार्थेनुपपत्त्यभावादित्यर्थः। ननु बाधकाभावात्तत्रापि लक्षणा न स्यात्,

यदि च विशिष्टाभेदबोधानुपपत्तिर्बाधिका ; तर्ह्यस्माकमपि जीवब्रह्मसामानाधिकरण्यानुपपत्त्यैव लक्षणास्त्वित्यत्राह यद्यपीति । तथापीति । वाक्यं हि पदात्प्रधानम् , अतस्तदर्थ एवानुरोध्यः , समानाधिकरणवाक्यस्य च मुख्यविशेष्यैक्यं मुख्यतस्तात्पर्यविषयः-तदभावे त्वमुख्यार्थैक्यमिति सर्वसंमतम् , अतस्तत्त्वमस्यादिवाक्येत्वदभिमतोपचाराङ्गीकारे मुख्यार्थैक्यापरित्यागो दोषः, अस्मन्मते तु मुख्यैक्यापरित्यागान्न लक्षणा दोषः । किञ्च निमित्तप्रहाणेन स्वरूपलक्षणा मुख्यैक्यसिद्ध्यर्थमेवाङ्गीक्रियते, त्वत्र तु न तदर्थम् , अतोपि स्वरूपलक्षणा न दोषः; प्रत्युत मुख्यैक्यार्थत्वात् अनुकूलैवेत्यर्थः । भेदाभेदाङ्गीकारात् न भेदज्ञानस्य भ्रमत्वं कल्प्यमिति कस्यचिच्चोद्यम् निरस्यति न च भेदेति । भेदप्रतीतेरभेदाभावो विषयः, ऐक्योपदेशस्य च भेदाभावो विषयः , अतो भेदाभेदोभयत्यागे न दोष इत्यत्राह अतएवेति । अन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकत्वेन व्याघातादित्यर्थः । एवं भेदाभेदयोः परस्पराभावात्मकत्वपक्षे दोष उक्तः । यदि भेदाभेदयोः भावाभावात्मकत्वाभावः; तदा दूषणमाह तात्पर्येति । भेदाभावापेक्षया लाघवादैक्य एव तात्पर्यमिति भावः । उक्तत्वादिति । "तथापि प्रधानभूते" त्यादिवाक्य इत्यर्थः । उभयत्यागे दोषान्तरमाह अन्यथेति । तत्सद्भाव इति । क्वचिदुपासनैकवाक्यत्वेपि ऐहिकामुष्मिकफलादिरूपलिङ्गाभावादित्यर्थः । तद्भेद इत्यतः पूर्वं सिद्धे इति शेषः । जीवपरयोरैक्ये तत्स्वत इति क्वचित्पाठः । सप्रयोजन एवैक्योपदेश इति । एवकारो भिन्नक्रमः । भेदभ्रमोन्मूलनेनैव सप्रयोजन इत्यन्वयः । क्वचित्सप्रयोजनतयैक्योपदेश इति पाठः । तदानीमभ्युपगन्तव्य इत्यनुषङ्गः ॥

अत्र ब्रूमः—यदि ऐक्योपदेशोऽन्यथानुपपन्नः स्यात , तदैव परिशुद्धे ब्रह्मण्यज्ञानभेदभ्रमादयः कल्प्येरन् । स त्वन्यथाऽप्युपपन्नः ; अन्यथैवोपपन्नश्च । तथाहि—शरीरात्मभावनिबन्धनं सामानाधिकरण्यं व्युत्पादितमन्यत्र । न चात्र द्वयोः स्वरूपैक्यं विवक्षितुं शक्यम् । विरुद्धयोस्तदसम्भवात् । अन्यथा यूपादित्यैक्यवाक्येऽपि भेदभ्रमहेतुदोषकल्पनप्रसङ्गात् । विरोधादेश्च समानत्वात् । न च लाक्षणिकसामानाधिकरण्येऽप्यैक्यम् परित्यक्तम् ; ययाकयाचिद्वृत्त्या एकस्मिन्नेव वृत्तेरङ्गीकृतत्वात् । अतः सामानाधिकरण्यस्य सम्भवति गत्यन्तरे परिशुद्धब्रह्मणि तन्मूलविरुद्धाज्ञानादिपरिकल्पनं निर्मूलम् । अज्ञानमूलभेदभ्रमवादे च उपदेश एव नोपपद्यत इति स्थितमन्यत्र (३४ वा) । न चानुपपन्नत्वस्योपपादकतया स्वयमनुपपन्नान्तरं कल्प्यम् । न चाविद्यादेः स्वरूपमुपपत्तिमदिति दर्शितम् (४१ वा) । यदि च दूरं गत्वा दुर्घटत्वमेव भूषणमिति वल्गसि, तर्हि कूपोपदेशमेवादौ दुर्घटमभिमन्येथाः ॥ अप्रामाण्यं तर्हि तस्य स्यादिति चेत् [न ; ?] अस्मन्मतप्रतिपादितप्रकारेण प्रामाण्यस्य सिद्धत्वात । यदि वा मा भूत प्रामाण्यम् । यत् अज्ञानादिपरिकल्पनेऽप्यन्ततः फलति, तच्चेदादौ तदप्रामाण्यं सिध्यति, किं दूरं धावसि

प्रसाद—उपर्युक्त पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि-अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि परिशुद्ध ब्रह्म में अज्ञान जन्य भेदभ्रम को स्वीकारे बिना 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादि सामानाधिकरण्य वाक्योंपदिष्ट ब्रह्मात्मैक्योपदेश उपपन्न नहीं हो सकता है, तो वह उचित नहीं है, क्योंकि ऐक्योपदेश ब्रह्म में अज्ञानादिजन्य भ्रमादि को स्वीकारे बिना भी उपपन्न है। वस्तुतः ब्रह्म में भ्रम के बिना हीं वह ऐक्योपदेश सिद्ध होता है। हमने पीछे यह प्रतिपादित किया है, कि तत्त्वमस्यादि' वाक्यों में ऐक्योपदेश जीव और ब्रह्म में शरीरात्मभाव निबन्धन कृत है। इन वाक्यों में दोनों के स्वरूप की एकता नहीं विवक्षित है। परस्पर विरुद्ध जीवात्मा और ब्रह्म में स्वरूप की एकता असम्भव है। यदि ऐसी बात नहीं हो तो फिर 'आदित्योयूपः' इत्यादि वाक्यों में भी प्रतीयमान यूप और आदित्य में भेद का भी कारण भ्रम को मानना होगा। जिस तरह 'आदित्यो यूपः' में भेद भ्रम की कल्पना का प्रत्यक्षादि से विरोध हैं, उसी तरह प्रतीयमान जीव और ब्रह्म के भेद भ्रम की भी कल्पना में प्रत्यक्षादि का विरोध है। लाक्षणिक सामानाधिकरण्य स्थल (आदियोयूपः') इत्यादि में भी अर्थैक्य का परित्याग नहीं किया जाता, उन स्थलों में भी शब्द की किसी न किसी वृत्ति से भिन्न प्रवृत्ति निमित्तक शब्दों की एकार्थ में वृत्ति अवश्य स्वीकारी जाती है। अतएव सामानाधिकरण्य वाक्य के अनुकूल निर्वाहान्तर के रहते परिशुद्ध ब्रह्म में सामानाधिकरण्यमूलक अज्ञानादि की कल्पना करना निमूंल है। किञ्च मैंने अन्यत्र प्रतिपादित किया है, कि अज्ञान मूलक ब्रह्म में भेद का भ्रम होता है, यह मानने वाले अद्वैती विद्वानों के मत में उपदेश ही अनुपपन्न हैं। अनुपपन्न उपदेश के उपपादक रूप से स्वभावतः अनुपपन्न (असिद्ध) ब्रह्म में अविद्या आदि की कल्पना करना उचित नहीं है। अद्वैताभिमत अविद्या के स्वरूप की उपपत्ति नहीं हो सकती, इस बात की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। यदि आप बहुत दूर जाकर कहें कि दुर्घटत्व अविद्या का भूषण ही हैं; दूषण नहीं, तो मैं कहता हूं कि आप ऐक्योपदेश को दुर्घट मानकर उसे अपने सिद्धान्त का भूषण मान लें। यदि कहें कि भेद मिथ्यात्व की कल्पना किए बिना ऐक्योपदेश अप्रामाणिक हो जायेगा, तो मैं कहता हूं कि जिस तरह मैं कह रहा हूँ उस तरह से ऐक्योपदेश की प्रामाणिकता सिद्ध हो ही जायेगी, किञ्च ऐक्योपदेश अप्रामाणिक हीं रहे तो भी आप को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अज्ञानादि की परिकल्पना के बाद में भी जो उपदेश अन्ततः अप्रामाणिक ही सिद्ध होता है, उसको पहले ही अप्रामाणिक मान लेने में कौन सी आपत्ति हैं? अतएव इस दूरानुधावन से क्या लाभ है?

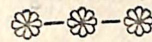
यदीति। आदिशब्देन भ्रमोन्मूलनं विवक्षितम्, अन्यथापीत्यभ्युपगम्यवादः। तावतात्पर्यार्थापत्तिनिरासात्। तत्त्वार्थमाह अन्यथैवोपपन्न इति। वस्तुतस्त्विति शेषः। तथाहीति। शरीरात्मभावनिबन्धनं सामानाधिकरण्यमित्यन्यत्रोपपादितत्वात् तथा निर्वाहे सम्भवति अत्यन्तविरुद्धार्थयोरैक्यं न विवक्षितुं योग्यमिति ऐक्योपदेशः शरीरात्मभावेनोपपाद्यः, न तु परिशुद्धे ब्रह्मणि भ्रमादिकल्पनेन। अन्यथेति। अविरुद्धगतिसद्भावेपि विरुद्ध कल्पने। एवं शरीरात्मभावेनान्यथासिद्धिरुक्ता, इदानीम् पूर्वपक्षिणा दूषितमुपचारपक्षमुद्धरति न च लाक्षणिकेति। भागत्यागलक्षणया गौण्या वा वृत्त्या एकस्मिन्नेव वृत्त्यङ्गीकारात् समानाधिकरणवाक्यप्रधानार्थस्यैक्यस्यापरित्यागादुपचारो न दोषायेत्यर्थः। ननु भागत्यागलक्षणायां स्वारसिकं मुख्यविशेष्यैक्यपरत्वम् न सिद्ध्यतीत्युक्तमित्यत आह अत इति। अविरुद्धगत्यन्तरे सति विरुद्धं मुख्यविशेष्यैक्यमपि त्याज्यमेव अन्यथा निमित्तमपि न त्यज्येत यूपादित्यवाक्येपि भ्रमहेतु दोषश्च कल्प्येतेत्यर्थः। तन्मू-

लेति । सामानाधिकरण्यमूलमज्ञानादिपरिकल्पनमित्यर्थः । न केवलमविरुद्धगत्यन्तरसद्भावात् भेदभ्रमकल्पनस्योपपादकत्वाभावमात्रम् , प्रत्युत प्रतिकूलत्वञ्चेत्याह अज्ञानमूलेति । अविद्यास्व रूपस्यैवानुपपन्नत्वात् तेनैक्योपदेशोपपादनमितिदूषणान्तरमाह नचानुपपन्नस्येति । स्वयं स्वेनरूपेणेत्यर्थः । स्वयमनुपपन्नेत्यत्र "स्वयं क्तेने" ति तृतीयासमासः । दर्शितमिति । स्वरूपानुपपत्ति निवृत्त्यनुपपत्तिबाह्यप्रकाशानुपपत्तिष्वित्यर्थः । ऐक्योपदेशमिति । अविद्यायामिव उपपादकाभावेन दुर्घटत्वं उपदेशस्य भूषणमेवास्त्वित्यर्थः । ननु भेदस्य मिथ्यात्यादेरकल्पने ऐक्योपदेशाप्रामाण्यम् स्यादिति शङ्कते अप्रामाण्यमिति । अस्मन्मतेति । यदि प्रामाण्यार्थमुपपादकापेक्षा , तर्ह्यस्म दभिमतेन सुघटेन शरीरात्मभावेनैवोपपाद्यताम् , किं दुर्घटाविद्यादिनेत्यर्थः । यदि वेति । यद्वे त्यर्थः । यदिति । भेदप्रतीतिमिथ्यात्वादिकल्पने उपदेशप्रामाण्यरूपभेदस्यापि मिथ्यात्वेन प्रामा ण्याभावलक्षणमप्रामाण्यं फलतीत्यर्थः । तदप्रामाण्यमिति । तस्य उपदेशस्य अप्रामाण्यम् । त्वद भिलक्षितस्याप्रामाण्यस्य सिद्धौ 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजे' दिति न्यायात् दूरधावनमनुचितमित्यर्थः ।

किञ्च भेदोपदेशान्यथानुपपत्त्या परमार्थभिन्नेऽप्यात्मन्यैक्यभ्रममूलमज्ञानं किं न कल्प्यते ? ऐक्यश्रुतीनामतत्त्वावेदकत्वप्रसङ्गभयादिति चेत् , तर्हि भेदश्रुतीनां तत्प्रसङ्गभयात् भेदभ्रममूलाज्ञानमपि न कल्पय । न चैका श्रुतिरितरस्या दासी, येन तदर्थं तामुपद्रवेम । प्रत्यक्षादिसंवादाच्च भेदश्रुतेरेव बलीयस्त्वम् । न च भेदस्वरूपं दुर्निरूपमिति तदप्रामाण्यस्वीकारः ; अभेदस्वरूपस्यापि तथाविधयुक्तिभिर्दुर्निरूपतया तत्प्रतिपादकानां तत्स्वीकारप्रसङ्गात् । किञ्च त्वदुक्तयैवानुपपत्त्या नास्त्येव भेदप्रतीतिरिति किं न कल्प्यते ? प्रत्यक्षादिविरोधादिति चेत्–तर्हि निरवद्यभेदश्रुतिविरोधे दृष्टिं पातय ॥ भ्रान्तिसिद्धे भेदेऽप्यैक्योपदेशो द्विचन्द्रादिष्विव घटत इति चेत्–अज्ञानादिरहितेऽपि ब्रह्मणि भ्रान्तिसिद्धैक्येन तदुपदेशोऽपि संभवत्येव ॥ भिन्ने ब्रह्मण्यभिन्नत्वभ्रमः किमर्थमुत्पाद्यत इति चेत् , अभिन्ने ब्रह्मणि भिन्नत्वभ्रमः किमर्थमुत्पाद्यते ? अथो (तथो ?) पासनेन फलविशेषार्थमिति चेत्–तुल्यम् ॥ उपासनविध्येकवाक्यत्वं दृष्टिलिङ्गं वाऽत्र न दृश्यत इति चेत् , तुल्यम् / दूरानुकर्षात् तत्र दृश्यत इति चेत्—किमत्रापि ? अपिच ब्रह्मणः शुद्धत्वान्यथानुपपत्त्यैव तस्य जीवैक्योपदेशो नास्त्येवेति वा , तदन्यपर इति वा , तत्परोऽपि भ्रान्तिमूल इति वा कल्पयितुं युक्तम् । न चाशुद्धिमिथ्यात्वेनाविरोधः, उपदेश मिथ्यात्वेन तदुपपादकाभावेऽप्यविरोधप्रसङ्गात् । यश्चासौ , 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति तत्त्व

परिज्ञानसापेक्षस्तदुपदेशः , तेनैव च तदज्ञानं कल्प्यत इति चित्रम् । तदेतत् श्रीमद्-गीताभाष्येऽपि स्पष्टमाह । तथा भाष्येऽप्यदर्शयत् , " नाप्यैक्योपदेशान्यथानुपपत्त्या " इत्यादिना ॥

॥ इति शतदूषण्याम् ऐक्योपदेशान्यथानुपपत्तिभङ्गवादः एकोनपञ्चाशः ॥४९॥



प्रसाद—किञ्च प्रश्न है कि आप भेदोपदेश की अन्यथानुपपत्ति के कारण यह क्यों नहीं मानते है कि वस्तुत: आत्मा और ब्रह्म में भेद ही परमार्थ है । उसकी ऐक्यप्रतीति अज्ञान जन्य भ्रम मूलक है । यदि कहें कि ऐसा मानने पर ऐक्योपदेश करने वाली श्रुतियों के अतत्त्वावेदकत्व का प्रसङ्ग होगा , तो इसका उत्तर है कि तो फिर आपको भेद श्रुतियों के अतत्त्वावेदकत्व के भय से भेद को भी अज्ञान जन्य भेद भ्रम मूलक नहीं मानना चाहिए । अभेद श्रुति भेद श्रुति की दासी तो है नहीं कि उसे आप इतना सता रहे हैं । किञ्च भेद का प्रत्यक्षादि प्रमाण से संवाद (एकवाक्यता) होने के कारण भेद श्रुति ही बलीयसी सिद्ध होती है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि भेद के स्वरूप का निरूपण नहीं किया जा सकता हैं, अतएव भेद श्रुतियाँ अप्रामाणिक हैं, क्योंकि अभेद के भी स्वरूप का अद्वैत प्रोक्त युक्तियों से निरूपण नहीं किया जा सकता है , अतएव अभेद प्रतिपादक श्रुतियों का भी प्रामाण्य नहीं स्वीकारने का प्रसङ्ग होगा । किञ्च आप के द्वारा प्रोक्त अनुपपत्ति के द्वारा आप यह कल्पना क्यों नहीं करते हैं कि भेद की प्रतीति ही नहीं होती है, यदि कहें कि इस कल्पना का प्रत्यक्षादि से विरोध होगा तो मैं कहता हूँ, कि तो फिर निर्दोष भेद प्रतिपादक श्रुतियों का भी उनके अप्रामाण्य कल्पना से विरोध होगा । यदि कहें कि भेद के भ्रान्ति सिद्ध रहने पर भी ऐक्योपदेश उसी तरह उपपन्न होता है ; जैसे भ्रान्ति सिद्ध द्विचन्द्र प्रतीति होने पर भी चन्द्रैकत्वोपदेश उपपन्न होता है, तो इसका उत्तर है कि अज्ञानादि से रहित भी ब्रह्म में उसके भ्रान्तिसिद्ध ऐक्य के कारण ब्रह्मात्मैक्योपदेश उपपन्न ही हो जाता है । यदि कहें कि ब्रह्म के जीव से भिन्न रहने पर श्रुति उसके अभिन्नत्व का भ्रम क्यों पैदा करती है ? तो मैं पूछता हूँ कि ब्रह्म के जीव से अभिन्न होने पर भी भेद श्रुतियाँ उसकी भिन्नता का भ्रम क्यों पैदा करती हैं ? यदि कहें कि उपासना द्वारा फलविशेष की प्राप्ति के लिए ऐसा श्रुति करती हैं, तो अभेद श्रुति के भी विषय में यही उत्तर दिया जा सकता है । यदि कहें कि अभेदोपदेश की उपासना का विधान करने वाले वाक्यों से एकवाक्यता तथा एकत्वदृष्टि नहीं दिखायी पड़ती, तो यही बात भेदोपदेश के भी विषय में है । यदि कहें कि दूर तक विचार करने पर भेदोपदेश की उपासना विधि वाक्यों से एकवाक्यता भी हो जाती है तथा भेददृष्टि के समर्थक प्रमाण भी मिल जाते हैं, तो दूरानुधावन करने पर अभेदोपदेश की भी उपासनाविधि से एक वाक्यता तथा एकत्व दृष्टि के समर्थक वाक्य मिल जाते हैं । किञ्च ब्रह्म की शुद्धता को ही दृष्टिपथ में रखते हुए यह आपको मान लेना चाहिए कि ब्रह्म से जीव का अभेदोपदेश श्रुतियाँ नहीं करती हैं; यदि ऐसा उपदेश उनका है तो भी उस उपदेश का अभिप्राय दूसरा है, अथवा जीव ब्रह्मोपदेश भ्रान्ति-मूलक है । ब्रह्म की अशुद्धि को मिथ्या मानने मात्र से उसका शुद्ध ब्रह्म से विरोधाभाव नहीं है , ऐसा भी कहना उचित नहीं हैं, क्योंकि ऐक्योपदेश के मिथ्या होने के कारण उस मिथ्यात्व के उत्पादक अविद्या

को नहीं स्वीकारने पर शुद्धब्रह्म से विरोध के अभाव का प्रसङ्ग होगा । अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि 'मुझे ही क्षेत्रज्ञ भी जानो' इस वाक्यके तत्त्वज्ञान के परिज्ञान की अपेक्षा रखता है ऐक्योपदेश । इसलिए ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना करनी पड़ती है, यह कहना अत्यन्त आश्चर्य जनक है, इसी बात को गीता भाष्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है तथा अन्यथाऽनुपपत्ति के कारण ऐक्योपदेश नहीं उपपन्न हो सकता। इत्यादि वाक्यों द्वारा श्रीभाष्य में भी इस बातको कहा गया है ।

इस तरह शतदूषणी के उनचासवां ऐक्योपदेशान्यथानुपपत्तिभङ्ग वाद का प्रसाद समाप्त हुआ ।



किञ्चेति । नच भेदज्ञानवदैक्यज्ञानस्य लोके अप्रसिद्धत्वात् कस्यमूलमज्ञानं कल्प्यत इति वाच्यम्, तव श्रुत्यैकज्ञान्याया अपि सार्वज्ञ्यादिभेदप्रतीतेः भ्रमत्वेनाज्ञानमूलत्ववच्छ्रुतिजन्यस्यैवैक्यज्ञानस्य भ्रमतया तन्मूलाज्ञानस्य कल्प्यत्वादिति भावः । ननु भेदश्रुतिनिषेध्यार्थकतयाऽभेदश्रुतितो दुर्बलेत्यत्राह न चैकेति । श्रुत्यैकगम्यस्य सार्वज्ञ्यादिभेदस्य च निषेधार्थमनुवादासम्भवात् प्रत्यक्षादिसिद्धभेदस्य च निषेधासम्भवाच्च भेदश्रुतिनिषेधार्थानुवाद इति भावः । बलीयस्त्वमिति । तत्त्वावेदकत्वाध्यवसाय इत्यर्थः । किञ्चेति । ऐक्योपदेशानुपपत्त्या भेदप्रतीतिस्वरूपमेव नास्तीत्युच्यताम्, कृतं तस्य भ्रमत्वकल्पनेनेत्यर्थः । तर्हीति । यदि प्रत्यक्षादिविरोधाञ्च भेदप्रतीत्यपह्नवः शक्यः, तर्हि निर्दोषभेदश्रुतिविरोधात् तद्भ्रमत्वकल्पनमप्ययुक्तमित्यर्थः । भेदप्रतीतेः प्रामाण्यत्यागमात्रादैक्योपदेशसम्भवान्न धर्मिस्वरूपनिह्नव इति शङ्कते भ्रान्तिसिद्धि इति । अज्ञानादिति । ऐक्योपदेशस्य भेदज्ञानप्रामाण्यत्यागेनैव स्वप्रामाण्यत्यागेनापि सम्भवान्नाज्ञानादि कल्पना, गौरवादित्यर्थः । प्रदेशान्तरे उपासनविधेः सत्त्वात्तदेकवाक्यतया दृष्टिविधिरुपपद्यत इति शङ्कते दूरेति । अत्रापि तथा किं न स्यादित्याह न किमिति । अविरोध इति । शुद्धत्वस्येति शेषः । उपदेशेति । ऐक्योपदेशेत्यर्थः । उपपादकत्वेन कल्पिताविद्यादिषु दौर्घट्योक्तेरपि आदौ दौर्घट्यपरिहारस्य सुवचत्वादिति भावः । श्रौतैक्योपदेशान्यथानुपपत्तिं दूषयित्वा स्मार्तोपदेशानुपपत्तिं दूषयति यश्चासाविति ।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायाम् चण्डमारुताख्यायां ऐक्योपदेशान्यथानुपपत्तिभङ्गो नाम एकोनपञ्चाशः स्कन्धः ॥४९॥



॥ अथ परमते शास्त्राधिकारिभङ्गवादः पञ्चमः ॥

हताशेषक्लेशा निरवधिमहानन्दधमिनो वयं भूयास्मेति स्थिरमनघवर्त्मन्यधिकृताः ।
अनाघ्रातद्वन्द्वा हयमुखपदद्वन्द्वरुचयः स्वदन्तां मे सन्तः श्रुतिजलधिमुद्दिन्धयधियः ॥

प्रसाद—निश्चित एवं निर्दोष मार्ग पर सदा चलने वाले सभी प्रकार के संशयों से रहित तथा हयग्रीव भगवान् के चरण कमलों की सेवा में रुचि रखने वाले, श्रुति सागर के विषय में परिमित ज्ञान वाले हम लोग, सभी प्रकार के (तापत्रय आदि) दुखों से रहित हो जायँ ; सीमातीत आनन्द को हम प्राप्त कर लें ; तथा भगवत् परिचर्या रूपी भोगों की हमें प्राप्ति हो जाय ।

अत्र वयं भूयास्मेत्यधिकृता इत्यनेन एतादृशीच्छाधिकार इति लभ्यते, तेनाहमर्थविनाशपक्षे तदसम्भवः सूच्यते । तेन वादार्थसंग्रहः ।

साधनचतुष्टयं पूर्ववृत्तमिति वदद्भिर्मुमुक्षुत्वं तावत् अधिकारिविशेषणमित्यङ्गीकृतम् । सा च मुमुक्षा मोक्षो मे स्यादित्येवमाकारा । तथाविधा सा कस्याधिकारिणो विशेषणमिति कथयन्तु कलिब्रह्ममीमांसकाः , (१) किं नित्यमुक्तस्वभावस्य संविदात्मनः (२) उत तस्यैवाविद्यासाक्षितामापन्नस्य , (३) उतान्तःकरणप्रतिफलितचिदाभासस्य ; (४) तद्वृत्तिसंभेदा (समा) रोपितक्रियात्वस्य वा चैतन्यस्य , (५) अन्तःकरणस्यैव वा , (६) अथ यस्यकस्यचिदनभिलप्यस्य, (७) न वा कस्यचित् इति ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्ववृत्त मुमुक्षुत्व को बतलाया है । वह मुमुक्षा अधिकारी का विशेषण है उस मुमुक्षा का स्वरूप है कि 'मैं मुक्त हो जाऊँ ।' यहाँ पर अद्वैती विद्वानों से प्रष्टव्य हैं कि वह मुमुक्षा किस अधिकारी का विशेषण है ? (१) क्या वह नित्यमुक्त स्वभाव वाले संविदात्मा का विशेषण है ? (२) अथवा वह अविद्या के साक्षीभूत चैतन्य का विशेषण है ? (३) अथवा वह अन्तःकरण में प्रतिबिंबित होने वाले चैतन्याभास का विशेषण है ? (४) अथवा जिसके क्रियात्व का आरोप अन्तःकरण की वृत्ति में हो गया है ; उस चैतन्य का विशेषण है (५) या अन्तःकरण का ही विशेषण है (६) अथवा किसी ऐसी किसी वस्तु का विशेषण है जिसको बतलाया नहीं जा सकता है (७) या किसी का भी विशेषण नहीं है ?

कथयन्त्विति । "चापलेद्वे भवत इति वक्तव्य" मिति [चापले च] द्विर्वचनम् । त्वरा-चापलम् ।

न प्रथमः , विरोधात् ; तस्य नित्यमुक्तत्वादेव मोक्षेच्छाविरहात , अन्यथा नित्यमपि तत्प्रसङ्गात ॥ मुक्तमप्यात्मानं बद्धमिवाभिमत्य मुमुक्षतीति चेन्न , तस्य तथाविधाभिमानेऽप्यनधिकारात् । तत्सद्भावे वा नित्यमुक्तत्वव्याघातात् । भ्रान्त्या वस्तु-

वृत्त्या च द्वयोरविरोध इति चेन्न ; भ्रान्तेरेव तद्विरोधितया तदनधिकारस्योच्यमानत्वात् ॥ साऽपि भ्रान्तिसिद्धेत्यविरोध इति चेन्न; दूरं गत्वाऽपि तद्भ्रान्तेर्दुस्त्यजत्वात् ।

प्रसाद—प्रथम विकल्प इसलिए नहीं माना जा सकता है कि, नित्यमुक्त स्वभाव वाले ज्ञान मात्र आत्मा तो स्वभावतः सदा मुक्त है, उसको मोक्षेच्छा क्यों होगी ? अतएव मुमुक्षा को उसका विशेषण मानने में विरोध होगा। और उसका विशेषण मानने पर उसमें नित्य मुमुक्षा का प्रसङ्ग होगा। यदि कहें कि वह अपने को मुक्त नहीं जानने के कारण मोक्ष प्राप्त करना चाहता है; तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसके इसप्रकार के अभिमान का अधिकारही नहीं है। और इस तरह का अभिमान होने पर उसे नित्य मुक्त नहीं माना जा सकता है। यदि कहें कि वस्तुतः उसको अमुक्तत्व का भ्रम होता है, अतएव कोई विरोध ब्रह्म की नित्यमुक्तता से नहीं है; तो यह नहीं कह सकते हैं; क्योंकि भ्रम ही संसारित्व है, उस भ्रम में ही उसका अनाधिकार होने से नित्यमुक्तता का उससे विरोध बतलाया गया है। यदि उस भ्रम को भी भ्रान्ति सिद्ध मानें तो उत्तर है कि दूर तक भी जाकर आप उस भ्रान्ति का त्याग नही कर सकते हैं।

अन्यथेति ; इदानीमपि तस्य नित्यानित्यविवेकाद्यसम्भवेन मुमुक्षायास्तदनपेक्षत्वात् कारणाभावादपि मुमुक्षाभावो न वक्तुं शक्यत इति भावः। तथाविधेति। अभिमानस्यैव संसारत्वादिति भावः। इममभिसन्धिमजानानो बद्धाभिमान सत्वेऽभिमानसिद्धबन्धसत्वान्मुक्तत्वव्याघात उक्त इति भ्रान्त्या शङ्कते भ्रान्त्येति। अभिसन्धिमुद्घाटच परिहरति भ्रान्तेरिति। सापीति भ्रान्तेरपि मिथ्यात्वाद्वास्तवनित्यमुक्तया न विरोध इति भावः। दूरं गत्वेति। अनवस्थाभयेन क्वचित्सत्यभूतभ्रान्तेर्दुस्त्यजत्वादिति भावः।

न द्वितीयः, भवत्पक्षे साक्षित्वानुपपत्तेः (२८. वा) अविद्यानुपपत्तेश्च (४१. वा) पृथगुपपादनात्। अस्तु वा साक्षित्वम्। तस्याप्यत्यन्तमव्यवस्थतयोदासीनस्वभावस्यानुकूलप्रतिकूलपक्षपातविरहात् संसारोद्विग–तन्मूलमोक्षेच्छा तदायत्तश्रवणमननादिप्रयत्ना सम्भवात् नतरामधिकारः। सर्वसाक्षिणश्च तस्य मुमुक्षायाम् ; युगपत्सर्वात्ममोक्षश्च प्रसजति। न चैतन्नानाजीववादिभिरिष्यते। एकजीववादिनोऽपि शुको मुक्तो वामदेवो मुक्त इत्यादि [प्रसिद्धिमूलभूत ?] प्रतिनियतमोक्षोपदेशः प्रतिनियतमोक्षेच्छाधीनः। सा चेच्छा यदि साक्षिणः ; तदा शुकादिमोक्षदशायामेव सर्वमोक्षे संसारानुवृत्त्यसम्भवः। अथ स्वप्नदृष्टस्येव साक्षितया कल्पितस्य कस्यचित् ; तर्हि मिथ्याभूतस्य मोक्षो नाम अत्यन्तभवनिवृत्यात्मा स्वरूपनिवृत्तिपर्यवसित इति साधु मोक्षः समर्थितः। अथ स्वस्मिन् विनष्टे अज्ञाने स्वसाक्षिभूतायाः संविदः साक्षित्वेऽप्यतिक्रान्ते स्वप्रकाशानन्दमात्ररूपा संविदवतिष्ठत इति तदर्थमपवर्गारम्भ इति चेत्—प्रेक्षावत्प्रवृत्तेस्तथात्वासम्भवात्। तदाहुः—, "निर-

स्ताखिलदुःखोऽहमनन्तानन्दभाक् स्वराट् । भवेयमिति मोक्षार्थी श्रवणादौ प्रवर्तते ॥ अहमर्थविनाशश्चेन्मोक्ष इत्यैध्यवस्यति । अपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः ॥ मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचित् ज्ञप्तिरवस्थिता । इति तत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति ॥" इति ।

प्रसाद—आप दूसरे विकल्प को इसलिए नहीं मान सकते हैं कि आप के मत में साक्षित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है । हम इस बात का दूसरी जगह उपपादन कर चुके हैं कि आपके मत में चैतन्य अविद्या का अनुभव कर नहीं सकता । यदि चैतन्य को अविद्या का साक्षी मान भी लें तो भी वह आप के अभिमत साक्षित्वके औदासिन्य तथा बोध जन्य होने के कारण अत्यन्त अव्यवस्थित है, क्योंकि जो उदासीन स्वभाव वाला होगा उसे अनुकूलत्व एवं प्रतिकूलत्व का ज्ञान होगा ही नहीं । उसे न तो संसार से उद्वेग होगा और न तो मुमुक्षा ही होगी । मुमुक्षा के अभाव में वह श्रवणादि में भी प्रवृत्त नहीं होगा । इस तरह उसकी ब्रह्मजिज्ञासा में अधिकार नहीं होगा । किञ्च उस सर्वसाक्षी मोक्षेच्छा उत्पन्न हो जाने पर समकाल में सभी आत्माओं के मोक्ष का प्रसङ्ग होगा । किन्तु अनेक जीव वादी अद्वैती विद्वान् समकाल में ही सभी आत्माओं का मोक्ष नहीं मानते हैं । एक जीव वादियों के भी मत मे यह दोष है कि शुक मुक्त हुए, वामदेव मुक्त हुए, इत्यादि शुक तथा वामदेव आदि की मुक्ति बतलाने वाले वाक्य तब ही उपपन्न होते है, जब कि तत्-तत जीवों की मोक्षेच्छा हो, वह इच्छा यदि साक्षी की होती है, तो फिर शुकादि की मोक्षदशा में ही सबों का मोक्ष हो जाने पर संसार की अनुवृत्ति असम्भव है । यदि वह किसी स्वप्न में देखे गये के समान मिथ्या तथा साक्षी रूप से कल्पित जीव की इच्छा है, तो फिर मिथ्याभूत जीव का संसार की अत्यन्त निवृत्ति रूप मोक्ष के स्वरूपका आत्मा की निवृत्तिमें पर्यवसान होगा, इस तरह आपने बड़ी अच्छी तरह से मोक्ष का समर्थन किया । यदि कहें कि अज्ञान के स्वयम् विनष्ट हो जाने पर स्वयम् प्रकाश तथा आनन्द स्वरूप संवित् बनी रहती है, उसीके लिए यह वेदान्त विचार का प्रारम्भ होता है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार के प्रयोजनके लिए किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इस बात को आत्म सिद्धि ग्रन्थमें कहा गया है- निरस्तेत्यादि- कोई भी मुमुक्षु इसलिए श्रवणादि में प्रवृत्त होता है कि मेरे सभी तापत्रयरूपी दुःख सदा-सदा के लिए दूर हो जायँ । मैं अनन्त आनन्द को प्राप्त कर स्वतन्त्र (स्वराट्) हो जाऊँ । यदि वह यह जान ले कि मोक्षावस्था मे मैं विनष्ट हो जाऊँगा तो वह मोक्ष की कथा के गन्ध से भी दूर भगेगा । मेरे नष्ट हो जाने पर भी मोक्ष में कोई ज्ञान (संवित्) बना रहेगा, यह जानकर भी कोई मोक्षार्थ प्रयास नहीं करेगा ।

उदासीनेति । औदासीन्यबोधाभ्यां तथात्वमिति त्वदिष्टत्वादिति भावः । सर्वेति । सर्वपुरुषसाधारणस्यविद्यानुभवरूपसाक्षिण इत्यर्थः । इष्टापत्तिं परिहरति नचैतदिति । ननु यत्स त्यम् ब्रह्मस्वरूपं कल्पितसाक्षितामापन्नं तस्य मुमुक्षां न ब्रूमः, किन्तु अन्यस्य स्वरूपतः कल्पितस्य साक्षिणः, तथा च न तन्मुक्तया सर्वमोक्ष इत्याशङ्क्य निराकरोति सा चेत्यादिना । साधिवति । आश्रयाभावान्मोक्षो न स्यादिति भावः । मोक्षेच्छाश्रयस्य कल्पितसाक्षिणो नाशेपि मोक्षाश्रयतयान्यस्येवेष्यमाणत्वान्नोक्तदोष इति शङ्कते अथेति । स्वसाक्षीति । स्वकल्पसाक्षिरूपसत्यसंविद इत्यर्थः । अहमर्थेति अहमर्थ विनाशोक्तदोष उक्तसाक्षिविनाशेपि तुल्य इत्यभिप्रायेण

एतच्छ्लोकोपादानम् । किञ्चैवं मुमुक्षाधिकारो न स्यात, समानकर्तृकेच्छाया एव मुमुक्षात्वात, न च मुमुक्षा शब्देन इच्छामात्रमत्र लक्ष्यत इति वाच्यम् : "मुमुक्षुर्वै शरणमहं" मित्यादि मुमुक्षाधिकारबोधकश्रुति स्मृत्यादिविरोधात ।

अतएव न तृतीयः, तस्यापि चिदाभासत्वादेव विनाशावश्यम्भावात । प्रतिबिम्बस्य नाशेऽपि बिम्बात्मनाऽवस्थानवत् अन्तःकरणप्रतिफलितरूपविनाशेऽपि ब्रह्मात्मना स एव तिष्ठतीति चेत्-प्रतिबिम्बस्य मिथ्याभूतस्य सत्यबिम्बात्मनाऽवस्थानासम्भवात ॥ बिम्बप्रतिबिम्बयोर्भेदनिषेधे स्वरूपमेकमेव भवतीति चेन्न, सत्यमिथ्यार्थयोर्भेदानिषेधस्यैवासम्भवात् । सम्भवे वा सर्वसत्यत्वं सर्वशून्यत्वम् अनैकान्तवादो वा प्रसज्येरन् (ज्येत ?)। अस्तु वाऽत्र भेदनिषेधः ; तदा प्रतिफलितचिदाभासस्य ब्रह्मणश्च स्वरूपैक्ये ब्रह्मण एव सर्वोपरागप्रसङ्गात् प्रतिफलनादिकल्पनिरपि निरर्थिका । प्रतिफलनादिकम् च दुरूपपादमिति स्थितमन्यत्र (३७. वा) ।

प्रसाद—अन्तःकरण प्रतिफलित चिदाभास का भी विशेषण मुमुक्षुत्व को नहीं स्वीकारा जा सकता है । क्योंकि चिदाभास होने के कारण उसका विनाश अवश्य होगा । यदि कहें कि जिस तरह प्रतिबिम्ब के विनष्ट हो जाने पर भी वह बिम्ब रूप से बना ही रहता है, उसी तरह अन्तःकरण में प्रतिफलित चैतन्य के विनष्ट हो जाने पर भी वह ब्रह्मरूप से बना ही रहता है, तो यह इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि प्रतिबिम्ब को आप मिथ्या मानते हैं, वह सत्य बिम्ब रूप से कैसे रहेगा ? यदि कहें कि जब बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों में भेद के नहीं रहने पर दोनों का स्वरूप एक ही हो जाता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सत्य बिम्ब और मिथ्या प्रतिबिम्ब में होने वाले भेदका निषेध नहीं किया जा सकता है । यदि दोनों में भेद का निषेध सम्भव है तो या तो सबको सत्य मानना होगा, या सबको मिथ्या मानना होगा या किसी को भी सत्य या मिथ्या माना जा सकता है । अथवा दोनों में भेदाभाव होने पर अन्तःकरण में प्रतिफलित चिदभास और ब्रह्म के स्वरूप की एकता होने से सभी दोष का आश्रय ब्रह्म के ही होने के कारण चैतन्य की आतःकरण में प्रतिफलनादि की कल्पना ही व्यर्थ होगी । अन्यत्र मैंने यह भी प्रतिपादन किया है कि अन्तःकरण में चैतन्य नहीं प्रतिफलत हो सकता है ।

दृष्टान्तमुखेन शङ्कते प्रतिबिम्बस्येति । दृष्टान्तासंप्रतिपत्त्यापरिहरति प्रतिबिम्बस्येति । ननु मदीयमेवेदं मुखं दर्पणे दृश्यत इत्यादि प्रत्यभिज्ञया तदभेदसिद्धेः भेदनिषेधात् प्रतिबिम्बस्यापि सत्यत्वं बिम्बाभेदश्च युज्यत इति शङ्कते बिम्बेति । दर्पणे मुखं नास्तीति बुद्ध्या बाधितस्य मुखस्य शुक्तिरजताद्यविशेषेण मिथ्यात्वात्तयोर्भेदनिषेध एव न सम्भवति, प्रत्यभिज्ञातु मिथ्यार्थानभ्युपगमपक्षे उपपद्यते ; तदभ्युपगमपक्षे तु कर्दमलग्नपादप्रतिमुद्रायां मम पादाविति प्रत्यभिज्ञावदुपपाद्या; भावोपपादीति भावः । अस्तुवान्यत्र मिथ्यार्थाभ्युपगमेप्यत्र तदनभ्युपगमः ; किन्तु बिम्बप्रतियोगिकभेदमात्रस्य मिथ्यात्वं ततश्च प्रतिबिम्बस्य बिम्बात्मनावस्थानमित्यर्थः । तदेति ।

ब्रह्मणो बन्धाश्रयत्वे अवद्यप्रसङ्गपरिहारार्थम् हि जीवस्य तदाश्रयस्य प्रतिबिम्बत्वकल्पनम्, प्रतिबिम्बस्य बिम्बाभेदे तदपरिहारात्तत्कल्पनं व्यर्थमित्यर्थः।

न चतुर्थः, तस्य क्रियात्वेनैव प्रकाशमानस्य मोक्षेच्छा–तदर्थप्रयत्नाद्याश्रयत्वस्य तद्भ्रमस्य वा दूरनिरस्तत्वात्। अत एव वृत्तिमदन्तःकरणभेदाग्रहणात् तस्य तदभिमान इति निरस्तम्। न पञ्चमः, अपवर्गे अन्तःकरणस्यापि स्वरूपोच्छेदाभ्युपगमात्। सुषुप्तिप्रलयादिषु स्वयमेव नश्वरतयाऽभ्युपगतस्य किं मोक्षार्थेन महता प्रयासेन? न चान्तःकरणाख्यस्य द्रव्यस्य ज्ञानेच्छादिसम्भवः। ज्ञातृत्वाध्यासश्च न संभवतीति सिद्धमन्यत्र (२७. वा) । नापि षष्ठः, तस्यापि मिथ्यात्वेन विनाशावश्यम्भावात्। सत्यत्वे ब्रह्मस्वरूपान्तर्भावबहिर्भावयोरनधिकारत्वसद्वितीयत्वादिप्रसङ्गात्। न च अनभिलपनीयं मोक्षाधिकारिस्वरूपमपरिज्ञायैव स्वयमधिकरोतीति वाच्यम्, अविदिताधिकारिस्वरूपस्य क्वचिदप्यनधिकारात्॥ विदितत्वेऽपि इक्षुक्षीररसादिवत् दुरभिलपत्वं तस्येति चेन्न, अहमर्थातिरिक्तस्य कस्यचिन्मुमुक्षोः स्वात्मसाक्षिकोपलम्भादर्शनात्। उक्तं हि, 'निरस्ताखिलदुःखोऽहम्' इत्यादिना।

प्रसाद—अन्तःकरण की वृत्ति में आरोपित क्रियात्व रूप चैतन्य का भी विशेषण मुमुक्षुत्व नहीं हो सकता है, क्यों कि वह चैतन्य क्रिया रूप होने के कारण मोक्ष की इच्छा अथवा मोक्षार्थ प्रयत्न का न तो आश्रय हो सकता हैं और न तो उसमें आश्रयत्व का भ्रम ही सम्भव है। अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उसका क्रियात्वरूप चैतन्य का) वृत्ति विशिष्ट अन्त:करण का उससे भेदज्ञान न हो सकने के कारण उसमें अन्त:करण का अभिमान होता है। नापि पञ्चमः इत्यादि—मुमुक्षा को अन्त:करण का विशेषण इसलिए नहीं माना जा सकता हैं कि मुक्तावस्था में आप लोग अन्त:करण का भी उच्छेद मानते हैं। जिस अन्त:करण का सुषुप्ति तथा प्रलय आदि में विनाश हो जाता है, उसके मोक्षार्थ श्रवणादि रूपी महान प्रयास करने से कौन सा लाभ है? किञ्च अन्त:करण का धर्म ज्ञान तथा इच्छा आदि का होना सम्भव नहीं है। मैने अन्यत्र प्रतिपादन किया है, कि अन्त:करण का धर्म ज्ञातृत्व नहीं हो सकता है। नापि षष्ठः इत्यादि—किसी अनभिलप्य पदार्थ का भी विशेषण मोक्षेच्छा नहीं हो सकती है। क्योंकि वह वस्तु भी ब्रह्म व्यतिरिक्त होने के कारण मिथ्या तथा विनश्वर होगी। यदि वह सत्य है तो प्रश्न होगा कि वह ब्रह्म स्वरूपान्तर्गत है; अथवा उससे भिन्न? यदि स्वरूपान्तर्गत है तो फिर उसमें मोक्षेच्छा रूपी विकार हो नहीं सकता। यदि बहिर्भूत है, तो फिर ब्रह्म की सद्वितीयतापत्ति होगी, किञ्च वह अनभिलपनीय वस्तु मोक्ष का अधिकारी कौन है, इसको जाने बिना ही स्वयम् ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी बन जाता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जो अधिकारी का स्वरूप नहीं जानता है, उसका किसी में भी अधिकार नहीं होता। कदि कहेंकि वह वस्तु विदित हैं फिर भी जिसतरह इक्षु तथा दुग्ध के रस आदि अनभिलपनीय होते हैं, उसी तरह से वह वस्तु अनभिलापनीय है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सबों को यह अनुभव होता है; कि मुझको ही मोक्षेच्छा है। अहमर्थ

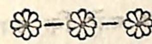
व्यतिरिक्त को मोक्षेच्छा नहीं हो सकती । मोक्ष की इच्छाकी अनुवाद करते हुए आत्मसिद्धि ग्रन्थ में कहा गया है—मैं सभी दुखों से रहित हो जाऊँ इत्यादि ।

अतएवेति । क्रियात्वेन प्रकाशमानस्य तदाश्रयान्तःकरणाद्भेदस्यैव गृहीतत्वादित्यर्थः ननु उच्छेद एव पुरुषार्थ इत्यत आह सुषुप्तीति । द्रव्यस्येति । जडत्वमभिप्रेतम् । ननु जीवस्यैव किञ्चिन्मोक्षाधि कारिस्वरूपमिति तन्न दुर्विज्ञेयत्वादनभिलपनीयम , जीवश्च तदज्ञात्वैव प्रवर्तत इत्यत्र,ह नचेति । स्वयमिति । ब्रह्मकल्पितस्याधिकारिणः स्वगताधिकारे विशेषणप्रतिसन्धानाभावात्प्रवृत्तिर्नस्यादित्यर्थः ।

नापि सप्तमः , अधिकारितद्विशेषवर्णनप्रयासनैष्फल्यात् , तन्मूलश्रवणादिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । शास्त्रारम्भभङ्गप्रसङ्गाच्च । "नास्त्येव वस्तुतः कश्चिदधिकारी , तथाऽपि सन्निव भातीति तस्य...मुमुक्षा विशेषणमिति चेत् , कस्यासौ सन्निव भातीति वक्तव्यम् । न कस्यचिदिति चेत् , तर्हि कथं सन्निव भातीति ? ब्रह्मण इति चेन्न ; तस्य परानुसन्धानादिसामर्थ्यविरहस्योक्तत्वात् । तत्सद्भावेऽपि , 'ब्रह्मैवेदं विशेषणम्' इत्यनुसन्दध्यात् । स्वयमनुसन्धानाभावे च न प्रवृत्तिः ॥ अधिकारतन्मूलप्रवृत्त्यादिविशिष्टतयैव ब्रह्मण तदनुसन्धानमिति चेत् , किमतः , न हि तावताऽपि स्वनाशरूपेऽपवर्गे ब्रह्मदृष्टस्य तस्य मुमुक्षोपपादिता भवति ॥ स्वनाशमविदित्वैव स्वावस्थानाभिमानेन तस्य मुमुक्षाऽपि जायत इत्येवंरूपोऽयं ब्रह्मणः संमोह इति चेन्न , एवंरूपस्य संमोहस्यापि शास्त्रतोऽवसाये स्वनाशवेदनसिद्धौ पुनरप्रवृत्तिप्रसङ्गात् / ननु यदि स्वनाश एवापवर्ग इति तत्त्वम् , तदा तद पेक्षायां को विरोध इति चेन्न ; माध्यमिकवदौपनिषदैः , "स्वनाशापत्तिर्मोक्षः" इत्यनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा कथमस्य पुरुषार्थत्वमुपपादयिष्यसि ? दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपत्वादिति चेन्न , 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादिश्रुतिशतकोपप्रसङ्गात् । अस्तु वा स्वनाशः पुरुषार्थः ; तथाऽपि तदर्था प्रवृत्तिरस्य न संभवति, ब्रह्माज्ञानानिवृत्तिमन्तरेण तत्कल्पितस्वरूपनिवृत्तेदुंसाधत्वात् ॥ ब्रह्माज्ञानमपि तत्प्रवृत्त्यैव निवर्तत इति चेत् , तर्ह्येकमोक्षे सर्वमोक्षप्रसङ्गात ब्रह्मदृष्टेषु जीवेषु बद्धमुक्तव्यवस्थाभंगः । तत एव च प्रतिनियतमुमुक्षाद्यसम्भवः । स्वभावतः कश्चिदेव मुमुक्षादिसंमोहः कदाचित् ब्रह्माज्ञानं निवर्तयतीति चेत्—तर्हि किमर्थमिदानीं भवद्भिः प्रत्येकमुमुक्षादिपूर्वकं शास्त्रमारभ्यते ॥ न वयं वस्तुतः शास्त्रमारभामहे, किन्तु अस्मादारम्भात्मना ब्रह्मण एवायं सम्मोह इति चेन्न , ब्रह्मण एव

शास्त्रारम्भतज्जन्यज्ञानादिपरिज्ञाने तावतैवापवर्गसिद्धौ पुनःसंसारानुवृत्त्यभावप्रसंगादिति दुर्वचस्ते शास्त्राधिकारी । ननु भवतोऽपि समानोऽयं दोषः, ईश्वरस्य कारणावस्थस्य कार्यावस्थस्यावतारावस्थस्य च नित्यमुक्तत्वादेव तस्य मुमुक्षाद्यसंभवात् , जीवस्य स्वतोऽपहतपाप्मत्वादिस्वभावत्वाभ्युपगमेन तस्यापि तदसंभवादिति चेन्न, स्वत उष्णस्य वह्नेर्मणिमन्त्रादिवशात् प्रतिबन्धवत् स्वतः शुद्धियोगिनोऽपि जीवस्य कर्मवशात्संसारे तन्निवृत्त्यपेक्षोपपत्तेः । न हि वयं तन्निवृत्तिर्नित्येति वदामः, येन नित्ययुक्तत्वादिचोद्यावकाशः । न चात्मानं ज्ञप्तिमात्ररूपम् , येनेच्छाप्रयत्नाद्यनुपपत्तिः स्यात् । न च सर्वदा सर्वज्ञम् , येन क्षुद्रपुरुषार्थाद्यभिलाषासम्भवे कर्मशास्त्रस्य निर्मूलता भवेत् । अतो नित्यमुक्तब्रह्मात्मैकत्ववादे दुर्लभो मोक्षशास्त्राधिकारीति ॥

॥ इति शतदूषण्याम् परमते शास्त्राधिकारिभङ्गवादः पञ्चाशः ॥५०॥



प्रसाद—यह भी नहीं कहा जा सकता है कि मुमुक्षुत्व किसी का भी विशेषण नहीं है; क्यों कि ऐसा होने पर अधिकारी तथा अधिकारियों के भेद के वर्णन का प्रयास ही व्यर्थ हो जायेगा। साधन चतुष्टय सम्पत्ति के अभाव में अधिकारित्वाभाव के कारण श्रवणादि में भी किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, फलतः मोक्षशास्त्रारम्भ का ही प्रसङ्ग नहीं आयेगा । यदि कहें कि वस्तुतः कोई अधिकारी नही है, किन्तु है की तरह प्रतीत होता है, और उसी का विशेषण यह मुमुक्षुत्व है, तो प्रश्न है कि किसको अधिकारी की तरह प्रतीति होता है ? यदि कहें कि किसी को नहीं तो फिर वह कैसे है की तरह प्रतीत होता है ? यदि कहें कि ब्रह्म ही अधिकारी के तरह प्रतीत होता है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं ; क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि अद्वैती विद्वानों को अभिमत निर्विशेष ब्रह्म का अपने से भिन्न का अनुभव करने का सामर्थ्य ही नहीं है । सामर्थ्य मान लेने पर ब्रह्म को ही इस मुमुक्षुत्व रूपी विशेषण का अपने में अनुभव करना चाहिए । स्वयम् अनुसन्धान किए विना उसकी ब्रह्म जिज्ञासा में प्रवृत्ति हो नहीं सकती है । यदि कहें कि ब्रह्म अधिकार तथा अधिकार जन्य प्रवृत्ति से विशिष्ट होकर है अपने में मुमुक्षुत्व रूप विशेषण का अनुभव करता है। तो इससे भी कोई लाभ नहीं है । ऐसा होने पर भी उसको ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने के कारण अपने नाश रूप मोक्ष की प्राप्ति हेतु उसमें मुमुक्षा नहीं आ सकती है । यदि कहें कि ब्रह्म को अहने नाश का ज्ञान नही रहता है , उसको यह भ्रम रहता हैं, कि मैं मोक्ष में भी रहूँगा । इसीलिए उसमें मुमुक्षा आती है, तो आप इस तरह का भी ब्रह्म के सम्मोह नहीं बतला सकते हैं; ब्रह्म को इस तरह के अपने अज्ञान का शास्त्र के द्वारा निश्चय हो जाने पर फिर उसकी ब्रह्म जिज्ञासा में प्रवृत्ति नहीं होगी ।

ननु यदि० इत्यादि—यदि कहें कि अपना नाश ही मोक्ष है, ही तत्त्व है, तो ऐसी स्थिति में मोक्षेच्छा के होने में कौन सी आपत्ति है, तो आप ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, औपनिषद मतानुयायी बौद्धों

के समान अपने नाश को ही मोक्ष नहीं मानते हैं। यदि उसी को ही आप मोक्ष मानें तो उसे आप पुरुषार्थ कैसे सिद्ध कर पायेंगे ? यदि कहें कि दुःख की अत्यन्त निवृत्ति रूप होने के कारण उसे पुरुषार्थ माना जा सकता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मोक्ष दशा का वर्णन करने वाली 'मोक्ष में आनन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर मुक्तजीव निस्सीम आनन्द का अनुभव करता है, प्रभृति अनेक श्रुतियों का इस मान्यता से विरोध होगा। अपने नाश को पुरुषार्थ मान लेने पर भी मुमुक्षु की उसमें नाशार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। ब्रह्म के अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना आपके मत में अज्ञान कल्पित स्वरूप की निवृत्ति भी नहीं हो सकती है। यदि कहें कि ब्रह्माज्ञान की निवृत्ति भी ब्रह्म की प्रवृत्ति के द्वारा सम्भव है, तो फिर आपके मत में एक का मोक्ष होने पर सबों के मोक्ष का प्रसङ्ग होगा, तथा ब्रह्म के द्वारा देखे गये जीवों की बद्ध मुक्त की व्यवस्था, भी नहीं हो पायेगी; अतएव आपके मत में तत् तत् निश्चित जीवों में ही मुमुक्षा भी नहीं हो सकती है। यदि कहें कि स्वभावतः ही कभी कोई मोक्षेच्छा रूपी भ्रम तथा ब्रह्माज्ञान को दूर करता है, तब आप प्रत्येक ब्रह्मजिज्ञासाधिकारी में मोक्षेच्छा को अनिवार्य क्यों मानते हैं ? आप कहते हैं कि हम वस्तुतः शास्त्रारम्भ नहीं करते, बल्कि हमारे इस शास्त्रारम्भ के व्याज से ब्रह्म को शास्त्रारम्भ का भ्रम होता है, तो आप का यह भी कथन इसलिए उचित नहीं है कि ब्रह्म को ही शास्त्रारम्भ जन्य ज्ञानादि का परिज्ञान हो जाने पर मोक्ष हो जायेगा; पुनः संसार की अनुवृत्ति हो नहीं सकती है; अतएव आपके मत में शास्त्राधिकारी का निर्देश असम्भव है।

ननु भवतोऽपि० इत्यादि—यदि कहें कि आप के भी मत में यही दोष आयेगा, क्योंकि विशिष्टाद्वैतियों का भी ईश्वर नित्य मुक्त है, अतएव कारणावस्थावस्थित तथा कार्यावस्थावस्थित ब्रह्म में न तो अवतार आदि दोष आ सकते हैं और न तो मोक्षेच्छा ही। सिद्धान्ती के भी मत में जीव स्वतः अपहतपाप्मत्वादि स्वभाव वाला है, अतएव उसको भी मुमुक्षा नहीं हो सकती है। तो यह भी शङ्का उचित नहीं है, जिस तरह अग्नि स्वभावतः उष्ण होता है किन्तु प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्तमणि) से उसकी उष्णता प्रतिबन्धित हो जाती है; उसी तरह स्वभावतः शुद्ध भी जीव कर्म वशात् संसारी हो जाता है, अतएव उसे संसार की निवृत्ति की अपेक्षा भी होती है। हम जीव में संसार की नित्य निवृत्ति को तो स्वीकारते नहीं हैं, जिससे कि आपको उसकी नित्यमुक्तत्व शङ्का को अवकाश मिल सके। हमारे मत में आत्मा ज्ञान मात्र भी नहीं है, अतएव उसमें इच्छा तथा प्रयत्नादि की भी अनुपपत्ति नहीं हो सकती है। हम जीव को सर्वदा सर्वज्ञ भी नहीं मानते, अतएव उसमें क्षुद्र पुरुषार्थों की अभिलाषा का अभाव भी नहीं सम्भव है, इस तरह कर्मशास्त्रारम्भ भी उसके द्वारा उपपन्न हो जाता है। इस तरह सिद्ध हुआ कि नित्यमुक्त ब्रह्म तथा जीव में अभेद मानने वाले अद्वैती विद्वानों के मत में मोक्षशास्त्र के अधिकारी की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस तरह शतदूषणी का 'परमते शास्त्राधिकारीभङ्ग' नामक पचासवें वाद का प्रसाद समाप्त हुआ।

❀-❀-❀

ननु अधिकारतदनुसन्धानतन्मूल प्रवृत्तिविशिष्टतया ब्रह्मणा कल्पितत्वात्तस्य मोक्षार्थप्रवृत्त्युपपत्तिरित्याशङ्कते। अधिकारेति। महितावतेति। अधिकारतदनुसन्धानसिद्धावपि मुमुक्षानुपपत्तेः प्रवृत्तिर्नस्यादित्यर्थः। स्वनाशाज्ञानमुमुक्षयोरपि [illegible]

स्वनाशमिति । शास्त्रतोवसाय इति । अनवसाये तु मिथ्यात्वज्ञानाभावादविद्यानिवृत्त्यर्थप्रवृत्तिन- स्यादिति भावः । तत इति । एकमोक्षे सर्वेषां मोक्षसम्भवादन्यस्य मुमुक्षादिकं व्यर्थमित्यर्थः । ननु बद्धमुक्तव्यवस्थाभङ्ग इष्ट एव; इदानीञ्च संसारोपलम्भः कस्यापीतः पूर्वमुक्तत्वादुपपन्नः; , इतः परञ्च कल्पान्तरादिषु कल्पिता मुमुक्षा संसारनिवृत्तिपर्यन्ता भविष्यति स्वभावात् , न त्विदानीं कल्पिता, अतस्सर्वोपपत्तिरित्यत्राह स्वभावत इति । ननु भुक्तवति परेण कल्पित भोजनं यथा प्रयोजनाभावपर्यनुयोगस्यानर्हं तथास्माकं ब्रह्मणा कल्पितशास्त्रारम्भतज्जन्यज्ञानादिकमिति शङ्कते नवयमिति । शास्त्रारम्भादिकं सर्वं ब्रह्मणा कल्पितमिति परिज्ञाने तत एव सर्वमिथ्यात्वज्ञानात् तदा एव मोक्षः स्यात् ; नच कालान्तरभाविज्ञानस्य एतस्मात्कश्चिद्विशेषो मिथ्यात्वपक्षे युज्यत इत्यभिप्रायः । स्वत उष्णस्येति । आनन्दात्मकज्ञानविकासरूपा पाप्मनिवृत्तिश्शुद्धिः , सा चासा- धारकारणान्तरनिरपेक्षत्वात् स्वाभाविकी, स्वतश्शुद्धियोगित्वञ्च तादृशशुद्धियोग्यता, सा च सर्वदा विद्यमानापि कर्मप्रतिबन्धान्न शुद्धिरूपफलोपहितेत्यर्थः । परमते नित्यमुक्तत्वात् निर्विशेषत्वेन मुमुक्षाद्याश्रयत्वानुपपत्तेश्च हि दोष उक्तः । स्वमते तदभावमाह नहि वयमिति । स्वतोपहतपाप्म स्वप्रयुक्तमोक्षानधिकारशङ्कायां परिहृतायां प्रसङ्गात् स्वाभाविकज्ञानवत्त्वप्रयुक्तां कर्मानधिकारशङ्कां परिहरति । नचेति । परमते च सर्वज्ञेश्वराभेदात् कर्मशास्त्राधिकारोपि न स्यादिति फलितम् ॥

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायाम् चण्डमारुताख्यायां शास्त्राधिकारभङ्गो नाम पञ्चाशः स्कन्धः ॥५०॥



॥ अथ मुक्तसंविन्निर्विषयत्वभङ्गवादः एकपञ्चाशः ॥

अनुकूलतया सर्वं पश्यन्त्या मुक्तसंविदः ।
आन्ध्यं निर्विषयत्वेन वदतोऽर्थान् निरुन्ध्महे ॥

प्रसाद—अनुकूल ज्ञान को ही सुख कहते हैं । मुक्तावस्था में मुक्तजीव सब कुछ अनुकूल ही प्रतीति होता है । वह सदा आनन्दानुभव ही करता है । इस बात को छान्दोग्योपनिषद् आदि के अनेक श्रुतियाँ बतलाती हैं । किन्तु अद्वैती विद्वान् बतलाते हैं कि मुक्त जीव का ज्ञान निर्विषयक होता है । इस तरह का अद्वैती विद्वानों का कथन श्रुति विरुद्ध है , इस लिए उसका हम खण्डन कर रहे हैं ।

यत्कटाक्षा वितन्वन्ति जीवान् ब्रह्मसधर्मणः । श्रीनिवासगुरौ तस्मिन्ननुत्या भक्तिरस्तु नः ॥
मुक्तानिव परं ब्रह्म स्वैस्साधनमितैर्गुणैः । मोदयन्धियमस्वास्ताम् मम वेदान्तदेशिकः ॥

"धीसन्ततिः स्फुरति निर्विषयोपरागा" इति सौगतोपदिष्टमेव सन्ततिशब्दप्रहाणमात्रेण संगृह्णन्तः श्रुतिभिस्तावत् बाह्यतया ख्याप्यन्ते । तथाहि; 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रम्य, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति ब्रह्मवेदनफलत्वेन विभूतिगुणविशिष्टब्रह्मानुभव एव प्रपञ्च्यते । 'यदा पश्यः...ईशं...निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इतीश्वरपरसाम्यापत्तिवचनाच्च सार्वज्ञ्यादिकं मुक्तस्य सिद्धम् । 'मम साधर्म्यमागताः' इति च भगवान् स्वयमेवाऽऽह । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिकमपि, 'वैष्णवं वामनमालभेत स्पर्धमानो विष्णुरेव भूत्वा' इत्यादाविव साधर्म्यमात्रविषयमेव । न हि स्पर्धमानस्य यागविशेषमात्रेण साक्षाद्विष्णुत्वापत्तिः । जयरूपश्च फलान्तरं स्फुटमभिधीयते । 'इववद्वैवमेव' इति च निघण्टुकाः । प्रकारैक्ये च तत्त्वव्यवहारो मुख्यवत् प्रसिद्ध एव । एवकारादिश्च साधर्म्यातिरेकवदमुख्ये मुख्यार्थोपचारद्योतको द्रष्टव्यः दृष्टः) । यथा—'नेदं मुखमिदं पद्मं न नेत्रे भ्रमराविमौ । एतानि केसराण्येव न च दन्तार्चिषस्तव ॥' इत्यादिषु । न च तद्रूपस्य तद्रूपतापत्तिः फलम्; सिद्धत्वात् । नाप्यतद्रूपस्य; अपसिद्धान्तात्, अशक्यत्वाच्च । यथोक्तं भगवता पराशरेणापि; 'परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते । मिथ्यैतत् अन्यद्द्रव्यम् हि नैति तद्द्रव्यतां यतः ॥' इति । अत्र योग इति तादात्म्यमुच्यते । 'नैति तद्द्रव्यतां यतः' इति तादात्म्यस्योत्तरत्र निषेधात् । न चाऽऽदिभरतमृगत्ववत् तज्जातीयतापत्तिः, तथाऽपि साधर्म्यमात्रे पर्यवसानात् । वस्तुतः ब्रह्मणः सर्वविजातीयत्वात् । न च तद्रूपस्यैव सतस्तद्रूपताप्रादुर्भाव इह विवक्षित इति वाच्यम्; तथाऽपि वाक्यस्यामुख्यार्थतात्पर्याविशेषात् । अतो वरं साम्यश्रुत्याद्यविरोधेन यथोक्त एवार्थः । 'तत् केन कं पश्येत्'; 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यादिकं तु भाष्य एव सुव्यक्तं व्याख्यातम् । 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' इत्यादिश्रुतयश्च मुक्तस्य साक्षात्सर्वज्ञतां स्फुटतरमुपपादयन्ति । 'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः ।' इत्यारभ्य; 'तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः । प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ॥' इति च स्मर्यते । तथाच; 'पश्चादुद्भूतबोधाश्च' इत्यादि । सूत्रं च; 'जगद्व्यापारवर्जम्' इत्यादि; 'भोगमात्र साम्यलिङ्गाच्च' इति । अतः श्रुतिस्मृतिसूत्रानुवर्तिनामीश्वरपरमसाम्यापत्त्या सार्वज्ञ्यमेव मुक्तस्य स्फुटम् ।

किञ्च स्वप्रकाशैकस्वरूपस्य ब्रह्मणः कदाचित् स्वेतरविषयत्वं कदाचिच्च निर्विषयत्वमिति [त्यत्र] उभयमपि किं तत्त्वम् ; उभयमप्यतत्त्वम् ; उतान्यतरत् तत्त्वम्, अन्यतरदतत्त्वम् ? इति।

न प्रथमः, विषयविषयितत्सम्बन्धादिभेदस्य सत्यत्वप्रसङ्गात्।

न द्वितीयः, उभयस्वरूपमात्रनिषेधे व्याघातात्, कालोपश्लेषेण निषेधो द्वयोरपि नित्यतामापादयेदिति पुनरपि व्याघातः।

प्रसाद—बौद्ध दार्शनिकों ने कहा है-धीसन्ततिः स्फुरति निर्विषयोपरागा।' अर्थात् विषयों के सम्बन्ध से रहित ज्ञान प्रकाशित होता है। बौद्धों के उपर्युक्त वाक्य के सान्तति शब्द को छोड़कर अद्वैती विद्वानों ने उसे ज्यों के त्यों अपना लिया है। इसलिए अद्वैती विद्वान् इस विषय में वेदबाह्यों के ही समान हैं, इस बात को श्रुतियाँ प्रतिपादित करती हैं। तथाहि—तैत्तिरीयोपनिषद् की 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' से लेकर 'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' पर्यन्त श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान का फल विभूतियों तथा गुणों से विशिष्ट ब्रह्म के अनुभव को ही बतलाती हैं। किञ्च-'यदा पश्यः .. ..साम्यमुपैति' (मु० उ० ३-१-३) श्रुति बतलाती है कि मुक्त जीव परम ब्रह्म की परम समता को प्राप्त कर लेते हैं। श्रुति के इस कथन से मुक्त जीव की सर्वज्ञता आदि की प्राप्ति की ही सिद्धि होती है। गीता के चौदहवें अध्याय में स्वयम् भगवान् कहते हैं, कि मुक्त जीव मेरी सधर्मता को प्राप्त कर जन्म मरण रूपी संसार से रहित हो जाते हैं। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' श्रुति भी मुक्त जीव की सधर्मता को ही उसी तरह बतलाती हैं जिस तरह 'वैष्णवं वामनम् पशुमालभेत स्वर्धमानो विष्णुरेव भुत्वा' अर्थात् दूसरों से स्पर्धा रखने वाला विष्णुदेवताक वामन पशु का याग करे, ऐसा करके स्पर्धा करने वाला व्यक्ति विष्णु के ही समान होकर अपने प्रतिस्पर्धियों को जीत लेता है।' इस श्रुति में भी 'एव' शब्द सादृश्य का ही वाचक है। याग करने मात्र से स्पर्धा करने वाला विष्णु हो नहा सकता है। किञ्च उस याग का विजय रूपी दूसरा फल भी श्रुति स्पष्ट रूप से बतलाती है। किञ्च—नानार्थ वैजयन्ती में साम्यार्थक अव्ययों का सग्रह करते हुए कहा गया है कि-इव वत्, वा एवम् और एव ये साम्यार्थक अव्यय हैं। समान वस्तुओं में ऐकत्व व्यवहार भी मुख्यार्थ के ही समान प्रसिद्ध है। किञ्च साधर्म्यातिशय्य के कारण अमुख्य में मुख्यार्थ के उपचार के द्योतक रूप से देखा जाता है। उदाहरणार्थ-नेदम्० इत्यादि-अर्थात् यह मुख नहीं कमल हैं, ये दोनों नेत्र नहीं भौंरे हैं, ये दान्त की कान्तियाँ नहीं, अपितु पराग हैं। इत्यादि स्थल में यह देखा जा सकता है। सदृश वस्तु का फल वही हो जाना नहीं है, क्योंकि वह वस्तु तो सिद्ध है। असदृश वस्तु की तत्त्वापत्ति भी फल नहीं हो सकती तथा ऐसा करना सम्भव भी नहीं है। महर्षि पराशर ने भी कहा है-परमात्मा और आत्मा का अभेद परमार्थ मानना मिथ्या है। एक द्रव्य दूसरा द्रव्य हो नहीं सकता। 'परमात्मात्मनोर्योगः' में योग' शब्द तादात्म्य का वाचक है। इस वाक्य के उत्तरार्द्ध में 'तादात्म्य' का निषेध किया गया है। जैसे आदि भरत के मृगत्वजाति की प्राप्ति के समान जीव के ब्रह्मत्व जाति का प्राप्ति भी जीव की नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि वैसा होने पर भी जीव की सधर्मता ही होगी। ब्रह्म की कोई जाति भी नहीं है क्योंकि वह स्वेतर समस्त वस्तु विसजातीय है। यह भी नहीं कहा जा सकता है, कि ब्रह्म के सदृश ही जीव में ब्रह्म की उत्पत्ति मुक्ति में हो जाती है, यही ब्रह्मवेद श्रुति को विवक्षित है, क्योंकि ऐसा मानने पर भी यह वाक्यार्थ का अमुख्यार्थ ही होगा। अतएव ब्रह्मवेद० श्रुति

का साम्य श्रुति के अनुकूल उपर्युक्त ही अर्थ करना उचित है। 'तत्केन कं पश्येत्' श्रुति का अर्थ करते हुए श्रीभाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि-इस श्रुति में भिन्नात्मकत्व का निषेध किया गया है। 'न दृष्टे द्रष्टारं पश्येः' श्रुति दृष्टि, मति व्यतिरिक्त द्रष्टा मन्ता का निषेध करती है। 'सर्वं हिपश्यः पश्यति' श्रुति मुक्त जीव के सर्वज्ञत्व का साक्षात प्रतिपादन करती है। किञ्च महर्षि पराशर ने-'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना' इत्यादि वाक्य से लेकर 'एवात्मनो हिते' पर्यन्त वाक्य के द्वारा बतलाया है कि जिस तरह मणि के धो देने से उसमें कोई नयी ज्योति नहीं उत्पन्न कर दी जाती है; अपितु उसकी स्वाभाविक ज्योति ही प्रकाशित होने लगती है; उसी तरह मुक्त जीव के स्वाभाविक तथा नित्य गुणों ज्ञान आदि का प्रकाश होने लगता है; हेय गुणों का नाश हो जाने पर। इसलिए महर्षियों ने कहा है कि मुक्त जीवों का ज्ञान मुक्ति के पश्चात् प्रकाशित होने लग जाता है। महर्षि बादरायण ने भी शारीरक मीमांसा में कहा है कि मुक्त जीव की ब्रह्म से समता जगद् व्यापार की न होकर केवल भोग मात्र की समता होती है; इस तरह श्रुति स्मृति तथा सूत्र का अनुवर्तन करने वाले जीव ईश्वर की परम सामता को प्राप्त कर लेते हैं; इस तरह मुक्त जीवों की सर्वज्ञता स्पष्ट है। किञ्च अद्वैती विद्वान् स्वयम् प्रकाश स्वरूप ब्रह्म को कभी स्वेतर वस्तु का विषय मानते हैं और कभी निर्विषय। अब प्रश्न है कि ब्रह्म का स्वेतर वस्तु विषयत्व एवम् निर्विषयत्व दोनों तात्त्विक हैं, कि दोनों अतात्त्विक या उन दोनों में से एक तात्त्विक एवम् एक अतात्त्विक हैं। यदि प्रथम मानें तो विषय, विषयी तथा उनके सम्बन्ध आदि सभी भेदों को तात्त्विक मानना होगा; किन्तु आप ब्रह्म व्यतिरिक्त सबको मिथ्या मानते हैं। दोनों को अतात्त्विक भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि दोनों के स्वरूप मात्र का निषेध करने पर विरोध होगा। यदि कहें कि काल के सम्बन्ध के द्वारा दोनों का हम निषेध कर रहे हैं; अर्थात् ब्रह्म न तो कभी विषय होता है, और न तो कभी निर्विषय तो इस तरह दोनों की नित्यता का प्रतिपादन हो जायेगा, फलतः पुनः विरोध होगा, क्योंकि जिस वस्तुत्व का स्वेतर विषयत्व नित्य है, वह निर्विषय नहीं हो सकता; उसी तरह निर्विषय वस्तु विषय नहीं हो सकती है।

ब्रह्मविदिति। अत्रच यैरनुगृहीतम्। "ब्रह्मविदाप्नोति परमि" ति ब्रह्मणो ब्रह्म तद्वेदन प्राप्तिः प्राप्यञ्चेति चतुष्टयमुक्तम्; एतद्विवरणं "सत्यं ज्ञान मि' त्यादिमन्त्रेण क्रियत इति श्रुतिरेवाह 'तदेवाभ्युक्ते' ति। तदेव ब्रह्माभिमुखीकृत्य ऋगेषाऽध्येतृभिरुक्तेत्यर्थः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ति ब्रह्मशब्दो विवृतः; 'यो वेद निहितं गुहायामि' ति विच्छब्दः; "परमेव्योमन् सोऽश्नुत" इति प्राप्तिः 'सर्वान् कामानि' त्यादिना प्राप्यमिति। ब्रह्मानुभव एवेति। " सह ब्रह्मणे " त्यत्र सहशब्दस्य भोग्यसाहित्यपरत्वादिति भावः। तथाच भाष्यम्। ब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्वानश्नुत इत्यर्थः। दहरविद्यायां "तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमि" तिवत् गुणप्राधान्यं वक्तुम् सहशब्द इति। एवञ्चप्रकाशितमाचार्यैः। अस्य वाक्यस्य प्राप्यवाचिपरशब्दविवरणरूपत्वात् 'सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणे' ति भोग्यवाचिपदेनाव्यवहितप्रयोगस्वारस्याच्च सहशब्दो भोग्य साहित्यपर इति उक्तयुक्तेः, 'परस्य विपश्चतो ब्रह्मण' इति पूर्वभाष्येण मन्त्रस्थविपश्चिद्ब्रह्मशब्दयोर्भोग्यवाचिब्रह्मगुणपरशब्दव्याख्यानपरत्वख्यापनाच्च, श्रुतेर्भोग्यसाहित्यपरत्वे उदाहृतभाष्यस्य तात्पर्यमवगम्यत इत्याचार्यस्य भावः।

एवं भाष्यतात्पर्योन्नयने हेत्वन्तरमप्याहाचार्यः "गुणप्राधान्यं वक्तुमित्यनेनापि भोग्य साहित्यपरत्वं सिद्धम्, अन्यथा भोक्तृप्राधान्यं हि सिध्येत् नतु भोग्यगुणप्राधान्यमि" ति । भोक्तृशब्दो जीवविषयः । यदा पश्य इति । मुक्तोपसृप्यस्य ब्रह्मणो ज्ञानादियोगं परमसाम्यप्रतियोगित्वं मोक्षदशात्वं च ख्यापयितुम् यदा पश्य इत्यादावित्युक्तम् ।

परकल्पितार्थमपि निराकुर्वन् प्रमाणान्तरमाह ब्रह्मवेदेति । वैष्णव मिति । साम्यमात्रे दृष्टान्तः, नतु परमसाम्ये । नहीति । योग्यं फलकामेनानुष्ठितम् तदनुरूपं च कर्म तत्फलम् जनयेत् नचायं तत्कामी शत्रुजयस्यैव काम्यत्वात् नचेदं क्षुद्रफल साधनं कर्म तद्योग्यम् ; नापि तत्साधयितु शक्यमन्यस्यान्यत्वमित्यर्थः । ततश्च यथा सा श्रुतिस्साम्यपरा तथैषापि जीवस्य ब्रह्म भावस्य सिद्धावसिद्धौ च साध्यत्वासम्भवात्साम्यपरैवेति भावः ।

नन्वेवकारस्साक्षात्तत्त्वमेवावेदयतीत्याशङ्क्य, एवकार उभयत्रापि इवार्थ इत्याह इवेति अवधारणार्थत्वेऽपि न दोष इत्याह प्रकारैक्ये चेति । यथा मुख्यार्थे प्रयोगो नापह्नवार्हो लोकसिद्धत्वात्, तथाऽमुख्यार्थे प्रयोगोऽपि तत एव नापह्नवमर्हति, अन्यथा ब्रह्मपदस्य लाक्षणिकत्वोक्तिविरोधात्, परन्त्वमुख्यप्रयोगो मुख्यार्थबाधसापेक्षः स चानुपदमेव वक्ष्यते । एवकारस्समानार्थोन्यश्च अमुख्ये प्रयोगस्य सौसादृश्यनिबन्धनत्वद्योतको दृष्टः ॥ तस्मादेवकारस्यावधारणार्थत्वेऽपि वाक्यस्य सौसादृश्यपरत्वं सिध्यत्येवेत्यर्थः ।

यद्वा एवकारस्येवार्थत्वसम्भवात् सौसादृश्यपरत्वसम्भमत्रामेव न परन्तु सौसादृश्यपरत्वमेव वाक्यस्य युक्तम् । तत्त्वमेदपरत्वम् ब्रह्म भवतीत्येतावतैव तत्सिद्धौ एवकारस्य व्यर्थत्वात् नच वेदवाह्यापदितब्रह्मभावानुपपत्तिनिरासार्थ एवकारः, तथासति भवत्वेवेति व्यवहितान्वयप्रसङ्गात्, न च ब्रह्मैव भवति न ब्रह्मणो भिन्न इत्येवमाविर्यिकभेदनिवृत्तिपरत्वादस्य वाक्यस्य नैवकारवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, ब्रह्म भवतीति ब्रह्मभावसाध्यत्वप्रतीतिस्वारस्यभङ्गापत्तेः, भेदनिवृत्तेर्ब्रह्मस्वरूपान्तर्भावबहिर्भावयोरनुपपत्तेरविद्यानिवृत्त्यनुपपत्तिवादे प्रपञ्चितत्वाच्च, नच सादृश्यपरत्वेऽमुख्यवृत्त्यङ्गीकारो दोषः, त्वत्पक्षेऽपि ब्रह्मपदस्य स्वरूपलक्षकत्वात् । पदान्तरावैयर्थ्याय जघन्यवृत्तेरेव स्वारस्याच्च, तस्माद्वाक्यस्यायोग्यार्थत्वप्रसङ्गपरिहाराय सादृश्यपरत्वाङ्गीकारेऽपि सौसादृश्यासिद्धेस्तत्पर एवकारस्सार्थ इति, तस्माद्ब्रह्मैव भवति नान्य इति वैसादृश्यनिषेधपरेणैवकारेण वाक्यस्य सौसादृश्यपरत्वमेव युक्तम्, तथैव लोके दर्शनादित्यभिप्रायेणाह प्रकारैक्ये चेति । नेदमिति । एवकारसमानार्थवाक्यस्य सादृश्यद्योतकत्वोक्तौ एवकारस्यापि तत्सिध्यत्येवेतिभावः अभेदस्यैव साध्यत्वपक्षे दोषमाह नचेति । यथोक्तमिति । तथानुगृहीमाचार्यैः "योगशब्द ऐक्यपरः, अन्यथा अन्यद् द्रव्यं हि तद्द्रव्यतां नैतीति प्रतिक्षेपानुपपत्तेः । ननु मिथ्यैतदित्युत्तरत्रान्वयः अन्यद्द्रव्यं तद्द्रव्यतां नैतीत्येतन्मिथ्येत्यर्थ इति चेत्, -नैवम्, अन्यस्यान्यद्द्रव्यतानापत्तेः सत्यत्वात् इतरथा जडाजडयोस्तादात्म्यप्रसङ्गः । 'ऋग्यजुस्सामनिष्पाद्यं यज्ञकर्म मतन्तवे' तिवत् इष्यत इत्यनेन पूर्वोक्तार्थस्य परमतत्वद्योतनात् । अन्यथेष्यत इति पदवैयर्थ्यात् । किञ्च "पर-

मार्थस्तु भूपाल संक्षेपाच्छ्रूयतामि" ति वक्ष्यमाणपक्षव्यतिरिक्तपक्षाणां निराकरणपरत्वाच्च प्रकरणस्य । एतच्श्लोकपूर्वार्धोक्तैक्यसमर्थनपरत्वमुत्तरार्धस्य नो पपद्यते; 'धर्माय त्यज्यते" इत्यादिभिर्ग्रन्थस्तत्तदर्थानां परमार्थत्वं हि निरस्यते । स्वतः प्रकृतार्थे स्वरसस्य एतच्छब्दस्य प्रकृतार्थे सत्यपि वक्ष्यमाणपरत्वाश्रयणमप्ययुक्तम् । अन्यद्द्रव्यं तद्द्रव्यतां नैतीति यत् एतन्मिथ्येति हि तदानीमर्थः, तथाच सति यतश्शब्दस्वारस्यभङ्गः यतश्शब्दस्य हि हेतुपरत्वं स्वरससिद्धम् , न तु यच्छब्दवत् प्रकृतार्थशरीरमात्रपरत्वम् । अन्यद्द्रव्यं तद्द्रव्यतां नैतीत्येतन्मिथ्येति यतस्तत ऐक्यम् परमार्थ इत्यन्वये इति शब्दद्वयाध्याहारप्रसङ्गः, सचानध्याहारेण निर्वाहे सम्भवति नोपपद्यते। यद्युच्येत पूर्वं पृथक्भूतयोः परमात्मात्मनोरैक्यं परमार्थ इतीष्यत इति चेत् ; मिथ्यैतत् अन्यद्द्रव्यं हि द्रव्यतां नैतीति यतः तस्मात्पूर्वमपि परमात्मात्मनोर्भेदो नास्तीति, नैवं पूर्वं भ्रान्त्या पृथक्भूतयोरित्यस्याश्रुतत्वेनाध्याहारप्रसङ्गात् । स चानध्याहारेण निर्वाहे सम्भवति नोपपद्यते । किञ्च तस्मात् पूर्वमपि भेदो नास्तीति अश्रुतवाक्यान्तराध्याहारेण वाक्यस्य पूरणीयत्वं स्यात् , तच्च तन्निरपेक्षनिर्वाहे सम्भवति नोपपद्यते । तस्मात् प्रागपि भेदो नास्तीति वाक्य नाध्याहर्तव्यम् पूर्वं भिन्नयोः परमात्मात्मनोः पश्चादभेद इति पक्षनिराकरणमात्रपरत्वात् ग्रन्थस्येति चेत् ? किन्तेन प्रयोजनम् ? पूर्वमप्यैक्यसिद्धिरिति चेन्न,-पूर्वं पृथक् भूतयोः पश्चादैक्यायोगेऽभिसिते सति पश्चादपि भेदसिद्धेः । अतः स्वरससिद्ध एवार्थः स्वीकार्य इति ।

ननु "ब्रह्म भवती" ति तज्जातीयतापत्तिरेव प्रतिपाद्यते ; तथाच ब्रह्मपदमनुरूपार्थमेवेति कस्यचित्मतमपाकरोति नचेति । अमृगस्यैव सतो मृगत्वप्राप्तेरादिभरते स्पष्टत्वात् आदिभरतोपादानम् । तथापीति । ननु ब्रह्मत्वं लभ्यत इति भावः । तत्र हेतु माह वस्तुत इति । जगत्कारणत्वादिभिस्सर्वविजातीयतया ब्रह्मशब्दप्रवृत्ति निमित्तस्यान्यत्र क्वाप्यसम्भवादित्यर्थः । तथापीति । प्रादुर्भावस्य स्वरूपबहिर्भावान्तर्भावयोरनुपपन्नत्वात् सोऽनुपपन्न एव, किञ्च प्रादुर्भावस्याप्यनादिसिद्धत्वान्न साध्यतां , नच जीवस्य ब्रह्मरूपताप्रादुर्भावः पूर्वमसिद्ध इति वाच्यम् ,—जीवपदेन स्वरूपविवक्षायामसिद्धेः, विशेषणविशिष्टान्यतरविवक्षाया मुत्तरकालमप्यसिद्धेः; एवमपि कथञ्चित्तत्त्वसाध्यत्वकल्पनेऽपीत्यर्थः । वाक्यस्येति । ब्रह्मपदेन तत्प्रादुर्भावस्य लक्ष्यत्वादित्यर्थः । साम्येति । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" "मम साधर्म्यमागता" इत्यादि विवक्षितम् ।

ननु मोक्षदशायां विषयदर्शननिषेधान्मुक्तसंविदस्सर्वविषयत्वं नोपपद्यते, " न प्रेत्य संज्ञास्ती" त्युपक्रमान्मुक्ताविषयत्वमवगम्यते द्रष्टव्यतिरिक्तस्य द्रष्टुर्निषेधाच्च न सर्वद्रष्टृत्वेन साम्यसम्भवः, इत्यत्राह तर्केनेति । कदाचित्सविषयत्वं कदाचिन्निर्विषयत्वमित्येतदुभयमप्यतात्त्विकमिति द्वितीयः पक्षः किं विशेष्यद्वयनिषेधात्तयोः कादाचित्कत्वरूपविशेषणनिषेधाद्वेति । विकल्पमभिप्रेत्याद्ये दूषणमाह उभयेति । भावाभावयोरन्यतरनिषेधेऽन्यतरस्यावर्जनीयत्वादित्यर्थः । द्वितीयमनूद्य दूषयति कालेति । कादाचित्कत्वरूपविशेषणमात्रनिषेधे विशेष्ययोस्सविषयत्वेनिर्विषयत्वयोर्नित्यत्वपर्यवसानाद्व्याघात इत्यर्थः ।

अथ कालावच्छिन्नान्यतरनिषेधार्थोऽन्यतरानुवाद इति मन्यसे, तदा तृतीयः पक्षः परिशिष्यते । सविषयत्वस्य कालानवच्छेदेन तात्त्विकत्वे प्रागुक्तदोषाः प्रादुःष्युः । निर्विषयत्वस्य तात्त्विकत्वे नित्यत्वेन संसाराभावप्रसङ्गात् उपलम्भविरोध-उपदेशवैयर्थ्य-शास्त्रानुत्थान (द्वार)-अपसिद्धान्त-स्ववचनविरोध-वादानधिकारादिदोषशतसाम्राज्यम् । वस्तुतो विषयाभावेऽपि सविषयता भातीति संसारादिसंभ (समुद्भ) वान्न दोष इति चेन्न, विषयाभावेऽपि सविषयत्वं तात्त्विकमिति त्वयाऽभ्युपगन्तव्यत्वात् । अन्यथा निर्विषयख्याति प्रसङ्गात् । न हि शुक्तिकारजतादिसंविदां रजतविषयतामपि बाधन्ते बाधकाः । अबाधितस्यापि मिथ्यात्वमित्यतिसाहसम् ॥ अस्त्वेवं मिथ्याविषयगोचरत्वलक्षणं सविषयत्वं ब्रह्मणस्तात्त्विकम् ; किं नश्छि (तच्छि) च्छन्नमिति चेन्न ; तन्नित्यत्वे नित्यसंसारप्रसङ्गात् । तदनित्यत्वे तात्त्विकत्वपरिग्रहायोगात् । न ह्यनित्यमपि किञ्चित् पारमार्थिकं भवन्तो मन्यन्ते ॥ स्वरूपानुप्रवेशात् तात्त्विकमिति न दोष इति चेन्न, स्वरूपस्याप्यनित्यत्वप्रसंगात् । तन्नित्यतया तदात्मना तन्नित्यत्वे पुनर्नित्यसंसारप्रसंगात् ।

प्रसाद—यदि व्यासज्यवृत्ति धर्म को पुरस्कृत करके आप कहें कि जिस तरह घट युक्त भूतल पर घट और पट दोनों नहीं हैं, इस कथन में घट का अनुवाद घटनिषेधार्थक ही होता है, उसी तरह कादाचित्क सविषयत्व और कादाचित्क निर्विषयत्व में व्यासज्यवृत्ति धर्म के पुरस्कार के द्वारा किसी एक का निषेध के लिए ही दूसरे का अनुवाद है। तो फिर आपने तृतीय पक्ष को अपना लिया । ब्रह्म के नित्य सविषयत्व को तात्त्विक मानने पर ब्रह्म में नित्य सगुणत्व आदि दोष आयेंगे । यदि ब्रह्म के नित्य-निर्विषयत्व को तात्त्विक माना जाय तो फिर आपके मत में नित्य संसाराभाव का प्रसङ्ग होगा, किन्तु नित्यसंसाराभाव का उपलम्भ विरोध है । ऐसा होने पर ऐक्योपदेश व्यर्थ होगा ; क्योंकि संसाराभावार्थं ही आप ऐक्योपदेश मानते हैं । उपदेश वैयर्थ्य प्रयुक्त शास्त्र वैयर्थ्य का भी प्रसङ्ग होगा । किञ्च आपके नित्य संसाराभाव न मानने के कारण आपके मत में अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग होगा । किञ्च नित्य निर्विषयत्व का आपके कादाचित्क सविषयत्वोपादक वाक्य से विरोध होगा । किञ्च शास्त्रविरोधभी होगा इस मान्यता के होने के कारण वादनधिकारित्व दोष भी आपके मत में होगा । इस तरह अद्वैतमत में अनेक दोष आ जायेंगे । यदि कहें कि ब्रह्म के वस्तुतः नित्य निर्विषय होने पर भी उसमें सविषयता की प्रतीति होने के कारण संसारोत्पत्ति उपपन्न हो जाती है, अतएव नित्य संसाराभाव का प्रसङ्ग नहीं है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं; क्योंकि ऐसा होने पर ब्रह्म में विषयत्व का अभाव होने पर भी उसमें सविषयत्व को तात्त्विक मानना चाहिए ; अन्यथा, ब्रह्म में निर्विषयत्वख्याति का प्रसङ्ग होगा । जिस तरह शुक्तिरजत विषयिणी बुद्धि के रजतविषयत्व का बाध बाधक प्रमाण नहीं करते, उसी तरह ब्रह्म के निर्विषयत्व ख्याति का बाध तब तक नहीं होगा, जब तक कि आप ब्रह्म के सविषयत्व को तात्त्विक न मान लें । और अबाधित को मिथ्या मानना आपका साहस मात्र होगा । यदि कहें कि मिथ्या वस्तु विषयक ब्रह्म का सविषयत्व तात्त्विक भी मान लेने में मेरी कोई भी क्षति नहीं है, तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मके सविष

यत्व को नित्य मानने पर आपके मत में नित्यसंसार का प्रसङ्ग होगा। यदि सविषयत्व को अनित्य मानें तो फिर वह आपके मत में तात्त्विक नहीं हो पायेगा। क्योंकि आप किसी भी अनित्य वस्तु को तात्त्विक नहीं मानते हैं। यदि कहें कि अनित्य सविषयत्व के स्वरूपान्तर्गत होने के कारण वह तात्त्विक है, तो फिर उस स्वरूप के भी अनित्यत्व का प्रसङ्ग होगा। स्वरूप के नित्य होने के कारण सविषयत्व के नित्य होने पर पुनः संसार के भी नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा।

व्यासज्यवृत्तिधर्मपुरस्कारेण निषेध इति शङ्कते अथेति। घटवति भूतले घटपटौ न स्त इत्यत्र यथा घटनिषेधार्थ एव घटानुवादः तद्वत् कादाचित्कसविषयत्वकादाचित्कनिर्विषयत्व-योर्मध्ये व्यासज्यवृत्तिधर्मपुरस्कारेणान्यतरनिषेधार्थस्तदितरानुवाद इत्यर्थः।

तृतीयः पक्षः इति। सविषयत्वं निर्विषयत्वं चातात्विकमित्ति पक्षस्य दूषितत्वात्तदन्यतरविषयत्वनिर्धारणाभावाच्च व्यासज्यवृत्तिधर्मपुरस्कारेण निषेधस्येति भावः। यदि कादाचित्क-सविषयत्वकादाचित्कनिर्विषयत्वयोर्मध्येकादाचित्कसविषयत्वमतात्त्विकम् तदपि कादाचित्कत्वरूप विशेषणाभावादिति मतम्, तदा दोषमाह। सविषयत्वस्येति। सविषयत्वरूपविशेष्याभावात् कादाचित्कसविषयत्वस्य अतात्त्विकत्वे निर्विषयत्वस्य नित्यस्य इत्यनुपदमेव वक्ष्यमाणदूषणं बोध्यम् निर्विषयत्वस्येति पूर्ववत् कादाचित्कत्वरूपविशेषणविरहात् कादाचित्कनिर्विषयत्वस्यातात्त्विकत्वे इदम् दूषणम्। निर्विषयत्वरूपविशेष्याभावात् तथात्वे तु सविषयत्वनित्यत्वपक्षदोषः स्मर्तव्यः।

यद्वा, कादाचित्कसविषयत्वं कदाचिन्निर्विषयत्वमित्येतदुभयमप्यतत्त्वमित्यनेन तदुभयमपि न निषिध्यते; किन्तु कादाचित्कसविषयत्वमेव वा कादाचित्कनिर्विषयत्वमेव वा; तत्रान्यतरनिषेधे कर्तव्ये कादाचितदितरकादाचित्कत्वकीर्तनं निषेध्यस्य वा चित्कत्वानुवादान्तर्गतम्, भवति हि कदाचिन्निर्विषयत्वमित्येतत्सविषयत्वस्य कादाचित्कत्वानुवादान्तर्गतम्; कादाचित्कत्वस्य किञ्चित्कालसम्बन्धित्वे सति किञ्चित्कालासम्बन्धित्वरूपत्वेन कदाचिन्निर्विषयत्वकीर्तनस्य सविषयत्वकादाचित्कत्वघटकीभूतकिञ्चित्कालासम्बन्धित्वांशकीर्तनरूपत्वात्, एवं कदाचिन्निर्विषयत्वे निषेध्ये कदाचित्सविषयत्वकीर्तनमपीत्यभिप्रायेण शङ्कते अथ कालेति। अपसिद्धान्तः अभ्युपगमविरोधः। स्ववचनविरोधः संसारप्रतिपादकत्ववचनविरोधः। वादानधिकारः प्रमातृप्रमाणाद्यभावात्। आदिशब्देन प्रमाणाभावात् ब्रह्मणोऽप्य सिद्धिरित्यादिकमूह्यम्। बाधाभावाच्च सविषयत्वं तात्त्विकमित्याह नहीति। तात्त्विकसविषयत्वाङ्गीकारे तस्य नित्यत्वावश्यम्भावेन नित्यसंसारप्रसङ्ग इत्याह नेति। तात्त्विकत्वे कथं नानित्यतेत्यत्राह। नहीति। सत्यस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वात्, असत्येन च सत्यनिवृत्त्ययोगात्, सत्यान्तरस्यचानङ्गीकारात् तदङ्गीकारे च तदनाशेसंसारानिवृत्तिप्रसङ्गात्, तन्नाशस्य चांक्रकरीत्या सत्यान्तरादेव वाच्यतया तस्यापि तथेत्य नवस्थाप्रसङ्गान्न परमार्थस्याप्यनित्यत्वाङ्गीकारः परस्योपपद्यत इति भावः। अनित्यस्यापि ब्रह्मस्वरूपान्तर्गतत्वाङ्गीकारात् पारमार्थिकत्वम् युज्यत इति शङ्कते। स्वरूपानुप्रवेशादिति। किञ्च ब्रह्मणो नित्यतया तदभिन्नस्य मिथ्याविषयत्वस्यापि नित्यतया नित्यसंसारप्रसङ्ग इत्याह तदिति।

किञ्चानादिकालं सविषयायाः संविदो निर्विषयता कुत आगता ॥ विषयग्रहणसामग्रीसन्तानात्यन्तोच्छेदादिति चेत्—[न], नित्यायास्सामग्र्यपेक्षया ॥ संविदन्तरसिद्ध्यर्थं सेति चेत्, किं संविद्भेदमङ्गीकरोषि । विषयावगाहनार्थं सेति चेत्–किमिदमवगाहनं संवित्स्वरूपम्, उतान्यत् ? पूर्वत्र नैरपेक्ष्यमेव । उत्तरत्र किमसौ विषयिधर्मः, उत विषयधर्मः उतोभयधर्मः, यद्वा विषयस्वरूपमेव ? आद्ये सविशेषत्वम् । मिथ्याधर्मप्रलापदूषणं तु स्थलान्तरेऽनुसन्धेयम् ॥ द्वितीये तदुत्पत्तावपि रूपाद्युत्पत्ताविव संविदस्तत्सम्बन्धाभावेन तादवस्थ्यमेव ॥ तृतीयेऽपि सविकारत्वमवर्जनीयमेव ॥ चतुर्थे सम्बन्धासिद्धिः । विषयग्रहणसामग्र्या विषयोत्पादनमिति हास्यत्वं च । सिद्धे हि विषये प्रकाशार्थं सा । भ्रान्तौ [तु] तदुत्पत्तिस्तद्ग्रह इति न भेद इति चेन्न, आत्मख्यातिवादप्रसंगात् । प्राक् सतामेव हि विषयाणां ग्रहणार्थं प्रमाणकल्पनं व्यावहारिकमपि भवत्परिगृहीतम्, अन्यथा क्षणभंगनिराकरणस्याप्ययोगात् । अतः सामग्रीनिरपेक्षसंवित्स्वरूपप्रकाशत्वादिनस्ते न निर्विषयदशा सिध्यति ॥

प्रसाद—किञ्च, संवित् में अनादि कालिक निर्विषयता कैसे आयी ? यदि कहें कि विषयों की ग्रहण सामग्री के अत्यन्त उच्छेदके द्वारा तो प्रश्न है कि, यहाँ पर आपको ग्रहण शब्द से संवित् विवक्षित है अथवा विषयों का अवगाहन ? यदि संवित् विवक्षित है तो वह संवित् अनादि सिद्ध ही है अथवा संविदन्तर ? यदि नित्यसिद्ध संवित् है तो फिर उसको सामग्री की अपेक्षा क्यों है ? यदि संविदन्तर को मानें तो प्रश्न है कि क्या आप संवित् नानात्व को स्वीकार करते हैं ? अद्वैत मत में तो संवित् एक ही है। यदि विषय ग्रहण का अर्थ विषयावगाहन मानें तो ; प्रश्न है कि वह विषयावगाहन संवित् स्वरूप है अथवा किसी अन्य प्रकार का ? संवित् स्वरूप मानने पर पुनः उसके सामग्री अपेक्षित नहीं होगी । यदि विषयावगाहन को संवित् व्यतिरिक्त रूप मानें तो प्रश्न है कि वह विषयी का धर्म है ? या विषय का धर्म रूप है ? या दोनों का धर्म है ? या वह विषय का स्वरूप ही है ? विषयी रूप मानें तो फिर संवित् की सविशेषतापत्ति होगी । यदि उसे मिथ्या धर्म मानें तो उसका खण्डन हम मिथ्यात्व भङ्ग के प्रसङ्ग में कर चुके हैं । यदि विषय का धर्म माने तो प्रश्न है कि संवित् उस धर्म का निरूपक है कि नहीं । यदि है तो फिर सविषयत्वापत्ति होगी । यदि नहीं है तो जिस तरह संवित् के सम्बन्ध होनेपर भी विषय में रूपादि की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी तरह संवित् का विषय से सम्बन्ध न हो सकने के कारण पहले के ही समान वह निर्विषय ही होगा । यदि उसे दोनों का धर्म मानें तो भी ब्रह्म में सविकारत्वापत्ति अवश्य होगी । यदि उसे विषय स्वरूप ही मानें तो ज्ञान में विषय की निरूपकता का अभाव होने से सम्बन्ध सिद्धि होगी । विषयग्रहण सामग्री के द्वारा विषयोत्पादन मानना तो हास्यास्पद है । यदि कहें कि विषयग्रहण सामग्री विषय के सिद्ध रहने पर विषय विषयिणी नहीं होती है, किन्तु भ्रान्तिमें तो सामग्रीग्रहण विषयोत्पत्ति रूप ही होती है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर भी आपके मत में आत्मख्याति का प्रसङ्ग होगा । किञ्च आप सिद्ध वस्तुओं के ही ग्रहणार्थ व्यावहारिक

भी प्रमाण की कल्पना करते हैं। अन्यथा आप क्षणभङ्गवाद का खण्डन नहीं कर सकते है, क्योंकि; प्रत्यक्ष में इन्द्रिय सन्निकर्ष ही कारण होता है, इन्द्रिय की विषय से संयोगदशा में भी विषय के वाच्य होने के ही कारण आप क्षणभङ्ग वाद का निराकरण करते हैं। अतएव सामग्री निरपेक्ष संवित् का स्वरूप स्वीकार करने के कारण आपके मत में निर्विषयदशा की सिद्धि नहीं हो सकती है।

विषयग्रहणेति। विषयावगाहनं विवक्षितम्, अन्यथा पूर्ववाक्योक्तदूषणपरिहारत्वानुपपत्तेः। ग्रहणशब्दसाधारण्य मात्रेण किं ग्रहणशब्देन संविद्विवक्षिता उत विषयावगाहनमिति विकल्पमभिप्रेत्याद्येऽपि किमनादिसिद्धा संविदेव विवक्षिता उत संविदन्तरमिति विकल्प्याद्यम् दूषयति किमित्याद्या इति। संविद्भेदमिति। भेदः-नानात्वम्। द्वितीयपक्षं शङ्कते विषयेति। स्थलान्तरे मिथ्यात्वभंगे। मुक्तिदशायां सविषयत्वमिवृत्तेः ब्रह्मत्व रूपतदतिरेकीविकल्पेनाविद्यानिवृत्तिवादोक्तदूषणं मनुसन्धेयम्। विषयधर्म इति पक्षेऽपि किं संविदः तद्धर्मनिरूपकत्वमस्ति उत न आद्ये पूर्ववत् सविशेषत्वादिकमित्यभिप्रेत्य द्वितीयं दूषयति। द्वितीय इति। तादवस्थ्यमिति। विषयधर्मात्मकावगाहनोत्पत्तेः प्राग्वदवस्थत्वमनन्तरमपि तदवस्थत्वमेवेत्यर्थः। प्रागिव पश्चादपि निर्विषयत्वमेव स्यादित्याशयः सविकारत्वं सविशेषत्वमित्यर्थः। चतुर्थ इति। संविद तन्निरूपकत्वस्य पूर्ववदभावादित्यर्थः। विषयग्रहणेति। साक्षात्कारात्मकविषयग्रहणसामग्र्यां विषयस्यापि प्रविष्टत्वेनात्माश्रयप्रसङ्गात्। सर्वथापि ज्ञानसामग्र्या विषयानुत्पत्तेः, अतीतादीनां ज्ञानस्थलेऽत्यतीतादिविषयस्य पुनरुत्थानप्रसङ्गाच्च। हास्यत्वमित्यर्थः। यदि हि ज्ञानात्प्रागेव विषयसिद्धिस्स्यात, तदानीं हि विषयग्रहणसामग्री विषयार्था न स्यात्, भ्रान्तौ तु विषयस्य प्रागसत्वात् सामग्र्यास्तादर्थ्यमविरुद्धमिति शङ्कते। सिद्धे हीति आत्मख्यातीति। ज्ञानार्थयोरभेदादिति भावः। सिद्धान्तविरोधमप्याह। प्रागिति। अन्यथेति। इन्द्रियसन्निकर्षस्य प्रत्यक्षे कारणत्वादिन्द्रियसंयोगदशायामपि विषयस्य वाच्यत्वादेव हि क्षणभङ्गनिराकरणमिति भावः। अत इति। संविदः स्वरूपेण प्रकाशः संवित्स्वरूपप्रकाशो भासमानता। सामग्रीनैरपेक्ष्यस्य उपपादितत्वान्न सामग्रीसन्तानोच्छेदान्निर्विषयदशोपपादनसम्भव इत्यर्थः।

अस्तु तर्हि विषयविनाशादेव निर्विषयतासिद्धिरिति चेन्न, नष्टस्यापि विषयत्वाविरोधात्। अन्यथा अतीतादिविषयस्मृत्यनुमानादिभङ्गप्रसङ्गात्॥ तद्विषयत्वे स्थितेऽपि तन्नाशान्न संसारादिप्रसङ्ग इति चेत्, किमसौ नाशोऽप्रकाशात्मा, उत प्रध्वंसात्मा? आद्ये तद्विषयत्वे स्थितेऽपि तन्नाशादिति स्ववचनविरोधः। द्वितीये निवर्त्यसत्यत्वम्; निवृत्त्या सद्वितीयत्वमित्यादिदोषप्रसङ्गः॥ निवृत्तान् (त्ति) निवृत्त (त्ति) तया विषयीकरोतीति न दोष इति चेत्, विषयीकरणं किं स्वरूपम्, उत तदातिरिक्तम्? स्वरूपपक्षे संसारदशायामपि नित्यं निवृत्ततया विषयीकारप्रसंगः, सर्वत्र स्वरूपस्य तदानीमपि विद्यमानत्वात्। अतिरिक्तपक्षे तत् किं सत्यम्, उत मिथ्या? सत्यत्वे सद्वितीयत्वादिप्रसङ्गः।

मिथ्यात्वे तु तस्यैव दृगधीनसिद्धेः प्रकाशात् तत्कारणाविद्यानुवृत्त्यवश्यंभावाच्च पुनरपि संसारानुच्छेदः ॥ तावन्मात्रं क्षम्यत इति चेन्न, तस्य तस्याश्चानिवर्त्यत्वेन सत्यत्वप्रसंगे सद्वितीयत्वादिप्रसंगात् तुल्यन्यायोत् प्रपञ्चबाधादिमूर्खप्रलापानां निरोधप्रसंगात्। अतः संविदि नित्यायाम्, सामग्रीनिवृत्त्या विषयनिवृत्त्या वा निर्विषयत्वापादनं त्वया वक्तुं न शक्यम् ॥

प्रसाद—किञ्च आप विषय के विनाश के द्वारा भी निर्विषयता की सिद्धि नहीं मान सकते हैं; क्योंकि नष्ट हो जाने पर भी विषय में विषयत्व रहेगा ही। यदि ऐसा नहीं होता तो अतीत कालिक विषयों का न तो स्मरण हो पाता और न तो अनुमान ही। यदि कहें कि विनष्ट विषय में विषयत्व रहने पर भी उसके द्वारा चैतन्य के सांसारिकत्व की प्रसक्ति नहीं हो सकती है, तो प्रश्न है कि यह नाश अप्रकाश रूप है? अथवा प्रध्वंस रूप है? यदि अप्रकाश रूप मानें तो, प्रकाश के नित्य होने के कारण उसका विषयत्व तो नित्य ही बना रहेगा, ऐसी स्थिति में उसमें विषय का प्रकाशाभाव रूप विषय विनाशत्व कैसे आयेगा? यदि विनाश को प्रध्वंसरूप मानें तो निवर्त्य की सत्यता तथा निवृत्ति के द्वारा सद्वितीयता पत्ति आदि दोष होंगे। यदि कहें कि निवृत्त वस्तुओं को निवृत्तरूप से अपना विषय बनाने के कारण संविद् की निर्विषयता में कोई दोष नहीं है; तो प्रश्न है कि विषयीकरण क्या स्वरूप है; अथवा उससे अतिरिक्त पदार्थ? यदि उसे स्वरूप मानें तो संसारदशा में भी सर्वत्र स्वरूप के विद्यमान रहने के कारण उस दशा में भी नित्यनिवृत्त होने के कारण विषयीकरण का प्रसङ्ग होगा। यदि विषयीकरण को स्वरूप व्यतिरिक्त मानें तो प्रश्न है कि वह सत्य है? कि मिथ्या? सत्य होने पर सद्वितीयतापत्ति होगी। यदि मिथ्या है तो उसका प्रकाश दृक् आत्मा) के द्वारा होने के कारण और मिथ्यावस्तु के प्रकाश के कारण भूत अविद्या के अवश्य होने के कारण, पुनः संसार के अनुच्छेद का प्रसङ्ग होगा। यदि आप संसारानुच्छेद मात्र को स्वीकार करते हैं तो ऐसा भी नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने पर विषयीकरण तथा अविद्या अनिवर्त्य होने के कारण उनकी सत्यता का प्रसङ्ग होने से सद्वितीयतापत्ति होगी, किञ्च अविद्या तथा विषयीकरण के ज्ञान के द्वारा भी बाध न मानने पर आपके प्रपञ्च बाध विषयक प्रलापों का भी निरोध हो जायेगा। अतएव नित्य संवित् में सामग्री की निवृत्ति अथवा विषय की निवृत्ति के द्वारा निर्विषयत्व का प्रतिपादन आप नहीं कर सकते हैं।

माभूत्सामग्रीविरहान्निर्विषयदशा, विषयाभावात्तु स्यादिति साक्षात्सिद्धान्तमेवाशङ्कते। अस्त्विति। निर्विषयता विषयानुल्लेखः। नष्टस्यापीति। ततश्च निर्विषयस्वाभावस्संसारश्च प्रसज्येते इति भावः।

एतेनेदं निरस्तम्; यदाह नवीनः स्वतः शुक्लस्यापि पटस्य रक्तद्रव्योपरागे रक्तत्ववत् स्वतो निर्विषयस्य प्रकाशरूपात्मनो विषयोपरागे सविषयत्वं तदपायेरक्तद्रव्यापाये पटशौक्ल्यवत् स्वाभाविकनिर्विषयप्रकाशस्वरूपत्वमेव, तथाच स्वरूपज्ञानस्य स्वसंसृष्टार्थमात्रप्रकाशकत्वान्मुक्तौ नातीतविषयोपप्लवः, अतएव च न तस्य मुक्तौ विषयानुल्लेखेऽपि निस्स्वभावत्वप्रसङ्गः, अर्थप्रकाशत्वस्य उपलक्षणत्वात्, त्वयाप्येवमेवाभ्युपगन्तव्यत्वात्, अन्यथा त्वदभिमतेश्वरज्ञा-

नस्य नित्यस्य सर्वविषयापायदशायां निस्स्वभावत्वप्रसङ्गात् , नचातीतमपि तद्विषयीकरोतीति वाच्यम् , ईश्वरज्ञानस्यातीतार्थसम्बन्धाभावेन तदविषयत्वात् , अतीतादेश्च त्वन्मते निस्स्वरूपत्वेन स्वरूपद्वयात्मकस्यास्वरूपसम्बन्धस्यापि वक्तुमशक्यत्वात् ; तस्यापि सस्वरूपत्वे प्रागभावध्वंसाभ्यां प्रतियोगिन एककालत्वप्रसङ्गात् ; ततश्च तदानीमसत्त्वे वाच्ये निस्स्वरूपत्वस्यावश्यकत्वात् नचातीतादेरभाव एव न त्वसत्त्वमिति वाच्यम्-अनिर्वचनीयानङ्गीकारिणः, असत्त्वनिषेधे सत्त्वापत्तेः, एतेन कालविशेषे तस्याभावप्रतियोगित्वमेव न त्वसत्त्वमिति निरस्तम् , असत्त्वनिषेधे सत्त्वापत्तेः; अभावप्रतियोगित्वस्याभावविरहात्मकप्रतियोगिस्वरूपत्वेन प्रागभावादिनैकालत्वापत्तेश्च तथा चेश्वरज्ञानमर्थसम्बन्धाभावात् कथमर्थप्रकाशस्स्यात् कथं तर्हि ईश्वरस्य सार्वज्ञं जगन्निर्माणं वा , भूतभाविप्रतिसन्धानाभावादिति चेत् , स्वात्मानमुपालम्भस्व , यस्त्वमीश्वऽतीताद्याकारामविद्यावृत्तिन्न स्वीकुरुषे , नच प्राप्यसम्बन्धात् कथमतीतादिकं विषयीकुर्यादिति वाच्यम् । अनिर्वचनीयवादे आमोक्षान्निरन्वयविनाशाभावात् असत् उत्पत्यभावाच्च दुर्निरूपसूक्ष्मरूपेण पदार्थमात्रस्यातीतादिकालेऽपि विद्यमानतया कल्पितसम्बन्धेन सार्वज्ञ्याद्युपपत्तेरिति ।

अत्र यदुक्तम्-स्वतो निर्विषयस्यात्मनो विषयोपरागे सविषयत्वमिति । तन्न, उपाधिसम्बन्धाद्धि उपाधिगतो धर्मस्तत्संसर्गिणः भासते नच सविषयत्वं विषयगतम् , येन तदुपरागात् सविषयत्वं स्यात् । किंच को नाम सविषयत्वोपपादको विषयोपरागः ? न तावत्सम्बन्धमात्रम् रक्तद्रव्यसंसृष्टपटस्य रक्तद्रव्यविषयतापत्तेः । नापि विषयविषयिभाव एव , आत्माश्रयप्रसङ्गात् ।

यच्चोक्तमीश्वरज्ञानस्य सर्वविषयस्यापि कार्यविरहकाले तदविषयत्वं त्वयापि वक्तव्यम् ; असता तेन सम्बन्धाभावादिति । तन्न; अतीतादिगतस्य ज्ञानविषयत्वस्येदानीमसत्वेपि तत्काले सत्वात्तन्निरूपितविषयीकरणस्य च नित्येश्वरज्ञाने सर्वदा सत्त्वात् । अतीतादिविषयकास्मदादिज्ञानेऽपि विषयकाले ज्ञाननिरूपितं विषयत्वं ज्ञानदशायां च तस्मिन्विषयित्वमिति न कश्चिदोषः ॥ नच विषयकाले एतज्ज्ञानविषयत्वप्रतीतिप्रसङ्गः , तदानीमेतज्ज्ञाननिरूपकस्याप्रतीतेः इदानीं च ज्ञानोपस्थितेस्तद्विषयत्वम् । तत्कालेपि भूतभविष्यज्ज्ञानोपस्थितिर्यस्यास्ति तेन विषयत्वं ज्ञायत एव ज्ञातो घटो ज्ञास्यते घट इति । नह्यत्र विषयत्वस्य भूतत्वभावित्वे प्रतीयेते , धात्वर्थगतभूतत्वभविष्यत्वयोरेव निष्ठालृटोर्विधानात् । प्रतीतेरिदानीन्तनत्वादेव च इदानीमतीतं प्रतीतिविषय इत्यादिप्रतीतिः ॥ कथमन्यथा ईश्वरस्य सार्वज्ञ्यम् जगन्निर्माणं वा ; भूतभाविप्रतिसन्धानाभावात् ।

यत्तत्रोक्तमविद्यावृत्त्या विषयस्यानिर्वचनीयत्वाच्च त्वमत एव तदुपपत्तिरिति । तन्न , अनिर्वचनीयस्य सूक्ष्मरूपस्य विद्यमानस्य विषयत्वेऽप्यविद्यमानस्य सूक्ष्मरूपस्याविषयतया सार्वज्ञ्यायोगात् । सूक्ष्मरूपस्यविद्यमानत्वे अविद्यावृत्त्या परिहार वैयर्थ्यम् , प्रकाशस्यैव तद्विषयत्वसम्भवात् ॥ किञ्चैवमनिर्वचनीयस्य सम्बन्धस्यासतोप्यङ्गीकर्तुं शक्यत्वात् सूक्ष्मरूपान्तरकल्पनया परिहारवैयर्थ्यम् । शुक्तिसाक्षात्कारात्तदज्ञानतत्कार्यरजतादेर्निरन्वयविनाशात् नानाजीववादे तत्त-

त्जीवानां ब्रह्मसाक्षात्कारेण तत्तत्संसारस्य तदज्ञानन्तःकरणादिर्निरन्वयविनाशे ईश्वरस्यास्मदादेर्वा तज्ज्ञानाभावप्रसङ्गः । किञ्च मुक्तसंविदः संसारिसंविद्भिरीश्वरसंविदा चाभिन्नतया सर्वविषयत्वमवर्जनीयम् । तस्या निर्विषयत्वे "यस्मिंस्तु संसारिणि दुःखमस्ति तदपि तन्निष्ठत्वेन म्रक्षीभूतो मुक्तोऽवगच्छती" ति स्ववचनविरोधाच्च ॥

यत्तु मोक्षे दुःखादितादात्म्याभावादेव तदस्फुरणं न तु स्फुरणविरहादिति । तन्न, तादात्म्यं ह्यभिन्नसत्ताकत्वम् ; तच्च दुःखदशायामिव मुक्तदशायामप्यस्त्येव । किञ्च वृत्तेस्तदाकारत्वम् तन्निरुपणाधीननिरुपणार्हत्वमित्युक्तम् , ततश्चेदं ज्ञानं एव तद्विषयात्मकमस्तु , अत एवेश्वरादिज्ञानानामतीतादिविषयत्वं चोपपद्यते ।

तद्विषयत्व इति । आदिपदेननिर्विषयत्वाभावो गृह्यते । मुक्तसंविदस्सविषयत्वे सत्यत्यतीतविषयकत्वेन तदानीं विषयाभावादेव निर्विषयत्वव्यपदेशोऽपि घटत इति भावः । आद्य इति प्रकाशस्य नित्यतया तत्प्रकाशाभाववचनस्य तद्विषयत्वाभावपर्यवसानादिति भावः । द्वितीय इति । मोक्षदशायामपि विद्यमानस्य ध्वंसस्याविघकत्वाभावेन सत्यत्वात्तद्विरोधिनो निवर्त्यस्य समानसत्ताकयोरेव विरोधात् सत्यत्वं निवृत्त्या सद्वितीयत्वं च प्रसज्यत इत्यर्थः । आदिपदेन निवृत्तो ब्रह्मस्वरुपत्वे तस्यासाध्यत्वेन श्रवणादिवैयर्थ्यम् । भिन्नसत्ताकत्वेन ब्रह्मस्वरुपेणाविरोधित्वात् पूर्वमिवोत्तरकालमपि संसारप्रसङ्ग इत्यादिकं ग्राह्यम् । नष्टस्यापि विषयत्वाविरोधादित्यत्र पुनश्चते निवृत्ता नेति । अनिवृत्ततयाभेददर्शनमेव संसारः अतो न संसारप्रसङ्गः , निवृत्ततया विषयीकरणमेव निर्विषयत्वमिति भावः । स्वरुपपक्ष इति । ततश्च संसारदशायामपि संसारभावनिर्विषयत्वयोः प्रसङ्ग इति भावः । सद्वितीयत्वादीति । आदिपदेन नित्यत्वम् गृह्यते । मिथ्यात्वेत्विति ! अविद्याविषयीकरणयोर्निवृत्तत्वेनाविषयीकरणादिति भावः । तस्य विषयीकरणस्य । तस्याः-अविद्यायाः । आदिपदेनाविद्यायास्सत्यत्वे तन्मूलकप्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्यादि विवक्षितम् । तुल्यन्यायादिति । मिथ्यात्वेऽप्य विद्याविषयीकरणयोर्ज्ञानेनाबाधे तुल्यन्यायात । प्रपञ्चबाधकवादोऽपि निरुन्ध्येतेत्यर्थः । आदिपदेनशुक्त्यादिज्ञानाद्रजतादिबाधो विवक्षितः ।

ननु भवतामात्मस्वरूपस्य संविद्रूपत्वेऽपि यथा निर्विषयत्वम् , तथाऽस्माकमपि स्यात् ॥ न स्यात् , अस्माकमात्मस्वरूपस्य प्रतीचः कदाचिदपि बाह्यार्थगोचरत्वानभ्युपगमात् । भवतस्तु तद्विषयाया एव तद्विषयत्वनिवृत्तेर्दुर्वचत्वात् ॥ अस्तु तर्हि भवतां धर्मभूतज्ञानवत् कदाचित् सविषयत्वम् , कदाचिच्च निर्विषयत्वमिति चेन्न , अस्माभिः परमार्थाकारान्तरापत्त्यभ्युपगमात् , भवतां तु तदनभ्युपगमात् तदयोगात् । अतो नित्यसंवित्स्वरूपप्रकाशमात्राधीनसिद्धीनां सर्वेषामपि पदार्थानां नित्यत्वमपि प्रसज्येत । तदधीनसिद्धित्वाभावे तु सिद्धिनिषेधे तुच्छत्वम् । तादधीन्यनिषेधे तु सत्यत्वम् । अतस्तन्मात्राधीनसि-

द्वयभ्युपगमे तद्वदेव तदधीनस्यापि नित्यत्वमवर्जनीयमेव । तथा च सति सर्वप्रपञ्चः सत्य इति जितं यथार्थवादिभिः । तद्भयात् संविन्नित्यत्वपरित्यागे साक्षात्सौगतत्वादिप्रसङ्गः । अतएव ; "स्वापमदमूर्च्छादिषु निर्विषया संवित्" इत्यपि भवद्भिर्दुर्वचमेव, निर्विषयनिराश्रयसम्वित्प्रकाशस्तदानीमनुभूतः (भूयत) इति ; कस्यचिदपि सावधानस्यापि समस्तसंस्कारतिरस्कारकदेहविगमादिक्लेशाभावेऽपि न परामर्शोऽस्ति । किन्तु अहमपि न विनष्टः ; विषया अपि स्थिताः, प्रकाश एव सुषुप्त्यादौ निवृत्त इति सर्वे प्रत्यवमृशन्ति । 'नाहं खलु' इत्यादिश्रुतिरपि ज्ञाननिषेधपरैव, न जानामीत्यत्रैव तात्पर्यात् । अस्माभिस्तु विषयप्रकाशलक्षणावस्थाविशेषरहितज्ञानद्रव्यमात्रसत्ता; 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादिश्रुतिबलादभ्युपेयते । न चास्ति तत्र प्रत्यक्षविरोधः, विषयप्रकाशव्यतिरिक्तदशायां तस्याः स्वप्रकाशायोग्यत्वात् । ज्ञानान्तरस्य तु तदानीं सामग्र्यभावादेवानुदयात् तावताऽपि तदातनज्ञाननिषेधश्रुतेश्चरितार्थत्वात् ।

प्रमाद—यदि कहें कि जिस तरह सिद्धान्ती भी आत्मा को ज्ञान स्वरूप होने पर भी निर्विषय मानते हैं, उसी तरह हम भी आत्मा को निर्विषय मानते हैं, तो अद्वैती विद्वान् यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि हम प्रत्येक आत्मा के स्वरूप को बाह्य वस्तुओं का विषय नहीं मानते हैं। आपकी संविदात्मा तो बाह्य वस्तुओं का विषय है, अतएव उसके बाह्यवस्तु विषयत्व की निवृत्ति का प्रतिपादन आप नहीं कर सकते हैं। यदि कहें कि जिस तरह सिद्धान्ती को अभिमत धर्मभूतज्ञान कभी सविषय तथा कभी निर्विषय होता है, उसी तरह हमारे अभिमत संवित् का कादाचित्क निर्विषयत्व हैं, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि हम धर्मभूतज्ञान का परमार्थतः विषयीकरण स्वीकारते हैं, किन्तु आप तो ऐसा मानते नहीं हैं। अतएव आपके संवित् के निर्विषयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतएव नित्य संवित् के स्वरूप के प्रकाशमात्र के द्वारा प्रकाशित होने वाली सभी वस्तुओं के नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा। उन वस्तुओं का प्रकाश संवित् के स्वरूप प्रकाश के अधीन न मानें तो सभी वस्तुओं को तुच्छ मानना होगा। उन वस्तुओं को संवित् प्रकाशाधीन नहीं मानें तो उन वस्तुओं के सत्यत्व का प्रसङ्ग होगा। अतएव संवित् के अधीन मात्र सभी वस्तुओं की सिद्धि मानें तो, फिर संवित् की ही तरह संविदधीन भी वस्तुओं के नित्यत्व को अवश्य स्वीकारना होगा। और ऐसा होने पर सम्पूर्ण प्रपञ्च को सत्य मानने वाले वादियों की ही विजय होगी। यदि प्रपञ्च सत्यत्व के भय से आप संवित् के नित्यत्व को त्याग दें, तो फिर आप और बौद्धों में कोई अन्तर ही नहीं होगा। अतएव आप यह भी नहीं कह सकते है कि स्वाप, मद एवं मुर्च्छा आदि के काल में भी संवित् का निर्विषयत्व नहीं प्रतिपादित कर सकते हैं, क्योंकि किसी अत्यन्त सावधान व्यक्ति का भी ऐसा परामर्श नहीं है, जिससे सिद्ध हो सके कि सभी संस्कारों को विनष्ट करने वाले देहत्याग आदि जन्य से क्लेश शादि के अभाव में भी निर्विषय एवं आश्रय विहीन अनुभूति का अनुभव होता है। अतएव स्वापादि काल में भी निर्विषय संवित् की सिद्धि नहीं हो सकती है। बल्कि सभी अनुभव कर्ताओं को यही अनुभव होता है कि सुषुप्त्यादिकाल में भी था, विषय भी थे, केवल विषयों

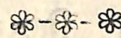
का ज्ञान मात्र नहीं होता था। 'नाहम् खलु' इत्यादि श्रुति का भी तात्पर्य, सुषुप्त्यादि काल में ज्ञान के निषेध में ही है। हम तो 'न विज्ञातु विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुति के आधार पर यह मानते हैं, कि उक्त कालों में भी ज्ञान रहता है, किन्तु उस समयों धर्मभूतज्ञान के द्वारा विषयों का प्रकाश नहीं होता है। इस कथन का प्रत्यक्ष से विरोध इसलिए नहीं है कि ज्ञान का प्रकाश तब ही होता है; जब कि वह विषयों का प्रकाश करे, विषयों के प्रकाश काल व्यतिरिक्त काल में ज्ञान में स्वयम् प्रकाश की योग्यता नहीं रहती है। सामग्री के नहीं रहने से उक्त कालों में दूसरा ज्ञान भी नहीं उत्पन्न होता है। विषय प्रकाशनाभाव के द्वारा भी स्वापादि कालिक ज्ञान का निषेध करनेमें श्रुति चरितार्थ हो जाती है।

अस्माभिरिति। आकारान्तरम्—विषयीकरणम्। भवतात्विति। स्वरूपातिरिक्तस्य परमात्मनः। स्थानाभ्युपगमात् स्वरूपमेव विषयीकरणमिति वक्तव्यम् तस्य च निवृत्तिर्दुर्वचेत्यर्थः।

ननु स्वापादिषु प्राक्सविषयाया एव संविदो निर्विषयत्ववन्मुक्तौ निर्विषयत्वम् स्यादित्यत्राह। अतएवेति। न केवलं भवता दुर्वचत्वम्, निर्विषयनिराश्रयसंविदो मानाभावात् बाधाच्च तदानीमसिद्धिरेवेत्याह निर्विषयेति।

ननु "नाहं खल्वि" ति श्रुतौ "सम्प्रत्ययमहमस्मी" ति सुषुप्तौ सविषयत्वस्य निषेधात्तदा संविन्निर्विषयेत्यत्राह नहीति। विषयीकरणस्य ज्ञानस्वरूपत्वस्यैव वाच्यतया सविषयत्वविशिष्टज्ञाननिषेधस्य न जानामीत्यत्रैव पर्यवसानेन ज्ञाननिषेधपरत्वस्यैव त्वया वाच्यत्वादित्यर्थः।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां मुक्तसंविन्निर्विषयत्वभङ्गो नाम एकपञ्चाशस्स्कन्धः।



अतस्त्वत्पक्षे ज्ञानस्य कदाचिदपि निर्विषयदशा दुरुपपादा, मुक्तौ तु सुतरामिति यथाश्रुति सार्वज्ञ्यमेव तदा स्वीकार्यम्॥ अन्यपरास्ताः श्रुतय इति चेन्न, परब्रह्मोपासनप्रकरणात् तत्फलप्रतिपादनपरत्वेन च सांसारिकफलत्वायोगात्, तत्रतत्रैव च निवृत्तसमस्तपुण्य[illegible]पत्वादिप्रतिपादनात्, विध्यपेक्षिते फले समर्प्यमाणे केवलार्थवादत्वकल्पनायोगात्। अन्यथा श्रुतहानाश्रुतकल्पनादिदोषसमुद्भावात् (दूगमात)। अतस्सिद्धं न कथंचिदपि मुक्तदशायां सर्वविषयवैमुख्यलक्षणमान्ध्यं संविदः शङ्कनीयमिति॥

॥ इति शतदूषण्याम् मुक्तसंविन्निर्विषयत्वभङ्गवादः पञ्चाशः॥५१॥



प्रसाद—अतएव अद्वैत मत में ज्ञान का निर्विषयत्व कभी भी नहीं उपपन्न हो सकता है । मुक्ति में तो जीव भी सर्वज्ञ हो जाता है, मानना चाहिए । यदि कहें कि मुक्त जीव के सार्वज्ञ्य इत्यादि का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का वह अभिप्राय नहीं जो सिद्धान्ती मानते हैं; तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वे श्रुतियाँ ब्रह्मोपासना के प्रकरण में आयी हैं; ब्रह्मोपासना का फल ब्रह्मसाधर्म्यापत्ति का प्रतिपादन करने के कारण, उनका कोई फल सांसारिक नहीं हो सकता है । किञ्च ब्रह्मोपासना के ही प्रकरण में विद्याओं का फल पूर्वाघ का नाश तथा उत्तराघ का असंश्लेषाभाव बतलाया गया है । विधि वाक्य के द्वारा अपेक्षित फल की प्राप्ति होने पर; उन वाक्यों को (मुक्त जीव का वैभव प्रतिपादन परक अर्थवाद वाक्य मात्र मानना उचित नहीं है; नहीं तो श्रुत अर्थ के त्याग तथा अश्रुत की कल्पना का प्रसङ्ग होगा । इस तरह सिद्ध हो गया कि मुक्तावस्था में बुद्धि में सर्वविषय वैमुख्य रूप संवित् का निर्विषयत्व नहीं स्वीकारा जा सकता है ।

इस तरह शतदूषणी के एकावनवें मुक्तसंवित् निर्विषयत्व भङ्ग नामक वाद का प्रसाद सम्पूर्ण हुआ ॥



॥ अथ सगुणनिर्गुणश्रुतिव्यवस्थावादः द्विपञ्चाशः ॥ ५२ ॥

सत्त्वानीव विरुद्धजातिजनुषा सिद्धानि सिद्धाश्रमे
वैरं यत्र मिथस्त्यजन्ति विधयः सर्वे निषेधैः सह ।
तद् रंगेशयमंगसंगिकमलालक्ष्येश्वरप्रक्रियं
शान्तावद्यमनन्तमंगलगुणं ब्रह्म प्रपद्येमहि ॥
निर्गुणश्रुतिभिः केचित् बाधन्ते सगुणश्रुतीः ।
तासामन्योन्यसौहार्दमाहुर्यतिवराश्रयाः ॥

प्रसाद—जिस तरह सिद्धों के आश्रम में परस्पर में विरुद्ध जाति में उत्पन्न जीव भी वैरत्याग करके रहते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् को विषय बनाने वाले सभी विधि वाक्यों का भगवद्विषयक निषेध वाक्यों से किसी भी प्रकार का वैर नहीं है; उस श्रीरङ्गम् निवास रसिक, जिनके साथ सदा लक्ष्मी जी निवास करती हैं, जिनकी सम्पूर्ण जगत् के नियामकत्व विषयक प्रक्रियाएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं, उन शान्त, निर्दोष, अनन्त कल्याण गुणों के आश्रय पर ब्रह्म की हम शरणागति करते हैं । कुछ अद्वैती विद्वान वेदान्त की सगुण श्रुतियों का निर्गुण श्रुतियों द्वारा बाध बतलाते हैं, किन्तु यतिराज श्री रामानुजाचार्य के आश्रित जीव, उन दोनों प्रकार की श्रुतियों में परस्पर में सौहार्द का ही वर्णन करते हैं ॥

अस्ति तावत् उपनिषत्सु ब्रह्मण्येव सगुणवादो निर्गुणवादश्च । यथा—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' ; 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'; 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' ; 'ब्रह्मणा विपश्चिता' इत्याद्याः परस्सहस्राः सगुणश्रुतयः । एवम् 'निर्गुणं', 'निरञ्जनं' ; 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' 'अपहतपाप्मा विजरः' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम्' ; 'अस्थूलमनणु' इत्याद्याः निर्गुणश्रुतयः । आसामन्योन्यविरोधस्तावत् आपाततः प्रतीयते । न च सिद्धे वस्तूनि विकल्पसम्भवः । तत्र विरोधस्थिरीकरणेन बाध्यबाधकभाव इति नीचाः, विषयव्यवस्थया सन्धिरिति साधवः ।

ननु कथं विषयव्यवस्था ? सा हि (१) आश्रयभेदेन वा, शीतोष्णवत्, (२) देशभेदेन वा, चित्रे नीलपीतादिवत्, (३) कालभेदेन वा, पाकजपरमाणुगुणवत्, (४) समुच्चयेन वा, प्रदेशवर्तिसंयोगतदभाववत् ; (५) प्रतिसम्बन्धिभेदेन वा, पितृत्वपितृव्यत्ववत् (६) ग्राहकभेदेन वा, रूपस्पर्शवत्, (७) गृहीतृभेदेन वा ; जातिव्यवस्थितभोगादिवत्, (८) विधेयनिषेध्यभेदेन वा ब्रह्महत्याग्नीषोमीयादिवत् ; (९) अन्येन वा केनचित् श्वेत पीतादिबोधवत् इति ।

प्रसाद—सगुण एवम् निर्गुण श्रुतियों का विषय ब्रह्म ही है। ब्रह्म के सगुणत्व का निम्न अनेक श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं । वे हैं 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' जो ब्रह्म सर्वज्ञ एवं सर्ववेत्ता है । 'परास्यशक्ति र्विविधैव श्रूयते ; स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।' अर्थात् ब्रह्म की अनेक पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं, उसकी ज्ञान और बल की क्रियाएँ स्वाभाविक हैं। 'सत्यकामः सत्यसकल्पः' श्रुति ब्रह्म के सत्य सकल्पत्व तथा सत्यकामत्व आदि गुणों को बतलाती हैं । 'ब्रह्मणा विपश्चिता' श्रुति ब्रह्म के सर्वज्ञत्व को विपश्चित् शब्द से बतलाती है । इसी तरह 'निर्गुणं निरञ्जनम्' 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' 'अपहतपाप्मा विजरो' 'यत्तदद्रेश्यम् अग्राह्यम्० तथा 'अस्थूलमनणु' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म में निर्गुणत्व का प्रतिपादन करती हैं । इस तरह ब्रह्म विषयिणी सगुण एवं निर्गुण श्रुतियों में सामान्यतः विरोध की प्रतीति आपाततः होती है । सिद्ध वस्तु के विषय में विकल्प का कोई अवसर नहीं होता है । विरोध को दृढ करने के कारण दोनों प्रकार की श्रुतियों में बाध्य-बाधक-भाव नीच लोग मानते हैं तथा साधु लोग दोनों प्रकार की श्रुतियों के विषय को भिन्न-भिन्न बतलाकर उनमें समन्वय स्थापित करते हैं ।

इस पर अद्वैती विद्वान् पूछते है कि दोनों प्रकार की श्रुतियों में सिद्धान्ती विषय की व्यवस्था कैसे कर सकते हैं । (१) जैसे शीत और उष्ण के आश्रय भिन्न-भिन्न होते हैं उस तरह से आश्रय भेद के द्वारा या (२) जैसे एक ही चित्र में नीला रूप का देश दूसरा तथा पीतरङ्ग का देश दूसरा होता है; उस तरह से देश भेद के द्वारा या (३) जैसे पाक जन्य परमाणुओं के भिन्न-भिन्न गुण भिन्न-भिन्न काल में उद्भूत होते हैं उसी तरह काल भेद के द्वारा? (४) या प्रदेशवर्ती संयोग तथा उसके अभाव के समान समु-

च्चय के द्वारा? (५) या जिस तरह पितृत्व तथा पितृव्यत्व के प्रतिसम्बन्धि भिन्न-भिन्न होते हैं उसीतरह प्रतिसम्बन्धी की भिन्नता के द्वारा (६) या जैसे एक घट आदि के रूप तथा स्पर्श के ग्राहक भिन्न-भिन्न होते हैं; उसी तरह से ज्ञान के साधन के भेद के द्वारा ? (७) या जैसे एक ही स्त्री की शरीर में मनुष्यत्व तथा द्विजातीयत्व भोग्यत्व आदि भोक्ता के कारण भेद होता है; उसी तरह भोक्ता के भेद के द्वारा? (८) या जैसे ब्रह्म हत्या का श्रुति निषेध करके अग्निषोमीयादि यागों का विधान करती है; उसी तरह विधेय निषेध्य के भेद द्वारा ? (९) या श्वेतपीत आदि के ज्ञान के समान किसी अन्य प्रकार से आश्रय भेद के द्वारा उनके विषय की व्यवस्था करती है ?

तत्रेति । अत्र साधुनीचपदाभ्यां 'नीचाः कलहमिच्छन्ति सन्धिमिच्छन्ति साधवः' इति न्यायो द्योत्यते । कालभेदेनेति । घटादिषु पाकजनीलरक्तादीनां प्रदेशभेदेनापि व्यवस्थासम्भवात् परमाणुग्रहणम् । समुच्चयेनेति । यथा संयोगस्य स्वाभावविरोधपरिहारः स्वावच्छेदेन कालभेदेन; प्रदेशान्तरे तु देशभेदेन, एवमिहापि देशकालभेदाभ्यां विरोधपरिहार इत्यर्थः । गृहीतृभेदेनेति । 'परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ । कुणपः कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विकल्पनाः' इत्युक्तरीत्या एकस्यामेवप्रमदातनौ मनुष्यैश्वरादिजातीयभोक्तृभेदाद्भोग्यतावैलक्षण्यं दृष्टम् तद्वदिति भावः । आदिशब्देन परिव्राट्कामुकयोः गुणव्यवस्थितौ भोग्यत्वतदभावौ गृह्येते । विधेयेति । यथा अग्नीषोमीयहिंसाविधेः 'नहिंस्यादि' ति हिंसानिषेधस्य च ब्रह्महत्याग्नीषोमीयाभ्यां व्यवस्था तद्वदित्यर्थः । अन्येनवेति । श्वेतपीतबोधयोस्तावदस्ति विरोधः, एकस्यैव पुरुषस्य एकस्मिन्नेव विषये एकस्मिन्नेव काले श्वेतः पीत इति बोधादर्शनात , एवं च श्वेतः पटः, पीतो घटः इति समूहालम्बनस्य स्वेनापि विरोधप्रसंगे उक्तप्रकारेभ्योऽन्येनैव व्यवस्थोच्यते , तत्र चान्यः प्रकारो घटपटरूपविषयभेदः , तद्वदिहाप्युक्तप्रकारेभ्योऽन्योयः कश्चित् प्रकारो व्यवस्थापकोऽस्तिवत्यर्थः ।

न तावदाद्यः , परमेव ब्रह्माधिकृत्य सगुणनिर्गुणश्रुत्योरुदयात् । न च जीवविषयाः काश्चित , अन्यास्तु परविषया इति विवेक्तुं शक्यम् ; विशेषाभावात् । न च सर्वज्ञत्वादिश्रुतीनां जीवविषयत्वम् ; प्रत्यक्षविरोधात , संसारोच्छेदप्रसङ्गाच्च । न चेदं यौगिकं सार्वज्ञम् , नित्यसर्वज्ञत्वोक्तेः । नापि निर्गुणश्रुतीनाम्, अत एव । उपलभ्यते हि बुद्धिसुखादिमत्तया जीवः , तदभावे च तस्य संसरणं निर्बीजम् ।

न द्वितीयः ; स हि सम्बन्धिदेशभेदो वा स्यात् ; स्वप्रदेशभेदो वा । आद्ये, रूपाद्यवच्छिन्नप्रदेशभेदेन सगुणत्वनिर्गुणत्वयोर्व्यवस्थेति स्यात् । तत्र तावत् एकस्यैव पुंसः क्वचित्सर्वज्ञत्वं क्वचिदान्ध्यमिति स्यात् । तत्तु व्याहतम् ; धर्मिभेदाभावात् ॥ प्रदेशवर्तिगुणोत्पत्तिवदि (देवे) ति चेन्न , प्रदेशवर्तिनोऽपि ज्ञानस्य सर्वविषयीकरणे तद्धर्मिणः कार्त्स्न्येन सर्वज्ञत्वानपायात् । यद्यपि प्रदेशान्तरे तस्य समवायो नास्ति; तथापि तत्र आन्ध्यादियोगित्वं क्वचित्केनापि सार्वज्ञ्येन विरुद्धमेव , यथावत्प्रकाशमाने अध्यासाद्यसम्भवात् ।

औपाधिकब्रह्मभेदाभेदवादनिराकरणेन (णे ?) चायमर्थो व्यक्तमनुसन्धेयः। प्रादेशिकगुणसमवायाभावकथनेन च न ब्रह्मणः कश्चिदतिशयः; सर्वद्रव्यसमत्वात्। एतेनैव स्वप्रदेशभेदोऽपि निरस्तः। स ह्यौपाधिकस्तावन्निरस्त एव। स्वाभाविकोऽपि तुल्यन्यायतया निरस्त एव। न च स्वाभाविकोंऽशस्तत्र सम्भवति, निरवयवत्वश्रुतिविरोधात्॥ निरवयवत्वमंशभेदेन [सं] भवत्विति चेत्; अंशनिरवयवत्वादेशिनोऽपि निरवयवत्ववचने सर्वस्याप्यवयविनो निरवयवत्वाविरोधेन सावयवत्वलक्षणनिषेध्यासिद्धौ निषेधासिद्धेः॥ समुदायेषु सांशतया तत्सिद्धिरिति चेन्न; अत्रापि तत्सम्भ(त्सद्भा)वात् तन्निषेधासिद्धेः। एकदेशस्यत्वेकदेशित्वनिषेध इति निरर्थो (र्थको) क्तिः।

नापि तृतीयः, प्रागुत्तरत्वविकल्पायोगात्, पूर्वमत्यन्तनिर्गुणत्वे पश्चादपि कारणाभावेन गुणोत्पत्त्ययोगात्, पश्चान्निर्गुणता हेतुतः सम्भवन्त्यापि [निर्गुणताहेतुः सम्भवतीत्यपि] सर्वविशेषमिथ्यात्वाभावे नात्यन्ताय स्यात्, वस्त्वन्तरसत्यत्वे तत्संयोगादिलक्षणस्यानर्जनीयत्वात्। वस्त्वन्तराणां च मिथ्यात्वमन्तरेणात्यन्तोच्छेदासम्भवात्। सत्कार्यवादसमर्थनेन निरन्वयविनाशादिनिराकरणात्।

प्रसाद—आश्रय भेद के द्वारा दोनों प्रकार की श्रुतियों के विषय की व्यवस्था इसलिए नहीं मानी जा सकती है कि, सगुण एवम् निर्गुण दोनों प्रकार की श्रुतियों का विषय ब्रह्म ही है। यह नहीं कहा जा सकता है कि कुछ श्रुतियाँ जीव परक तथा कुछ श्रुतियाँ ब्रह्मपरक हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार के भेद में कोई भी प्रमाण नहीं है। सर्वज्ञत्वादि की प्रतिपादिका श्रुतियों का विषय जीव को इसलिए नहीं माना जा सकता है कि प्रत्यक्षतः ही जीवों के सर्वज्ञत्वादि बाधित हैं। तथा जीवों के सर्वज्ञ हो जाने पर संसार के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि सिद्धान्ती तो सर्वज्ञत्व की प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं। इस सार्वज्ञ्य को यौगिक भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि श्रुति उस सर्वज्ञता को नित्य बतलाती है। निर्गुण श्रुतियों का भी आश्रय जीवों को इसलिए नही माना जा सकता है कि प्रत्यक्षतः जीवों के निर्गुणत्व का विरोध होता है। प्रत्यक्षतः जीवों की बुद्धि तथा सुख आदि के आश्रय रूप से उपलब्धि होती है। इन गुणों के विना जीवों का संसरण ही निर्मूल हो जायेगा।

दूसरा विकल्प इसलिए नहीं माना जा सकता है कि आप देशभेद का अर्थ क्या मानते है? सम्बन्धी का देशभेद अथवा अपने प्रदेश का भेद? सम्बन्धी का देशभेद मानने पर रूपादि से युक्त प्रदेश भेद के द्वारा ब्रह्म के सगुणत्व एवं निर्गुणत्व की व्यवस्था हो सकती है। ऐसी स्थिति में एक ही ब्रह्म की कहीं पर सर्वज्ञता होगी तथा कहीं पर मूर्खता होगी? किन्तु एक ही पुरुष में सर्वज्ञता एवम् मूर्खता का होना परस्पर में व्याहत है। क्योंकि धर्मी तो एक ही है, केवल सम्बन्धी देशमात्र की भिन्नता है। प्रदेशवर्तित्व० इत्यादि—यदि कहें कि धर्मी की एकता रहने पर भी संयोग तथा संयोगाभाव की तरह औपाधिक प्रदेशभेद के ही द्वारा दोनों प्रकार की श्रुतियों की व्यवस्था मान ली जा सकती है, तो यह भी

कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रदेशवर्ती के भी ज्ञान के द्वारा सभी विषयों को अपना विषय बनाने पर उस ज्ञान का आश्रय पूर्ण रूप से सर्वज्ञ होगा ही। यद्यपि प्रदेशान्तर में जिस अंश विशेष में सार्वज्ञ्य नहीं होगा वहां पर, धर्मी में सर्वज्ञता नहीं रहेगी; फिर भी उस प्रदेशान्तर में भ्रान्तित्व इत्यादि नहीं रह सकते, क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता है कि किसी भी सर्वज्ञ के अंश विशेष में सर्वज्ञता हो और किसी अंश विशेष में भ्रान्तित्व। जब सभी वस्तुओं का यथावत् ज्ञान हो तो उस समय अध्यास का होना सम्भव नहीं है। इन बातों का विस्तृत विवेचन ब्रह्म के औपाधिक भेदाभेद के निराकरण के प्रसङ्ग में देखना चाहिए। किञ्च ब्रह्म के गुणों का प्रादेशिक समवायाभाव बतलाने से ब्रह्म में कोई अन्तर भी नहीं आता; क्योंकि ब्रह्म को तो आप सभी द्रव्यों में समान रूप से व्यापक मानते हैं। उपाधि के भेद ही परस्पर सम्बन्ध से धर्मी में भेद उत्पन्न कर देते हैं, इस मत के खण्डन के ही द्वारा उपाधि भेद के द्वारा धर्मी में भेद मानने वाले का मत निरस्त हो गया। क्योंकि औपाधिक भेद का खण्डन तो किया ही जा चुका है, उसी तरह स्वाभाविक भेद मानने वाले का भी मत खण्डित हो जाता है। किञ्च ब्रह्म में स्वाभाविक अंश भी नहीं हो सकता है; क्योंकि श्रुतियाँ आत्मा के निरवयवत्व का प्रतिपादन करती हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अंशके भेदके द्वारा भी निरवयवत्व बना ही रह सकता है, क्योंकि अंश के निरवयत्व के द्वारा अंशी का निरवत्व प्रतिपादन करने पर, सम्पूर्ण अवयवी का निरवयवत्व सिद्ध हो जाने से सावयवत्वरूप निषेध्य की असिद्धि हो जाने पर निषेध भी असिद्ध हो जायेगा। यदि कहें कि समुदायों में अंश युक्तत्व रहने के कारण सावयवत्व की सिद्धि हो जायेगी; तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि समुदाय के भी निरवयवत्व एवम् सावयवत्व इन दो अंशों द्वारा ब्रह्म के सावयवत्व की सिद्धि होगी। एक देश में रहने वाले सावयवत्व वस्तु के एक देशत्व का निषेध करना भी व्यर्थ है।

तीसरा पक्षभी नहीं स्वीकारा जा सकता है, क्योंकि कालभेद पक्ष के विषय में प्रथम कल्प के समान ही विकल्प होगा। जैसे वहाँ कहा गया है कि आप किस आश्रय में गुण तथा किस आश्रय में गुण का अभाव मानते हैं? उसी तरह यहाँ भी प्रश्न होगा कि किस काल में ब्रह्म में आप गुण तथा किस काल में गुणों का अभाव मानते है? और उपर्युक्त प्रकार से ही दोनों पक्षों का खण्डन हो जाने से यह तीसरा विकल्प ठीक नहीं है। पहले ब्रह्म को अत्यन्त निर्गुण मानकर पश्चातन काल में भी उसमें गुणों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि उन गुणों की उत्पत्ति का कोई भी कारण नहीं है। किञ्च सभी भेदों को मिथ्या माने विना हेतुओं के द्वारा उत्पन्न होकर भी पूर्ण रूपेण निर्गुणता नहीं हो सकती है, क्योंकि जब ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तुओंको सत्य माना जायेगा तो उनका ब्रह्म से संयोगादि तो होंगे ही। किञ्च जब तक ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तुओं को मिथ्या नहीं माना जायेगा तब तक उनका अत्यन्त विनाशसिद्ध हो नहीं सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती भी सत्कार्यवाद का ही समर्थन करते हैं, अतएव उन वस्तुओं का निरन्वय (असम्बद्ध) विनाश नहीं माना जा सकता हैं, इस तरह आपके मत में सत्य कार्य का नाश भी अवस्थान्तरापत्ति रूप ही है। अतएव अवस्थान्तर विशिष्ट द्रव्य रहेगा ही।

ननु विरोधादेकविषयत्वासम्भवादेव भिन्नविषयता कल्प्यते, तत एव तत्प्रकरणस्थब्रह्मश्रुतिलिङ्गादिकमपि अन्यथा नीयत इत्यत्राह नच जीवेति। न शवलम् जीवपरोयमिति निर्धारणासम्भवः; द्विविषयोरपि श्रुत्योर्जीवपरत्वमसम्भवि चेत्याह नचेति। संसारेति। मोक्षसाधनतत्त्वज्ञानस्य सत्त्वादिति भावः।

ननु योगाधीनं सार्वज्ञ्यं श्रुतिप्रतिपाद्यम्, तस्य चेदानीमभावान्न प्रत्यक्षविरोधादीत्या-

शङ्कयां नचेदमिति । नापि निर्गुणेति । जीवविषयत्वमित्यनुषङ्गः । तत एवेति । प्रत्यक्षविरोध-संसारोच्छेदाभ्यामित्यर्थः । तदुपपादयति उपलभ्यते हीत्यादिना । तदभावेचेति । ज्ञातृत्वकर्तृत्व भोक्तृत्वाभावान् संसरणं निर्बीजमित्यर्थः । सम्बन्धिदेशेति । सम्बन्धो यो देशस्तद्भेदः, उपाधि-भेद इति यावत् । उपाध्यवच्छिन्नेत्यादि । सम्बन्धिवस्त्वन्तरभेदमात्राद्व्यवस्थाया अयोगात् । भिन्नोपाध्यवच्छेदेन वृत्तया भिन्नदेशत्वादेव व्यवस्था वक्तव्येति भावः । धर्मिभेदेति । औपाधिक-प्रदेशभेदे सत्यपि वस्तुतो धर्मिण एकत्वादित्यर्थः । ननु स्वतो धर्म्यभेदे सत्यपि संयोगतदभाव-वदौपाधिकप्रदेशभेदेनैव व्यवस्थास्त्वित्यत्राह प्रदेशेति । कार्त्स्न्येनेति । कार्त्स्न्येन सार्वज्ञ्ये यत् कार्यम् कृत्स्नेऽपि प्रदेशेऽभ्रमासम्भवरूपं भवति तदेकदेशवर्तिनापि सार्वज्ञ्येन भवतीत्यर्थः । अय-मेवार्थो यद्यपीत्यादिना स्पष्टीकरणार्थमुच्यते यथावदिति । ज्ञानं स्वाश्रये भ्रमविरोधि न तु स्वाव-च्छेदेन, गौरवादिति भावः । प्रादेशिकेति । कार्त्स्न्येन गुणनिषेधे ह्यद्वितीयत्वसिद्धेरतिशयस्सि-ध्यति, नैवमेकदेशानिषेधे तत्र गुणसामान्यनिषेधे हेय गुणस्यापि निषेधादतिशयो वक्तव्यः, नचै-कदेशे हेयगुणा न सन्ति इत्युक्त्या कश्चिदतिशयस्सिध्येत् , हेयगुणाकरद्रव्यस्याप्येकदेश तदभा-वोपपत्तेः , पाद्याद्यवच्छेदेद दुःखितोऽपि जीवस्य प्रदेशान्तरे तदभावदर्शनादित्यर्थः । एतेनेति । उपाधिगत एव भेद उपाधिसम्बन्धिनि धर्मिणि परम्परासम्बन्धेन भेदकार्यनिमित्तमित्येक मतम् उपाधिभेदेन धर्मिणि भेद उत्पद्यत इत्यपरं मतम् ; तत्र पूर्वं प्रागुक्तम् द्वितीयमधुनोच्यत इति भेदः । एवम् भेदे सत्यौपाधिकभेदशब्दवाच्यत्वादुभयाः पूर्वपक्षनिरासेनैवायम् पक्षो निरस्तः इत्युक्तम् ।

नन्वेकस्मिन्नेव सगुणत्वनिर्गुणत्वयोरप्यंशभेदेन यथा व्यवस्थेष्यते एवं सावयवत्वनिर-वयवत्वयोरप्यंशभेदेन व्यवस्थेष्यत इत्याशङ्कते निरवयवत्व मिति । सर्वस्येति । घटादेरपि निर-वयवांशसम्भवे तदुद्देशेन निरवयवत्वात सावयवानामप्यंशानां निरवयवांशकत्वे निरवयवत्वप्रसंगे तदवयविनो घटादिस्तैरप्यंशैर्निरवयवतया तदवच्छेदेनापि सावयवत्वासंभवात् घटादावपि सावय-वत्वाप्रसिद्धेस्तन्निषेधायोग इत्यर्थः ।

ननु प्रत्येकांशावच्छेदेन निरवयवत्वेऽपि घटादीनां निरवयवांशसमुदायावच्छेदेनैव सावयवत्वान् निषेध्यप्रसिद्धिरिति शङ्कते । समुदायेष्विति । अत्रापीति । निरवयवत्वसावयवत्व-व्यवस्थापकांशाभ्यामेव ब्रह्मणः सावयवत्वादित्यर्थः ।

ननु समुदायस्य सावयत्वेऽपि सावयत्वनिषेधस्य तदेकदेशविषयत्वान्न निरवयवत्वश्रुति विरोध इत्याशङ्क्य, तस्य सावयवत्वे द्रव्यसाधारणत्वान्न तन्निषेधेन ब्रह्मणः कश्चिदतिशय इत्याह एकदेशस्येति । प्रागुक्तेति । आश्रयभेदेन व्यवस्थेति प्रथमकल्पे यथा कस्मिन् आश्रये गुणः कस्मिन् तदभाव इति विकल्पः; एवमिहापि कस्मिन् काले गुणः कस्मिन् तदभाव इति विकल्पः कार्य इत्यर्थः । तदेवोपपादयति पूर्वमिति । कारणाभावेनेति । द्रव्यान्तरस्य कारणत्वे पूर्वम् तत्संयोगप्रसङ्गः , तद्गतगुणस्य कारणत्वेऽपि स एव दोषः । पूर्वस्वगतगुणानामुत्तरगुणहेतुत्व-

शङ्का न कार्येत्यभिप्रायेणात्यन्तनिर्गुणत्वं इत्युक्तम्। स्वस्यैव स्वगुणहेतुत्वे पूर्वमेव गुणोत्पत्तेर्गुणत्वानुपपत्तिरिति भावः। अत्यन्ताय कार्त्स्न्येनेत्यर्थः। वैरूप्यन्तरेति। द्रव्यान्तरसत्वत्वं विवक्षितम्। तस्य च मूर्तत्वे विभागः संयोगादीत्यादिपदेन विवक्षितः। सत्कार्यवादेति। सतो द्रव्यस्यावस्थान्तरयोगः कार्यतेति समर्थनात् कार्यस्य सतो नाशोऽप्यवस्थान्तरमेव स्यात्। अतोऽवस्थान्तरविशिष्टम् द्रव्यं तिष्ठेदेवेत्यर्थः।

अतएव चतुर्थोऽपि निरस्तः, समुच्चये प्रत्येकमुक्तदूषणा (दोषस्य) समुच्चयस्याप्यपरिहार्यत्वात्। न हि ब्रह्मांशस्य कदाचित्संसरणं कदाचिदपवर्ग इति भास्करयादवप्रकाशमताद्दवीयः। दूषितम् चैतत् कालावच्छिन्नसार्वज्ञ्यदूषणादिना, यथोक्तम्—

"सार्वज्ञ्यसर्वशक्त्यादिगुणकः केन सिध्यति। ई[नि]श्वरस्यापि विज्ञेयाः [यः] स्वतः सर्वगुणाः[णः] श्रुतेः। सार्वज्ञ्यादिरवतस्त्वे तु विवादो यदि कल्प्यते। सत्यत्वादौ विवादः किं न स्यान्निर्गुणवादिनाम्।।" इति। न पञ्चमः, पुत्रत्वपितृत्वादिवत् सगुनिर्गुणत्वयोः प्रतिसम्बन्ध्युपाधिकत्वाभावात्, नीलपीतादिवन्निरपेक्षत्वनैयत्यात्। न हि तत्त्वतो नीलमेव कञ्चित् प्रति पीतम्।। पुरुषभेदेनोष्णोऽनुष्णश्च कृष्णवर्त्मा कदाचित् भवतीति चेन्न; तत्रानुष्णत्वाभावात्। प्रतिबन्धकबलेन तु कश्चिदुष्णत्वेनोपलभते। तत्कार्यं च स्फोटादिकं तदा न जायते।। 'शीतो भव हनूमतः' 'तावैष वह्निः पवनेरितोऽपि न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्। पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि शीतानि सर्वाणि दिशां [शा] मुखानि।।' इत्यादि कथमिति चेत्—इत्थम्—[तत्र हि] प्रभावविशेषप्रतिबद्धतया दाहकत्वाभाव एव [हि] तात्पर्यम्, यद्वा चान्द्रमसमहस इव देवताप्रभावोपनीतसलिलाद्यवयवनिवहसम्वलनवशादननुभूतौष्ण्यस्य [नुद्भूतौष्ण्यस्य] दहनस्योपलब्धस्य मानशीतिमारोपेण शीतव्यपदेशः।

प्रसाद—उपर्युक्त प्रतिपादन के द्वारा ही चतुर्थ विकल्प निरस्त हो गया, क्योंकि यह समुच्चय देश एवम् काल का समुच्चय रूप है। अतएव इस पक्ष में भी कालभेद एव देशभेद के पक्षों में होने वाले दोष भी इस पक्ष में अवश्य होंगे। ब्रह्मांश का कभी संसरण तथा कभी मोक्ष मानना भी भास्कर एवं यादवमत के ही समान दोष दूषित है और इस मान्यता का खण्डन मैंने कादाचित्क सार्वज्ञ्य के दूषणादि के द्वारा पहले ही किया है। जैसा कि कहा भी गया है-जीव के सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्व आदि की सिद्धि कैसे होती है। ईश्वर का भी सार्वज्ञ्यादि स्वाभाविक ही माना जा सकता है, क्योंकि श्रुतियाँ उसके सभी गुणों का प्रतिपादन करती हैं। यदि आप ईश्वर के सार्वज्ञ्यादि के विषय में विवाद की कल्पना करें तो प्रश्न है कि क्या ईश्वर को निर्गुण मानने वालों का जीव के सत्यत्वादि के विषय में विवाद नहीं है? पाचवाँ विकल्प इसलिए नहीं माना जा सकता है कि, ब्रह्म के सगुणत्व एवं निर्गुणत्व एक

ही व्यक्ति में रहने वाले पुत्रत्व एवम् पितृत्व के समान औपाधिक नहीं है, इनकी उपलब्धि नीलपीत आदि के समान एक दूसरे से बिल्कुल भिन्नाश्रय गत हैं। कोई नील वस्तु किसी दूसरे के प्रति पीला नहीं हो जाती है। यदि कहें कि एक ही अग्नि को किसी के प्रति उष्ण एवं किसी के प्रति अनुष्ण देखा जाता है, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अग्नि का अनुष्णत्व प्रतिबन्धक कृत है, स्वाभाविक नहीं। प्रबन्धक के ही कारण अग्नि के द्वारा दाहादि कर्म नहीं होता। यदि कहें कि 'शीतो भव हनुमतः' अग्नि हनुमान के लिए शीतला हो जाओ, 'हे तात! वायु के द्वारा चतुर्दिक प्रज्वालित अग्नि मुझे नही जला रहा है। सभी दिशाओं में कमल बिछा दिये गये के समान मैं शैत्य का अनुभव कर रहा हूं।' इत्यादि स्थलों में भी सीता के वाक्य तथा प्रह्लाद के प्रभावातिशय्य के अग्नि का दाहकत्व प्रतिबन्धित हैं। अथवा चन्द्रमा की कान्ति के समान देवता के प्रभावातिशय्य के कारण वहां पर जलादि के अवयव संहत हो गये हों, जिसके कारण हनुमान तथा प्रह्लाद अग्नि के औष्ण्य का अनुभव नहीं कर सके, इसीलिए अग्नि में शीतत्व का आरोप करके उपर्युक्त व्याहार हुआ हैं।

प्रत्येकेति। यद्यप्यस्मिन् पक्षे पूर्वं निर्गुणप्रदेशस्यापि द्रव्यान्तरतद्गुणादिना पश्चाद्गुणोत्पत्तिः सम्भवति, न च प्रागपि तत्प्रदेशस्य तत्संयोगादिना सगुणत्वापत्तिः, प्राक् प्रदेशान्तरस्थितेनापि निर्गुणप्रदेशे पश्चात्संयोगाद्युत्पादनसम्भवात, एवं पूर्वं सगुणस्य पश्चान्निर्गुणतायामपि नोक्तदोषः, निरन्वयविनाशाभावेऽपि द्रव्यस्य ध्वंसाख्योत्तरावस्थायाः प्रदेशान्तरे वृत्तिसम्भवात् गुणप्रदेशावच्छेदेनात्यन्तनैर्गुण्योपपत्तेः, तथापि यत्प्रदेशे द्रव्यवत्त्वं तत्प्रदेशे संयोगस्यावर्जनीयत्वात सगुणप्रदेशत्वमेव स्यात, तथा च प्रदेशभेदेन व्यवस्थाया अयोगः, अतः समुच्चयपक्षे निर्गुणप्रदेशे न कदापि द्रव्यसम्भव इति सगुणप्रदेश एव प्राग्वा पश्चाद्वा द्रव्यस्य सत्त्वंवाच्यम्; तथा च तद्गुणद्वयमव्याहतमिति भावः।

नापि षष्ठः, ग्राह्यभेदस्य ग्राहकभेदाधीनत्वे रूपस्पर्शादिभेदविलयप्रसङ्गात्। हिंसाऽहिंसा (दि) वाक्ययोरेकस्मिन्नेव क्रतावन्वये [ऽपि] विरोधाभावप्रसङ्गाच्च। न च भिन्नकरणग्राह्यरूपस्पर्शयोरिव सगुणत्वनिर्गुणत्वयोरविरोधः, भावाभावरूपत्वात; रूपस्पर्शयोस्तु सहानवस्थानहेतोः कस्यचिदप्यदर्शनात (दभावात)।

नापि सप्तमः, आनुकूल्यप्रातिकूल्यादेः सप्रतिसम्बन्धिकत्वेन जातिव्यवस्थितभोगप्रयुक्तेः। सगुणत्वनिर्गुणत्वयोस्तु तदभावेनानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा ब्रह्मणोऽव्यवस्थितस्वभावत्वप्रसङ्गात।

न चाष्टमः, निर्गुणश्रुतीनां सर्वगुणनिषेधपरत्वेन विधेयगुणादिशेषपरिशेषासिद्धेः॥ गुणविधिवशादेव निर्गुणश्रुतयः सङ्कोचमर्हन्तीति चेन्न; असंकुचितनिर्वाहे सति सङ्कोचानुपपत्तेः॥ तथा सति सगुणश्रुतीनामप्रामाण्यं प्रसज्येतेति चेन्न; अपच्छेदनयेन प्रमाणत्वेऽपि बाध्यत्वोपपत्तेः॥ पौर्वापर्यायोगेनापच्छेदनयानवतार इति चेन्न; अपच्छेदनये मा

मापौर्वापर्यस्य निमित्तपौर्वापर्यमात्राधीनत्वात् अत्राप्यर्थतो विधिनिषेधयोः पौर्वापर्यसिद्धेः । विधिर्ह्यन्यानपेक्षतया पूर्वो भवति, निषेधस्तु 'अ' निषेध्यप्रसङ्गसाकाङ्क्षतया परः ॥ एवं सति हिंसाविधिनिषेधवाक्ययोरप्यपच्छेदनयावतार इति चेन्न ; तत्र विधिवाक्यस्यात्यन्ताप्रामाण्यप्रसङ्गात्, अत्र तु सगुणवाक्यानां मिथ्या (विद्यादि) विषयाणामपि दृष्टिविशेषे उक्तन्यायेन तत्तत्फलाभिलापवत्मन्द्यमायापुरुषविशेषविषयोपासनविधिशेषतयाऽपि प्रामाण्योपपत्तेः । अतः उभयोः प्रामाण्येऽपि बाध्यबाधकभावव्यवस्था । अत एव तत्त्वतो निर्गुणत्वम् च सिध्यतीति न निर्गुणश्रुतीनां सङ्कोचहेतुमुपलभामहे ।

प्रसाद—छठा पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि, यदि ग्राहक के भेद के द्वारा ग्राह्य का भेद होने लगेगा तो फिर रूप स्पर्श आदि का भेद ही विनष्ट हो जायेगा। किञ्च 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' 'माहिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादि हिंसा तथा अहिंसा के प्रतिपादक वाक्यों का अन्वय एक ही वाक्य में होता है फिर भी उन वाक्यों का आपस में कोई भी विरोध नहीं है । यह भी नहीं कहा जा सकता है, कि जिस तरह एक ही आश्रयगत रूप का भिन्न इन्द्रियों से ग्रहण होने के कारण उनका आपस में विरोध नहीं होता, उसी तरह सगुणत्व एवम् निर्गुणत्व का अविरोध ग्राहकभेद के कारण होता है, क्योंकि दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में भावत्व एवं अभावत्व को लेकर विरोध है । रूप एवम् स्पर्श में सहानवस्थानत्व का कोई भी हेतु आज तक नहीं देखा गया है । किन्तु एक ही वस्तु के सगुणत्व एवं निर्गुणत्व में सहानवस्थान रूप विरोध है । सातवाँ पक्ष इसलिए अमान्य है कि स्त्री आदि किसी भी वस्तु का अनुकूलत्व एवम् प्रतिकूलत्व का अविरोध प्रति संबन्धियों की भिन्नता के कारण है ; किन्तु ब्रह्म की सगुणता एवं निर्गुणता में प्रति सम्बन्धि की भिन्नता का अभाव होने के कारण विरोध है । यदि एक ही ब्रह्म में सगुणत्व एवं निर्गुणत्व दोनो उपपन्न हो जायँ तो फिर ब्रह्म के स्वभाव को अव्यवस्थित मानना होगा । आठवाँ विकल्प इसलिए नहीं माना जा सकता है कि निर्गुण श्रुतियाँ सभी गुणों का निषेध करती हैं, अतएव निर्गुणत्व को विधेय गुणविशेष का परिशेष नहीं माना जा सकता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सगुण श्रुतियों द्वारा किए जाने वाले ब्रह्मके गुण विधान को ही दृष्टि पथ में रखकर निर्गुण श्रुतियों के अर्थ में सङ्कोच करना आवश्यक है । क्योंकि जब उनका हमारे सिद्धान्तानुसार असंकुचित निर्वाह सम्भव है, तो फिर उनके संकुचित निर्वाह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि निर्गुण श्रुतियों का असंकुचित निर्वाह मानने पर सगुण श्रुतियाँ अप्रामाणिक हो जायेंगी; प्रामाण्य रहने पर भी अपच्छेदन्याय से उनका बाध्यत्व उपपन्न ही होता है । यह भी नहीं कहा जा सकता है, कि अपच्छेदन्याय वहीं पर प्रवृत्त होता है, जहाँ पर पौर्वापर्य हो, सगुण श्रुतियों में पौर्वापर्य का अभाव होने के कारण, यहाँ पर अपच्छेद न्याय नहीं लगता है; क्योंकि अपच्छेद न्याय में प्रमाण के पौर्वापर्य का निर्णय निमित्त के पौर्वापर्य के द्वारा किया जाता है । सगुण तथा निर्गुण श्रुतियों के प्रसङ्ग में भी अर्थ को दृष्टि पथ में रखकर विधि एवम् निषेध के पौर्वापर्य का निर्णय किया जा सकता है । निरपेक्ष होने के कारण विधि की प्रवृत्ति पहले होती है और निषेध्य के प्रसङ्ग साकांक्ष होने के कारण निषेध विधि के पश्चात् होता है । यदि कहें कि ऐसा होने पर तो हिंसा का विधान करने वाले तथा हिंसा का निषेध करने वाले वाक्यों में भी अपच्छेदन्याय प्रवृत्त होगा, तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा होने

पर हिंसा विधि वाक्य के अत्यन्त अप्रामाण्य का प्रसङ्ग होगा । प्रकृत प्रसङ्ग में तो सगुण वाक्यों के मिथ्या विद्यादि विषयक होने पर भी, दृष्टिविशेष करने पर, अपच्छेदन्याय के द्वारा, विभिन्न फलों की अभिलाषा से ससरण करने वाले पुरुष विशेष (ईश्वर) विषयक उपासना विधि के शेष रूप से उनका प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है । इस तरह दोनों प्रकार की श्रुतियों का प्रामाण्य रहने पर भी दोनों प्रकार की श्रुतियों में बाध्य–बाधक भाव की सिद्धि हो जाती है । इस तरह यह भी सिद्ध हो गया कि ब्रह्म का निर्गुणत्व ही तात्त्विक है । इस तरह स्पष्ट है कि निर्गुण श्रुतियों के अर्थ में सङ्कोच करने का कोई भी कारण नही है ।

किं रूपादीनां धर्म्यनतिरेकपक्षे रूपोपलम्भेऽपि स्पर्शानुपलम्भार्थं रूपस्पर्शयोर्भेदो वाच्यः तथा च रूपात्मकस्य धर्मिणस्तयोर्भिन्नत्वाविरोधे प्रसक्ते ग्राहकभेदद्व्यवस्थोच्यते–चक्षुषा गृह्यमाणं तदनात्मकम्, किन्तु स्पर्शात्मकमिति, तद्वदत्रापीत्यभिप्रायः ? किं वा रूपस्य विजातीयरूपान्तरेणेव स्पर्शेनाप्यसामानाधिकरण्यात्मकविरोधे प्रसक्ते ग्राहकव्यवस्थया विरोधपरिहारो वाच्यः, तद्वदत्रापीत्यभिप्रायः ? इति विकल्पं हृदि निधायाद्यं दूषयति ग्राह्यभेदस्येति । रूपेति । ग्राह्यभेदादेव ग्राहकभेदस्य कल्पनीयतया ग्राह्यभेदस्य ग्राहकभेदाधीनत्वे अन्योऽन्याश्रयादिति भावः । नीलपीतशीतोष्णाद्यवान्तरभेदोऽप्यत्र विवक्षितः । हिंसेति । एकस्यैव ग्राहकभेदेन धर्माधर्मात्मकत्वसम्भवादिति भावः । द्वितीयं दूषयति नचेति ।

ननु भावाभावयोरिव प्रसक्तविरोधयोः रूपस्पर्शयोः कथं तर्हि सामानाधिकरण्यमित्यत आह रूपस्पर्शयोस्त्विति । कस्यचिदिति । भावाभावरूपत्वस्य चाभावादित्यर्थः । आनुकूल्येत्यादि । आदिशब्देनानुकूलप्रतिकूलानात्मकत्वं गृह्यते । द्वितीयादिशब्देन भोगाभावः । तदभावेन–सप्रतिसम्बन्धिकत्वाभावेनेत्यर्थः । अभ्युपगम्याप्याह उपपत्तौवेति । आनुकूल्यादिकम् प्रतिसम्बन्धिभेदेन व्यवस्थितमिति भावः । अव्यवस्थितेति पदच्छेदः ।

ननु प्रमाणत्वेऽपि यदि बाध्यत्वं तदा विपरीतो बाध्यबाधकभावः कुतो न स्यात; तथा च कथं निर्गुणत्वं तात्त्विकमित्यत आह अपच्छेदनयेनेति । पौर्वापर्येति । न हि सगुणनिर्गुणवाक्ययोः पाठक्रमोऽस्तीति भावः । निमित्तेति । मात्रपदेन पाठक्रमो व्यावर्त्यते । निमित्तपौर्वापर्यस्याप्यत्राभावात् कथमपच्छेदनयावतार इत्यत आह अत्रापीति । प्रमाणपौर्वापर्यमात्रम् हि तन्न्यायापेक्षितम्, तच्च निमित्तपौर्वापर्यादिव प्रकारान्तरेणापीति भावः । तत्रेति । अपच्छेदे प्रयोगान्तरे प्रामाण्यं सम्भवात् । सगुणवाक्यानामपि वक्ष्यमाणरीत्या तदुभयव्यावृत्त्यर्थमत्यन्त पदम् ।

ननु सगुणवाक्यानामप्यत्यन्ताप्रामाण्यं स्यात्, न च व्यावहारिकविषयतया प्रामाण्यम् । मिथ्यार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावेन तात्पर्याभावात्तत्राप्रामाण्यात्, सत्यत्व तु तेतत्वज्ञानेन मोक्षफलसम्भवादित्यत आह अत्रत्विति ।

अतएव नवमोऽपि दशोत्तरः, अस्मत्सिद्धान्तनीतिमन्तरेणोभयप्रमाण्यनिर्वाहासिद्धेः । उभयाप्रामाण्यस्य वैदिकैः सामान्यतस्तावदनभ्युपगमात् । उभयोरप्यन्यपरत्ववादिनां

निरीश्वरमीमांसकनिगमतरुवन्दकानां सिद्धार्थतात्पर्यसमर्थनादिभिरुन्मूलितत्वात् । अन्यतराप्रामाण्यपक्षेऽप्यन्ततोऽस्मन्नयमन्तरेण गत्यभावात् । न हि निर्गुणवाक्यमेव बाधितुम् युक्तम्, तदुपदेशनैष्फल्यप्रसंगात् । न च स्वरूपपराणां वाक्यानामुपासनविधिशेषत्वेन यथाकथञ्चन नेयता शङ्क्या, अस्मन्तराद्धान्तापराध प्रसंगात् । अतः पारिशेष्यान्निर्गुण वाक्यैः सगुणवाक्यानामेव बाधः ।

प्रसाद—आठवें विकल्प के खण्डन से ही नवें विकल्प का भी उत्तर हो गया। क्योंकि हमारे सिद्धान्ताभिमत नीति को अपनाए विना दोनों प्रकार की श्रुतियों का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता है। और वैदिक जनता दोनों में से किसी प्रकार की श्रुति का अप्रामाण्य नहीं मानती। ईश्वर को नहीं मानने वाले मीमांसक दोनों प्रकार की श्रुतियों को ब्रह्म परक नहीं मानते हैं। उन मीमांसकों के पीठूओं को तो इसीसे उन्मूलन हो गया जब कि शारीरक मीमांसा भाष्य में, श्रुति वाक्यों का तात्पर्य सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादन में है, इस बात का समर्थ कर दिया गया। दोनों में से एक प्रकार की श्रुति का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए भी अद्वैताभिमत नीतियों को अपनाना होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि निर्गुण वाक्यों का सगुण वाक्यों से बाध माना जाय, क्योंकि ऐसा मानने पर निर्गुण वाक्योपदेश के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग होगा। स्वरूप के प्रतिपादक निर्गुण वाक्यों को उपासनापरक विधि वाक्यों का शेष मानकर इनके किसी प्रकारसे निर्वाह की शङ्का नहीं की जा सकती है। ऐसा करने पर वेदान्त सिद्धान्त के विरोध का प्रसङ्ग होगा। अतएव परिशेषात् निर्गुण वाक्यों द्वारा सगुण वाक्यों का बाध स्वीकारना होगा।

निर्गुणत्वस्य तात्त्विकत्वासिद्धिमात्रे अभिनिवेशवतः शङ्कां परिहरति उभ..ेति । उक्ताभिनिवेशत एव कर्मविधिशेषतया आन्यपर्यशङ्का परिहरति उभयोरिति । तन्वन्यतरदेव..तु प्रमाणम्, एवंचोभयोः प्रामाण्यनिर्वाहाय न त्वत्सिद्धान्तानुसरणम; तथाच निर्गुणवाक्यस्यैवा-प्रामाण्यसम्भवान्न सगुणत्वविरोध इत्यत्राह अन्यतरेति । तदुपदेशेति । नचेष्टापत्तिः, "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" "तमेवैकं जानथात्मानं" "एकधैवानुद्रष्टव्यमि" त्यादिना निर्गुणज्ञानान्मोक्षश्रवणात्, नच सगुणवाक्यानामप्यप्रामाण्ये नैष्फल्यप्रसङ्गदोषः; तत्र फलाश्रवणेन इष्टापादनत्वात् । न च तदुपासनादपि फलम् श्रूयत इति वाच्यम, तथासत्यारोपितेनापि उपासनोपपत्त्या गुणानां तात्त्विकत्वासिद्ध्या तेन निर्गुणवाक्यस्य बाधायोगादिति भावः ।

नन्वस्तूभयोः प्रामाण्यम; तथापि निर्गुणवाक्यानां उपासनाविधिशेषतया प्रामाण्यम् सगुणवाक्यानां तत्त्वपरतयेति विपरीतम् कुतो नेष्यत इत्याशंक्य निराकरोति नचेति । निर्गुण-ज्ञानस्य हि ब्रह्मैक्यावाप्तिः फलमिति राद्धान्तः; तत्फलश्रवणात, न च तत्त्वतो यद्भिन्नम् तेनाभेदः सम्भवति, तथाचाभिन्नस्यैवाभेदः फलमिति वाच्यम, इदं च न भेदमिथ्यात्वमन्तरेण, न च मिथ्याभूतभेदोपमर्देन पूर्वसिद्धा भेदावाप्तिस्तत्त्वज्ञानादन्येन भवति, अतस्तादृशफलहेतुज्ञानं तत्त्वज्ञानमेव—तत्त्वारोपितविषयमुपासनमिति निर्गुणवाक्यस्य नोपासनविधिशेषतासम्भव इति भावः ।

यद्यपि सत्यज्ञानादिवाक्यं स्वरूपपरमपि सामानाधिकरण्यधर्माण्यं (ण्यं पदसाधारण्यं) शरण्यद्भिः भवद्भिस्तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टस्वरूपपरमित्युपपादितम्, तथापि ज्ञानानन्दादिशब्दावगतं ब्रह्मस्वरूपं न ज्ञातृत्वानन्दत्वादिविशेषसहमित्युप (पनी) पद्यते । न हि ज्ञानस्य ज्ञानम् आनन्दस्यानन्दो वा गुणपक्षपातिभिरपि भवद्भिरभ्युपजिगांस्यते । अतः शब्दादर्थाच्च गुणनिषेधसिद्धिः । न च वाच्यं सुखमात्ररूपत्वे तद्भावापत्तेर्मोक्षस्य पुरुषार्थता न स्यात् , न हि सुखं स्यामिति कश्चिदिच्छति , अपि तु सुखी स्यामित्येव, अतः सुखसम्बन्धेन वैशिष्ट्यमवर्जनीयमिति । सुखापरोक्षमात्रेण पुरुषार्थतासिद्धौ सम्बन्धस्याप्रयोजकस्य कल्पनायोगात् ॥

द्रव्यत्वोपादानत्वादिभिः सगुणत्वमनुमीयत इति चेन्न—द्रव्यशब्देन वस्तुत्वादिमात्रविवक्षायां मुख्यामुख्यविकल्पेन दोषात् , अन्ततस्योरपि परिहरणीयत्वात । एतेनोपादानत्वमपि निरस्तम् , आत्मत्वेप्यात्मभेदानभ्युपगमात दृष्टान्तहीनम् । तथा आत्मशब्देन आत्मत्वजाति–चैतन्यादिगुणविशिष्टाकारविवक्षायामसिद्धः । ज्ञानत्वविवक्षायामप्रयोजकत्वं विरोधो वा । एवमन्यदपि दूष्यम् । न च वाच्यम् ; अहं जानामीत्यादिप्रत्यक्षेणैव बुद्धिसुखादिविशिष्ट एवात्मा प्रतीयत इति–तत्तद्वृत्तिविशेषविशिष्टस्यैवाहङ्कारस्य तथा प्रतीतेः । अन्यथा स्थूलोऽहमित्यादिप्रत्यक्षेण स्थौल्यादिगुणवैशिष्ट्यस्यापि प्रसङ्गात , देहव्यतिरेकसाधनात तन्निषेधे अहङ्कारव्यतिरेकसाधनात तद्धर्मनिषेधस्यापि सिद्धेः ।

अतः प्रत्यक्षाद्यप्राप्तार्थप्रतिपादकनिर्गुणश्रुतिसामर्थ्यादेव निर्गुणे ब्रह्मणि सिद्धे, मायावच्छिन्न मिथ्यागुणविशिष्टेश्वरगोचराः सगुणश्रुतय इति ॥

प्रसाद—किञ्च यद्यपि 'सत्यंज्ञानम्' इत्यादि सामानाधिकरण्य वाक्यों को स्वरूप परक मानने वाले आप लोग भी मानते हैं कि ये सामानाधिकरण्य वाक्य तत्–तत् प्रवृत्ति निमित्त से विशिष्ट स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं, फिर भी शब्दों के द्वारा ज्ञात ब्रह्म का स्वरूप सत्यत्व; ज्ञानत्व आदि से विशिष्ठ है; इस बात का प्रतिपादन ये वाक्य नहीं करते हैं । ब्रह्म में गुणों के पक्षपाती आप लोग भी ज्ञान का ज्ञानवान् तथा आनन्द का आनन्दवान् अर्थ नहीं मानते हैं । इस तरह ब्रह्मके गुणोंका निषेध श्रुतिके शब्दतः तथा अर्थतः दोनों प्रकार से हो जाता है । यदि कहें कि ब्रह्म को सुख स्वरूप मानने पर मुक्तावस्था में ब्रह्म भावापत्ति होने से सुखस्वरूप हो जाने के कारण मोक्ष पुरुषार्थ नहीं सिद्ध हो पायेगा , क्योंकि कोई भी यह नहीं चाहता है कि मैं सुख हो जाऊँ; अपितु सब लोग सुखी होना चाहते हैं । अतएव स्वरूप को सुख विशिष्ट अवश्य मानना चाहिए । तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सुख के साक्षात्कार मात्र से पुरुषार्थता की सिद्धि हो जाने से, स्वरूप में सुख के सम्बन्ध रूपी प्रयोजक की कल्पना अनावश्यक

है। यदि कहें कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। जो उपादान होता है, वह द्रव्य अवश्य होता है। उपादान द्रव्य आगन्तुक तथा अपृथक् सिद्ध धर्मों का आश्रय होता है। इस तरह ब्रह्म के उपादानत्व एवं द्रव्यत्व हेतु के द्वारा उसके विशिष्टत्व का हम अनुमान करते हैं, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि द्रव्य शब्द के द्वारा आपको वस्तुत्व मात्र अपेक्षित है; तो प्रश्न है कि वह वस्तुत्वादि मुख्य है कि अमुख्य और अन्तमें इन दोनों में से कोई भी कल्प उपपन्न नहीं हो पायेगा। इसी तरह उपादानत्व हेतु के द्वारा भी ब्रह्म की विशिष्टता का अनुमान असम्भव है, आत्मत्व हेतु के द्वारा भी उसकी विशिष्टता का अनुमान इसलिए नहीं किया जा सकता है; कि हम दूसरी आत्मा स्वीकारते ही नहीं, अतएव यह दृष्टान्त विकल अनुमान होगा। किञ्च आत्मा शब्द के द्वारा आत्मतत्व जाति को चैतन्यादि गुणों से विशिष्ट आकार रूप से सिद्धि ही नहीं हो सकती है। यदि आप को आत्मा शब्द से ज्ञानत्व विवक्षित हो तो फिर इससे विशिष्ट वादियों के मत का विरोध होगा, किञ्च वह आत्मत्व हेतु विशिष्टता साधक नहीं हो सकता है। इस तरह विशिष्टता विषयक दूसरे विचार भी दूषणीय हैं। यहाँ पर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि, 'मैं जानता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा ही आत्मा बुद्धि तथा सुख आदि से विशिष्ट प्रतीत होती है। क्यों कि वह जो प्रतीति होती है, वह विभिन्न वृत्तियों से विशिष्ट अहङ्कारकी प्रतीति होती है; आत्मा की नहीं। यदि यह न मानें तो; मैं स्थूल हूँ, इत्यादि रूपसे होने वाली प्रतीतियों के बल पर आत्मा के स्थूलत्वादि विशिष्ट होने का प्रसङ्ग होगा। यदि आत्मा के देहादि व्यतिरिक्त होने से उसके स्थूलत्वादि विशिष्टता का निषेध कहें तो आत्मा में अहङ्कार व्यतिरिक्त होने से उसके ज्ञान सुखादि विशिष्टता का निषेध हो जायेगा। अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असिद्ध आत्मा की प्रतिपादिका निर्गुण श्रुति सामर्थ्य के द्वारा ही निर्गुण ब्रह्म की सिद्धि हो जाने पर, यह सिद्ध होता है कि सगुण श्रुतियों का विषय मायावच्छिन्न चैतन्य मिथ्या गुण विशिष्ट ईश्वर हैं।

ननु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिवाक्यानामुपासनपरत्वाभावस्य सर्वसम्प्रतिपन्नत्वात् सामानाधिकरण्यनिर्वाहाय त्रैगुण्यसिद्धिरनिवार्येत्यत आह यद्यपीति। निर्विशेषपरमेव सविशेषपरत्वेन यद्यपि सामानाधिकरण्यबलादुच्यते, अत्रापि सामानाधिकरण्यस्यान्यथोपपन्नत्वादर्थतो गुणनिषेधप्रतीतेश्च गुणनिषेधपरत्वमेव सत्यादिवाक्यस्य अन्यथासिद्धिश्चाखण्डार्थसाधने द्रष्टव्येति भावः। शब्दादिति दृष्टान्तार्थम्। यद्वा शब्दतो गुणनिषेधकश्रुतिभिर्बाधमुक्त्वा अर्थतो गुणनिषेधकश्रुत्यादि सार्वज्ञ्यादिगुणश्रुतेर्बाधमाह यद्यपीत्यादिना। वस्तुतोऽखण्डार्थवादोक्तरीत्या स्वरूपपरमेवेदम्, त्वदुक्तन्यायेन विशिष्टपरत्वाभ्युपगमेऽपि ज्ञानानन्दादिगुणनिषेधासिद्धेः, सिद्ध इत्यर्थः। उक्तमुभयथा गुणनिषेधमुपसंहरति अतः शब्दादिति। आर्थनिषेधो हि तर्कमूलः, तस्मिंश्च तर्के बलवत्प्रतितर्के निरस्ते श्रुतेरार्थनिषेधपरत्वमेवासिद्धमिति शङ्कां निराकरोति नचेति। सुखमात्रेति। ब्रह्मणः सुखित्वे तदभेदे सत्यापि सुखावाप्तेस्तद्भावापत्तिः पुरुषार्थो भवति, सुखरूपत्वे तु ब्रह्माभेदेऽपि सुखाव्याप्तेः पुरुषार्थो न स्यादित्यर्थः। वैशिष्ट्यम्-विशिष्टत्वम्, सविशेषत्वमित्यर्थः। सुखापरोक्षमात्रेणेति आपरोक्ष्यम्-अपरोक्षम्, स्वार्थेष्यञ् आत्मनः सुखापरोक्ष्यमात्रेण सुखस्य पुरुषार्थतासिद्धौ सुखसम्बन्धः पुरुषार्थतायामप्रयोजकः, तथाच ब्रह्मणि तत्कल्पनमयुक्तमित्यर्थः। नचैवमपि सुखापरोक्ष्यसम्बन्धाभ्युपगमप्रसङ्गः सर्वत्र ज्ञानस्यात्मस्वरूपत्वसमर्थनात्, यं प्रति सुखमपरोक्षं तं प्रति पुरुषार्थः, तच्चाभेदेऽप्यविरुद्धम्; निर्गुणश्रुते-

स्तर्कसहकृतसगुणश्रुत्या बाध इत्यभिप्रायेण शङ्कते द्रव्यत्वेति । आत्मत्वमिति । अभेदे दृष्टान्तत्वा सम्भवात् ब्रह्मभिन्नो जीवो दृष्टान्तो वाच्यः ; तादृशस्य चानभ्युपगमाद्दृष्टान्तहीनमित्यर्थः । विरोधोवेति । ज्ञानत्वस्य गुणाभावव्याप्तेर्घटज्ञानादिषु दर्शनाद्विरुद्धो हेतुरित्यर्थः ।

ननु ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुणः तत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वात् , ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यधर्मवत् विचार्यत्वादित्यादिकमाशङ्क्य निराकरोति एवमन्यदपीति । प्रेप्सावत्वे प्रमाणाभावात् प्रथमहेतोरसिद्धिः ; सत्तानवधारणात्मकस्वरूपज्ञानादेव विचारोपपत्तेः स्वरूपसत्तानिश्चयस्यैव विचारफलत्वोपपत्तेश्च द्वितीयहेतोरप्रयोजकतेति भावः । प्रत्यक्षविरोधान्निर्गुणश्रुतिर्दुर्बलेत्यभिप्रायवतः शङ्कान्निराकरोति न च वाच्यमिति । तत्तद्वृत्तिः-बुद्धिसुखदुःखाद्यात्मवृत्तिः । अन्यथेति । एतादृशप्रतीतिबलात्तत्सिद्धावित्यर्थः । अहंकारव्यतिरेकेति । नचासमर्थस्य द्विरुपत्वादात्मधर्म एवाहंकार प्रतीयत इति कुतो न स्यादिति वाच्यम् , "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे" ति श्रुत्याहंकारधर्मत्वसिद्धेरित्यभिभावात् । निर्गुणश्रुतेः प्राबल्ये कारणान्तरं यदन्नेनोपसंहरति अत इति । प्रत्यक्षाद्यप्राप्तेति । सर्वज्ञत्वादिकं तु जगत्कारणत्वाद्याक्षिप्तमिति न तत्र श्रुतेस्तात्पर्यम् , सगुणवादिनैव सगुणत्वे प्रत्यक्षाद्युपन्यासाच्च न श्रुतेस्तत्र तात्पर्यमिति भावः ।

सिद्धान्तः-अत्रोच्यते-यदुक्तं सगुणनिर्गुणश्रुतीनामाश्रयभेदादिना निर्वाहे दूषणम् , तदस्माकमपीष्टमेव । यत्तु विधेयनिषेध्यभेदेन विषयव्यवस्थायामुक्तम् ; 'असंकुचितनिर्वाहे सति सङ्कोचोऽनुपपन्नः' इति , तत् तदा शोभते , यदि सगुणश्रुतिबाधमन्तरेणासंकुचितनिर्वाहः स्यात् । बाधात् सङ्कोच एव न्याय्यः ।। संकोचोऽपि क्वचित्कबाध एवेति चेत् ; सत्यम् , न तु सार्वत्रिकः , तत एव तस्य संग्रहणीयता । अन्यथा उत्सर्गापवादनय एव निर्मूलः स्यात् । यच्चोक्तमपच्छेदनयेन प्रमाणत्वेऽपि बाध्यत्वमुपपद्यत इति, तदपि मीमांसामांसलितचेतसां जुगुप्सनीयम् । अनियतविरोधपौर्वापर्ये ह्यपच्छेदनयः । अन्यतरापच्छेदे बाधकाभावेन प्रामाण्यसिद्धेः , युगपदपच्छेदे विकल्पत उभयोः प्रामाण्यसम्भवात् क्रमेणापच्छेद एव केवलं "पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सिध्यति" इति न्यायेन पूर्वबाधः ! तथापि प्रयोगान्तरे प्रामाण्यं सिध्यत्येव , नियतविरोधपौर्वापर्ये तूपक्रमाधिकरणन्यायेन परानुत्पत्तिरेव / ततश्चोत्सर्गापवादन्यायस्यैव सगुणनिर्गुणश्रुत्योर्विषयता । अतो विहितव्यतिरिक्तगुणविषयो निषेधः ।

प्रसाद—उपर्युक्त पूर्वपक्ष का यहाँ से उत्तर दिया जा रहा है । अद्वैती विद्वानों ने सगुण एवं निर्गुण श्रुतियों के आश्रय भेदादि के द्वारा, विषय व्यवस्था का जो खण्डन किया है वह हमें भी अभिप्रेत है । विधेय एवं निषेध्य के भेद से विषय व्यवस्था के विषय में अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि,

निर्गुण श्रुतियों का असंकुचित निर्वाह सम्भव होने पर उनका संकुचित निर्वाह मानना अनुपपन्न है । तो उनका यह कथन तब अच्छा लगता ; जब कि सगुण श्रुतियों के बाध के बिना ही निर्गुण श्रुतियों का असंकुचित निर्वाह होता । सगुण श्रुतियों का बाध होने पर तो उनका सङ्कोच ही उचित है । यदि कहें कि निर्गुण श्रुतियों में सर्वत्र सङ्कोच करना उचित नहीं होगा , तो आपका यह कहना ठीक ही है, क्यों कि सार्वत्रिक संकोच मानने पर तो उनकी संग्रहणीयता ही समाप्त हो जायेगी । यदि ऐसा नहीं मानें तो उत्सर्गापवादन्याय का मूल ही समाप्त हो जायेगा । अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि अपच्छेदापवाद न्याय के द्वारा सगुण श्रुतियों का प्रामाण्य रहने पर भी बाध्यत्व उपपन्न होता है, उनका यह भी कहना मीमांसाभिज्ञों के लिए निन्दनीय ही है । अपच्छेदन्याय की प्रवृत्ति वहीं होती है, जहाँ पर विरोध तथा पौर्वापर्य का निश्चय नहीं होता है । दोनों में से किसी एक का अपच्छेद (बाध) होने में किसी बाधक के न रहने के कारण प्रामाण्य की सिद्धि हो जाने से समकाल में ही अपच्छेद होने पर विकल्प होने के कारण दोनों का प्रामाण्य सम्भव होने से, क्रमशः ही अपच्छेद होता है । इस तरह 'पूर्वाभावेहि नोत्पत्ति-रुत्तरस्य सिद्धयति' इस सूत्र के द्वारा केवल पूर्व का ही बाध सिद्ध होता है । फिर भी दूसरे भाग में अपच्छेदन्याय के द्वारा बाधित का भी प्रामाण्य होता है । जहाँ पर विरोध तथा पौर्वापर्य दोनों निश्चित होते हैं वहाँ पर अपच्छेदन्याय की प्रवृति न होकर उपक्रमाधिकरण के अनुसार पर की अनुत्पत्ति होती है अतएव सगुणतथा निर्गुण श्रुतियाँ उत्सर्गापवाद नियम का विषय हैं । इस तरह विधित्सित दिव्य गुणों से भिन्न गुणों का ही निषेध निर्गुण श्रुतियाँ करती हैं ।

अन्यथेति । सार्वत्रिकबाधस्य सङ्कोचादपि ग्राह्यत्वे हिंसा निषेधकश्रुत्यसङ्कोचाय पश्वालम्भश्रुतेर्बाधः स्यादित्यर्थः ।

ननु सगुणवाक्यस्य सार्वत्रिकबाधेऽपि व्यावहारिकविषयतया सर्वत्र स्वविषये प्रामाण्यं सम्भवति, संकोचे तु निर्गुणवाक्यस्य यस्मात् सङ्कोचः तत्र न कथं चिदपि प्रामाण्यमिति बाधात् सङ्कोचाद्बाध एवात्र न्याय्यः; हिंसावाक्यस्य तु अत्यन्तबाधे न कथञ्चिदपि प्रामाण्यम् , प्रातिभासिकस्य विधानायोग्यत्वात् , अहिंसा वाक्यसङ्कोचे तु प्रामाण्यमिति बाधात् संकोचस्तत्र न्याय्यः, इति चेत् , उच्यते, सगुणवाक्यानां बाधे तेषामुत्सर्गप्राप्त तत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्यं हीयेत , निर्गुणवाक्यानाम् सङ्कोचे सर्वेषां सगुणनिर्गुणवाक्यानां तत्त्वावेदकत्वमेव सिध्यति , तत्त्वावेदकत्वं यदि नौत्सर्गिकं तदा निर्गुणवाक्यानामपि तत्त्वावेदकता न स्यात् ।

ननु निर्गुणवाक्यानां संकोचे यस्मात् संकोचः तत्र प्रामाण्यं न स्यादिति चेत् ; एवमपि सर्ववाक्यानां तत्त्वावेदकत्वसिद्धये तदपि सोढव्यमेव । किञ्च यदि तत्राप्रामाण्यं दोषः तर्हि निर्गुणवाक्यानां गुणविषये प्रामाण्याभावेऽपि दोष स्यात् ।

ननु तद्वाक्यार्थतया प्रतीयमाने अप्रामाण्यम् दोष इति चेन्न ,—लक्षणाद्युच्छेद प्रसङ्गात् । तस्मान्निर्गुणवाक्य निषेधप्रतियोगिपदसंकोचमात्रं सर्वेषां प्रामाण्यसिद्ध्यै युक्तम ।

ननु सगुणवाक्यानां निषेध्यानुवादकत्वेन निषेधतात्पर्यात्तत्त्वावेदकत्वमस्तु, आह च नवीनः "एकवाक्यत्वस्याभ्यर्हितत्वात् सगुणवाक्यानां गुणानुवादकतया निर्गुणवाक्यैरेकवाक्यत्वमेव युक्तम् , किञ्च परमते क्वचित्प्रमितब्रह्मानुवादेन किं तत्र सर्वज्ञत्वादिगुणा विधीयन्ते ?

किंवारुणैकहायनीन्यायेन युगपत्सर्वगुणविशिष्टम् ब्रह्म वेदान्तैः प्रतीयते ? नाद्यः ; उद्दिश्यानेकगुणविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात् , चित्राध्ययनयवत् , तत्र हि "चित्रया यजेत पशुकाम" इत्यादिवाक्ये अग्निषोमीयपशूद्देशेन गुणविधिमाशंक्य उद्दिश्य स्त्रीत्वचित्रत्वगुणद्वयविधौ वाक्यभेदात् नामधेयत्वं चित्रापदस्य समर्थितम् , नापि द्वितीयः , अगृहीते ब्रह्मपदार्थे वाक्यार्थप्रतिपत्तेर योगेन सत्यादिवाक्येन तत्प्राप्तेर्वाच्यतया ब्रह्मपदेन तदनूद्य सार्वज्ञ्यादि विधानमित्येव स्यात् , न तु विशिष्टविधानम् , यथा च वाक्भेदो दुर्वारः , किञ्च प्रयोजनाभावात् श्रुतेर्न गुणे तात्पर्यम् , निर्गुणज्ञानस्य तु मोक्षः फलम् , जगत्कारणत्वाद्याक्षिप्तत्वाच्च न सर्वज्ञत्वादिश्रुतेस्तत्र तात्पर्यमिति निषेधार्थत्वमेव युक्त" मिति; तन्न, तथा सति ब्रह्मणि सार्वज्ञ्यादीनां व्यावहारिकत्वस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात् ।

ननु क्वचिद्विद्यमानस्यैव निषेधात् सार्वज्ञ्यादेश्चान्यत्रासम्भवात् ब्रह्मण्येव विद्यमानता वाच्येति चेन्न,-सर्वविषयकैकज्ञानाप्रसिद्धावपि तत्तद्वस्तुज्ञानानां प्रसिद्धतया तत्समुदायनिषेधोपपत्तेः । किञ्च "अथात आदेशो नेति नेति" इति निषेधेन सत्यादिवाक्यमनुवादतया एकवाक्यम् स्यात् , तथा च शून्यवादावतारः । किञ्च अप्राप्तत्वाच्च ब्रह्मणि गुणानां नानुवादः , जगत्कारणत्वादिना कथञ्चित्सार्वज्ञ्यादिप्राप्तावपीतरेषामप्राप्तेस्तेषामपि स्वाभाविकत्वाद्यप्राप्तेश्च । अन्यथा अनुभूति र्निर्विशेषेत्याद्यनुमानैस्त्वदुक्तधर्मधर्मिभावखण्डहेतकैश्च निर्गुणत्वस्यापि प्राप्ततया तद्विधानमनुपपन्नम् । प्रत्युत निर्गुणत्वसाधकतर्काणां प्राबल्यस्य त्वदाभमतत्वात् सगुणत्वस्य न्यायाप्राप्तत्वात् तात्पर्यं युक्तम् । किञ्चाधिष्ठानत्वाक्षिप्ते ब्रह्मणः सत्यत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वाक्षिप्ते जगतो मिथ्यात्वे जीवब्रह्मणोरभेदे च श्रुतेस्तात्पर्याभावप्रसङ्गः । एवञ्च यदुक्तम् सार्वज्ञवाक्यं जगत्कारणस्य ज्ञप्तिस्वरूपप्रतिपादनार्थं मिति तदपि न स्यात् , प्रपञ्चमिथ्यात्वेन ब्रह्मणो वित्तिरूपस्याक्षेपात् । न हि वित्तेर्ब्रह्मस्वरूपाद्यन्यत्वे ब्रह्मसिद्धिसम्भवः, तस्या अपि मिथ्यात्वात् ।

यच्चोक्तम् प्रयोजनाभावान्न श्रुतेर्गुणे तात्पर्यमिति । तन्न, ब्रह्मणः फलप्रदत्वौपयिकगुणप्रतिपादनेन ब्रह्मोपासने प्रवृत्त्यौत्कट्यसिद्धेः । एवं प्राप्योत्कर्षत्वाच्च सार्वज्ञ्यादेः तज्ज्ञाने प्रवृत्त्यौत्कट्यसिद्धिः । सार्वज्ञ्यादेरुपास्यत्वाच्च तत्प्रतिपादनं सप्रयोजनमेव । "तमेव विदित्वे" त्येवव्यवच्छेदान्न तस्योपास्यतेति चेत , सजातीयदेवतान्तरस्यैव निषेधात् , "त" मिति प्रकृतकारणत्वादिगुण विशिष्टस्यैव ब्रह्मणः परामर्शात् ; " तमेवम् विद्वानमृत " इत्येवशब्देन प्रकृत प्रकारपरामर्शाच्च ।

यदुक्तम् अत्रापि 'पुरुष एवेदं सर्व' मिति प्रस्तुतसार्वात्म्यमेवशब्दार्थः, विराडादिप्रपञ्च सृष्टेः तदर्थमेवाभिधानात् , यच्च सार्वात्म्यं जडप्रपञ्चस्य परमार्थत्वे चिद्रूपात्मनो वस्तुतस्तद्भावत्यायोगात् मिथ्याप्रपंचस्य अधिष्ठानब्रह्मभासतया परिशेषादेव भवति, अन्यथा प्रस्तुतपृथिव्यादिज्ञानस्यापि मुक्तिहेतुत्वाभिधाने "तमेवे" त्येवकारविरोधादिति । तन्न, किं "पुरुषएवे" ति अधिष्ठानत्व प्रयुक्तं सर्वतादात्म्यमेव प्रतिपाद्यते ? किं वा सार्वात्म्योपपादकसर्वाधिष्ठानत्वसिद्धं सर्वाभावस्वरूपम् ? आद्ये अतत्त्वावेदकत्वं स्यात् ; तस्यैव "एवं विद्वा" निति परामर्शादतत्त्वज्ञानान्मो-

क्षश्च । द्वितीये अनेन वाक्येन ब्रह्मस्वरूपे कस्यचिद्विशेषस्याप्रतिपन्नत्व "एव" मिति परामर्शासम्भवः । स्वरूपमात्रपरामर्शश्च 'त' मित्येव सिद्धः । अशक्यश्च प्रकारवाचिना एवशब्देन स्वरूपपरामर्शः ।

ननु माभूद्गुणश्रुतिरनुवादः, किन्तु विधिरेव, एवं च निषेधस्य प्रसञ्ज साकांक्षतया गुणविधायकानामपि निषेध्यगुणप्रसञ्जनमुखेन निषेधतात्पर्यकतया निषेधैकवाक्यत्वेन तत्त्वावेदकत्वमिति चेन्न,—पश्वालम्भवाक्यस्यापि प्रसञ्जकत्वप्रसङ्गात् । प्रसञ्जकान्तरसद्भावस्तु उभयत्र तुल्यः व्यर्थहिंसाया इवात्रापि हेयगुणानां प्रसक्तत्वात् । हेयगुणप्रसक्तिश्चात्मत्वादिसाधारणधर्मात् । सार्वज्ञ्यादीनामप्रसक्तत्वात् तत्प्रसक्त्यर्थं सगुणवाक्यमिति यदि, तद अग्नीषोमीयपश्वालम्भस्याप्रसक्त त्वात् तत्प्रसक्त्यर्थं तद्वाक्यमित्यपि तुल्यम् । सार्वज्ञत्वादिकं कारणत्वेन प्रसक्तमिति त्वयैवाभिहितम् । किंच यदि सार्वज्ञ्यादिकमप्रसक्तम् तर्हि प्रक्षालनादितिन्यायेनाप्रसञ्जनमेव वरम् । किंचैवं 'नेति नेती' ति निषेधार्थं सत्यादिवाक्यस्य प्रसञ्जकत्वेनैक वाक्यत्वम् स्यात् । तस्मान्न निषेधैकवाक्यत्वसम्भवः ।

किन्तर्हि निर्गुणश्रुतेरत्यन्तबाध एवेष्यत इत्याकांक्षायामाह ततश्चेति ।

यच्चोक्तं सगुणवाक्यानां मिथ्याविषयाणामपि दृष्टिविधिवत् फलविशेषार्थोपासनार्थतया प्रामाण्यमिति-तदपि न, तत्रैव मोक्षाख्यस्य फलस्य बहुलमुपलब्धेः । पुण्यपापप्रहाणपूर्वकस्वाभाविकरूपाविर्भावरूपफलविशेषस्य सांसारिकत्वोक्तिः साहसिकेभ्य एव स्वदते ॥ अस्तु तर्हि मिथ्यार्थविषयसगुणोपासनेनापि विधिबलान्मोक्ष इति चेन्न ; तथा सति निर्गुणवाक्यानामेव मिथ्यार्थविषयत्वकल्पनं किं न स्यात ? तत्त्ववेदनस्यैव मोक्षहेतुत्वमिति नियमनिष्कासनात् । तथाच तत्त्वोपदेशश्च निष्प्रयोजनः स्यात्, अन्यथापि मोक्षसिद्धेः । अतो विषयव्यवस्थयैवोभयप्रामाण्यसिद्धिः । अतो नवमस्य कल्पस्यानवतार एव ।

यत् पुनरुक्तं न ज्ञानम्, आनन्दस्यानन्दो वा जायटीतीत्यर्थतो गुणनिषेधसिद्धिरिति—(१) किं तत्र धर्मस्य धर्मान्तराभ्युपगमेनानवस्थादिरभिप्रेतः, (२) उतैकजातीययोर्धर्मधर्मिभावो नोपपद्यत इति ; (३) यद्वा ज्ञानानन्दाद्यवान्तरजातीयस्य तत्तदवान्तरजातीयाधारत्वं न दृष्टमिति, (४) अथ ज्ञानानन्दयोरज्ञानानन्दरूप एवाश्रयो दृष्ट इति ; (५) अथवा ज्ञानानन्दरूपस्यात्मनो ज्ञानानन्दादिकं शशादेरिव शृङ्गादिवमुपलम्भबाधितमिति ? नाऽऽद्यः ; अनुक्तोपालम्भरूपत्वात् । न हि वयं धर्मभूतचैतन्यादेः चैतन्यान्तरादिकं ब्रूमः । धर्मस्य चोपलम्भादेव धर्मान्तराभ्युपगमे कथमनवस्था ? नापि द्वितीयः ;

धर्मधर्मिणोः सर्वत्र सत्तादिभिर्यथाकथञ्चिदेकजातीयत्वावश्यम्भावात् । प्रभाप्रभावदादिषु विशेषतोऽपि सजातीययोर्धर्मधर्मिभावो दृष्टः । अवयविवादे च परमाणुद्व्यणुकादिष्वाश्रयिषु पार्थिवत्वादिविशेषसाजात्यमिष्टम् । नापि तृतीयः, अन्यत्राद्दष्टेरन्यत्र निषेधकत्वाभावात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्र दृष्टान्तेनानुमाने तु श्रुत्यादिबलेन कालात्ययापदेशात् नापि चतुर्थः, असिद्धेः । ननु किं ज्ञानतया आनन्दतया च ज्ञातोपलभ्यत इति चेत्-किं वा जडतया दुःखतया चोपलभ्यते ॥ तदपि नास्तीति चेत्; कस्तर्हि विरोधः ॥ सन्दिग्ध स्वरूपत्वमिति चेन्न, तावता विरोधहेतुत्वासिद्धेः । शास्त्रादिभिस्तु विशेषनिष्कर्षात् । पञ्चमस्तु प्रत्यक्षश्रुतिभ्यामेव प्रतिक्षिप्यत इति नानुपपत्तिं पश्यामः ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि सगुण वाक्यों के विषय मिथ्या हैं, फिर भी उनका उपासनापरक होने से उसी तरह से प्रामाण्य है, जिस तरह फल विशेष के लिए उपदिष्ट दृष्टि विधियों का प्रामाण्य है; तो अद्वैती विद्वानों का उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि सगुण वाक्यों के ही प्रकरण में मोक्ष नामक फल की बहुलतया उपलब्धि होती है। अद्वैती विद्वानों का यह कथन भी उनका साहस मात्र है, कि सम्पूर्ण पापों के नाश पूर्वक स्वाभाविक स्वरूप का आविर्भाव रूप फलविशेष ससारान्तर्गत है। यदि कहें कि मिथ्या वस्तु विषयक सगुणोपासना के द्वारा भी मोक्ष होता है, यह बात विधि वाक्यों के बल पर सिद्ध होती है, तो यह कथन उचित नहीं है। मैं पूछता हूँ कि आप निर्गुण वाक्यों को ही मिथ्या वस्तु विषयक क्यों नहीं मानते हैं ? नियम भी है कि तत्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। विधि वाक्यों के बल पर सगुणोपासना को मोक्षप्रद मानने पर, आपके मत में तत्त्वोपदेश भी व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि तत्त्वोपदेश के विना भी सगुणोपासना द्वारा ही मोक्षावाप्ति की सिद्धि हो जाती है। अतएव विषय की व्यवस्था के द्वारा ही दोनों वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है।

अद्वैत विद्वानों ने यह जो कहा है कि ज्ञान का धर्म ज्ञान नहीं होता है; आनन्द का धर्म आनन्द नहीं होता। इस तरह अर्थतः भी ब्रह्म के गुणों का निषेध हो जाता है। यहाँ पर प्रष्टव्य है कि क्या आप यह कहना चाहते हैं कि (१) धर्म का भी धर्म मानने पर अनवस्था दोष होगा ? (२) अथवा यह कहना चाहते हैं कि एक जाति की वस्तुओं में धर्म-धर्मीभाव नहीं होता है ? (३) अथवा यह कि ज्ञान एवम् आनन्द आदि भिन्न जाति की वस्तु एवम् भिन्न जाति की वस्तु से विशिष्ट नही होती हैं ? (४) अथवा यह कहना हैं आपका कि ज्ञान एवम् आनन्द का आश्रय अज्ञानानन्द ही होता है ? (५) या यह कहना चाहते हैं कि ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा के ज्ञानानन्दादि शशादि के शृङ्गादि के समान अत्यन्त अनुपलब्ध हैं। इनमें प्रथम पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि हम स्वयम् इसे नहीं मानते। हम धर्मभूतज्ञान का ज्ञानान्तर नहीं स्वीकारते हैं। यदि किसी धर्म के धर्मान्तर की उपलब्धि होती है तो फिर अनवस्था दोष कैसे होगा ? दूसरा विकल्प इसलिए नहीं माना जा सकता है कि धर्म एवम् धर्मी में सर्वत्र सत्ता आदि के द्वारा किसी न किसी प्रकार एक जातीयता अवश्य होती है। प्रभा एवम् प्रभावान् में विशेष रूप से भी धर्म धर्मीभाव देखा जाता है। अवयवी स्वीकार करने वाले वैशेषिकों के भी मत में परमाणु के आश्रय द्व्यणुकादि में विशेष रूप से सजातीयता स्वीकारी जाती है। तीसरा पक्ष इसलिए नही

माना जा सकता है कि, अन्यत्राभिप्रेत दृष्टिका अन्य स्थल में निषेध नहीं किया जा सकता है । अन्यथा शशशृङ्ग की अनुपलब्धि के द्वारा शश के समान गौ में शृङ्गानुपलब्धि का प्रसङ्ग होगा । दृष्टान्त मुखेन ब्रह्म का निर्गुणत्वानुमान करने पर हेतु 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि श्रुति के द्वारा कालात्ययापदिष्ट हेतु होगा । चौथे विकल्प इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती है । यदि पूछें कि क्या ज्ञान और आनन्द रूप से ज्ञान की उपलब्धि होती है ? तो इसका उत्तर है कि क्या ज्ञान की जड और दुःख रूप से उपलब्धि होती है ? यदि नहीं होती है तो फिर उसमें कौन सा विरोध है । यदि ज्ञान की संदिग्ध स्वरूपता मानें तो, इससे विरोध तो होता नहीं । और आनन्दो ब्रह्म' 'आनन्दम् ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को गुण विशिष्ट रूप से स्पष्टतया बतलाती हैं । पांचवें विकल्प का बाध तो प्रत्यक्ष एवम् श्रुति द्वारा ही हो जाता है , अतएव एक ही ब्रह्म में सगुण एवम् निर्गुण श्रुतियों के विषय-व्यवस्था में तथा ज्ञानानन्दादि स्वरूप ब्रह्म के ज्ञानत्वानन्दत्वादि विशिष्ट होने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है ।

तत्रैवेति । मोक्षस्य सत्यज्ञानसाध्यत्वान्नारोपितविषयमुपासनमिति भावः ।

ननु तत प्रकरणे श्रयमाणं फलं न मोक्ष इत्यत्राह पुण्यपापेति । दोषान्तरमाह तथाचेति । तत्त्ववेदनस्यैव मोक्षहेतुत्वमिति नियमाभावादित्यर्थः ।

ननु कथं तत्त्वोपदेशस्य निष्प्रयोजनत्वम् ? मिथ्यार्थविषयोपासनवत्तत्त्व ज्ञानस्यापि मोक्षार्थत्वात् , सगुणविद्यानामनेकासामुपदेशात् , अन्यथातत्त्वोपदेशादपि मोक्षसिद्धौ मिथ्यात्वोपासनस्यापि उपदेशो निष्प्रयोजनः स्यादिति चेन्न ,--तत्त्वज्ञानादेव मोक्ष इति नियमानङ्गीकारे तत्त्वोपदेशात्तत्त्वोपदेशविभागो न स्यादित्यत्र तात्पर्यात् । अनवस्थादिरिति । धर्मे धर्ममङ्गीकृत्य तस्मिन् धर्मे धर्मव्यवहारसिद्धये धर्मिण एव स्वधर्मगतत्वाङ्गीकारेऽन्योन्याश्रयः , धर्मे धर्मव्यवहारस्य स्वरूपविषयत्वाङ्गीकारे प्रथमधर्मस्याप्यभावप्रसङ्गः इत्यादिरादिशब्देन विवक्षितः । अथ ज्ञानेति । ज्ञानस्य ज्ञानाश्रयत्वे ज्ञानाश्रयस्य ज्ञानत्वाभावदर्शनबाधितमित्यर्थः । धर्मस्य धर्मान्तराभ्युपगमेऽनवस्थामभ्युपगम्य परिहार उक्तः; इदानीन्तदभ्युपगमे ऽप्यनवस्था नास्तीत्याह धर्मस्यचेति । यद्यपि भूतलघटयोरपि सजातीय धर्मधर्मिपक्षे निदर्शनत्वे सम्भवति, तथाप्यपृथक्सद्धर्मधर्मिभावः सजातीययोर्नेति विशेषणेऽपि दूषणार्थं मवयविवाद इत्याद्युक्तम् । अन्यथेति । शशशृङ्गानुपलब्ध्या शश इव गव्यपि शृङ्गाभावनिश्चयप्रसङ्गादित्यर्थः ।

नन्वन्यत्र ज्ञानस्यानुपलब्धेः प्रत्यक्षसहकारितया वा स्वातन्त्र्येण वा ऽत्मनि ज्ञानाभावसाधकत्वं न विवक्षितम् , किन्त्वयं घट इत्यादिज्ञाने ज्ञानत्वस्य ज्ञानाभावव्याप्तिग्रहोपयोगितयेत्यत्राह दृष्टान्तेनेति । श्रुत्या दिति । ईश्वरे 'यः सर्वज्ञ" इत्यादिश्रुतिबाधः जीवे 'एषहि द्रष्टे' त्यादिश्रुत्या जानामीत्यादिप्रत्यक्षेण च बाध इत्यर्थः । विरोध इति । विरोधहेतुरित्यर्थः ।

ननु साधकबाधकाभावेन नित्यसंशयान्न कदापि ज्ञानत्वनिर्णयसम्भवः ; अतः कथम् विरोधहेतुत्वासिद्धिरित्यत्राह शास्त्रादिभिरिति : 'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः;' 'आनन्दो ब्रह्म' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा' निति श्रुतिः । आदिशब्देन सुखम-

हमस्वाप्समिति परामर्श हेतुभूतसौषुप्तिकाहमर्थानुभवः प्रत्यक्त्वस्वयम्प्रकाशत्वानुकूलत्वादिविशिष्ट-विषयो गृह्यते । प्रत्यक्षश्रुतिभ्यामिति । प्रत्यक्षेण श्रुत्या च ज्ञानानन्दत्वोपलम्भात्तदभावस्यासम्भ-वात् तत्प्रत्यक्षमसिद्धमित्यर्थः ।

यत्तूक्तं सुखापरोक्ष्यमात्रेण पुरुषार्थ [ता] सिद्धौ सम्बन्धस्याप्रयोजकस्य कल्प-नमयुक्तमिति—तदपि निजहृदयविसंवादि जल्पितम् । तथा हि—न हि परस्य सुखापरोक्ष्य-मात्रेण स्वयमपि लब्धपुरुषार्थो भवति, तथा सति एकस्य सुखस्य दुःखस्य सर्वार्थत्वप्र-संगेन प्रत्यक्षानुमानशास्त्रादिसमस्तप्रमाणक्षोभप्रसङ्गात् । स्वरसतश्च परोपकारापकारयोरपि प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गात् । अतः स्वसम्बन्धितयैव सुखमपरोक्षतयाऽर्थनीयं भवति ॥ स्वरूपस्य तर्हि भवतां कथं सुखत्वमिति चेत्, सच्चिदानन्दरूप आत्मेति वदता भवता नैवं चोद-नीयम् । स हि सदात्मा सुखत्वविशिष्टाकारेण प्रकाशात्मतया सम्बध्यत इति निपुणम् चिन्तय ।

यत्तु सगुणत्वानुमाने दूषणमुक्तम्, न तेनास्माकं चेतसि चमत्कारः । जीवे-श्वरयोः प्रत्यक्षागमाभ्यां सगुणत्वसिद्धेः । यत्तु अहं जानामीत्यादिप्रत्यक्षस्य वृत्तिवि-शिष्टाहङ्कारविषयत्वमुक्तम्, तत्तु अहमर्थात्मत्वसमर्थनादौ परिहृतं द्रष्टव्यम् । अतो जीवस्य सवगुणशून्यत्ववचनम् प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणविरुद्धम् । ईश्वरस्य तु आगमैकसमधिगम्यस्या-गमविरुद्धम् ।

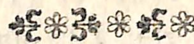
प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि सुख के साक्षात्कार मात्र से उसकी पुरुषा-र्थता की सिद्धि हो जाने के ही कारण ब्रह्म को सुख विशिष्ट मानना अनावश्यक है; वह भी वे लोग अपने हार्दिक भावों के विपरीत कहते हैं । क्योंकि लोक में देखा जाता है कि कोई दूसरे के सुख को देखकर स्वयम् सुखी नहीं होता । अन्यथा एक व्यक्ति का ही सुख या उसका दुख सबों का पुरुषार्थ अथवा अपुरुषार्थ बन जाता और ऐसा होने पर सभी प्रत्यक्ष अनुमान तथा शास्त्रादि प्रमाण जिनसे कोई सुखी तथा कोई दुःखी सिद्ध होता है, क्षुब्ध हो जाते । किञ्च किसी को दूसरे का परोपकार अथवा अपकार में प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं आता । इसलिए सिद्ध होता है कि सबों को अपना ही सुख पुरुषार्थ होता है । यदि कहें कि तो फिर सिद्धान्ती के मत में स्वरूप कैसे सुखस्वरूप सिद्ध हो पायेगा ? तो इसका उत्तर है कि आपको तो कम से कम ऐसा नहीं ही पूछना चाहिए, आप तो आत्मा को सच्चिदानन्द स्वरूप मानते हैं । वह सत् स्वरूप आत्मा सदा सुख विशिष्ट रूप से ही सबों के साथ प्रकाश तथा आत्मा रूप से सम्बद्ध होता है ।

अद्वैती विद्वानों ने ब्रह्म सगुणत्वानुमान में जो दोष दिखाया है उससे हम उनकी बुद्धि तीव्रता को देखकर चमत्कृत नहीं होते । प्रत्यक्ष के द्वारा जीव तथा आगम के द्वारा ईश्वर के सगुणत्व की ही सिद्धि होती है । अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि 'मैं जानता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष का विषय वृत्ति विशिष्ट

अहङ्कार है, उसका खण्डन उन्हें अहमर्थात्मत्व समर्थनवाद में देखना चाहिये। अतएव जीव को सर्वगुण शून्य बतलाने वाला अद्वैती विद्वानों का वाक्य प्रत्यक्ष तथा श्रुति के विपरीत है। श्रुतियाँ भी आत्सा कर्त्ता भोक्ता द्रष्टा इत्यादि रूप से बतलाती हैं। और उनका ईश्वर को निर्गुण बतलाने वाला वाक्य श्रुति विरुद्ध है; क्योंकि ईश्वर शास्त्रैकसमधिगम्य है।

नहीति। यदि स्वसम्बन्धि वा स्वासम्बन्धि वा सुखं आपरोक्ष्यमात्रेण पुरुषार्थः तदा सुखमात्रं किंचित्प्रत्यपरोक्षतः प्रकाशत इति सर्वान् प्रति पुरुषार्थः स्यात; एवम् दुःखमपि, न च यस्यापरोक्षविषयः सम्प्रति पुरुषार्थः, मुक्तस्य सुखप्रत्यक्षराहित्येनापुरुषार्थत्वप्रसङ्गादिति भावः। अनुमानेति। मुखविकारादिना सुखदुःखादिकं परस्मिन्ननुमीयते। शास्त्रेति। 'स्वर्गकामो यजेत' 'योपकुरुते तं शतेन यातया' दित्यादि। आदिपदेन पराभिमतार्थोपस्थभावौ विवक्षितौ। स्वर-सत इति। परोपकारेऽपि प्रवर्तन्ते परोपकारादपि निवर्तन्ते साधव इत्याशङ्कावारणार्थमिदमुक्तम स्वप्रयोजनोद्देशेन परोपकारे प्रवर्तन्ते स्वदुःखभयादेव परोपकारान्निवर्तन्ते इति भावः। परिहार साम्याभिप्रायेण हि प्रतिबन्द्युद्भावनम, न च प्रकृते तत्सम्भवति; सत्यत्व चित्त्वानन्दत्वादिध-र्मशून्यस्वरूपमात्रवादिनस्तव तदवलम्बिपरिहारायोगादित्यभिप्रायेणाह रुचिदिति। सहीति। आकारः—स्वरूपम। आत्मासुखत्वविशिष्टाकारेण प्रकाशात्मतया सम्बध्यय प्रकाशतया आत्मतया च सम्बध्यते, प्रकाशत्वेन रूपेण सम्बन्धात सुखस्य प्रकाशः प्रकाशत्वेन रूपेण सम्बन्ध्यात्मा सुखी, एवञ्च स्वरूपसुखस्य स्वकीयत्वं स्वप्रकाशात्मनस्तस्यैव सुखप्रकाशत्वञ्च सिद्धमिति स्वसम्ब-न्धिसुखापरोक्षसिद्धेः स्वरूपसुखस्य पुरुषार्थतोपपन्नेत्यर्थः। सुखापरोक्षप्रतिबन्धित्वमपि आत्मत्वे-नैव तेन सुखस्यस्वप्रत्यपरोक्षत्वमिति भावः। सम्बन्धिभेदाभावेऽपि सम्बन्धितावच्छेदकभेदा-त्सम्बन्ध उपपद्यते; घटस्य स्वरूपमित्यादौ तथा-दर्शनादिति भाव। प्रत्यक्षादीति। उपादान-त्वादिहेतुकानुमानदूषणं यद्यप्यनुपद मेवाभ्युपगतम, तथापि मुखविकासादिहेतुकानुमानस्य सम्भ वात् सर्वप्रामाणविरुद्धमित्युक्तम।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायाम् शतदूषणी व्याख्यायाम चण्डमारुताख्यायाम् सगुणनिर्गुणश्रुतिविषयव्यवस्था नाम द्विपञ्चाशः स्कन्धः॥५२॥



एददुक्तम भवति-निर्गुणश्रुतिवदेव सगुणश्रुतयोऽपि तत्त्वविषयाः प्रमाणभूताश्च। अत एव न तासां मिथो बाध्यबाधकभावः। उत्सर्गापवादनयाच्च विहितव्यतिरिक्तविषयो-ऽत्र निषेधः, अतो भिन्नविषयत्वान्न विरोधगन्धः। विरोधाभावाच्च न बाध्यबाधकभावः, तदभावाच्चोभयप्रामाण्यम् यथार्थरूपम् स्वतःप्रतीयमानमनपोदितमिति। उक्तम् च श्रीम-द्गुरुभिस्तत्त्वसारे—

"यत् ब्रह्मणो गुण-शरीर-विकार-जन्म-कर्मादिगोचरविधिप्रतिषेधवाचः ।
अन्योन्यभिन्नविषया न विरोधगन्धमर्हन्ति; तन्न विधयः प्रतिषेधबाध्याः ॥" इति ।

॥ इति शतदूषण्यां सगुणनिर्गुणश्रुतिव्यवस्थावादः द्विपञ्चाशः ॥५२॥



प्रसाद—कहने का अभिप्राय है कि निर्गुण श्रुतियों के ही समान सगुण श्रुतियाँ भी तत्त्वापादिका हैं, तथा प्रामाणिक है । अतएव उनमें परस्पर में बाध्यबाधक भाव नहीं है । उत्सर्गापवादन्याय के अनुसार सगुण श्रुति प्रतिपादित दिव्यगुणों से भिन्न हेय प्राकृतिक गुणों का ही निर्गुण श्रुतियाँ ईश्वर में निषेध करती हैं । इस तरह दोनों प्रकार की श्रुतियों का विषय भिन्न-भिन्न होने के कारण दोनों में बिल्कुल विरोध नहीं है । परस्पर में विरोध न रहने के कारण उनमें बाध्य बाधकभाव भी नहीं है । दोनों में बाध्यबाधक भाव का अभाव होने के ही कारण दोनों प्रकार की श्रुतियों के वास्तविक प्रतीयमान स्वतः प्रामाण्य का अपनोदन नहीं किया जा सकता है । श्रीवरदाचार्य स्वामी ने तत्त्वसार नामक ग्रन्थ में कहा भी है । यद् ब्रह्मणो०इत्यादि । अर्थात् ब्रह्म के गुण, शरीर, विकार, जन्म एवम् कर्म आदि का विधान तथा निषेध करने वाली सगुण एवम् निर्गुण श्रुतियों में परस्पर में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उन दोनों प्रकार की श्रुतियों के विषय भिन्न-भिन्न हैं । अतएव निर्गुण श्रुतियों द्वारा सगुण श्रुतियों का बाध नहीं होता है।

इस तरह शतदूषणी के सगुणनिर्गुणश्रुतिव्यवस्था विषयक बावनवें वाद का प्रसाद समाप्त हुआ ॥



❀ अथ ब्रह्मोपादानत्वान्यथानुपपत्तिभङ्गवादः त्रिपंचाशः ॥५३॥ ❀

सद्ब्रह्मादिमुखैः पदैः श्रुतिषु यत् तत्त्वं समुद्घोषितं
स्यामित्येव चराचरं जगदिदं सृष्ट्वा प्रविश्याभवत् ।
तस्मै विस्मयनीयमङ्गलगुणस्थेम्ने सदा स्थायिने
सर्वावस्थसमस्तवस्तुवपुषे धाम्ने परस्मै नमः ॥

प्रसाद—श्रुतियों में जिस परम् तत्त्व को सत् , ब्रह्म आदि शब्दों से समुद्घोषित किया गया है; 'एकोऽहम् बहुस्याम्' यह श्रुति बतलाती है कि वह पर ब्रह्म अपने अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आने के लिए सत्य सकल्प के द्वारा इस सम्पूर्ण जड़सेचेतनात्मक जगत् की सृष्टि करके, उसके भीतर अन्तर्यामी

रूप से प्रवेश कर गया। वह परम ब्रह्म सभी कल्याणकारी दिव्य गुणों का आश्रय है, परब्रह्म का ही यह सम्पूर्ण जगत् शरीर है, हम उसी परमज्योति स्वरूप पर ब्रह्म को नमस्कार करते हैं।

स्यामित्येवेति। 'बहुस्या' मिति सङ्कल्प्यैव, ननु बहु स्यादिति सङ्कल्प्य, इत्यर्थः। अनेनोपादानत्वमुक्तम्। अभवदिति। यथासङ्कल्पं बह्वभवदित्यर्थः। उपादानावेऽपि चेतनाचेतनगतदोषासस्पृष्टत्वमाह विस्मयनीयेत्यादि। दोषाणां विशेषणगतत्वप्रदर्शनार्थमुपादानत्वोपादेयत्वसिद्ध्यर्थं इदंसदादिपदानां परमात्मपरत्वसिद्ध्यर्थं चाह सर्वावस्थेति।

अस्तु तर्हि ब्रह्मोपादानत्वान्यथानुपपत्त्या विश्वमिथ्यात्वसिद्धिः। तथाहि—केवलनिमित्तेश्वरवादप्रतिक्षेपेण (पमुखेन) ब्रह्मण एवोपादानत्वमपि, 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादिभिस्समर्थितम्। (१) तदेतदुपादानत्वं किं मृद्घटादिवत् स्वरूपतः, (२) उत बालयुवादिवत् सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टवेषेण ? (३) अथवा रज्जुसर्पादिवत् अविद्यावैचित्र्यनिबन्धनञ्चन्त्येवेति।

प्रसाद—ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है इस बात को सदैव श्रुति बतलाती है। किन्तु ब्रह्मके जगत् के उपादानत्व की सिद्धि जगत् को मिथ्या माने बिना नहीं हो सकती है। वैशेषिक एवं नैयायिक ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानते हैं। भगवान् बादरायण ने ईश्वर के केवल निमित्तत्व का खण्डन करते हुए 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्।' इस सूत्र में ब्रह्म को जगत् का प्रकृति (उपादान कारण) भी बतलाया है। अब प्रश्न है कि ब्रह्म का उपादानत्व किस प्रकार का है? (१) जैसे मिट्टी घट के रूप में साक्षात् परिणत हो जाता है, उसी तरह का स्वरूपतः है? (२) या जैसे शरीर विशिष्ट देह में ही बालत्व, युवत्व आदि परिणाम होते है, उस तरह का उपादानत्व सूक्ष्मचिदचिद् शरीर विशिष्ट रूप से है, (३) या अविद्या की विचित्रता के कारण रज्जू में प्रतीयमान सर्पादि के समान भ्रान्ति जन्य ब्रह्म की जगदुपादानता है?

केवलेति। ब्रह्म न जगदुपादानम्, ईक्षापूर्वकस्रष्टृत्वात्; अचेतनाशुद्धजनद्विरूपत्वाच्चेति प्राप्ते-सिद्धान्तितम् 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधा' दिति। प्रकृतिश्च उपादानकारणम् च, ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्, प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। प्रतिज्ञा तावत् 'येनाश्रुतं श्रुतं भवती' त्यादिका, सा चोपादानकारणत्व एव युज्यते, तज्ज्ञानेन सर्वस्य तत्कार्यस्य ज्ञानात्, दृष्टान्तोऽपि 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेने' त्यादिरुपादानगोचर एवाम्नायते, स चोपादानत्व एव ब्रह्मणो युज्यते। किञ्च 'यतो वा इमानी' ति पंचम्युपादान एव, 'जनिकर्तुः प्रकृति' रित्यपादानसंज्ञाविधानात्, तस्मात् ब्रह्मोपादानम्। 'सोऽकामयत बहुस्या' मिति बहुभवनकामनाविषयत्वोपदेशाच्च; 'तदात्मानं स्वयमकुरुते' ति आत्मन एव जगद्रूपेण कृतिश्रवणाच्चेति।

ननु नात्र पंचम्योपादानत्वसिद्धिः, तस्या अनेकार्थत्वात्, अपादानार्थत्वेऽपि 'ध्रुवमपायेऽपादान' मित्यपादानसंज्ञासिद्धेः, 'जनिकर्तुः प्रकृति' रित्यनेनापादानसंज्ञायामपि प्रकृतिग्रहणस्य कारणमात्रार्थत्वेनोपादानत्वसिद्धेः, अन्यथा पुत्रात्प्रमोदो जायत इत्यत्रानुपपत्तेः, अत एव न्यासकृता 'ध्रुवपदानुवृत्त्या जनिकर्तृसम्बन्धिनोऽपादानसंज्ञायां प्रत्यासत्त्योपादानस्यैव स्यात्;

प्रकृतिग्रहणात्सर्वत्र भवति; तेन पुत्रात्प्रमोदो जायत इत्यादि सिद्धयती' त्युक्तम् , अतएव 'यदिन्दोरन्वेति व्यसनमुदयं वा निधिरपामुपाधिस्तत्रायं जयति जनिकर्तुः प्रकृतिते' ति मुरारिणा कारणमात्रे प्रकृतिपदं प्रयुक्तम् , नापि 'सोऽकामयत बहुस्या' मिति श्रुत्या तत्सिद्धिः ; तस्याः 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप' मिति श्रुतिसिद्धानन्ततत्तत्पदार्थप्रेरकानन्तरूपैः बहुभवनसंकल्पपरत्वात् , ' सच्च त्यच्चाभव' दिति च सत्त्वादिगुणाभिव्यक्तिपरम् , सृष्ट्यनुप्रवेशानन्तरभावित्वात् , अन्यथोपादानस्य सङ्कल्पपूर्वकमुपादेयं सृष्ट्वा तदनुप्रविश्य पुनस्तद्भवनायोगेन वाक्यं अयुक्तार्थं स्यात् , एतेन 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये ' त्येतदपि व्याख्यातम् , एतेनैव ' तदात्मानं स्वयमकुरुते ' त्येतदपि व्याख्यातम् । "तदात्मानं सृजाम्यहम " इतिवदुपपत्तः , नह्यात्मानं प्रपंचात्मनाकुरुतेति श्रूयते , इति । उच्यते ; जनिकर्तृसूत्रं प्रत्याचक्षाणो भाष्यकार एव सूत्रस्येममर्थं प्रत्याह । ध्रुवमपायेपादान' मिति सूत्रेण एतद्विषयसिद्धया हीदं सूत्रं प्रत्याचख्यौ । " अयमपि योगः शक्यो ऽवक्तुम , कथम् ? गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायत इति अपक्रामन्ति तास्तेभ्य" इत्यादि प्रत्याख्यानभाष्यम् यदिहीदं हेतुमात्रार्थं स्यात्तदा पुत्रादौ 'ध्रुवमपाय' इति सूत्राप्रवृत्तेः सूत्रस्य तदर्थत्वान्न प्रत्याख्यानावकाशः । पुत्रात् प्रमोद इत्यत्र का गतिरिति चेत् ? प्रक्रियामञ्जरीपदमञ्जर्यादिषूक्तो ' विभाषा गुणे स्त्रिया' मित्यत्र विभाषेति योगविभागः । नन्वेवं तत एव 'यतो वे' त्यत्रापि पंचम्यस्त्विति चेन्न,-योगविभागस्योन्नेयत्वेन प्रत्यक्षसिद्धयपेक्षया दुर्बलत्वात् । तद्विषयत्वमपि प्रयोगान्यथानुपपत्तिकल्प्यम् ; बाहुलकविधिविषयत्ववत् ; इह च 'जनिकर्तुः प्रकृति' रिति प्रत्यक्षशास्त्रसिद्धापादानविषयत्वोपपत्तेः नान्यथानुपपत्तिः । मुरारिप्रयोगात्प्रकृतिपदं कारणमात्रार्थमिति त्वयुक्तम् ; चन्द्रस्य समुद्रैकदेशपरिणामत्वेऽपि बाधकाभावात् । यथाकथञ्चित्प्रसोत्पत्त्यर्थककाव्य प्रयोगमात्रादर्थसिद्धौ 'कलशे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः' इति श्रीहर्षप्रयोगाच्चक्रभ्रमहेतुत्वस्य गुणत्वं दण्डस्य समवायिकारणत्वञ्च स्यात् । यच्चोक्तम् ; 'ध्रुवमपायेऽपादान' मित्यपादानसंज्ञेति । तन्न , अपायहेतुक्रियां प्रत्यवधित्वेन कारकस्यापादानसंज्ञाविधानात् , अत्र च तादृशक्रियाया अश्रवणादपायाभावाच्च ।

न च शृङ्गाच्छरो जायत इत्यादावपि अपरिणतभागस्यत्वात्तस्यापायावधित्वादपादानत्वमिहापि तद्वदेव सम्भवतीति वाच्यम् , तद्वदेवैकदेशोपादानत्वसिद्धः विभोरात्मनोपायायोगाच्च । 'सोऽकामयत बहुस्या' मित्यत्र यदि विग्रहद्वारा बहुभवनं विवक्षितं तदा ब्रह्मशरीरतया श्रुतिशतसिद्धप्रकृतत्वदभिमतप्रपंचरूपविग्रहद्वारा बहुभवने कः प्रद्वेषः ? किंच 'बहुस्या' मिति विग्रहसृष्टिरूपाभिधाने असङ्कल्पितप्रपञ्चसृष्ट्यभिधानम् सङ्कल्पितविग्रहस्य सृष्ट्यनभिधानचायुक्तम् ।

"सच्च त्यच्चाभव' दिति च सत्त्वादिगुणाभिव्यक्तिपरमित्यप्ययुक्तम् , ब्रह्मणः सत्त्वादिगुणासिद्धेः । न च सृष्ट्यनुप्रवेशानन्तरं सद्भवनाभिधानानुपपत्तिः , सृष्ट्यभिधानेन विवर्तत्वासिद्धया तत्सिद्ध्यर्थं सत्योद्भवनाभिधानात्, पूर्वकालत्वस्य चाविवक्षितत्वात । एतेन 'तदैक्षत बहु स्या' मित्येतदपि व्याख्यातम् ॥

ननु तेजः प्रभृतिरूपेण त्वया बहुभावो वाच्यः, तेजः प्रभृति चेतनमीक्षणादिश्रवणात्, न च चेतनं प्रत्युपादानत्वं ब्रह्मणः सम्भवतीति चेन्न,-अत्र हि योग्यतावशात् प्रथमतेजः पदेन भूतात्मक तेजो गृह्यते, द्वितीयेन तदवच्छिन्नमुत्तरकार्यस्य निमित्तमुपादानञ्च ब्रह्मोच्यते ; उभयत्र भगवत्पर्यन्तमेव वा । 'तदात्मानं स्वयमकुरुते' इत्यत्रापि विग्रहसृष्टिपरत्वमनुपपन्नम्, तदित्यततः परामर्शात् ।

ननु 'सोऽकामयते' इत्युक्त आत्मा 'ततो वै सदजायते' ति तच्छब्देन परामृश्यते, तदेव 'तदात्मान' मित्यत्रापीति चेन्न,--तदिति नपुंसकलिङ्गानुपपत्तेः । इदम् सर्वमभिप्रेत्य सूत्रकारेण समर्थितमिति ।

न तावत् प्रथमः, निर्विकारत्वनिरवद्यत्वश्रुतिकोप (क्षोभ) प्रसङ्गात् । न चांश भेदेन कालभेदेन वा विषयव्यवस्था, निरवयवत्वाकालकाल्यत्वादिस्वभाव [त्व] विरोधप्रसङ्गात् । न च सावयवत्वादिकमपि तथैव व्यवस्थाप्यम्, तथाऽपि तदात्मके ब्रह्मण्येव समस्तदोषप्रसङ्गस्य दुष्परिहरत्वात् । न च ब्रह्मांशाना ब्रह्मणोऽत्यन्तभेदं वा ब्रह्माध्यस्तत्वं वा स्वप्नेऽप्यङ्गीकारोषि ॥ श्रुतिबलादेव ब्रह्मणि सर्वात्मके सावयवत्वनिरवयत्वसदोषत्वनिर्दोषत्वोपादानत्वादि (कं) सर्वमभ्युपगच्छाम इति चेन्न, व्याघातोत्सादे पूर्वपक्षस्यापि अप्रतिक्षेप्यत्वात् । तथा चालं ब्रह्ममीमांसानिरूपणक्लेशेन ।

प्रसाद-- ब्रह्म का जगदुपादानत्व स्वरूपतः मानने पर ब्रह्म को निर्विकार एवम् निरवद्य बतलाने वाली श्रुति का विरोध होगा । ब्रह्म के निर्विकारत्व आदि की व्यवस्था अंश भेद अथवा काल भेद के कारण नहीं हो सकती है, क्योंकि ब्रह्म के सांशत्व को स्वीकारने पर ब्रह्म के निरवयवत्व का विरोध होगा, काल भेद के कारण व्यवस्था मानने पर ब्रह्म के कालाविषयत्व का विरोध होगा । ब्रह्म में सावयत्वादि की व्यवस्था अंश भेद के द्वारा भी नहीं मानी जा सकती है, क्यों कि वैसा मानने पर भी सावयव ब्रह्म में ही सभी दोषों का प्रसङ्ग अपरिहार्य होगा । किञ्च सिद्धान्ती ब्रह्म के अंशों का न तो ब्रह्म से अत्यन्त भेद मानते हैं और न तो उनको ब्रह्म में अध्यस्त ही मानते हैं । सिद्धान्ती यह नहीं कह सकते हैं कि श्रुतियों के ही आधार पर हम ब्रह्म में सावयवत्व निरवयत्व, सदोषत्व-निर्दोषत्व तथा उपादानत्वादि को स्वीकारते हैं ; क्योंकि परस्पर में विरुद्ध सावयवत्व निरवयवत्व आदि में विरोध नहीं मानने पर, आपको पूर्वपक्ष का भी खण्डन नहीं करना चाहिए । फलतः ब्रह्म मीमांस का निरूपण ही व्यर्थ हो जायेगा ।

अकालकाल्येति । 'कालकालो गुणी' ति श्रुत्याऽकालकाल्यत्वमर्थात् सिद्धम् । तथेति । अवयवकालभेदाभ्यामित्यर्थः । सावयवत्वनिरवयवत्वव्यवस्थापकावयवभेदस्यापि सङ्कोचकाभावेन श्रुत्या निषिद्धत्वादवयवादिभेदेन व्यवस्था न सम्भवति ; अभ्युपेत्य दूष्यत इति भावेन तथापीत्युक्तम् । अंशानां ब्रह्मणो भिन्नत्वादध्यस्तत्वाद्वा तद्गतदोषैर्न ब्रह्मणो निरवद्यत्वश्रुतिविरोध इत्यत्राह नचेति । उपादानत्वादीत्यादिपदेन उपादेयत्वग्रहः ;

नापि द्वितीयः, विशिष्टस्योपादानत्वे प्रमाणाभावविवेकेन विशेषणस्यैवोपादानत्व

पातात् । यदि पुनर्विशिष्टमुपादानमित्यत्र विशेष्यं चेत्युभयमप्युपादानमिति विवक्षितम् ; तदा विशेष्यस्यापि सविकारत्वप्रसङ्गो दुर्वारः । तथाच किं विशेषणवैशिष्ट्यवृथाग्रहेण ? किञ्च, यदि चिदचिदीश्वरैः संभूय जगदाख्यं कार्यमारभ्यते; तदा कार्याणां सर्वेषां त्रिस्वभावत्वप्रसङ्गः, यथा शुक्लकृष्णरक्ततन्त्वारब्धे पटे शुक्लकृष्णरक्तस्वभावत्वम् । सीसताम्रारब्धकांस्यवद्वा कार्यस्यैव वा; त्रितयोत्तीर्णस्वभावत्वप्रसङ्गः । लाक्षारसावसिक्तकार्पासकुसुमरागवत् रुमाप्रक्षिप्तकाष्ठलावण्यवद्वा विश्वस्याप्यनभिभवनीयेश्वरस्वभावत्वापत्तिः । किञ्च विशिष्टस्योपादानत्वं किं श्रौतम्, उत कल्पितम् ? न पूर्वः, कारणवाक्यस्थसद्ब्रह्मात्मादिशब्दानां ब्रह्मस्वरूपमात्रे रूढत्वात् । उक्तं च भवतां भाष्येऽपि, 'शरीरिभूतपरमात्माभिधायिभिः सद्ब्रह्मादिभिः शब्दैः' इति । न च स्वरूपे च विशिष्टे च शक्तिरित्यनेकार्थताक्लृप्तिः ; कल्पकाभावात् कल्पनागौरवोपहतत्वाच्च । एवं, 'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् ;' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत ;' 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' इत्यादिभिरपि ब्रह्म स्वरूपस्यैवोपादानत्वं श्रूयते । नाप्युत्तरः ; कल्पकाभावात्, प्रत्युत समस्तभेदरहितस्यैव कारणवाक्येऽवधारणात् तद्विरोधिविशेषणकल्पनं वाक्यतात्पर्यविरुद्धं च ।

प्रसाद—किञ्च सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट वेष से भी ब्रह्म को जगत् का उपादान नहीं मान सकता है। विशिष्ट ब्रह्म को उपादान कारण मानने पर निर्विशेष ब्रह्म जगत का कारण नहीं हो सकता है, अपितु विशिष्ट ही, इस तरह के विचार से विशेषणों का ही उपादानत्व सिद्ध होगा । यदि विशिष्ट की उपादानता मानकर विशेषण और विशेष्य दोनों को उपादान कारण मानने पर विशेष्य को भी सविकारत्वापत्ति होगी। किञ्च ब्रह्म में व्यर्थ विशेषण वैशिष्ट्य स्वीकार करने से कोई लाभ भी नहीं है । यदि कहें कि चित्, अचित् एवम् ईश्वर ये तीनों सम्मिलित रूप से जगत के उपादान है तो फिर जगत् की सारी वस्तुओं में 'कारण गुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस नियम के अनुसार इन तीनों तत्वों के स्वभाव का होना अनिवार्य होगा । यह ठीक उसी तरह होगा जिस तरह लाल; काले एवम् उजले धागों से बने वस्त्र में तीनों के रङ्ग विद्यमान रहते हैं । अथवा रङ्गा एवम् ताम्बा मिलाकर बने पात्र में उन दोनों से भिन्न जैसे कांस्यत्व होता है, उसी तरह यहाँ भी जगत् में चेतन, अचेतन एवं ईश्वर इन तीनों के स्वभाव से भिन्न ही स्वभाव को होना चाहिए । अथवा लाक्षारस में भिगोए गये कपास के पुष्प की लालिमा की तरह अथवा नमक में डाले गये काष्ठ के नमकीनपन के समान जगत् का भी स्वभाव ईश्वर के ही समान अनभिभवनीय होना चाहिए। किञ्च आप विशिष्ट ब्रह्म की उपादानता श्रुति के बल पर मानते हैं, अथवा कल्पना के बल पर? प्रथम कल्प तो इसलिए नहीं माना जा सकता है कि कारण वाक्य के सद् ब्रह्म आदि शब्द ब्रह्म के स्वरूप परक रूप से ही रूढ है। आपके श्रीभाष्य में भी कहा गया है कि सत् ब्रह्म आदि शब्द जगत् की आत्मा रूप से ब्रह्म का अभिधान करते हैं। आप यह भी नहीं कह सकते हैं कि सत् ब्रह्म आदि शब्दों की शक्ति स्वरूप एवं विशिष्ट दोनों में है ; क्योंकि वे अनेकार्थक हैं, क्योंकि इस प्रकार की

कल्पना का कोई आधार नहीं है । श्रीभाष्य में इन शब्दों को स्वरूप परक ही बतलाया गया है । इन शब्दों को विशिष्ट परक मानने का कोई प्रयोजन भी नहीं है । इस तरह की कल्पना में गौरव दोष भी होगा । किञ्च 'ब्रह्म वनम् ब्रह्म स वृक्षः' अर्थात् ब्रह्म ही वन तथा वृक्ष है जिससे जगत् की सृष्टि हुई, 'तदात्मानम् स्वयम् अकुरुत' ब्रह्म स्वयं जगत् के रूपमें हो गया । 'यद् भूतयोनि परिपश्यन्ति धीराः' अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ जिस ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानते हैं । इत्यादि वाक्य भी ब्रह्म के स्वरूप को ही जगत् का उपादान कारण मानते हैं । कल्पित भी विशिष्ट ब्रह्म की जगदुपादानता नहीं मानी जा सकती हैं, क्योंकि उस कल्पना का आश्रय कोई नही है । किञ्च समस्त भेद रहित ही ब्रह्म के जगत् की कारणता का कारण वाक्यों में निश्चय किए जाने के कारण, उस निश्चय के विरोधी ब्रह्म में विशेषण की कल्पना, कारण वाक्य के तात्पर्य के विपरीत भी है ।

किञ्च यदीति । त्रिवृत्करणानन्तर भाविकार्याणां चिदचिदीश्वरसंघातारब्धत्वात्तद-भिप्रायेण सर्वेषामित्युक्तम् । यथेति : केषांचित् चित्स्वभावत्वमेव केषांचित् अचित्स्वभावत्वमेव दृश्यत इति भावः ।

ननु भाष्ये स्वरूपरूढिरुक्ता ; न तु विशिष्टशक्तिर्निषिद्धा , अत उभयत्र शक्तिक्लृप्तिः स्यादित्यत आह नचेति । कारणवाक्यस्यतदादिपदानां ब्रह्मस्वरूप परत्वस्य भाष्येऽभिहितत्वात् न विशिष्टशक्तावपि किंचित्प्रयोजनमित्यपि हृदयम ।

जगत्कारणविधिपराणि वाक्यानि कारणवाक्यशब्देन पूर्वं विवक्षितानि, अथ सिद्धे जगत्कारणे तद्विशेषादिपराणि वाक्यान्युदाहरति एवमिति ।

अतः इदमिति निर्दिष्टकृत्स्नप्रपञ्चरूपेण बहु स्यामिति स्वरूपस्यैव बहुभवनसङ्कल्प पूर्वकोऽयं विश्वारम्भः ; मृद्घटादिदृष्टान्तानुसाराच्च स्वरूपस्यैवोपादानत्वं सिद्धमिति स्वरू-पनिर्विकारत्वश्रुतिविरोधपरिहारे तृतीयः पक्षः परिशिष्यते । यथा चैकैव रज्जुः सर्पभूदल-नाम्बुधारादिरूपेण भ्रमादनुवर्तते ; यथा चैकस्मिन्नेव निरवयवे गगने युगपदनन्तभेदभिदु-रगन्धर्वनगरारम्भः ; यथा च मुखचन्द्रादेः दर्पणतरङ्गाद्युपाधिभेदेन नानात्वोपलम्भः ; तथा निरंशेऽपि निर्विशेषस्वप्रकाशे स्वतश्शुद्धे ब्रह्मणि असम्भवद्विकारे दुर्निरूपदोषमूल-विक-ल्पासह-विचित्रचिदचिदात्मकजगदध्यास इत्यभ्युपगन्तव्यमिति तत्त्वावेदकनिर्विकारजगदु-पादानश्रुतितात्पर्यविद्यया (यम् । अविद्यया च) सर्वमन्यत् प्रपञ्चसत्यत्वग्राहकं ग्रहवत् निग्राह्यमिति ।

प्रसाद—अतएव यही मानना चाहिए कि 'सदेवेदम्' श्रुति में 'इदम्' शब्द से सम्पूर्ण प्रपञ्चका निर्देश किया गया है । ब्रह्म 'बहुस्याम्' यह संकल्प करके ही जगत् की स्वरूपतः ही सृष्टि करता है । 'वाचारम्मण' श्रुति में दिए गये मृद घट के उदाहरण के अनुसार भी ब्रह्म के स्वरूप की ही जगदुपादा-नता सिद्ध होती है । इस तरह स्वरूप के निर्विकारत्व का परिहार करने के लिए तीसरा ही पक्ष अव-

शिष्ट है। जैसे एक ही रज्ज, सर्प, भूदलन, तथा जलधारा आदि के रूप से भ्रम के कारण अनुवर्तित होती है, तथा जैसे एक ही निरवयव आकाश में समकाल में ही अनेक भेदों से युक्त गन्धर्व नगर बन जाता है, किञ्च जैसे मुख चन्द्र आदि की दर्पण तथा तरङ्ग आदि उपाधियों की भिन्नता के कारण अनेकत्व की प्रतीति होती है, उसी तरह निरंश भी निर्विशेष, स्वयम् प्रकाश तथा स्वतः शुद्ध तथा निर्विकार ब्रह्म में जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता है; उस दोष मूलक तथा सत्त्वासत्त्वविचारासह, विचित्र जड चेतनात्मक जगत् का अध्यास स्वीकारना चाहिए; ब्रह्म के जगदुपादानकत्व का प्रतिपादन करने वाली तत्त्वावेदक श्रुतियाँ निर्विकार ब्रह्म को ही जगत का उपादान बतलाती हैं, और ब्रह्म व्यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् आविधिक हैं; अतएव प्रपञ्च के सत्यत्व की ग्राहकता ग्रह के समान निग्राह्य है।

विकल्पासहः सत्त्वासत्त्वविचारासहः।

अत्र प्रतिविधीयते—स्वरूपपरिणामपक्षदूषणं तावदस्माकमपि सम्मतमेव। तथापि बहु (ल) प्रमाणोपस्थापितबहुमुखव्याघातशतसादितात् भवन्मतात् त्रिचतुरविरोधसितासित भास्करादिमतानुरोधेन कार्यकारणसंरक्षणमेव समुचितम्। यत्तु (यत) विशिष्टपक्षे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन विशेषणस्यैवोपादानत्वमापन्नमिति, तत्र विशेषणस्य साक्षाद्विकाराश्रयत्वप्रसङ्गः इष्टः। विशेष्यस्यापि परम्परयाऽऽश्रयत्वेऽप्याश्रयत्वमात्राविशेषादुपादानशब्दवाच्यत्वप्रतिक्षेपस्त्वशक्यः। यथा भवतोऽप्यविद्याया एव साक्षाद्विवर्ताश्रयत्वेऽपि तस्या एव साक्षिभूतब्रह्माधीनसत्ताकत्वात् ब्रह्म विवर्तत इत्युक्तिः—तथा परिणामस्यापि साक्षात् ब्रह्मशरीरभूतद्रव्यगतत्वेऽपि तस्य तदाधारतया (तदारब्धतया) तदधीनतामात्रात् ब्रह्म परिणमतीति वक्तुं शक्यम्। नैतावता विशेष्यस्य साक्षाद्विकाराश्रयत्वप्रसंगः। परस्पराश्रयत्वं तु भवत इवास्माकमपि संमतमदोषावहं च। यथा बालो युवा जात इत्यादौ विशेष्यभूतात्मस्वरूपस्य निर्विकारत्वे, विशेषणे साक्षाद्बालत्वाद्यवस्थायोगेन आत्मपर्यन्तो (न्त) बालयुवशब्दप्रयोगः, तद्वद्त्राप्युपादानकार्यशब्दयोः प्रयोग इति न दोषः। एवं विशेष्यस्य निर्विकारत्वं विशिष्टग्रहणाशक्तिश्चेत्युक्तं भवति। अन्यथा अष्टवर्षत्व ब्रा ह्मणत्वादीनामात्मासम्बन्धेनोपनयनादिविधीनामप्रवृत्तिरिति कर्मब्रह्ममीमांसयोरारम्भ एव कापेयकल्पः स्यात्॥ तथाऽपि कथमवस्थाद्वयरहितस्वरूपे कस्यचिदुपादानोपादेयवाचोयुक्तिश्चित्तमारोहेदिति चेन्न, विशेषणवत् विशेष्येऽप्यवस्थाद्वययोगात्, तत्तदवस्थतत्तद्वैशिष्ट्यानामागन्तुकत्वेनावस्थात्वात्, मिथो भिन्नत्वाच्च, आत्मनो बालयुवदेहवैशिष्ट्यवत्।

श्लो. आगन्तुरपृथक्सिद्धो धर्मोऽवस्थेति कीर्त्यते।

विशेष्येऽपि च वैशिष्ट्यभेदोऽवस्थान्तरायते॥

प्रसाद—उपर्युक्त पूर्वपक्ष का उत्तर है कि ब्रह्म के स्वरूपतः परिणाम का खण्डन हम लोगों को भी अभिप्रेत है, फिर भी अनेक प्रमाणों द्वारा उपस्थापित तथा अनेक विरोधो से व्याहत आपके मत को तीन चार विरोधों से युक्त भास्कर तथा यादवमत के अनुसार ही कार्य कारण भाव का संरक्षण आवश्यक है। भास्कर मत में कार्य कारण सम्बन्ध में तीन प्रधान दोष हैं (१) ब्रह्म को निर्विकार बतलाने वाली श्रुति का विरोध; (२) ब्रह्म को निर्वद्य बतलाने वाली श्रुति का विरोध तथा (३) भेद भेद समवेश। यादव मत में उपर्युक्त तीन दोषों के साथ चौथा प्रधान दोष जीवादि की अनादिता का भङ्ग है।' किन्तु इन मतों में कार्य कारण विषयक उतने दोष नहीं हैं, जितने दोष मिथ्यावादियों के मत में हैं। अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि विशिष्ट को जगत् का उपादान मानने पर प्राप्ताप्राप्त विवेक के द्वारा विशेषणांश का ही उपादानत्व सिद्ध होता है, तो हमको भी विशेषण का साक्षात् उपादानत्व अभिप्रेत है, विशेष्य की भी परम्परातः उपादानत्वाश्रय मानने पर भी, सामान्यतः आश्रय होने के कारण उसकी उपादान शब्द वाच्यता का निषेध नहीं किया जा सकता है। जिस तरह अद्वैती विद्वान् साक्षात् अविद्या के ही विवर्त का आश्रय होने पर भी; अविद्या के साक्षीभूत ब्रह्म के अधीन सत्ता होने के कारण; ब्रह्मका ही विवर्त जगत् को मानते हैं, उसी तरह यद्यपि जगत् रूप में साक्षात् ब्रह्म के शरीर भूत जड द्रव्य का ही होता है, फिर भी वह शरीर ब्रह्माश्रित है तथा जगत जगदात्मा ब्रह्म के अधीन है, अतएव ब्रह्म का जगत् का उपादानत्वविधान होता है। आश्रय होने मात्र से ब्रह्म के साक्षात् विकाराश्रयत्व का प्रसङ्ग नहीं है। जिस तरह ब्रह्म का परम्परयाश्रयत्व आप मानते हैं, उसी तरह हम लोग भी; और इस मान्यता में कोई दोष भी नहीं है। जैसे बालक युवा हो गया इत्यादि प्रयोग में विशेष्यभूत आत्मा के स्वरूप के निर्विकार रहने पर भी विशेषणभूत शरीर में बालत्व आदि अवस्थाओं का साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण यह बालक है, यह युवक है, इत्यादि प्रयोग आत्मा पर्यन्त होते हैं; इसी तरह यहाँ पर भी उपादान तथा कार्य शब्द का प्रयोग यहाँ समझना चाहिए। इस तरह विशेष्य भूत ब्रह्म की निर्विकारता तथा ब्रह्म शब्द की विशिष्ट के ग्रहण में शक्ति स्वीकारी जाती है। यदि ऐसा न हो तो 'अष्टवर्षत्व' 'ब्राह्मणत्व' आदि का आत्मा से सम्बन्ध न होने के कारण, उपनयनादि विधियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। फलतः कर्म मीमांसा तथा ब्रह्म मीमांसा का आरम्भ ही, वानरारम्भ के समान दुःखद हो जायेगा। यदि कहें कि ब्रह्मकी दो अवस्थाएँ होती नहीं हैं, अतएव एक ही ब्रह्म की उपादानावस्था तथा कार्यावस्था कैसे स्वीकारी जा सकती है? तो इसका उत्तर है कि विशेषण के ही समान ब्रह्म की दो अवस्थाएँ स्वीकारी जाती हैं। विभिन्न अवस्थाओं में होने वाली विशेषताएँ भी आगन्तुक होने के कारण अवस्था शब्द से अभिहित की जाती हैं। ये अवस्थाएँ परस्पर में उसी तरह भिन्न हैं, जिस तरह शरीर की बालत्व युवत्व आदि अवस्थाएँ। आगन्तुक और अपृथक् सिद्ध धर्म को अवस्था कहते हैं। विशेष्य में भी वैशिष्ट्य का भेद अवस्था कहलाता है।

त्रिचतुरेति। भास्करमते निर्विकारत्व श्रुतिविरोधः निरवद्यत्वश्रुतिविरोधः भेदाभेद-समावेश इति त्रयः स्थूलदोषाः, यादवप्रकाशमते एतैः जीवाद्यनादित्वभङ्ग इति चत्वारो दोषाः। कार्यकारण संरक्षणम् कार्यत्वकारणत्वयोरबाध्यत्वकल्पनम्। साक्षादिति। साक्षादाश्रयत्वमद्वारकमाश्रयत्वं, परम्परयाऽश्रयत्वं सद्वारकमाश्रयत्वम्। यथा यागस्य सद्वारकं स्वर्गकारणत्वं प्रोक्षणादेश्च सद्वारकमपूर्वविशेषत्वम्। अशक्य इति। अवस्थाश्रयत्वमेवोपादानत्वम्, न तु साक्षादवस्थाश्रयत्वम्; गौरवात्, आश्रयत्वे सति साक्षात्त्वविरहेणानुपादानत्वादर्शनाच्चेति भावः॥

ननु यदि क्वचित्सद्वारकाश्रयत्वमुपलभ्येत तदोपादानत्वश्रुतेर्निर्विकारत्व श्रुत्यविरोधेन तद्विषयता स्यात् , न च कारणत्वशेषत्वादिवत्तदुपलभामहे, इति चेन्न;-"तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' त्युक्तप्रासादखट्वान्यायेन सद्वारकाश्रयत्वस्य लोकसिद्धेः । खट्वायां पर्यंके शयनेऽपि प्रासादे शेत इति हि प्रतीयते ॥ न च निर्विकारत्वश्रुतेः साक्षात्सम्बन्ध्यविषयतानियामकाभावः , उपादानत्वश्रुतेरेव नियामकत्वात् । किंच निर्विकारश्रुतेर्हेयसम्बन्धनिषेधपरत्वाद्येन सम्बन्धेनान्यत्र हेयत्वं दृष्टं तेनैव सम्बन्धेन प्रसक्तौ तत्सम्बन्धनिषेधस्यैव स्वरसत्वात् । किञ्च विकारो हि स्वरूपान्यथाभावः ; तस्यैव निषेधान्न विरोधशङ्कालेशः । एकदेशिमतेन प्रतिबन्द्यभिप्रायेण दृष्टान्तमाह यथेति । साक्षादिति । द्रव्यगतत्वेऽपीत्यनेनान्वयः । साक्षाद्ब्रह्माश्रितत्वाभावेऽपीति भावः । तदारब्धतयेति । ब्रह्मोपादानत्वं सम्प्रतिपन्नम् ; परिणामविवर्तयोरेव विवादः । अनेन घटस्य भूतलतादधीन्यात्तदाश्रयभूतलस्य घटावस्थाश्रयत्वप्रसङ्गः प्रत्युक्तः । एतावता परिणामाश्रयत्वमात्रेण ।

ननु विवर्तपक्षे मिथ्यात्वान्न दोषावहत्वम् ; परिणामपक्षे सत्यत्वाद्दोषावहत्वम स्यादित्यत्राह यथा बाल इति । उपसंहरति एवमिति । विशिष्टेति । विशिष्टस्योपादानत्वेन ग्रहणमस्माभिः कर्तुं शक्यत इत्यर्थः । यद्वा उपादानशब्दस्य विशिष्टबोधनशक्तिरिति वार्थः । पारिप्लवमत्यनुग्रहार्थशङ्कापूर्वकम् मतान्तरमाह तथापीति । अवस्थाद्वययोगमुपपादयति तत्तदवस्थेति । अवस्थाद्वित्वोपपादनार्थम मिथो भिन्नत्वा दित्युक्तम् । वैशिष्टय भेदः-वैशिष्ट्यविशेषः ।

एतेन स्वभावसङ्करादयो दोषा न प्रसङ्गमर्हन्ति । न हि बालस्य युवाभावे देहदेहिनोः प्रतिनियताः स्वभावाः सङ्कीर्यन्ते । न च शुक्लकृष्णरक्ततन्त्वारब्धे स्वभावसङ्करः, विभक्तदशायामिव संसर्गदशायामपि शौक्ल्यादीनां यथात्वं प्रतिनियतांशविषयत्वात् एवमत्रापि विशिष्टकार्ये यथास्वमंशप्रतिनियतत्रिस्वभावत्वे प्रसज्यमाने अस्माकमिष्टप्रसङ्गः । अत एवातीतस्वभावत्वमुद्भूतस्वभावत्वमित्यादिचोद्यमपि परिहृतम् , ब्रह्मस्वरूपस्य निर्विकारत्वात् , जगदात्मकपरिणामदशायामपि व्यवस्थितस्वभावत्वात् । न च दृष्टान्तमात्रेणार्थसिद्धिः , न चात्र व्याप्तिसम्भवः , अन्यथा त्वत्पक्षेऽप्यविद्याविशिष्टब्रह्मविवर्ते स्वभावसङ्करादयस्तदवस्थाः ।

प्रसाद—सविकारत्व के साक्षाद् विशेषणगत होने के ही कारण ब्रह्म में स्वभावसङ्करत्व आदि दोष नहीं होंगे । बालक के युवक हो जाने मात्र से शरीर तथा आत्मा के स्वभाव का साङ्कर्य इसीलिए नहीं होता है कि, शरीर तथा आत्मा के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं । उजला , काला एवं लाल इन तीनों प्रकार के सूतों से बने वस्त्र के स्वभाव का साङ्कर्य नहीं सम्भव है । जिस तरह बिना बुने हुए प्रत्येक प्रकार के सूतों का अपना-अपना रङ्ग पृथक् होता है; उसी प्रकार , कपड़े के रूप में बुने गये भी प्रत्येक प्रकार के सूतों में अपना-अपना ही रङ्ग होता है । इसी तरह यहाँ भी विशिष्ट कार्य से जगत् में चित्

अचित एवं अन्तर्यामी तीनों का अपना अपना स्वभाव पृथक ही रहता है। यह मान्यता सिद्धान्त में अभिप्रेत है। चेतनाचेतन एवं ईश्वर के व्यवस्थित स्वभावत्व स्वीकार करने के ही कारण ब्रह्म के उत्तीर्ण स्वभावत्व एवं अनभिभवनीय स्वभावत्व विषयक शङ्काओं का भी परिहार हो गया। क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप निर्विकार है, जगत् रूपमें परिणाम की दशा में भी ब्रह्मका अपना स्वभाव व्यवस्थित ही रहता है। रक्तकृष्णादि तन्त्वारब्ध पट में स्वभाव साङ्कर्य के उदाहरण मात्र से भी ब्रह्म के स्वभाव साङ्कर्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। स्वभावत्व को साङ्कर्य व्याप्त भी नहीं कहा जा सकता है, बालक के युवा होने पर भी उसके स्वभाव में साङ्कर्य नहीं देखा जाता। यदि व्यवस्थित स्वभावत्व नियम को नहीं माना जाय तो अद्वैती विद्वानों के भी मत में अविद्याविशिष्ट ब्रह्म का प्रपञ्च रूप से विवर्त मानने पर स्वभाव साङ्कर्यादि का प्रसङ्ग होगा।

एतेनेति। सविकारत्वस्य साक्षाद्विशेषणगतत्वाश्रयणादित्यर्थः। त्रिस्वभावत्वस्य स्वभावसङ्करपर्यन्ततयैव दोषत्वात्तन्मुखेन तद्ग्रहणम्। आदिपदेनोत्तीर्णस्वभावत्वेश्वरस्वभावत्वे गृह्यते। अतएवेति। व्यवस्थितत्रिस्वभावत्वाङ्गीकारादित्यर्थः। उत्तीर्णस्वभावत्वोद्भूतस्वभावत्वानङ्गाकारे हेतुमाह ब्रह्मे ति। निर्विकारत्वात्, स्वस्वभावपरित्यागेन स्वभावान्तरग्रहणं न सम्भवति, व्यवस्थितस्वभावत्वात् स्वसंसृष्टे स्वभावापत्तिहेतुत्वं च न सम्बवतीत्यर्थः। शुक्लकृष्णतन्त्वारब्धे स्वभावसाङ्कर्यं नास्तीत्युक्तम्; इदानीं तदङ्गीकृत्याह न च दृष्टान्तेति। स्वभावत्वं साङ्कर्यव्याप्तमित्यत्राह नचात्रेति। बालस्य युवभावे साङ्कर्यादर्शनादित्यर्थः। अन्यथेति। स्वभावसाङ्कर्यव्याप्त्यङ्गीकारे स्वभावत्वमङ्गीकृत्य स्वभावसाङ्कर्यानभ्युपगमेन परिहारस्यासम्भवे अस्मत्पक्षोक्ता दोषास्तव स्युरित्यर्थः।

यदुक्तं विशिष्टस्योपादानत्वं किं श्रौतम्; उत कल्पितमिति-तत्र क्वचिच्छ्रौतं क्वचित् श्रुतार्थापत्तिकल्पितमिति, वाक्यशेषशाखान्तरनयसिद्धमिति वा विभागः। तथाहि 'तद्धे दंतर्ह्यव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इत्यादिषु कारणवाक्येष्वव्याकृतादिशब्देन न ब्रह्मस्वरूपमात्रं प्रतिपाद्यते, ब्रह्मस्वरूपे रूढ्यभावात्, 'तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इत्यनेनैव योगविवक्षायाः स्पष्टत्वाच्च। अतः इदमर्थस्यैव प्रलयकाले नामरूपव्याकरणनिवृत्तिमात्रं विवक्षितम्। इदमर्थश्चिदचिदात्मकः प्रत्यक्षादिसिद्धः। स एव कदाचित् सूक्ष्मावस्थाप्राप्त्या व्यष्टिसमष्टिरूपविकाररहित इत्युक्तं भवति। एवं स्थिते प्रलयदशायामपि सूक्ष्मयोश्चिदचिद्वस्तुनोः सद्भाव उक्तो भवति। तर्हि ब्रह्मणस्तत्र कथं प्रसङ्ग इति चेत् 'तम एकीभवति' इत्यादिप्रतिपन्नस्य सूक्ष्मतमसोऽपि; 'यस्य तमः शरीरम्' इत्यादिभिः ब्रह्मशरीरत्वप्रतीतेः कारणवाक्यान्तरेषु ब्रह्मावस्थानप्रतीतेश्च अव्याकृतशब्द एवाव्याकृतचिदचिद्विशिष्टब्रह्मपर इति निश्चीयते। एवम्, 'असद्वा इदमग्र आसीत,' 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यत्राप्यसच्छब्देन स्थूलाकारप्रध्वंसायमानसूक्ष्माकारविशिष्टचिदचिच्छरीरकं ब्रह्म

भिधीयते , न तु केवलं ब्रह्म ; असत्त्वविरोधात् । नापि प्रागभावमात्रम् , 'तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति', 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादिवाक्यशेषविरोधात् । सूत्रितं च; 'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् युक्तेः शब्दान्तराच्च' इति । अतएव, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यत्रापि नात्मशब्दो ब्रह्मस्वरूपमात्रविषयः, [पूर्वं] असच्छब्द निर्दिष्टसूक्ष्मद्रव्यविशिष्टविषयत्वात् । यथा खल्वव्यतिरेकविवक्षया विशेष्ये स्वशब्दपर्यायोऽयमात्मशब्दः , तथा धर्मविशिष्टेऽपि विशिष्टव्यतिरेक विवक्षया तत्प्रयोगो युज्यते । अत एव हि शरीरविषयेऽप्यात्मानमवलोकयतीत्यादिरभियुक्तानां प्रयोगः । न चात्र भ्रमो निदानम् , परिशुद्धात्मवेदिभिरपि तथा प्रयोगात् । न च त (अ) त्रोपचारः ; निमित्तैक्ये संभवति तत्कल्पनानुपपत्तेः ।

प्रसाद—पूर्वपक्षी ने यह जो पूछा है कि विशिष्ट का उपादानत्व श्रुति सिद्धि है अथवा कल्पित? उसका उत्तर है कि कहीं पर श्रुतिसिद्ध, और कहीं पर श्रुतार्थापत्ति कल्पित तथा कही पर वाक्यशेष शाखान्तरनय सिद्ध । तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' अर्थात् सृष्टि से पूर्व जगत् नाम रूप विभागानर्हंसद्रूप ही था, ब्रह्म ने सृष्टिकाल आने पर इसके नामरूप का विभाग किया । इत्यादि कारण वाक्यों में 'अव्याकृत' शब्द से ब्रह्म के स्वरूप मात्र को नहीं कहा गया है, क्योंकि ब्रह्म आदि शब्दों के समान अव्याकृत शब्द स्वरूपमात्र में रूढ नहीं है। 'तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' श्रुति में स्पष्ट रूप से योग विवक्षित हैं । अतएव प्रलयकाल में इदमर्थ के नाम रूप की निवृत्ति मात्र ही विवक्षित है, प्रत्यक्षादि सिद्ध चेतनाचेतनात्मक जगत् ही कभी सूक्ष्मावस्था में व्यष्टि समष्टि रूप विकार से रहित रहता है । इस तरह प्रलय दशा में भी सूक्ष्म चेतनाचेतन वस्तुओं का सद्भाव उक्त है । यदि कहें कि तो फिर प्रलय काल में ब्रह्म के सूक्ष्म चेतना चेतन विशिष्ट होने का प्रसङ्ग कैसे होता है ? तो इसका उत्तर है कि प्रलय काल में अकेला सूक्ष्म तमस् रहता है । इत्यादि वाक्य में प्रतीत सूक्ष्म तमस् भी 'यस्य तमः शरीरम्' वाक्य में ब्रह्म का शरीर प्रतीत होता है । तो दूसरे कारण वाक्यों में, ब्रह्म की स्थिति की प्रतीति न होने के कारण; अव्याकृत शब्द ही अव्यक्त चेतनाचेतन विशिष्ट ब्रह्म का वाचक है । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' असदेवेदमग्र आसीत' इत्यादि भी वाक्यों में असत् शब्द से जिसके स्थूल आकार विनष्ट हो गया उस सूक्ष्माकार विशिष्ट चेतनाचेतन शरीरक ब्रह्म को कहा गया है । केवल ब्रह्म ही नही क्योकि ब्रह्म का असत्व से विरोध है । असत् शब्द से प्रागभावमात्र को भी नहीं कहा गया है , क्योंकि ऐसा मानने पर 'असत्' शब्द वाच्य ब्रह्म ने सोचा 'उसने शरीर की सृष्टि की ।' इत्यादि श्रौत वाक्यों से भी विरोध होगा । अभाव के द्वारा क्रियाकारित्व असम्भव है । भगवान् बादरायण ने भी शारीरक मीमांसा में कहा है—'असद् व्यपदेशान्नेति चेन्न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् युक्तेः शब्दान्तराच्च' अर्थात यदि कहें कि 'असद्वा इदम्' श्रुति में कार्य का प्रलयकाल मे असत्त्व व्यपदेश मे कारण कार्य एव कारण में अनन्यता नहीं हैं; तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सृष्टिकाल में विद्यमान स्थूलचिदचिद्विशिष्ट विरोधी सूक्ष्मचिदचिदवस्थारूपधर्मान्तर से युक्त होने के कारण उसे असत् कहा गया है । क्योकि तदसदेव सन्मनो कुरुत' इत्यादि वाक्यों में उसी असत् शब्द वाच्य का मनस्कार देखा जाता है । किञ्च लोक में प्रागभावस्थ घट को पिण्ड शब्द से अभिहित किया जाता है । 'तदात्मानम् स्वयमकुरुत' श्रुति में भी आत्मा शब्द ब्रह्म

स्वरूपमात्र को न बतलाकर असत् शब्द से निर्दिष्ट सूक्ष्मद्रव्य को भी बतलाता है। जिस तरह स्वशब्द का पर्यायवाची आत्म शब्द विशेष्यमात्र में स्वरस है, उसी तरह उसका विशिष्ट से अभिन्न की विवक्षा से उसका धर्म विशिष्ट में प्रयोग उचित है। प्रामाणिकपुरुष शरीर के भी अर्थ में आत्मा शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं—यह अपने को देख रहा है। इस प्रयोग को भ्रान्त प्रयोग इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि परिशुद्धात्मवेत्ता भी इस तरह का प्रयोग करते हैं। निमित्त की एकता के कारण इसे औपचारिक प्रयोग भी नहीं कहा जा सकता है। एकाधिक तथा अत्यन्त विशकलित अर्थों में ही साम्यविशेषको लेकर औपचारिक प्रयोग होता है।

'तम एकीभवती' त्यादि। तमसः शरीरत्वोक्तिस्तद्वाचकाव्याकृतशब्दस्य ब्रह्मपरत्वसम्भवद्योतनार्था। कारणेति। 'ब्रह्म वाइदमेक एवाग्र आसी' दिति ब्रह्मणः अप्ययस्थानत्वेनावस्थानप्रतीतेरित्यर्थः। ततश्च वाक्यद्वये नाव्याकृतब्रह्मणोरुभयोरपि लयस्थानत्वप्रतीतेरव्याकृतस्य ब्रह्मशरीरतयाऽव्याकृतशब्दस्य ब्रह्मपर्यन्ताभिधानसामर्थ्याद्याव्याकृतशब्दस्य विशिष्टपरत्वात। 'तद्धेदं तर्हीं' ति श्रुतिर्विशिष्टोपादानत्वे मानमिति सिद्धम्। असच्छब्देनेति। 'असद्वा इदमग्राआसी' दिति वाक्यस्य लयपरत्वात् पूर्वस्थूलाकारप्रध्वंसायमानत्वमुक्तम्; तच्च वास्तवं [त्वं] न त्वसच्छब्दार्थः, 'इदमसदासी' दित्येतत्प्रतियोगिकत्वावगमात। प्रध्वंसशब्देनाभावमात्रं वा विवक्षितम्। इदमग्रेऽसदासीदिति प्रागभावमात्रं प्रतीयते न ब्रह्मेत्यत्राह नापीति। एतेन सूक्ष्मावस्थचिदचिन्मात्रमुच्यते इत्यपि निरस्तम्, मनस्कारासम्भवात्। 'असद्वा इदमग्र आसी' दिति कार्यस्य प्रागसत्त्वव्यपदेशात् कार्यकारणयोरन्यत्वं नेति चेन्न,—पूर्वं सत एव कार्यस्वरूपस्य स्थूलावस्थाविरोधिसूक्ष्मावस्थारूपधर्मान्तरेण योगादसत्त्वव्यपदेशः। कुत इदमवगम्यते? 'तदसदेव सन्मनोकुरुत' 'तदात्मनं स्वयमकुरुते' इति वाक्यशेषात्। युक्तेः पिण्डावस्थायां घटो नास्तीति व्यवहारस्य पिण्डावस्था विषयस्य दर्शनात्। शब्दान्तरात्—'सदेव सौम्येदमग्र आसी' दिति शब्दान्तराच्चेति सूत्रार्थः। असच्छब्दनिर्दिष्टेति। तच्छब्दस्यासद्विषयत्वात्तत्समान विषयत्वादात्मशब्दस्येत्यर्थः। स्वरूपशब्दवदात्मशब्दस्य विशेष्यपरामर्शित्वं स्वरसमित्यत्राह यथाखल्विति। अतएवहीति। अत्रावलोकयतीत्यत्र चाक्षुषज्ञानविषयत्वम् गम्यते, तच्छरीरस्यैव साक्षादिति तद्वारैव शरीरिणोऽवलोकनविषयत्वम्, अतोऽवलोकनकर्तृपरामर्श्यात्मशब्दो विशिष्टपर एवेति भावः। शरीरविषयेऽपीति। विशेषणीभूतशरीरविषयेऽपीत्यर्थः। निमित्तमव्यतिरेकः।

अस्तु वा ब्रह्मस्वरूपवाची तत्राऽऽत्मशब्दः, तथापि वैशिष्टयं दुस्त्यजम्, यथा भगवान् श्वेतः इत्यत्र विग्रहद्वार सिध्यति; तथाऽत्रापि; 'अकुरुत' इत्यादिसामर्थ्याच्छरीरद्वारेति सिध्यत्येव। अतः, 'ब्रह्मवनम' इत्यादिनोपादानत्वोद्दे (पदे) शोऽपि विशिष्टविषयः। मृत्तत्कार्यदृष्टान्तादिकं च विशिष्टप्रदर्शनार्थमेवेति न ततोऽपि विरोधः। एवं च सति ब्रह्मस्वरूपवाचिब्रह्मात्मादिशब्दैः कारणनिर्देशेऽपि निर्विकारश्रुत्यन्यथानुपपत्त्या विशिष्टस्योपादानत्वं कल्प्यताम्। यद्वा वाक्यशेष शाखान्तरादिसिद्धानुप्रदेश-सर्वशरीर-

त्वादिवशेनात्रापि इदमिति निर्दिष्टस्य अग्र इति निर्दिश्यमानकालविशेषोपलक्षितसूक्ष्मावस्थस्य तदानीम् ब्रह्मात्मकत्वप्रतिक्षेपाय ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपत्तये ब्रह्मादिशब्दसमानाधिकरणनिर्देश इति सिध्यतीति न स्वरूपपरिणामवादस्य विवर्तवादस्य वा कश्चिदवकाशो दृश्यते ।

प्रसाद—वहाँ पर यदि आत्मा शब्द को ब्रह्म स्वरूप का वाचक भी माना जाय तो, भी उसके वैशिष्ट्य को त्यागा नहीं जा सकता है। जैसे 'भगवानश्वेत हैं' इस वाक्य में श्वेत शब्द भगवान की श्वेतता विग्रह द्वारा बतलाता है, उसी तरह 'अकुरुत' वह क्रिया पद ब्रह्म के क्रिया सामर्थ्य को शरीर द्वारा सूचित करता है। अतएव 'ब्रह्म वनम्' इत्यादि वाक्यों में भी विशिष्ट ब्रह्म का ही उपादानत्व बतलाया गया है, 'वाचारम्भण' श्रुति में भी मृतिका तथा उसके कार्यों का उदाहरण ब्रह्म की विशिष्टता ही बतलाता है। अतएव आत्मा शब्द को विशिष्ट परक मानने में कोई भी विरोध नहीं हैं। इस तरह ब्रह्म के स्वरूप के वाचक ब्रह्म तथा आत्मा आदि शब्दों द्वारा कारण का निर्देश किए जाने पर भी निर्विकार श्रुति को अन्यथानुपपत्ति के कारण विशिष्ट ब्रह्म को ही उपादान मानना चाहिए। अथवा वाक्य शेषों शाखन्तर प्रसिद्ध अनुप्रवेश तथा सर्वशरीरत्वादि के द्वारा यहाँ भी 'इदम्' पद के द्वारा निर्दिष्ट 'अग्रे' पद से निर्दिश्यमान काल विशेषोपलक्षित सूक्ष्मावस्थावस्थित जगत् के सृष्टि से पूर्वकाल में अब्रह्मात्मकत्व का खण्डन करने के लिए तथा ब्रह्मात्मकत्व की प्रतीति कराने हेतु ब्रह्मादि शब्द का जगत् के सामानाधिकरण्येन निर्देश किया गया है, यह सिद्ध होता है, अतएव स्वरूपतः परिणामवाद अथवा विवर्तवाद का कोई यहाँ अवसर ही नहीं है, यह भी माना जा सकता है।

अत इति। विशिष्टोपादानतया उपादानत्वविधिवाक्यसिद्धत्वादुपादानत्वोद्देशोऽपि विशिष्टविषयार्थ इत्यर्थः। ततश्चोपादानोद्देशेन ब्रह्मत्वविधिपरो ब्रह्मशब्दः सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टार्थ इत्यर्थः ॥

ननु दृष्टान्ते साक्षादवस्थाश्रयमृदाद्युक्त्या दार्ष्टान्तिकेऽपि साक्षादवस्थाश्रयत्वेनोपादानत्वम् प्रतीयते, तत्कथं विशिष्टोपादानत्वसिद्धिरित्यत्राह मृत्तत्कार्येति। दृष्टान्तवाक्यं विशिष्टस्य उपादानभावमुपपादयितुं प्रसिद्धोपादानमाह, नैतावता साक्षाद्विकाराश्रयत्वप्रसङ्गः, तदंशे दृष्टान्तविवक्षाया अभावात्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रसिद्ध्यर्थमुपादानोपादेयभावेनैक्यमात्रं हि दृष्टान्तेन साध्यते। ब्रह्मस्वरूपवाचीति। 'इदं ब्रह्मासी' दिति कृत्स्नस्यापि कार्यवर्गस्य ब्रह्मभावः प्रतीयते 'अग्र' इत्युक्त्या अयं ब्रह्मभावोपदेशो न स्वतःसिद्धशरीरात्मभावनिबन्धनः-- किन्तूपादानोपादेयभावनिबन्धन इत्यवगम्यते, स्वरूपेण चोपादानत्वं निर्विकारत्व श्रुतिविरुद्धम्। अतोऽद्वारकसाधनत्वस्य सद्वारकसाधनत्वस्य च लोके दर्शनात् साक्षात्साधनत्वस्यासम्भवेन अतसाधनत्वान्यथानुपपत्त्याऽपूर्वद्वारकत्ववदुपादानत्वस्यापि चिदचिद्द्वारकत्वङ्कल्प्यते। अद्वारकाश्रयत्वस्य सद्वारकाश्रयत्वस्य च लोके दर्शनात् अवस्थाश्रयत्वं सद्वारकं कल्प्यते, घटेनाध्रियमाणस्योदकस्य देवदत्तोऽप्याश्रय एव, अन्यथा श्रयानुपपत्तेः। एवं सद्वारकाश्रयत्वम् प्रासादे खट्वायां शेत इत्यादौ प्रसिद्धमेव। एवञ्च ब्रह्मभावश्रवणसहितनिर्विकारत्वं श्रुतमन्यथानुपपद्यमानं विशिष्टोपादानत्वकल्प-

कम् । यद्वेति । तृतीयान्तस्य सूक्ष्मावस्थस्येत्यनेनान्वयः । वशेन लब्धस्य ।कालविशेषोपलक्षित-सूक्ष्मावस्थस्येत्यर्थः । इममग्रे एकं सदासीदित्यनेन इदंशब्दनिर्दिष्टस्य स्थूलावस्थाप्रहीणब्रह्मभावः प्रतीयते , एकशब्दस्य स्थूलावस्थाप्रहाणार्थत्वात , स्थूलावस्थाश्रयत्वस्य च साक्षात्परंपरया च सम्भवात् , तत्प्रहाणमपि तथा , तत्र ब्रह्मणः साक्षात्परम्परया वा स्थूलावस्थाप्रहाणमित्यपेक्षायां 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्ये' ति तेजः प्रभृतिकार्यस्यानुप्रवेशश्रवणादनुप्रवेश्यस्य चानुप्रवेष्टृब्रह्मणो भेदावश्यम्भावात् कार्यस्य तेजः प्रभृतेरग्रकाले ब्रह्मातिरिक्तम् सूक्ष्मावस्थात्मकरूपान्तरं लब्धम ; तदेवोपस्थितत्वादपेक्षितत्वाच्च द्वारतयोपादानभूतस्य ब्रह्मणो विशेषणत्वेन स्वीक्रियते , 'ब्रह्म वा इद' मित्यादौ तु शाखान्तरे तेजः प्रभृतिसूक्ष्मावस्थारूपस्य तमसो 'यस्य तमः शरीर' मित्यादि-श्रुत्या ब्रह्मशरीरत्वप्रतीतेः शरीरत्वेन तद्व्यतिरिक्तत्वात्तदेव द्वारतया उपादान भूतब्रह्मविशेषणत्वेन स्वीक्रियते । एवम् न्यायाद्विशेषणलाभः । आदिशब्देन पृषदाज्यन्यायो विवक्षितः । एवञ्च ब्रह्मश-ब्दसमानाधिकरणनिर्देशो न ब्रह्मस्वरूप परिणामप्रतिपादनार्थः , अपितु कारणस्य स्थूलावस्थाप्र-हाणाश्रयस्याब्रह्मात्मकता प्रतिक्षेपार्थः । इदंशब्दस्य ब्रह्मपर्यन्तत्वात्सामानाधिकरण्योपपत्तिः ।

यत्तु समस्तभेदरहितस्यैकस्यैव कारणवाक्ये अवधारणात् तद्विरुद्धं विशेषणकल्प नमित्यादि , तदपि स्वपक्षमपरामृश्योक्तम् , प्रलयदशायामपि अविद्यायाः सूक्ष्मोपाधेः शक्तेर्वा ब्रह्मसम्ब (न्धानुब) न्धित्वेन त्वया त्वदासन्नैश्च स्वीकारात् । वयं तु वाक्यान्तरा नुसारेण , निर्विकारनिरवद्यश्रुतिविरोधपरिहारार्थं च प्रपञ्चोपादानभूतब्रह्मविशेषणं तच्छरीर [भूत] मित्यनुमन्यामह इति विशेषः । अविद्यामिथ्यात्वपक्षे अवधारणमसंकुचितमित चेन्न, अग्र इत्यादिवैयर्थ्यस्य सद्विद्यानिरूपणे स्थापनात ।

किञ्च , ब्रह्मात्मादिशब्देषु स्वरूपपरेष्वपि वैशिष्ट्यलाभो दर्शितः । सच्छब्दं तु विमृशामः—इदमग्रे सदेवासीदिति इदमर्थ (स्य) सत्ताविधिपरे वाक्ये न तावत सच्छब्देन ब्रह्मस्वरूपमात्रं प्रतिपाद्यम् , अनन्तरवाक्यविरोधात् , अनन्तरमेव हि , ' तद्धैक आहुः असदेवेदमग्र आसीदिति । कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात......कथमसतः सज्जायेत इति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युच्यते । अत्र हि कार्यद्रव्यस्य पूर्वमविद्यमानत्वपक्षः प्रति-क्षिप्यते , न पुनरब्रह्मात्मकत्वपक्षः । तथा सति, 'कथमसतः सज्जायेत' इति लोकदृष्ट्या व्याप्तिप्रदर्शनायोगात (गाच्च) । अतः , 'सदेव' इत्यत्र वाक्ये प्रपञ्चस्यैव 'बहु स्याम्' इति वक्ष्यमाणबहुत्वावच्छिन्नसत्ताप्रतिपक्षभूतैकत्वावच्छिन्नसत्तायोग एव प्रतिपाद्यते । अतो ब्रह्मै वात्र मृग्यम् , न तु सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुसद्भावः । ननु सच्छब्दनिर्दिष्टस्यैव, बहु स्यामिति तदैक्षत बहु स्यामिति बहुभवनसङ्कल्परूपेक्षणश्रवणात , [तस्य ?] अचेतने, प्रतिसंहृतकर-

ग्रग्रामे चेतनेऽप्ययोगात् , उत्तरत्र सर्वत्र 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः,' 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति ; सति संपद्यन विदुः' इत्यादिषु सच्छब्दस्य नामवत्प्रयोगाच्च 'सदेव सोम्य' इत्यत्रापि सच्छब्देनानवच्छिन्नसत्ताविशिष्टब्रह्मस्वरूपमेव विवक्षितमिति चेत्—सत्यम्, तथापि पूर्वोक्तानुपपत्त्या स्वरुपमात्रविषयत्वासम्भवे ; अनुपपत्त्यन्तरेण (च) ब्रह्मस्वरूपपरत्वे चावश्यंभाविनि अगत्या श्रुत्यर्थापत्तिबलेन सूक्ष्मचिद्चिद्वैशिष्टयव्यवहितसत्ता (त्वा) वच्छिन्नं ब्रह्मात्र सदिति प्रतिपाद्यत इति निश्चीयते । तथा सति, 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत;' 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिभिरपि सङ्गतिः सिध्यति ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि कारण वाक्यों में सभी भेदों से रहित एक ही ब्रह्म की उपादानता निर्धारित की गयी है; अतएव उस ब्रह्म की विशिष्टता की कल्पना कारण वाक्यों के निर्धारण के विरुद्ध है । अद्वैती विद्वानों ने अपने पक्ष का विचार किए विना ही इस प्रकार की बात को कहा है । किञ्च अद्वैती तथा अद्वैतियोंके सन्निकटवर्ती सांख्य विद्वान् प्रलय दशामें भी अविद्या या उसकी सूक्ष्मोपाधि अथवा उसकी शक्ति को स्वीकारते ही हैं । हम तो दूसरे श्रुति वाक्यों के अनुसार ब्रह्म को निरवद्य तथा निर्विकार बतलाने वाली श्रुतियों के विरोध का परिहार करने के लिए प्रपञ्च के उपादान ब्रह्म के विशेषण रूप से उसके शरीर को स्वीकारते हैं, यह हम में और आप में अन्तर है । यदि कहेंकि अविद्या को मिथ्या मानने वाले हमारे मत में अवधारण का असंकुचित निर्वाह होता है तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि सद्विद्या के निरूपण के प्रसङ्ग में मैंने सिद्ध किया है कि आपके मत में श्रुति के 'अग्रे' इत्यादि पद व्यर्थ सिद्ध होंगे । किञ्च अभी अभी मैंने कहा है कि 'ब्रह्म' 'आत्मा' आदि शब्दों को स्वरूप परक मानने पर भी जगदुपादान के वैशिष्टय का त्याग नहीं किया जा सकता है ; अब हम श्रुति के 'सत्' शब्द का विचार करते हैं । 'इदमग्रे सदेवासीत्' इस इदमर्थ की सत्ता का विधान करने वाले वाक्य में सत् शब्द के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप मात्र का प्रतिपादन नहीं माना जा सकता है । क्योंकि ऐसा मानने पर आगे के वाक्य से विरोध होगा । इसके बाद का वाक्य है—तद्धैक० इत्यादि—अर्थात् ऐ सोमरसपानार्ह सच्छिष्य । एक तरह के लोग कहते है कि सृष्टि से पूर्व असत् ही था । सोम्य यह कैसे सम्भव हो सकता है ? असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ? अतएव ऐ सोम्य सृष्टिपूर्व काल में 'सत्' ही था। इस वाक्य में सृष्टि से पूर्व कार्य द्रव्य जगत् को अविद्यमान मानने वालों के पक्ष का खण्डन किया गया है, अब्रह्मात्मकावदी पक्ष का नहीं । क्योंकि अब्रह्मात्मकत्वपक्ष का खण्डन होने पर असत् से सत् कैसे हो सकता है? यह चना से धान कैसे हो सकता है ; इत्यादि लौकिक दृष्टि से व्याप्ति नहीं कही जा सकती है । अतएव जिसकी 'बहुस्याम्' श्रुति में बहुत्वावच्छिन्न सत्ता बतलायी जायेगी; उस प्रपञ्च का ही एकत्वावच्छिन्न ब्रह्म 'सदेव' इस वाक्य में बतलायी जा रही है । अतएव यहाँ पर अन्वेष्टव्य ब्रह्म मात्र ही है सूक्ष्मचिदचिद् वस्तु का सद्भाव नहीं । यदि कहें कि सत् शब्द से निर्दिष्ट वस्तु का ही 'बहुस्याम्' तदैक्षत बहुस्याम्' इत्यादि वाक्यों में अनेक होने का सङ्कल्प सुना जाता है, यह बहुभवन संकल्प न तो अचेतन में सम्भव है और न तो प्रलयकालिक उपसंहृतकरण कलेवर वाले जीवों में सम्भव है; आगे की 'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः

सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' अर्थात् सोम्य ! इन सारी प्रजाओं का मूल आश्रय और आधार सत् ही है। 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, सति सम्पद्य न विदुः' अर्थात् ऐसोम्य सुषुप्ति काल में जीव सत् में लीन हो जाता है। सत् में लीन जीवों को कुछ भी ज्ञात नहीं होता। इत्यादि वाक्यों में सत् शब्द का नाम के समान प्रयोग किया गया है, अतएव सदेव श्रुति के शब्द से भी अनन्त सत्ता सम्पन्न ब्रह्मस्वरूप ही विवक्षित हैं। तो आप के इस कथन का उत्तर है कि ऐसा होने पर भी लोक दृष्ट व्याप्ति प्रदर्शन रूप पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण; सत् शब्द को स्वरूपमात्र का बोधक नहीं माना जा सकता है। सत् में इक्षण तथा उसके नाम के तुल्य प्रयोग रूपी भवदिष्ट अनुपत्ति के द्वारा उसके (ब्रह्म के) स्वरूप परक होने पर कोई दूसरा रास्ता न होने के कारण श्रुत्यर्थापत्ति के द्वारा यह निश्चित होता हैं कि इस श्रुति के सत् शब्द के द्वारा चित् एवं अचित् के द्वारा सत्तावच्छिन्न ब्रह्म का अभिधान होता है। ऐसा मान लेने पर 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नाम रूपाभ्यां व्याक्रियत' 'आत्मा इदमेक एवाग्र आसीत्' इन दोनों श्रुतियों से भी संगति बैठ जाती है।

तदपीत्यवधारणम्। सर्वैरपि संकुचितविषयमेव वाच्यमिति भावः। सर्वमतेऽप्यवधारणसंकोचाविशेषे पराभिहितविशेषणमेव कुतो नाद्रियते इत्यत्राह वयंत्विति। वाक्यान्तरे कृत्स्नस्य ब्रह्मशरीरत्वावगमात शरीरतया सिद्धस्यैव ब्रह्मविशेषणत्वमङ्गीक्रियते, अविद्याविशेषणाङ्गीकारे ब्रह्मणः सावद्यत्वप्रसङ्गात्, शक्त्याङ्गीकारे ब्रह्माभिन्नोपाध्याङ्गीकारे च ब्रह्मणः सविकारत्वप्रसङ्गः, शरीरस्य विशेषणत्वाङ्गीकारे न सावद्यत्वम्, विकारस्य शरीरगतत्वात् न स्वरूपगतत्वमिति। वैयर्थ्यस्येति। इदानीमव्यवधारणसम्भवादिति भावः। अनन्तरवाक्यविरोधादित्यादि। सच्छब्दस्य ब्रह्मस्वरूपपरत्वे 'असदेवे' त्यादिना अब्रह्मकत्वपक्ष एवं प्रतिक्षेप्यः स्यात्, तच्चायुक्तमिति भावः। तथासतीति। अब्रह्मणो मृदादेर्घटोद्युत्पत्ति दर्शनादिति भावः।

ननु 'कथमसतः सज्जायेते' त्यत्राब्रह्मणो ब्रह्मात्मकं कथं जायेतेत्यर्थः, तत्र च न व्याप्ति सम्भव इति चेन्न;—तथापि ब्रह्मात्मकमिदं जगदब्रह्मणः कथम् जायत इति प्रदर्शनायोगात्, ब्रह्मात्मकत्वस्य जगति सिद्धवत्कारासम्भवात्। नत्विति। अस्मिन् वाक्ये सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुसद्भावो न मृग्य इत्यर्थः।

ननु ब्रह्म न मृग्यमीक्षणादिना तस्यैव स्पष्टम् प्रतीतेरित्याक्षिपति नन्विति। उत्तरत्रेति 'सन्मूला' इत्यादिषु सच्छब्दस्य विशेष्याप्रयोगात्सापेक्षस्य समासायोगाच्च नैरपेक्ष्येण नामत्वात्, बहुत्वावच्छिन्नसत्ताप्रतिपक्षैकत्वावच्छिन्नसत्तायोगस्य च 'एकमासी' दिति क्रियापदेन कृतत्वात्; 'सन्मूला' इत्यादिष्विव 'सदेवे' त्यत्रापि सच्छब्दस्तत्कालेक्षणकर्तुर्ब्रह्मण एव नाम, न च तदसाधारणप्रवृत्ति निमित्तासम्भवः, अनवच्छिन्नसत्तायोगस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्यर्थः। नामवदिति। 'तदह्' मिति वतिः। नामत्वानुरूपमित्यर्थः। सत्यमिति। ब्रह्मपरत्वमङ्गीकृतम्, स्वरूपमेवविवक्षितमित्यवधारणार्थंचिदचिद्विशिष्टचाभावेऽनङ्गीकारः। पूर्वोक्तेति। लोकदृष्टव्याप्तिप्रदर्शनायोगादित्यर्थः। अनुपपत्त्यन्तरेणईक्षणनामभ्यामित्यर्थः। जगत्येत्यादि। निर्विकारत्वश्रुत्यनुपपत्त्या विशेषणविशिष्ट परत्वमावश्यकम्, लोकदृष्टया व्याप्तिप्रदर्शनार्थञ्च सत्त्वपुरस्कारेण

प्रवृत्तिर्बोध्या, एवञ्च साक्षात् सत्त्वविशिष्टरूपेणाभिधाने चिदचिद्विशेषणविशिष्टप्रतिपादनासम्भवादगत्या चिदचिद्द्वारा सत्तावच्छिन्नम् ब्रह्म सदिति प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। चिदचिद्वैशिष्ट्येन हेतुना व्यवहिता चिदचिद्वतत्त्वाद्व्यवहिता या सत्तेत्यर्थः। न च शब्दस्य योगात् प्रवृत्तौ विशेष्यसाकांक्षता, 'प्रोक्षणीरासादय' तीत्यादिषु प्रोक्षणीशब्दस्य यौगिकत्वेऽपि अप्स्वेव शास्त्रस्थानाम् प्रचुरप्रयोगादपां प्रतीत्या विशेष्यनिराकांक्षत्ववत 'प्रोक्षणीपात्र' मित्यादौ तत एव समासवच्च, विशेष्यनिराकांक्षत्वस्य 'सन्मूला' इत्यादौ समासस्य चोपपत्तेः। नन्वर्थापत्त्या उपादानत्वे विशेषणवैशिष्टयकल्पनेऽपि न तस्य किंचिच्छब्दवाच्यत्वकल्पकमस्ति; एवञ्चाव्यवहितसत्तावैशिष्ट्यं सच्छब्दार्थोऽस्त्वित्यत्राह तथा सतीति। 'तद्वेद' मित्यत्र विशेषणस्य 'आत्मा वा इद' मिति विशेष्यशब्दतः प्रतीतेस्तदुभयश्रुत्यैकार्थ्याय व्यवहितसत्तायोग एवात्राश्रीयत इति भावः।

अस्तु वा; 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्र सच्छब्देन ब्रह्मस्वरूपनिर्देशः—तथापि, 'तद्धैक आहुः' इत्यादिना असत्कार्यवादप्रतिक्षेपात; कार्यद्रव्यस्य पूर्वं विद्यमानत्वप्रतीतेः तद्विशिष्ट ब्रह्मैवात्र सच्छब्दार्थ इति शक्यतेऽवगन्तुम् अतएव; 'शरीरिभूतपरमात्माभिधायिभिः सद्ब्रह्मादिशब्दैः' इति भाष्यमपि सुघटितम्। न चात्र शक्तिद्वयकल्पनागौरवम्; विशिष्टपरत्वे, अपर्यवसानेन ब्रह्मणि सच्छब्दवृत्तेः, स्वरूपपरत्वे तु श्रुतार्थापत्त्या शाखान्तरानुसारेण वा चिदाचिद्वैशिष्टयस्यापि क्रोडीकारोपपत्तेः। न चात्र लक्षणा दोषः, तथापि सर्वशब्दलक्षणापक्षादस्यैवोपादेयतमत्वात्। यः पुनः, 'सर्वपदार्थानुवृत्तसत्तामात्रमेवात्र सच्छब्दार्थः, स एव च ब्रह्म' इत्याह, तत्पक्षे तु सकलश्रुतिस्मृतिन्यायविरोधः, प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रसञ्जकाभावेनाप्रकृतत्वात् इदानीं तत्रोदास्महे। तत्रापि हि प्रपञ्चस्यैव सत्त्वं प्रतीयमानं कारणदशायां कार्यदशायां च दशाद्वयविषय सच्छब्दद्वयेन प्रतिहितं भवति।

प्रसाद—'सदेव' श्रुति के 'सत्' शब्द के द्वारा ब्रह्मके स्वरूप का निर्देश मान लेने पर भी 'तद्धैक आहु;' इत्यादि द्वारा असत् कार्यवाद का प्रतिक्षेप करने के कारण तथा कार्यद्रव्य की पूर्वविद्यमानता प्रतीत होने के कारण चिदचिद्विशिष्टब्रह्म का ही यहाँ सत् शब्द से अभिधान होता है, यह माना जा सकता है; अतएव आत्मभूत परमात्मा के वाचक सद् ब्रह्म आदि शब्द हैं, यह श्रीभाष्य वाक्य भी समन्वित हो जाता है। यहाँ पर एक शब्द में दो प्रकार की शक्ति की कल्पना जन्य गौरव दोष का भी प्रसङ्ग नहीं है। क्योंकि सत् शब्द की वृत्ति का विशिष्ट ब्रह्म में पर्यवसान माना जाता है। श्रुतार्थापत्ति अथवा शाखान्तर के अनुसार उसको स्वरूप परक मानने पर तो उसीके अन्तर्गत उसकी चिदचिद् वैशिष्ट्य परता भी आ जाती है। ऐसा स्वीकार करने में लक्षणावृत्तिजन्य दोष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि आप तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के सभी पदों में लक्षणा मानते है; उसकी अपेक्षा तो ऐसा मानना ठीक ही है। अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि यहाँ सत् शब्द का अर्थ सभी पदार्थों में अनुवर्तित होने वाली सत्ता

मात्र है, और वही ब्रह्म है , तो उनके इस कथन से तो सभी श्रुतियों, स्मृतियों को न्यायों से विरोध होता है , क्योंकि प्रश्न है कि क्या वे-प्रपञ्च के मिथ्या होने के कारण, उसके अधिष्ठान रूप से अनुगत होने वाली सत्ता 'सत्' शब्द वाच्य है, अथवा सत्य प्रपञ्च में व्यापक ब्रह्म ही सर्वानुगत् सत्ता है , और वही सत शब्द का अर्थ है ? प्रथम पक्ष के खण्डन में हम इसलिए उदासीन हैं कि प्रपञ्च के मिथ्यात्व का साधक कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है । सदेव श्रुति में भी कारण दशा तथा कार्य दशा दोनों में प्रपञ्च की ही सत्ता प्रतीत होती है और उसकी ही सिद्धि दशाद्वय विषयक दो 'सत्' शब्दों से होती है।

अस्तुवेति । ब्रह्मस्वरूपनिर्देशः--ब्रह्मास्वरूपे ऽनवच्छिन्नसत्ताप्रवृत्तिनिमित्तपुरस्कारेण मुख्यवृत्तिः । 'तद्धैक आहु' रिति कार्यद्रव्य प्रागविद्यमानतयावगतस्यैव परिणामित्वात् ब्रह्मशब्द-स्तद्विशिष्टपर इत्यर्थः । अतएवेति । स्वरूप एव शक्यत्यङ्गीकारादित्यर्थः ।

ननु पक्षद्वयेऽपि विशिष्टपरत्वाङ्गीकारात ब्रह्मणि प्रकृतौ च शक्तिद्वयं स्यादित्य आह नचेति । अपर्यवसानम—विशेषणशक्तेर्विशेष्यपर्यन्तता । श्रुत्यर्थापत्त्येति प्रसङ्गादुक्तम् । शाखा-न्तरानुसारेणेति । प्रकृताभिप्रायम् । 'तद्धे दन्तर्ह्यव्याकृतमासी' दित्येतच्छाखान्तरम् , तत्समानार्थ त्वायेहापि विशिष्टपरत्वमित्यर्थः । स्वरूपवाचिना विशेषक्रोडीकारे लक्षणा स्यादित्यत्राह न चात्रे ति । न्यायानुसारिणी लक्षणा न दोषायेत्यर्थः । दोषत्वमङ्गीकृत्याह तथापीति । किं प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेन तत्राधिष्ठानतयानुगता सत्ता सच्छब्दार्थ इत्युच्यते किं वा सत्यभूत एव प्रपञ्चे व्याप कीभूतं ब्रह्मैव सर्वानुगता सत्ता सैव सच्छब्दार्थ इति ? आद्य आह प्रपंचेति । सत्यभूतप्रपंचा-त्मकसत्तायास्तदुपादानत्वं हि न प्रपंचमिथ्यात्वापादकम , अतस्तदिह निराक्रियत इत्यर्थः । न तस्य प्रपंचमिथ्यात्वसाधकत्वाभावमात्रम् , प्रत्युतास्मिन पक्षे कारणवाक्येन कार्यकारणादशयोः सत्त्वं व्यवस्थाप्यत इत्याह तत्रापिहीति । तस्मिन् पक्ष इत्यर्थः । प्रतीयमानमिति प्रत्यक्षादिनेति शेषः । 'इदं सदेवे' त्येकः सच्छब्दः, 'कथमसतः सजायेत 'ततो वै सज्जायत' इत्यपरः । सिद्धान्त इवेत्यपिशब्दस्य भावः ।

यद्वा तत्पक्ष इति । तत्रैव सच्छब्दार्थः सैव च ब्रह्मेत्ययमर्थः सकलश्रुति स्मृतिन्यायविरुद्ध इत्यर्थः । ब्रह्मस्वरूपं सच्छब्दार्थ इत्यस्य पक्षेऽङ्गीकृतत्वात्ततो विशेषद्योतनार्थः तु शब्दः । कथं श्रुत्यादिविरोध इत्यत्राह प्रपंचेति । सत्रैव ब्रह्म सच्छब्दार्थश्च इत्येतन्निरासस्याप्र-कृतत्वान्न तत्प्रपंचयत इत्यर्थः । सच्छब्दस्यात्र सत्तापरत्वस्य निराकार्यत्वेऽपि सत्तार्थकत्वमात्रस्या-निराकार्यत्वादिति भावः । अप्रकृतत्वं कुत इत्यत्राह प्रपंचेति । मिथ्यात्वप्रसञ्जकस्य कस्यापि तेना लाभादित्यर्थः । नन्वग्रे सत्तादात्म्यप्रतिपादनादुपादानत्वपर्यवसानात्तदेव मिथ्यात्वप्रसञ्जकमित्य-त्राह तत्रापिहीति । ब्रह्मस्वरूपं इति पक्षे वर्णितरीत्या अनन्तरवाक्यपर्यालोचनादिवशेन कार्य-कारणावस्थयोः सच्छब्दस्य सत्तायोगिपरत्वान्न सत्तातादात्म्यमिह प्रतिपाद्यम , एवंच प्रत्यक्षप्रमि-तसत्तायोगस्य श्रुत्यापि प्रतिपादनात् सत्यत्वमेव प्रतिष्ठितं भवति , न तु मिथ्यात्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। ब्रह्मणः सत्तारूपत्वे तन्निराश्रयत्वादिश्रुतिस्मृतिविरोधः, नीरूपस्य चक्षुरादिना सन् घट इत्यादिरूपेण ग्रहणासम्भवान्नयायविरोधः , सत्तार्थत्वे तु व्याकरणविरोधः , सच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तानुशिष्टस-

लप्रत्ययान्तत्वेन सत्सत्त शब्दयोर्भिन्नार्थत्वात् घटादिशब्दवत् प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टवाचकत्वस्याव-श्यकतया प्रवृत्तिनिमित्तमात्रबाधकत्वमात्रमयुक्तम् , यथाऽवेष्ट्यधिकरणे राजशब्दार्थसिद्ध्युपजीवनेन राज्यशब्दार्थसिद्धेर्न राज्ययोगो राजशब्दार्थ इत्युक्तम् ; तथा सच्छब्दार्थसिद्ध्युपजीवनेन सत्ता शब्दार्थसिद्धेस्तदधिकरणन्यायविरोधश्चेत्यर्थः ।

किञ्च यदिदं विशिष्टस्योपादानत्वं श्रौतं कल्पितं वेति–तत्र भवन्तमपि पृच्छामः अविद्याविशिष्टस्योपादानत्वं श्रौतं कल्पितं वेति । न प्रथमः , सद्ब्रह्मादिशब्देष्वविद्यासौरभस्याप्यनाघ्राणात् । नाप्युत्तरः , कल्पकाभावादेरविशेषात् । तत्सद्भावेऽपि प्रत्यक्षादिस–मस्तप्रमाणप्रत्यनीकदुर्घटा (दुर्घटिता) भिमतार्थक्लृप्तेरपि स्वहृदय (सहृदय) संवादिसमीचीनप्रक्रियाकल्पनस्योपपन्नत्वात् । मृद्घटादिदृष्टान्तेन स्वरूपोपादानत्वप्रतिपादनप्रसङ्गम् तु यदि भास्करादयः शृणुयुः , तदा ते प्रथमप्रतीतनिर्विकार (सविकार) तादिमात्रव्याघात (ादि) रचनाकल्पितव्याघातशतशतविशरारुणि भवन्मते न नन्देयुः । नन्वविद्याविशिष्टम् ब्रह्मास्माकं जगदुपादानम् , भवतां तु सूक्ष्मप्रकृतिपुरुषविशिष्टमिति व्यवहितविकाराश्रयत्वाविशेषादावयोः को विशेष इति ॥ अहो महदिदमवधानम् ; यत् प्रत्यक्षादिप्रमाणगण दृढावधारितचिदचिदात्मकप्रपञ्चबाधाबाधाभ्यामावयोर्विशेषः प्रदर्शितः इति । नन्वेवमपि व्यवहितोपादानप्रतिपादनप्रयासमुत्सृज्य प्रपञ्चसत्यत्ववृथाग्रहात्तद्रूपे स्वारसिके स्वरूपोपादानपक्षे स्थीयतामिति चेत्—नैवम् , सर्वतादात्म्ये समस्तविकाराद्याश्रयत्वावश्यंभावेन–(भावि) निर्विकारनिरवद्यत्वश्रुतिविरोधस्य दुष्परिहरत्वात् । स्वारस्यमपि मरीचिकासलिलकल्पम् । तथाहि—तत्र भास्करमतं [अधिकृत्य ?] तावत् पृच्छामः–ब्रह्मस्वरूपमेव परिणमतीत्यत्र (१) किमीश्वरो ब्रह्मशब्दवाच्यः , (२) उत तदंशभूतः सूक्ष्मोऽचिदुपाधिः , (३) उत समुदायः ; (४) उत तदुभयानुवृत्तसद्द्रव्यमात्रम् , (५) यद्वा ब्रह्मधर्मभूतः [त]शक्ति विशेष एवेति । व्यतिरेकादिपक्षस्तु अत्यन्तदूरस्थतया नोपक्षिप्यते । तत्र तावन्न प्रथमः; ईश्वरांशस्य विकारानभ्युपगमात् । न द्वितीयः , ब्रह्मोपादानत्वप्रहाणप्रसङ्गात् । न तृतीयः समुदायस्य समुदायिभ्यां भिन्नत्वे सति न ब्रह्मोपादानत्वसिद्धिः , अभिन्नत्वे पक्षद्वयोक्तदूषणस्य पुनरुन्मज्जनम् [मिति ?] । चतुर्थेऽपि पक्षे सन्मात्रस्य सर्वतादात्म्ये चेतनाचेतनात्मकविश्वप्रपञ्चस्यदोषाधारत्वेन तदात्मकस्य ब्रह्मणो निर्दोषत्वश्रुतिविरोधः । पंचमस्तु पक्षः परिशिष्यते । तत्रापि शक्तेः ब्रह्माव्यतिरेके पुनः स एव श्रुतिविरोधः । व्यतिरेके ब्रह्मो-

पादानत्वभङ्गप्रसङ्गः । व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षस्तु दुःस्थत्वादेव दूरपरिहरणीयः । स्वाभाविकभेदाभेदवादश्च सर्वलोकविरुद्धत्वात् दुर्विचारमूल एव । तेन पक्षत्रयप्रतिक्षेपे मृषावादः परिशिष्यते । सोऽपि स्वतः प्रतिक्षेप्य एव, प्रस्फुटदोषसङ्करविघटितत्वात् ।

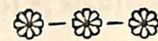
श्लो. अवस्थान्तरयोगित्वमुपादानत्वमुच्यते / मृत्पिण्डघटदृष्टान्तस्तत्रैव ह्युपपद्यते ॥

सर्पभूरन्ध्र-मालादिरूपावस्थान्तरादयः । रज्जौ न विद्यते तस्मान्नोपादानत्वमिष्यते ॥

इत्थमध्यस्तविश्वस्य ब्रह्मोपादानभाषणम् । लोकवेदविरुद्धत्वात् स्वयमेव नि[त्रि]रुध्यते ॥

अतः उपादानत्वानुपपत्तिरद्वैतवादिन एवेति ॥

॥ इति शतदूषण्यां ब्रह्मोपादनात्वान्यथानुपपत्तिभङ्गवादः त्रिपञ्चाशः ॥५३॥



प्रसाद-किञ्च यह जो कहा गया है कि सिद्धान्ती विशिष्ट की उपादानता श्रुति के अधार पर मानते हैं, अथवा कल्पना के आधार पर । उसके विषय में मैं आपसे भी पूछता हूँ कि आप अविद्या विशिष्ट की उपादानता श्रुति के आधार पर मानते हैं अथवा कल्पना के आधार पर ? श्रुति के आधार पर इसलिए नहीं कह सकते हैं कि कारण श्रुतियों के सत् ब्रह्म आदि शब्दों में अविद्या की गन्ध तक नहीं है । कल्पना के आधार पर इसलिए नहीं कह सकते हैं कि हमारे मत के ही समान आपके मतमें कल्पना का कोई आधार नहीं हैं । यदि कहें कि निर्विकार श्रुति की अन्यथानुपपत्ति ही इस कल्पना की कल्पिका है, तो भी प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों के विरोधी अविद्या को स्वीकारने पर अभिमत सृष्टि आदि का समन्वय असम्भव हो जाता है , उसकी कल्पना से भी सहृदयों से एक वाक्यता रखने वाली समीचीन प्रक्रिया सिद्ध होती है । आपके अभिमत मृदघटादि दृष्टान्त के द्वारा स्वरूपोपादनत्व का प्रतिपादन यदि भास्कर आदि सुनेंगे तो वे आपके विचारों से आनन्द का अनुभव करेंगे , क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप को उपादान मानने पर आपको सर्वप्रथम जो ब्रह्म के निर्विकारत्व एवं सविकारत्व तथा निरवद्यत्व एवं सावद्यत्व को लेकर जो विरोध प्रतीत हुआ उससे बचने के लिए आपने विवर्तवाद स्वीकारा; वह विवर्तवाद भी अनेक व्याघातों से व्याप्त होने के कारण विशरणशील है । यदि कहें कि हमारे मत में अविद्या विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और सिद्धान्ती तो सूक्ष्म प्रकृति तथा पुरुष विशिष्ट ब्रह्म को जगत् का उपादान मानते हैं , इस तरह हम और आप दोनों समान रूप से ब्रह्म को व्यवहित विकाराश्रय मानते हैं; हम दोनों की मान्यता में क्या अन्तर है ? तब तो आप बहुत अधिक सावधान हैं , हम और आप में यही अन्तर है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण समूह से जिसका दृढ निश्चय होता है, उस चेतनाचेतनात्मक प्रपञ्च को हम अबाधित मानते हैं और आप बाधित । यदि कहें कि सिद्धान्ती को चाहिए कि वे व्यवहितोपादान प्रतिपादन की प्रथा को त्यागकर प्रपञ्च सत्यत्व के व्यर्थ आग्रह के अनुकूल स्वाभाविक स्वरूपोपादान पक्ष को अपनाएँ । तो आप ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सबों से अभेद स्वीकारने

पर ब्रह्म सभी विकारों एवं दोषों का आश्रय अवश्य होगा। फलतः आपके मत में निर्विकारत्व एवं निरवद्यत्व श्रुति का विरोध अवश्य होगा।

किञ्च स्वरूपोपादानत्व पक्ष की स्वरसता भी मृगमरीचिका के ही समान है। सर्वप्रथम हम भास्कर मत के विषय में पूछते हैं कि ब्रह्म के स्वरूप का परिणाम होता है, आपकी इस मान्यता के विषय में प्रष्टव्य है कि (१) क्या ईश्वर ही ब्रह्म है (२) या उसका अंशभूत सूक्ष्म अचित् उपाधि ? (३) या उन दोनों का समुदाय (४) या उन दोनों में अनुवर्तित होने वाला सद् द्रव्यमात्र (५) या ब्रह्म का धर्मं भूत शक्ति विशेष ही। अत्यन्त दूरस्थ होने के कारण व्यतिरेकादिपक्ष का यहाँ खण्डन नही किया जा रहा है। प्रथम पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि आप ईश्वरांश में विकार नहीं स्वीकारते हैं। अचित रूपी उपाधि को ब्रह्म शब्द वाच्य मानने पर ब्रह्मोपादानत्व के प्रहाण का प्रसङ्ग होगा। तीसरा पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि समुदाय को दोनों समुदायियों से भिन्न मानने पर ब्रह्मोपादानत्व की सिद्धि नहीं होगी, अभिन्न मानने पर प्रथम एवं द्वितीय दोनों पक्षों के दोष इस पक्ष में आयेंगे। चौथे पक्ष में भी सन्मात्र का सबों से अभेद होने पर चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च के दोषका आश्रय होने के कारण जगदभिन्न ब्रह्म का निर्दोषत्व श्रुति से विरोध होगा। पाञ्चवें पक्ष के विषय में कहना है कि शक्ति को ब्रह्म से भिन्न मानने पर पुनः वही श्रुति विरोध नामक दोष होगा। भिन्न मानने पर ब्रह्मोपादानकत्व के भङ्ग का प्रसङ्ग होगा। भेदाभेद पक्ष तो अत्यन्त अव्यवस्थित होने के कारण बिल्कुलत्याज्य है।

यादव प्रकाशाचार्य का स्वाभाविक भेदाभेदवाद सर्वलोक विरुद्ध होने के कारण दुर्विचार मूलक ही है। इस तरह भास्कर मत तथा यादव मत का खण्डन कर दिए जाने के पश्चात् अब केवल मिथ्यावादी मत ही बच जाता है। वह भी स्पष्ट दोष साङ्कर्ययुक्त होने के कारण स्वयमेव खण्डनार्ह है। जो अवस्थाओं का आश्रय होता है उसे उपादान कहते हैं। उदाहरणार्थ घट शरावादि अनेक अवस्थाओं का आश्रयभूत मृतपिण्ड घट का उपादान है। अन्धेरे में प्रतीत होने वाले सर्प, भूदलान तथा माला आदि रज्जू की अवस्थाएँ नहीं होती हैं अतएव रज्जू सर्पादि का उपादान नही है। इसी तरह अद्वैती विद्वानों का यह कहना गलत है कि ब्रह्म में विश्व अध्यस्त है, अतएव ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। उनकी यह उक्ति लोक एवं वेद विरुद्ध है। लोक में अध्यस्त वस्तुओं का उपादान कारण अधिष्ठान को नहीं माना जाता है। वेद में कहीं भी ब्रह्म में विश्व को अध्यस्त नहीं बतलाया गया है। इस तरह अद्वैती विद्वानों के ही मत में उपादानत्वानुपपत्ति होती है, हमारे मत में नहीं।

इस तरह शतदूषणी के ब्रह्मोपादानत्वान्यथानुपपत्ति भङ्ग नामक तिरपनवें वाद का प्रसाद समाप्त हुआ॥



कल्पकाभावादेरिति। आदिशब्देन विशेषणकल्पनस्य 'एवमेवे' त्यवधारणविरुद्धत्वम् गृह्यते।

ननु निर्विकारश्रुत्यन्यथानुपपत्तिरेव कल्पिकेत्यत्राह तत्सद्भाव इति। समस्तेति। अवि

थाविशेषणकल्पने तत्कार्यस्य मिथ्यात्वं स्यात् ; तच्च सर्वप्रमाण विरुद्धमित्यर्थः । दुर्घटिताभिमतेति । सहृदयसंवादिति वक्ष्यमाणवैलक्षण्यं विवक्षितम् । प्रथमेति । ब्रह्मस्वरूपस्य उपादानत्वे निर्विकारत्वसविकारत्वयोः सावयत्वनिरवयत्वयोश्चयो व्याघातः प्रथमं प्रतीतः तस्माद्रक्षणाय विवर्तवादस्त्वयांगीकृतः ; स च व्याघातशतविशीर्णः; ततश्च तद्दर्शनात्तावद्व्याधातरहिते स्वाभिमतस्वरूपपरिणामवादे भास्करादयः प्रीतिमन्तो भवेयुरित्यर्थः । विशरारुर्विशरणशीलः । यद्यपि 'शवन्द्योरारु' रिति ताच्छीलिकोऽयं कर्तृप्रत्ययः ; ततश्च विदारयितेत्यर्थः स्यात् , तथापि कर्मकर्तृत्वस्य विवक्षितत्वात् , भिदुरं काष्ठमिति 'विदिभिदिच्छिदेः कुर' रिति कर्तरिविहितकुरच्प्रत्ययान्तभिदुरशब्दवत् कर्मणि प्रयोगः । प्रदर्शित इति । "वचन्तु वाक्यान्तरानुसारेण इत्यादि नेत्यर्थः । पंचमस्त्विति । शक्तेरन्तरङ्गत्वात् तत्परिशेष इति भावः । तत्रापि न ब्रह्मोपादानत्वश्रुतेः स्वारस्यमित्यभिप्रायेणोपपादयति तत्रापीति । दुस्थत्वादिति । ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तायाः शक्तेर्व्यतिरेक उपाधित इति वाच्यम् , तस्यापि तथेत्यनवस्थेत्यर्थः । शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकाव्यतिरेकौ स्वाभाविकावित्यात्राह स्वाभाविकेति । भास्करमतप्रतिक्षेपप्रकारेणैव यादवमतस्य प्रतिक्षिप्ततामभिप्रेत्याह येनेति । मृषावादः-विवर्ततया ब्रह्मोपादानकत्ववादः । स्वत इति । स्वेनैव प्रतिक्षेप्तुयोग्यः, स्वव्याहत इत्यर्थः । तदेवोपपादयति । अवस्थान्तरेति । लोकसिद्धतामुक्त्वा श्रुतिसिद्धतामाह मृत्पिण्डेति । ब्रह्मणोऽधिष्ठानत्वाद्विकारान्वयः स्यादित्याशङ्कयाह रूपेति । इत्थमित्यादि । अवस्थानाश्रयस्योपादानत्वस्य लोकवेदविरुद्धत्वाद्विश्वस्याध्यस्ततोक्तिर्ब्रह्मण उपादानत्वोक्तिश्च परस्परव्याहते इत्यर्थः ।

एतेनैव निरस्तम् । यदाह नवीनः—अवस्थान्तरयोगित्वं नोपादनत्वम् , तद्धिविकारवत्कारणत्वं परिणामित्वं वा ? नाद्यः , यत्किञ्चित्समवायित्वस्य निमित्तसाधारणत्वात् , तद्विकारसमवायित्वस्याप्येकसमुदायवादे तत्र सत्त्वात् , तन्नानात्वेऽपि अनित्यमृद्घटादेर्नित्यरूपसम्बन्धासम्भवः , सम्बन्धस्य सम्बन्ध्याश्रयत्वनियमात् ; अनित्यत्वे च भावकार्यस्य सोपादानत्वनियमात् तदुपादाने तत्समवायसत्त्वे अनवस्था ; असत्त्वे उपादानलक्षणाव्याप्तिः . नापि द्वितीयः , तद्धि तात्त्विकरूपान्तराभेदः, तच्च न अभेदे , रूपान्तरत्वव्याघातात् , तस्मात्परमते नोपादानलक्षणम् निर्वहति, अस्मन्मते तु यदभिन्नम् कार्यमुत्पद्यते तत्कारणमुपादानम् , अभेदश्च मृद्घट इति । सामानाधिकरण्यानुभवसिद्धः, अयं घट इत्यत्र स्वप्रकारीभूतधर्मद्वयविशिष्टाभेदविषयत्वस्य क्लृप्तत्वात् , स चाभेदः प्रकृते तादात्म्यम् भिन्नत्वे सत्यभिन्नसत्ताकत्वम् , अस्ति हि मृद्घटयोस्तत्तादात्म्यम् , भेदाभावे कार्यकारणभावायोगात् , उपादानोपादेययोः सत्ताभेदाभावाच्च, दण्डघटयोस्तु नैवम् , भेदे भासमानेऽपि दण्डाधिष्ठानात्तदुपहितात्तत्सत्त्वात् घटसत्ताया अन्यत्वात् ; अन्यत्वं च दण्डाद्यभावेऽपि सन् घट इति अनुभवात् दण्डो घट इत्यननुभवाच्च सिद्धम् , नीलो घट इत्यादौ गुणगुण्याद्ययुतसिद्धसामानाधिकरण्यानुभवस्थले सर्वत्र इदमेव तादात्म्यम् विषयः , नन्वेवमेकघटाश्रितरूपरसादीनां घटसत्तैव सत्तेति रूपरसादेरन्योन्यं सामानाधिकरण्यानुभवः

स्यादिति चेन्न, रूपाद्यवच्छिन्नतया घटसत्ताया रसादिसत्तात्मत्वाभावात् , ननु मृद्घटयोर्भेदे कथ मेकसत्ताकत्वम् , दण्डघटयोरदर्शनादिति चेत् ? दण्डघटभेदवत् मृद्घटभेदस्य सत्तावच्छेदकत्वाभावात् , रूपरसयोरप्यन्योऽन्यं भेदः सत्तावच्छेदकः नत्वाश्रयाद्भेदः, अथवा कश्चिदनिर्वचनीयो धर्मस्तादात्म्यम् , अतो यदभिन्नं कार्यमुत्पद्यते तत्कारणमुपादानम् ; एवञ्च जगद्विवर्त्ताधिष्ठानं ब्रह्माप्युपादानम् , विवर्तस्याधिष्ठानाभिन्नत्वात् , ब्रह्मणः कारणत्वाच्च, अभेदश्च सन् घट इति प्रतीतिसिद्धः सद्रूपाधिष्ठानतादात्म्यविषयत्वात् , न हि सदिति घटस्वरूपमेव प्रतीयते ; तस्य पटादावननुगतत्वात् , नापि सत्ताजातिवैशिष्टयम् , अतिरिक्तसत्ताकल्पने गौरवात् ; प्रतीतेरधिष्ठानतया सत्तादात्म्यविषयत्वेनाप्युपपत्तेः; सामान्यादौ सद्बुध्ययोगाच्च, न च बाधायोग्यत्वं सत्त्वं सामान्याद्यनुगतमिति वाच्यम् ; तस्या एव सत्ताया लाघवानुगृहीतानुभवेन "न ह्यसति द्वैतसिद्धिः आत्मैव सिद्धो द्वितीयः" इत्यादिश्रुतया चात्ममात्रतया सिद्धत्वात् ; अन्यथासिद्धानुभवेन श्रुत्यर्थान्यथाकरणायोगात् , नापि प्रमाणयोग्यत्वम् , अबाधितानुभवस्य प्रमाणत्वे बाधायोग्यत्वपर्यवसानात् ; यथार्थानुभवस्य तत्त्वे मिथ्यारजतादिसाधारण्यात् , तस्मात्कार्याभिन्नं कारणं चेत्युपादानम् , अभेदश्चाधिष्ठानतयेति ब्रह्मविवर्तभूतं जगदिति ।

अयं भावः-समवायानङ्गीकारादाश्रयिभावाङ्गीकाराच्च अवस्थान्तर योगित्वमुपादानत्वमित्यत्र न कश्चिद्दोषः, एतदेव परिणामित्वमपीति , तदपि सुस्थम् , रूपान्तरवदभेदा वा, परिणामित्वम् रूपान्तरं च कार्यावस्थातात्त्विकरूपान्तराभेदः परिणामित्वमित्युक्तम् , रूपान्तरस्य तात्त्विकत्वे अद्वैतहानेः । स्वसमानसत्ताकत्व विवक्षायां यदभिन्नं इत्यत्र वक्ष्यमाणो दोषोऽनुसन्धेयः । सिद्धान्तेत्विदमपि पूर्वत्रैव पर्यवसितम् । यदभिन्नं कार्यमुत्पद्यते तत्कारणमुपादानमित्यत्रापि न दोषः, उपादानस्यैव सद्वारकोत्पत्तेः सद्वारककार्यतायाश्च सत्त्वात् । त्वत्पक्षेत्वेतदयुक्तम् , कार्यकारणयोर्भेदाङ्गीकारात् ।

ननु भिन्नत्वे सत्यभिन्नसत्ताकत्वलक्षणोऽभेदोऽस्तीत्युक्तम् , सत्यमुक्तम् , दुरुक्तन्तु तत् तस्य मृद्घट इति सामानाधिकरण्यानुभवसिद्धत्वाभावात् , अयम् घटः अयम् कम्बुग्रीवः इति सामानाधिकरण्यानुभवाविषयस्यैवैतत्सामानाधिकरण्यानुभवविषयत्वात् , त्वयैवाभेदस्यैतत्सामानाधिकरण्यानुभवसिद्धत्वेऽयम् घट इत्यत्र स्वप्रकारीभूतधर्मद्वयविशिष्टाभेदविषयत्वस्य क्लृप्तत्वादिति हेत्वभिधानात् , अयम् घटः, अयं कम्बुग्रीवः, सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमसि, सत्यं ज्ञानमित्यादिषु भिन्नत्वे सत्यभिन्नसत्ताकत्वासम्भवात् । किञ्च भिन्नत्वे सत्यभिन्नसत्ताकत्वं यदि सामानाधिकरण्यप्रतीतेर्विषयः तदा मृद्घटौ भिन्नौ अभिन्नसत्ताकौ चेति प्रयोगः स्यात् , संसर्गमर्यादया भानाद्यदि न तथा प्रयोगस्तदा मृद्घटावभिन्नाविति प्रयोगो न स्यात् । किंच तादात्म्यम् हि तत्स्वरूपकत्वम् , तत्स्वरूपकत्वं च तत्स्वरूपाभिन्नत्वम् , इदं कथं भेदाभिन्नसत्ताकत्वघटितशरीरं स्यात् ? यदि तादात्म्यशब्दो रुढ इत्युच्यते एवमपि घट इति प्रयोगो न स्यात् ; सूत्रस्वरूपं यस्येति हि तदर्थः । किञ्च संघीभवन्ति ब्राह्मणा इत्यत्रव पटीयन्तीति संपद्यकर्तरिच्विर्न

स्यात् , जायमानात् पटाद्भिन्नतया सम्पद्यकर्तृत्वासम्भवात् । कार्यकारणयोर्भेदे अवयविभंगेत्वयोक्तो गुरुत्वाधिक्यप्रसङ्गोऽवर्जनीयः ।

अपि च असत उत्पत्त्यसम्भवात् घटस्य सूक्ष्मरूपेणावस्थानं कार्यस्य त्वयोच्यते, तत्राजातस्य सूक्ष्मरूपस्य जातस्य घटस्य चाभेदः कथमुपपद्यते ? नचात्रापि भेद एव, असत उत्पत्ति प्रसङ्गात् , सूक्ष्मरूपकल्पनावैयर्थ्याच्च । तथा च पिण्डरूपेण प्रागवस्थानम् पश्चात् घटरूपेणोत्पत्तिरित्येव वक्तुमुचितम् ।

किञ्च । मृत्पिण्डो घट आसीदिति प्रतीतिर्न स्यात् । "पुनरावृत्तः स्वर्णं पिण्डः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवत" इति च भाष्यम् । पिण्डरूपकार्यं घटरूपकार्याद्भिन्नमेव हि मतम् । न च तत्र तादात्म्यसम्भवः, तत्राभिन्नसत्ताकत्वासिद्धेः, सा च पिण्डाभावेऽपि घट इत्यनुभवात् घटाभावेऽपि पिण्ड इत्यनुभवाच्च भिन्नैव सिद्धा । किंच द्रव्यं घट इत्यत्र द्रव्याभिन्नसत्ताकत्वम् रूपी घट इत्यत्र रूप्यभिन्नसत्ताकत्वं च विषय इति स्यात् , ततश्च घटे द्रव्यत्वरूपे न स्याताम्। किंच—'यवमयश्चरुर्भवती' त्यादौ विकारार्थप्रत्ययानुपपत्तिः, यवस्य चर्वपेक्षया भिन्नसत्ताकत्वात् अवघातादिना यवनाशेऽपि चरुप्रतीतेः । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया एकस्य कारणस्य स्वरूपे ज्ञाते कार्यस्य सर्वस्य स्वरूप ज्ञातं स्वरूप स्यैकत्वात् , स्वरूपं चाधिष्ठानसत्तेति ह्यर्थस्त्वयोच्यते, तथा च "मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातंस्या" दित्यसङ्गतम् , पिण्डघटयोरभिन्नसत्ताकत्वाभावात् । एवं "सदेव सोम्येदमग्र आसी" दित्यनुपपन्नम् , एकया हि सत्तया उभयोस्तुल्यः सम्बन्धो वाच्यः, अस्य हि सर्वस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वं सम्बन्धः, ब्रह्म तु नाध्यस्तम् , अतो 'बहुस्यां प्रजायेय' 'सच्च त्यच्चाभव' दित्यादि बहुसामञ्जस्यम् । सदेवेति सच्छब्देन प्रकृतिविवक्षायामपसिद्धान्तः; ईक्षणश्रुतीक्षत्यधिकरणव्याघातः , अद्वितीयान्वयानुपपत्तिश्च ।

यत्तु सन् घट इत्यदौ सद्रूपाधिष्ठानसद्भेदाभाव एव विषय इति । तन्न, मृद्घट इत्यादावभिन्नसत्ताकस्यैव विषयत्वोक्तेरननुगमात् । न च सर्वत्र तत्प्रतियोगिकसद्भेदाभाव एव तादात्म्यं विषय इति वाच्यम् , सद्भेद इति भेदस्य पारमार्थिकत्वविवक्षायां दण्डघटयोरपि तादात्म्यप्रसङ्गः , व्यावहारिकत्वविवक्षायां मृद्घटयोरपि भेदस्य व्यावहारिकत्वेन तत्रापि तादात्म्याभावप्रसङ्गात् । सद्भेदाभावशब्देन सत्तावच्छेदकभेदाभावविवक्षायां भेदत्वाविशेषेण सर्वस्यापि भेदस्य सत्तावच्छेदकत्वात मृद्घटयोस्तादात्म्यं न स्यात् ।

किंच-किमिदमभिन्नसत्ताकत्वम ? उभयोरेकसदध्यस्तत्वञ्चेत , घट पटयोरपि तादात्म्यप्रसङ्गः ; प्रपंचब्रह्मणोः तदभावप्रसङ्गश्च । घटेनाकाशवत् एकेन भिन्ने सदेशे इतरस्याध्यासश्चेदुभयाधिष्ठाने औपाधिकभेदस्याप्यभाव इति पर्यवसितम् । ततश्च रूपस्पर्शयोस्तादात्म्यप्रसङ्गः, घटसत्ताया एव रूपस्पर्शाधिष्ठानत्वात् , एकरज्वारोपितयोः सर्पभूदलनयोस्तादात्म्यप्रसङ्गश्च । अन्यतराधिष्ठानतावच्छिन्नाधिकरणसताकत्वमितराधिष्ठानतायाश्चेत् , अवच्छेदकत्वस्यानतिरिक्तवृत्तित्वरूपत्वे रूपस्पर्शयोस्तादात्म्यप्रसङ्ग एव । अवच्छेदकत्वं सम्बन्धविशेषश्चेत्किमेतावद्दूरधा-

वनेन ? सम्बन्धविशेषः तादात्म्यमिति सुवचत्वात् । किंच इदं सामानाधिकरण्यनिबन्धनमिति कुत्र दृष्टम् ? इदं रजतमित्यत्रेति चेत् , इदानीं प्रपंचमिथ्यात्वस्य विप्रतिपन्नतया तत्र सार्त्ताधिष्ठानकत्वासिद्धेः । सामानाधिकरण्यप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या कल्पने अयं घट इत्यत्रैवाभेद एव कल्प्येत, तस्यैवोपपादकत्वात् , अन्यत्रोपपादकत्वेनाक्लृप्तस्यापि कल्पने इदमेव कुतः कल्प्यते ? संप्रतिपन्नमयुतसिद्धत्वमेव तादात्म्यमिति कुतो न कल्प्यते ? तत्सम्बन्धिन्याभेदप्रवेशादिति चेत् , साक्षात्स्वरूपे भेदप्रवेशान्नेदमर्हम । अभिन्नसत्ताकत्वमेव तादात्म्यं चेत् , इतोऽप्यन्यत्र क्लृप्त स्वरूपाभेदभेदाविशेषात् क्लृप्तत्वात् घटकलशसामानाधिकरण्यप्रसङ्गाच्चायुतसिद्धेरेव तादात्म्यरूपत्वं कल्पयितुमुचितम् । अकल्पनमेव वा । कथं तर्हि मृद्घटः नीलो घट इति सामानाधिकरण्यम् ? अयम् घट इत्यत्र कथम् सामानाधिकरण्यम् ? अभेदादिति चेत् , कथमिह तन्न स्यात् ? बाधादिति चेत् , कथं तर्हि अग्निर्माणवक इति ? उपचारादितिचेदिहापि तथास्तु ।

ननु प्रतीतौ कथमुपचारः ? तस्य शब्दधर्मत्वादिति चेन्न , सामानाधिकरण्यमपि शब्द धर्म एवेति कथमुपचारो न तस्योपपादकः ? अस्तु वा सामानाधिकरण्यप्रतीतिधर्मोऽपि , तच्चाभेदगोचरत्वान्नातिरिच्यते; ततश्चाभेदस्यैव प्रतीतेः कथं भेदः ? युक्तित इति चेत् , तर्ह्यभेदप्रतीतिभ्रम इति किन्तदुपपादनाय शशविषाणकल्पनतया ? श्रुतिरपि मुख्यार्थासम्भवे तत्त्वमसिवल्लक्षणया नेतव्या ।

ननु मृद्घट इति तावत् समानाधिकरणप्रयोगो दृश्यते; अयं च प्रयोगोऽर्थविशेषप्रतीत्या विना नोपपद्यते, अतः प्रयोगनिमित्तज्ञानस्य विषये निरुपिते मृद्घटयोः कार्यकारणयोरभेदासम्भवात् , अभेदं विना सामानाधिकरण्यायोगात् , घटकलशयोरिवापर्यायत्वाच्च भिन्नत्वे सत्यभिन्न सत्ताकत्वं विषय इति कल्प्यत इति चेन्न, अन्यत्र क्लृप्ताभेदभ्रमस्यैव सामानाधिकरण्यनिमित्तत्वकल्पनौचित्यात् ; मृद्घटयोर्भेदादपर्यायत्वम । किञ्च-तयोरभेदगोचरायाः प्रतीतेरन्यविषयत्व कल्पनादपि निर्विषयत्वकल्पनमेववरम । किंच कार्यकारणयोरभेदप्रतीतिरस्तावद्दुरपह्नवा, "यथा सोम्ये" ति वाक्येनापि दृढीकृता , अतोऽभेदस्य दुरपह्नवत्वात् कार्यत्वमनिर्वचनीयत्वादुपपादय , किमनया अभेदप्रत्यक्षापह्नवसामानाधिकरण्यनिर्वाहकखपुष्पकल्पनावैयाकुल्या , अवस्थाया एव कार्यत्वं द्रव्ये कार्यत्वव्यपदेश औपचारिकः, कादाचित्कावस्थायोग एव कार्यत्वमिति वा कल्पय । एतेन पृथक् सत्ताशून्यत्वं तादात्म्यमिति निरस्तम् ; तस्यापृथक्सत्ताकत्व एव पर्यवसानात् ; सत्ताशून्यत्वस्य दण्डघटादिसाधारणत्वात् , ब्रह्मण्यभावात पृथक् पदवैयर्थ्यात् । सत्तावच्छेदकभेदशून्यत्वं तादात्म्यमित्यपि न, अवच्छेदकत्वं यदि तदध्यस्तत्वम , तदा सत्तावच्छेदकेति व्यर्थम । भेदाभावे कार्यत्वानुपपत्तिश्च त्वयैवोक्ता भेदस्य सत्ताभेदकत्वाभावविवक्षायां भेदे वैषम्याभावाद्विशेषणवैयर्थ्यात् । भेदो हि सत्ताभेदकताप्रयोजकः, यथा दण्डघटयोः स्वयम् भिन्नत्वात् सत्ता भिन्ना, मृद्घटभेदस्तु मृद्घटयोर्न सत्ताभेदकताप्रयोजकः, अतस्सत्तावच्छेदकभेदशून्यत्वम् तादात्म्यमिति चेत् ? भेदत्वाविशेषे कथमिदं वैषम्यम , वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् ।

ननु भिन्नाविमाविति दण्डघटयोः प्रत्यक्षेण भेदो गृह्यते, मृद्घटयोस्तु नैवम्, किन्त्व नुमीयते- इति वैषम्यान्मृद्घटयोर्भेदो न सत्तावच्छेदक इति चेन्न,--परोक्षत्वापरोक्षत्ववैषम्यस्यापि वैपरीत्यप्रयोजकत्वशङ्काया निवारकाभावात्। एतेन सत्तानवच्छेदकभेदवत्त्वमित्यपि निरस्तम्। किंच अभिन्नसत्ताकत्वमित्यत्र सत्तया कः सम्बन्धो विवक्षितः? नतावत्तादात्म्यमेव, आत्माश्रयात्। नापि तत्सत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वम् सम्बन्धः। सर्वस्यापि सत्तासम्बन्धराहित्येनातिप्रसङ्गात्। घटादेर्मृत्सत्तातिरिक्तवाय्वाद्यवच्छिन्नसत्तासंयोगित्वाद्द्रव्येष्वव्याप्ते। अस्य सम्बन्धत्वासम्भवाच्च। न हि जलगतशैत्यातिरिक्तशैत्यराहित्याद्वह्नौ शैत्यविशिष्टप्रत्ययः। नापि संयोगः अद्रव्येष्वसम्भवात्। न च सत्तासम्बन्धस्सत्ताप्रतियोगिक भेदाभावः, मिथ्यात्वेन प्रपञ्चस्य सत्तया भिन्नत्वात्। न च पारमार्थिकभेदाभावः, पारमार्थिकभेदस्याप्रसिद्धेः। नच ब्रह्मैव तादृशोभेदः प्रपंचेन सम्बन्धस्यानिरूपणात्, निरधिकरणत्वाच्चातिप्रसङ्गतादवस्थ्यात्। नाप्यधिष्ठानाध्यस्यमानभावः सम्बन्धः, तस्य सन् घट इति प्रतीतिविषयत्वासम्भवात्। अध्यस्यमानत्वञ्च तदभेदेनोत्पन्नत्वम् तदभेदेन प्रतीयमानत्वम् वा न सम्भवति; अभेदासम्भवात् प्रतीति विषयत्वाभावाच्च। न च सत्तावच्छेदकत्वम् सम्बन्धः सम्बन्धमन्तरेणावच्छेदकत्वासम्भवात्, तस्य प्रतीतिविषयत्वासम्भवाच्च। अनिर्वचनीयः कश्चिद्धर्मस्तादात्म्यमित्यपि न, तस्याभेदादन्यत्वे सामानाधिकरण्यनिमित्तत्वाभावात्। अनन्यत्वे तद्व्या[प्य]प्तत्वे च भेदे विद्यमाने तद्योगात्, उभयोस्तुल्यसत्ताकत्वात्।

नन्वभेदः प्रातिभासिकः; यौक्तिको भेदो व्यावहारिक इति चेन्न, "यथा सोम्येति" श्रुतिविरोधात्। न हि प्रातिभासिकाभेदमात्रेण ततो भिन्नस्य तज्ज्ञानेन ज्ञातता सम्भवति। यश्च ब्रह्माभेदः सन् घट इति प्रतीतिसिद्ध इति, तन्न, घटादेरेव सत्त्वात्, अन्यथा तस्याः प्रतीतेर्भ्रमत्वप्रसङ्गात्। किन्तर्हि सत्त्वम? अस्तिनास्त्योः परस्परप्रतिक्षेपकता तावत् सर्वलोकविदिता, नास्तीति चेह नास्तीति इदानीं नास्तीत्यधिकरणसापेक्षमभावप्रतियोगित्वं प्रतीयते, यथा चाधिकरणविशेषाप्रयोगः तत्रापि विवक्षित एव सः, प्रकरणादिना तन्निर्धारणम्, योऽपि समवायो नास्तीत्यादिप्रयोगस्सोऽपि सर्वदेशसर्वकालाभावप्रतियोगित्वगोचरः, न च तादृशाभावाप्रसिद्धिः, अभावे एकत्वस्याविवक्षितत्वात्तत्र तत्र प्रसिद्धा एवाभावा विवक्षिताः, संयोगादतिरिक्ते प्रसिद्धे उक्तमभावप्रतियोगित्वमारोप्यते, अनारोपमूलकसमवायनिषेधस्तु संयोगादतिरिक्तः प्रतियोग्यतिरिक्त सम्बन्धो न भवतीत्यादिरूपः एवं चेह घटो नास्तीत्येतत्प्रतिक्षेपकतया इह घटोऽस्तीत्यस्य एतद्देशीयाभावप्रतियोगित्वाभावो विषयः इदं वस्तुस्वरूपमस्तीत्यादेः सर्वकालदेशाभावप्रतियोगित्वप्रतिक्षेपात्मकत्वात्तादृशाभावप्रतियोगित्वाभावो विषय इति। यद्वा अस्तीति स्वार्थिकप्रत्ययवदनतिरिक्तार्थः, अतएव ह्यात्मभरणवचनत्वमुच्यते, आत्मशब्दः स्वरूपवचनः; तिङन्तस्य साध्यरूपेण प्रत्यायकत्वमर्यादानुसारेण भरणशब्दप्रयोगश्च अनतिरिक्तार्थत्वेऽपि कारकपदानां क्रियापदेन विना बोधकत्वाभावात्। कालान्वयार्थञ्च इह घटस्सन्नित्यत्र सन्निति प्रयोगस्तु इह घट

इत्येतावन्मात्रोक्तौ उत्पत्तिविनाशादिसाधारणतया तदाकांक्षानिवृत्तये । क्रियान्तराप्रयोगादेव तदाकांक्षा निवर्तेत इति चेत् ? सत्यम् , अतएव हि क्वचिदिह घट प्रत्येतावन्मात्रं प्रयुज्यते । प्रकारस्य प्रकारान्तरादूषकत्वादयमपि प्रयोगो युज्यत एव । न तु सत्त्वप्रतीत्यर्थोऽयमस्तेः प्रयोगः , देवदत्तो भुङ्क्ते यज्ञदत्तः पचति विष्णुमित्रो गच्छतीत्यादौ अस्तेरप्रयोगात् । तत्राप्रयोगो हि क्रियापदान्तर सत्त्वेन वाक्यस्यान्वयबोधसामर्थ्यात् । सान्नति प्रयोगः कालार्थश्च । यद्वा प्रामाणिकत्वं सत्त्वम् , तच्च प्रमाविषयत्वम् , स च प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वात् परोक्षापरोक्षसर्वप्रमाणगोचरः ; अतएव घटज्ञानमात्रात् ज्ञानान्तरमनपेक्ष्य घटोऽस्तीति प्रयोगः । सत्त्वस्य सर्वज्ञानगोचरत्वात् । अस्तेः प्रयोगः पूर्ववत् क्वचिद्वाक्यसिद्धये क्वचिद्विप्रतिपत्तौ साधनप्रतिज्ञार्थम् ; अथ वा बाधायोग्यत्वं सत्त्वम् । न च लाघवानुगृहीतप्रत्यक्षानुभवेनात्ममात्रस्यैव सत्त्वम् , अनन्तरपदार्थानां बाधितत्वकल्पने गौरवात् , सर्वप्रतीत्यप्रामाण्यकल्पनानुपपत्तेश्च । 'नचाबाधितत्वं ब्रह्मणि प्रत्यक्षं विषयीकर्तुं शक्नोति । ब्रह्मस्फुरणस्य प्रकाशमात्रत्वात् , तेन बाधायोग्यत्वप्रकाशासम्भवाद्द्वैतश्रुतिरीश्वरद्वित्वनिषेधादिपरा ।

एतेन विवर्तोपादानत्वव्याघातप्रदर्शनेन श्रुतिव्याघातोऽपि दर्शितः । सद्विद्यया तावद्विवर्तपक्षो व्यवह्रन्यते, स्तब्धोसीत्यनेन आदेशमप्राक्षयः । येनाश्रुत मित्यादिप्रतिपन्नानामत्तोपादानत्वविशिष्टज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं प्रतिपन्नम् । अतस्त विरुद्ध विवर्तवादः । आदेशशब्दस्य नियन्तृपरत्वमाचार्यैरेव उपपादितम् ।

एवं "येनाश्रुत" मित्यनेनापि व्याघातः प्रपञ्चब्रह्मणोस्सत्यमिथ्यावस्तुनोरत्यन्तविलक्षणतया अन्यतरज्ञानेनान्यतरस्य ज्ञातत्वासम्भवात् । अधिष्ठानज्ञानेनाध्यस्तं ज्ञातं भवतीति यद्युच्येत तदा भ्रान्त्यभ्रान्त्योस्सङ्करप्रसङ्गः , शुक्तिज्ञानस्यैव रजतज्ञानत्वप्रसङ्गात् । नन्वज्ञातस्य स्वरूपं ज्ञातं भवतीत्यर्थः , मिथ्याभूतस्याधिष्ठानातिरेकेण स्वरूपाभावादधिष्ठानमेव तस्य स्वरूपमिति चेत् ? किमयं स्वरूपशब्दो लोकव्युत्पन्न एव, उत त्वया परिभाषितः ? नाद्यः , घटस्वरूपमित्यत्र स्वरूपशब्दस्य घटाथकत्वेनैव व्युत्पत्तेः, इहापि तथैव विवक्षापि ज्ञातत्वासम्भवरूपदोषतादवस्थ्यात् । न द्वितीयः, अश्रुतशब्देन पारिभाषिकस्वरूप शब्दार्थोपस्थापने लक्षणाप्रसङ्गात् ।

" कथन्नुभगव इत्य " नेनापि व्याघातः , विवर्तपक्षे शङ्कानुदयात् । एवम् दृष्टान्तवैयर्थ्यञ्च , मृज्ज्ञानेन सर्वस्य ज्ञातता हि तत्र प्रतिपाद्यते, तच्च कार्यकारणयोरभेद एवं युज्यते, न तु कार्यस्य मिथ्यात्वे ।

एवमन्यज्ञानेनान्यस्य ज्ञातता कथं भवति ? कार्यञ्च भिन्नमेव; पृथुबुध्नोदराकाररूपरूपभेदात् नामभेदाच्चेति नैयायिकाशङ्कानिरासार्थंन 'वाचारम्भण' मित्यनेनापि व्याघातः । तत्र "वाचारम्भणं मृत्तिकेत्येव सत्य" मिति कार्यमिथ्यात्वं कारणसत्यत्वं च प्रतिपाद्यत इति चेत् ? किमिदं कारणसत्यत्वम् । पारमार्थिकत्वे अद्वैतहानिः , व्यावहारिकत्वे कार्यस्य मिथ्यात्वं यदि व्यावहारिकत्वेन मिथ्यात्वं तदाप्ययमेव दोषः, कार्यस्यैव मिथ्यात्वस्य वाच्यत्वात् नामधेयग्रहणवैयर्थ्यञ्च । 'मृत्तिकैव सत्ये' ति वाच्या इति कारणवैयर्थ्यञ्च । सिद्धान्ते तु वाचा वागार्थम् ;

अध्ययनेन वसतीतिवत् प्रयोजनस्यहेतुतया निर्देशः; इदमुपलक्षणम्—रूपस्यापि ग्रहणात् , वागर्थ ज्ञानाद्यर्थक , विकारः—अवस्था , नामधेयंच आरभ्यते—स्पृश्यते । हेतुमाहमृत्तिकेति , या सा मया पूर्वाह्णे मृत्तिका दृष्टा सैवेदानीं घट आसीदित्यबाधितप्रत्यभिज्ञानान्न द्रव्यस्य भेद इति भावः।

एतेनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्यापि मिथ्यात्वात् ब्रह्मव्यतिरेकेण ज्ञातव्यान्तरं नास्तीत्यत्र तात्पर्यम् , अतएव हि वाचारम्भणमिति दृष्टान्ते सर्वस्य मिथ्यात्वेन ज्ञातता प्रतिपाद्यते इति निरस्तम् । किञ्च यदि ब्रह्मणि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीत्युच्येत, तदा सर्वशब्दस्याशेषपरत्वमङ्गीकृत्य ब्रह्मणि ज्ञाते ज्ञातव्यमशेषं ज्ञातं भवति, इतरस्य मिथ्यात्वेना ज्ञातव्यत्वादिति वक्तुम् शक्येतापि, नचैवं श्रूयत, अपित्वश्रुतं श्रुतं भवतीति । तत्र ब्रह्मणि श्रुते पूर्वमश्रुतम् तदेव ब्रह्म श्रुतम् भवतीत्य वक्तव्यतया अन्यच्छ्रुतं भवतीत्यर्थः प्रतीयते ।

ननु दृष्टान्ते "सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्या" दित्युक्तेः दार्ष्टान्तिके तद्विवक्षितमेवेति चेन्न, दृष्टान्तबलात् सर्वत्वलाभे तत्समानार्थत्वाय तद्वत् कृत्स्नस्य तत्कार्यतया तदभिन्नत्वेन ज्ञाततैव विवक्षणीया, न तु कृत्स्नस्याज्ञातव्यता । दृष्टान्ते हि सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यादित्युच्यते , न हि तत्र कृत्स्नस्य मृण्मयस्याज्ञातत्वं मृत्पिण्डस्य ज्ञातव्यत्वं च विवक्ष्यते ।

एतेन दार्ष्टान्तिक एवासङ्कोचात् सर्वत्वलाभ इति निरस्तम् , तल्लाभेऽपि दृष्टान्तवघटयेन इतरज्ञातव्यत्वविवक्षाया असम्भवादेव । तदसम्भवश्च , जलाहरणाद्युद्देश्यसिद्ध्ये घटस्यैव ज्ञातव्यत्वात् । तदर्थमेव हि मृत्पिण्डस्य ज्ञातव्यता ।

एवम् "सदेव सोम्येदमग्र आसी" दित्यत्र विवर्तपक्षे इदङ्ग्रहणवैयर्थ्यम् । स्वरूपोपादानत्वपक्षे 'अग्रे सदेवासीत् तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' इत्येव पर्याप्तेः । सिद्धान्ते तु इद ग्रहणाभावे ब्रह्ममात्रस्य पूर्वमवस्थानोक्तौ तस्यैव बहुभवनाभिधाने स्वरूपोपादानत्वशङ्का स्यादिति इस्यैव सूक्ष्मरूपेणावस्थानमुच्यते 'इदं सदासी' दिति ; ईक्षणसहकारादनेन विशिष्टोपादानसिद्धिः । किञ्च नहीदं सदिति सत्यमिथ्यावस्तुनोस्सामानाधिकरण्यव्यपदेशस्सम्भवति । नहि रजतं शुक्तिरासीदिति व्यपदिशन्ति । व्यपदिशन्ति हृदि रजतमिति इति चेत ? किन्ततः ? स व्यपदेशो भ्रान्तिमूलः । तदभावे च कथं श्रौतो व्यपदेशः । सदेवासीदिदं नासीदित्युक्तावध्याहारः । वृद्धिमिच्छतो मूलतो हानिश्च, उपादानत्वप्रतीतेर्हि मिथ्यात्वं सिसाधयिषितम् , सैवासिद्धा, नहि गेहे देवदत्त एवासीन्नान्य इत्युक्ते देवदत्त इतरेषामुपादानमिति प्रतीयते । अथ घटः पूर्वं मृण्मात्रमासीदितिवदिदमग्रे सन्मात्रमासीदित्युक्तौ हि उपादानत्वम् सिध्येत् । तथोक्तो चानेन वाक्येन सजातीयविजातीयस्वगतभेदनिषेधात् प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरित्येतत् व्याहन्यते । सजातीयादिविशेषशून्यम् यदस्ति तदासीदित्युक्तौ न दोष इति चेन्न,—पूर्वं कार्याभावमात्रप्रतिपादनस्यैव कारणत्वप्रतिपादनोपयोगितया मिथ्यात्वप्रतिपादनस्यानुपयोगात् ।

एवम् "तद्धैक आहु" रित्यादिना कार्यस्य प्रलयकालेऽपि सत्त्वप्रतिपादनेन तार्किकमतनिराकरणेनापि व्याघातः । न च तद्वाक्यं शून्यवादिनिराकरणार्थमिति वक्तुम् शक्यम् ,

सर्वदा शून्यत्ववादिभिरग्र इति विशेषानभिधानात् , जायत इत्यनभिधानाच्च । अतोऽनुवादस्याग्रमर्थः-इदं प्रलयकाले अविद्यमानमेवासीत् , कथं तर्हि सर्गसम्भव इत्याशंक्य कर्तृसद्भावमाह एकमेवेति, एकशब्दः प्रधानपरः, ईश्वरो विवक्षितः, घटादिरूपकार्य इव कर्तापेक्षितः, न च जीवस्य तदानीं करणकलेवरादिविधुरस्य कर्तृत्वमुपपद्यते । ततस्तद्वैधुर्यात् कथं सर्ग इत्यत्राह अद्वितीयमिति; कर्त्रन्तरनिरपेक्षमित्यर्थः । कार्यत्वं हि सकर्तृकत्वेन व्याप्तं, न तु द्विकर्तृकत्वेनाप्रयोजकत्वात् , क्वचिद्बहुकर्तृकत्वदर्शनात्तत्प्रसङ्गाच्चेति भावः , सहकार्यपेक्षायामाह असत इति । तस्मादेकशब्दोदितादीश्वरादसतः प्रागभावाच्चेत्यर्थः , कार्योत्पत्तिक्षणे अविद्यमानात् हेतुत्वमात्रविवक्षया पञ्चमी ; उत्तरस्यायं भावः । कथमिति मृदादेर्विकारादिस्पर्शमात्रदर्शनात् कार्यद्रव्यस्य कारणाभेदात् प्रागभावासिद्धेश्चेति ।

एवम् "बहुस्यां प्रजायेये" ति व्याघातः, अभेदानुपपत्तेरेव । प्रजायेयेति च व्यर्थम् । सिद्धान्ते तु स्वस्य बहुभावसिद्धिद्वारा सर्गसङ्कल्प उच्यते 'प्रजाये' येति , प्रजनयेयेत्यर्थः । 'तत्तेजोऽभव' दिति वक्तव्ये 'तत्तेजो सृजते' त्यस्वरसम् । सिद्धान्ते तु द्वारसर्गोऽभिधीयते-स्वरूपाभेदभ्रमव्यावृत्तये । एवम ब्रह्मोपादानत्वस्य विशेषणस्य चाभ्यासाद्विशिष्टोपादानत्वतात्पर्यं स्पष्टम् । अपागादग्नेरग्नित्वमित्यादिना कार्यमिथ्यात्वं प्रतीयत इति चेन्न ,--अग्निस्वरूपभङ्गं कृत्याग्नित्वस्यैव निरासात् । तस्मादवयविनिराकरणमिह क्रियते , समुदायातिरेकेणावयविनोऽभावादग्नित्वजातिदूरोत्सारितेत्यर्थः ।

" ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे " त्यनेनापि व्याघातः । कथमैतदात्म्यम् । चेतनाचेतनगतदोषस्य ब्रह्मण्यपि प्रसङ्गादित्यत्राह 'तत्सत्य' मिति । तत्र हेतुः ' स आत्मे ' ति , शरीरीत्यर्थः । समभिव्याहारविशेषविधुरस्यात्मशब्दस्य शरीरप्रतिसम्बन्धिन्येव स्वारस्यात् । एवं "तत्त्वमसी" त्यनेनापि व्याघातः ; शरीरित्वेन विशिष्टोपादानत्वमुपपाद्य कार्यविशेषे तदुपसंहारात् । एवम् "ब्रह्मवा इद' मित्यादिश्रुत्यन्तरैरपि व्याघातः ।

सद्विद्यामहावाक्यतात्पर्येणापि व्याहन्यते विवर्तवादः । तथाहि--पुत्रानुकम्पया तस्य मोक्षसाधनज्ञानमुत्पिपादयिषुर्निमित्तोपादानत्वविशिष्टब्रह्मज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वम्मन्वानस्तदुपदेशायोद्युक्तोऽर्थगौरवमनुसन्धाय जिज्ञासामुखेनेममर्थमुपदेष्टुम् तस्य जिज्ञासोत्पादनाय एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपक्षिप्य तस्य जिज्ञासामुत्पाद्यतेन पृष्टस्सन् 'सदेवे' त्यारभ्य षड्भिः खण्डैः कारणत्वमुपदिदेश । पुत्रोऽपि जिज्ञासितमर्थं ज्ञातवान् । पुनर्ज्ञातव्यान्तराभावात् । "तद्धास्य विजज्ञाविति विजिज्ञावि" त्युपसंहृतम् । जिज्ञासानिवृत्तेश्च श्वेतकेतुः पुनर्न पप्रच्छ । अतो; निमित्तोपादानत्वविशिष्टब्रह्मज्ञानस्य मोक्षसाधनतया महावाक्यतात्पर्यविषयत्वात् ; तद्विरुद्धो विवर्तवादः । उत्तरखण्डानां किं प्रयोजनमिति चेत् ? उक्तार्थस्थिरीकरणमिति ब्रूमः । शिष्यस्य जिज्ञासाविरहेऽपि स्वोत्पादितं ज्ञानं दृढीकर्तुं आचार्यः शिष्यानुकम्पया उक्तमेवार्थं दृष्टान्तादिभिरुपपाद्य उपसञ्जहार । तत्रचेतनोपादानत्वम् सद्वारकत्वञ्च दृढयति; " स्वप्नान्त " मिति । चेतनस्य सुषुप्तौ

लयोपपादनास्तस्य प्रलयोत्पत्तिसम्भव उक्त इति चेतनानुपादानत्वशङ्काव्यावृत्तिमुखे कारण वाक्ये 'इद' मिति चेतनोऽपि संगृहीत इत्युक्तं भवति । स च लयः सद्द्वारकावस्थाप्रहाणमेव ; न तु द्रव्यत्वरूपनाश इत्यभिप्रायेणाह "यथाशकुनि" रिति । बन्धनं सूत्रबन्धनशाखा , मनो-जीवः ; प्राणः-परमात्मा । शकुनिर्निर्व्यापारतया बन्धनं प्राप्य यथा तिष्ठति तथा जीवः स्वव्यापारभूत-ज्ञानविकासावस्थां विहाय परमात्मानं प्राप्य तिष्ठतीत्यर्थः । चेतनोपादानत्वमेव प्रकारान्तरेणोप-पादयति ; "अशनाये" ति शरीरस्य सृष्टिवाक्योक्तभूतत्रयात्मकत्वम् युक्त्या प्रसाध्य; तद्विशिष्ट-चेतनोपादानत्वमिह प्रतिपाद्यते । "सदायतना" इति स्थितिरुक्ता; 'सत्प्रतिष्ठा' इति लयः । प्रागुक्त शरीरस्य भूतत्रयात्मकत्वम् स्मारयति 'यथातिव' ति । त्रिवृत्करणार्थं भागत्रयसम्भावनार्थमन्नमशि तमित्यादिनोक्तमिह स्मारितम् । सुषुप्तिवल्लयान्तरमप्याह 'अस्य सोम्ये' ति । तेजः शब्दो जीव परः; स्वप्रकाशत्वात्प्रकाशवत्वाच्च । 'स य' इति । 'सदेवे' त्यत्र यत्सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं वस्तूक्तम् तदेवेदानीं सुषुप्तौ लयस्थानत्वेनोक्तमित्यर्थः । सद्द्वारकत्वस्पष्टयार्थमाह 'एतदात्म्य' मिति । एष आत्मा यस्य तदैतदात्म्यम् ; स्वार्थे ष्यञ् । दोषान्वयप्रसङ्गादिदमनुपपन्नमित्याशङ्क्य स्वरूपा—भेदो न विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह 'तत्सत्य' मिति । हेतु माह 'स आत्मे' ति । उक्तमुपादानत्वं विशेषे उपसंहरति; 'तत्त्वमसी' ति । उक्तं सद्द्वारकावस्थाश्रयत्वेनोपादानत्वं नवकृत्योऽभ्यस्य दृढी क्रियते । यदि सम्पत्तिमात्र लयः कथं सुप्ता न जानीयुः, शकुनिर्हि जानातीत्यभिप्रायेणाह 'भूय' इति । सुषुप्तिदशायां शरीरविशिष्टस्य न लयः, किन्तुज्ञान विकासावस्थाविशिष्टस्यैवेत्यभिप्रायेणाह 'त इहे' ति । शकुनेर्बन्धनादागतस्य तज्ज्ञानदर्शनात् तद्वदिहापिज्ञानं स्यादिति शङ्कापि दृष्टान्तेन परिहार्येत्यभिप्रायेणाह 'भूय' इति । ' समुद्रा ' दिति । मेघैः समुद्रादप उद्धृत्य वर्षणाद्धि नद्यः प्रवहन्तीति भावः । इयं समुद्रादागता उत्थाने न शरीरसृष्टिरित्यभिप्रायेणाह ' त इहे' ति । नदीदृष्टान्तेन स्वरूपविकारः प्रतीयत इत्यभिप्रायेणाह 'भूय' इति । नन्वणिम्नः कथं महत्त्वम ; अतः कार्यं द्रव्यान्तरमेव , तच्च पूर्वमेव कारणे वर्तते सामग्र्या तदभिव्यज्यते, इति ह्येक आहु रित्यभिप्रायेणाह 'भूय' इति । यदि पूर्वमेव कारणे कार्यं स्यात् तदा तत्तत्रोपलभ्येत , नचाभि-व्यञ्जकाभावादनभिव्यक्तिः, सामग्र्या व्यञ्जकत्वे तद्विरहे कार्याप्रतीतिप्रसङ्गात् , तस्मादणवेवावय-वान्तरैः सह पृथुकार्यतां भजत इत्यर्थः । यदि परमात्मा कार्यकारणान्तर्गतः , स कथं नोपल-भ्यत इत्यत्राह 'भूय' इति । लवणवत् परमात्मग्रहणे उपायान्तरम ब्रूहीत्याह 'भूय' इति पूर्वो क्तवाञ्ञनस्संपत्तिकालोपपादनाभिप्रायेणाह 'भूय' इति उक्तार्थस्य सत्यतोपपादनाभिप्रायेणाह 'भूय इति । सर्वेषां प्रश्नानां मदीयप्रश्नमनपेक्ष्य स्वप्नान्तरवद्वक्तव्यम् स्वयमेव ब्रूहीति वाभिप्रायः । 'यथा तत्र न दह्यते' ति । येन सत्येन न दह्यते तथैव सत्यमिदम् विशिष्टोपादानत्वं , अतस्त प्तपरशुग्रहणेनापीममर्थं साधयामीत्यभिप्रायः । एवम् निमित्तत्व विशिष्टोपादानत्वयोरेव सद्विद्या-तात्पर्यावगमात् तद्विरुद्धो विवर्तवादः इति ।

एवम् सूत्रव्याघातोऽपिः "तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इत्यनन्यत्व प्रतिपादनात् ।

तस्य ब्रह्मणः अन्यत्वं न विद्यते यस्मादन्यत्तदनन्यत् , तस्य भावः-अनन्यत्वमिति विवक्षायां हेत्व नन्वयः, नामरूपस्पर्शस्य हेतुत्वेनाभिधानात् । न च तस्य मिथ्यात्वे हेतुत्वसम्भवः । 'वाचारम्भण' मिति व्यावहारिकत्वमुक्तम् । तदेवात्र सूत्रे आरम्भणशब्दविवक्षितमिति चेन्न,-'वाचारम्भण' मित्यस्य एतदर्थपरत्वस्या 'रम्भणशब्दादित्य' इत्यनेनैव निरासात् । न हि वाचारम्भणशब्दादिभ्य इत्युक्तम् ।

एवम् श्रुतिव्याघातादेव माध्वाश्च ध्वस्ताः । अयम् हि माध्वानां अध्वा, जगन्निमित्तमेव ब्रह्म; नोपादानमपि, परिणामित्वम् ह्युपादानत्वम् ; तच्च निर्विकार त्वश्रुतिविरुद्धम् , न च चिदचिद्विशिष्टस्य जगदुपादानत्वं , विशिष्टस्य विशेषण विशेष्याभ्यामनन्यत्वेन विशेष्यस्योभयो र्वोपादानत्वविवक्षायामुक्त एव दोषः , विशेषणोपादानत्वोक्तिर्ब्रह्मणोनुपादानत्वपर्यवसायिनी ; तस्मान्निमित्तमेव ब्रह्मेति । श्रुत्यो विशिष्टोपादानत्वप्रतिपादनादेव ते निरस्ताः । मृद्रूपम कारणं त्रिवृत्कारणोपदेशात् भूतत्रयात्मकम , तथा तत एव घटोऽपि भूतत्रयात्मकः, ततश्च विशिष्टमेव कारणम् , विशिष्टमेव कार्यं, तत्राप्यंशभेदनिरूपणे कार्यगततत्तद्भूतांशे कारणगततत्तद्भूतांशः कारणम् ; एवमिहापि चिदचिद्ब्रह्मसंवलितं कारणं कार्यमपि , तथा अंशभेदनिरूपणे तत्तदंशे तत्तदंशः कारणम् । अचितः कार्यत्वमवस्थाद्वारकम् ; द्रव्यस्य नित्यत्वात् , चिद्ब्रह्मणोः कार्यत्वम् सद्वारकावस्थाद्वारकम । सम्भवति च द्वारस्याव्यवधायकत्वं, कारणत्ववत् । दृश्यते चाश्रयत्वेऽपि द्वारस्याव्यवधायकत्वम , खट्वायां शयितेऽपि प्रासादे शेत इत्यत्र , घटं वहत्यप्युदकं वहतीत्यत्र च । उदकानाश्रयत्वे हि घटवहनाच्छ्रमाधिक्यं नोपलभ्येत, गुरुद्रव्याश्रयतायाः श्रमहेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात् , ततोऽन्यस्य स जलकुम्भवहनस्यापि प्रयोजकत्वमनुपपन्नम । "कांटिन्यवान्यो बिभर्ती" त्यादिकमपि दृश्यते । नचैवं भूतलस्य घटगतरूपाश्रयत्वप्रसङ्गः; अपृथक्सिद्धस्यस्वापृथक्सिद्धम्प्रति पृथक्सिद्धस्यस्वपृथक् सिद्धं प्रति च द्वारत्वात् । ब्रह्मणि सद्वारकावस्थान्वये 'बहुस्या' मित्यादि प्रमाण सहस्रमुपलभ्यते । अन्यत्रादर्शनेऽपि श्रुतिबलादेव सद्वारकाश्रयत्वमङ्गीकर्तुं शक्यम , कि पुनस्तद्दर्शने । द्वारसापेक्षत्वाच्च न निर्विकारत्वश्रुतिविरोधः । निषेधो हि यथा प्रसक्ति, प्रसक्तिश्च यथान्यत्र दर्शनम् , अचेतने च विकारः साक्षादेव दृष्टः, तथैवेह प्रसक्तो निषिध्यते । यथा भूतले घटो नास्तीत्यत्र संयोगसम्बन्धेन प्रसक्तेः तथैव निषेधः , न सम्बन्धान्तरेण । नच साक्षात्वविवक्षायां लक्षणा; अधिकरणप्रतियोग्यभावपदेषु कस्यापि लक्षणाविरहात् । घटघटत्वयोः प्रतियोगित्वप्रयोगितावच्छेदकत्ववदवच्छेदकीभूतस्य संसर्गस्यापि वाक्येनैव भानात् । एवं चेतनगतदोषान्वयनिषेधेऽपि द्रष्टव्यम । एवञ्च श्रुतिसिद्धोपादानत्वनिरासे श्रुतिविद्वेष एव निमित्तम । श्रुति हृदयविसंवादार्थस्य श्रुत्यर्थतया कीर्तनादपि श्रुतिविद्वेषः सिद्धः । तथाहि-एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा सादृश्यप्राधान्यनिबन्धना, सादृश्यनि बन्धनत्वे दृष्टान्तत्रयं वाचारम्भणमित्युक्तम् , तद नुपपन्नम् । तज्ज्ञानस्य तत्सदृश ज्ञाने कथं हेतुत्वम ? सर्वेषां सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् तत्सदृशमिति ज्ञाने हेतुत्वं तु सर्वसाधारणत्वापन्नम् ब्रह्मासाधारणमिति तमप्रादयः येनाश्रुतमिति निर्देशानुपपत्तिः ।

दृष्टान्तवैघट्यम् च । दार्ष्टान्तिके हि प्रमेयत्वादिना यथाकथञ्चित्सदृशत्वेन ज्ञानम् विवक्षितम्, तत्र किमर्थम् तत्कार्यस्य दृष्टान्तत्रयोपादानम्, विशेषोपादानस्य प्रयोजनाभावात् । किञ्च सादृश्ये किमर्थो निर्बन्धः ? ततोऽपि तद्विसदृशत्वेन ज्ञातम् भवतीत्येव वक्तुम् युक्तम्, ब्रह्मापेक्षया कृत्स्नस्याप्यत्यन्तविसदृशत्वात्, तत्प्रतियोगित्वस्य कथञ्चिद्ब्रह्मासाधारण्यसम्भवात् । ततोऽपि तज्जन्यत्वेन ज्ञातम् भवतीत्येतद्वरम्, दृष्टान्तस्वारस्यात् । प्राधान्यात् ज्ञानमित्यनुपपन्नम् । इतरज्ज्ञातप्रायम्, तज्ज्ञानफलस्यैतज्ज्ञानेनैव सिद्धत्वादिति ह्यर्थः; तथा च लक्षणा 'वाचारम्भण' मित्यस्यादृष्टान्तत्वाच्च ।

ननु वाचा वागिन्द्रियेणारम्भणं—उत्पादनं यस्य सांकेतिकस्य भावशब्दस्य तन्नामधेयम् विकारः, कर्मणि घञ् विकृतम्, संस्कृतापभ्रंशरूपेण विक्रियमाणत्वात् । 'वाद्वाचे' त्याकारान्तः, 'मृत्तिके' त्यादि, संस्कृतनामधेयन्तु सत्यं नित्यं अतस्संस्कृतस्य नित्यत्वात् सार्वत्रिकः प्रयोगः, भाषाया विकारत्वात् क्वाचित्कः, अतो व्यापकत्वात् संस्कृतस्य भाषाविशेषेण यत्फलम् देशविशेषे व्यवहार लक्षणं तत्संस्कृतज्ञानेन भवति तथेहापि ब्रह्मज्ञानेन इतरज्ञानकार्यं भवतीत्यर्थ इति चेन्न,—संस्कृतस्यैव क्वाचित्कत्वात् । सम्यगधीतव्याकरणानामेव संस्कृतप्रयोगसामर्थ्यात् । अन्यथा ह्यपभ्रंश एव स्यात् । यथेति पदाभावेन दृष्टान्तत्वं चानुपपन्नम् । न च 'यथा-सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्या' दित्यनुषज्यते, तस्योपपादकं 'वाचारम्भण' मितीति वाच्यम्; अनुषङ्गस्यैव दोषत्वात् । अनुषङ्गेऽपि पिण्डमपि पदानन्वयाच्च । नखनिकृन्तनेन कार्ष्णायसमित्ये तदत्यन्तासङ्गतम् । तस्मात् श्रुत्यैव सर्वे वादिनो निरस्ताः ।

श्रुत्यैवैवम् समस्ताश्च निरस्ताः प्रतिवादिनः ।
तथैव हृदयम् सम्यक् बोधिता मम देशिकाः ॥

एवम् मध्वमते सूत्रव्याघातोऽपि स्पष्टः ।

इति श्रीमद्वाचार्यपरामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां ब्रह्मोपादानत्वान्यथानुपपत्तिनाम त्रिपञ्चाशः स्कन्धः ॥५३॥



॥ अथ मायोपादानत्वान्यथानुपपत्तिभङ्गवादः चतुःपंचाशः ॥ ५४ ॥

यत्प्रपत्तिं विना सर्वैर्यस्य माया दुरत्यया ।
धनञ्जयरथोत्तंसं तत्प्रपद्ये परं महः ॥

प्रसाद—जिन भगवान की प्रपत्ति किए विना कोई भी इस दुर्लंघ्य माया को पार नहीं कर सकता है, वे ही श्रीभगवान् सारथि रूप से अर्जुन के रथ को सुशोभित किए ; उन्हीं परम ज्योति स्वरूप श्रीभगवान् की मैं शरणागति करता हूं।

यत्प्रपत्ति विनेति। अनेन भगवत्प्रसादैकनिवर्त्यतया ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावप्रतीतेर्जगदुपादानस्य मिथ्यात्वाभावसिद्ध्या वादार्थस्संगृहीतः।

यदुच्यते—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति विश्वस्य मायोपादनकत्वश्रवणात्, मायाशब्दस्य च मिथ्यार्थत्वात् मिथ्योपादानकस्य च सत्यत्वायोगात् विश्वमिथ्यात्वं सिद्धमिति—तदपि स्तनन्धयरुदितम् (कथितम्)। तत्र तावत् श्रुतौ वचनव्यक्तिर्विपर्यासिता। न हि तत्र प्रकृत्यनुवादेन मिथ्यात्वं विधीयते, अपि तु मायानुवादेन प्रकृतित्वम्। तु शब्दोऽपि तस्यैव (तदैव) वानुकूलः। पूर्वस्मिन् वाक्ये, 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' इति प्रसक्तयोर्मायामायिशब्दयोरर्थमविदुषस्तज्ज्ञानोपजननायैव हि, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्युच्यते। अतः, 'या मायेति अत्रोक्ता, सा जगदुपादानतयोपनिषत्प्रसिद्धा प्रकृतिरेव। यश्च मायीति निर्दिष्टः, स च प्रकृत्यधिष्ठाता चिदचिच्छरीरको महेश्वर एव' इति वचनव्यक्तिः। स्ववाक्येऽपि यच्छब्दाद्यभावेऽपि प्रथमचरमभावेनोद्देश्योपादेयव्यवस्था सिद्धा। तथा ह्याहुः—'यद्वृत्त(च्छब्द)योगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम्' इति॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों का यह कथन भी बच्चों के रुदन के समान है कि—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' अर्थात् माया को जगत् का उपादान (प्रकृति) जानना चाहिए, इस वाक्य में माया को जगत् का उपादान कारण बतलाया गया है। माया शब्द मिथ्या अर्थ का वाचक है। मिथ्या उपादान वाला प्रपञ्च सत्य नहीं हो सकता है, इस तरह विश्व के मिथ्यात्व की सिद्धि होती है। क्योंकि श्रुति में अद्वैती विद्वानों के विपरीत ही बात कही गयी है। श्रुति में प्रकृति का अनुवाद करके उसके मिथ्यात्व का अनुवाद नहीं किया गया हैं; अपितु माया का अनुवाद करके उसके प्रकृतित्व का विधान किया गया है। श्रुति का 'तु' शब्द भी इसी के अनुकूल है ; क्योंकि इसके पहले के वाक्य 'अस्मान मायी सृजते विश्वमेतत्, तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' में आये हुए मायी तथा माया इन दो शब्दों के अर्थ को नहीं जानने वालों को इन दोनों शब्दों का अर्थ ज्ञान कराने के लिए ही, श्रुति कहती है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' श्रुति का अभिप्राय है कि यहां श्रुति में जिसे माया कहा गया है वह जगत् के उपादान रूप से उपनिषदों में प्रसिद्ध प्रकृति ही है। जिसे मायी कहा गया है, वह प्रकृति का नियामक चेतनाचेतन शरीरक महेश्वर (परमेश्वर) ही हैं। अपने द्वारा कहे गये वाक्य में आदि अन्त में यत् तत्' शब्दों का प्रयोग किए बिना भी उनके उद्देश्य विधेयभाव की सिद्धि होती ही है। जिसे कहा भी गया है कि—जिसके पहले यत् शब्द का सम्बन्ध होता है, उसको उद्देश्य कहते हैं।

मायान्त्विति । प्रकृतिशब्देन जगदुपादानं निर्दिश्य तस्य मायाशब्देन मिथ्यात्वं विधीयत इति भावः । विपर्यासितेति । त्वयेति शेषः । तुशब्द इति । तुशब्दो यच्छब्दवदुद्देश्यत्वसूचक इति भावः । मायानुवादेन प्रकृतित्वं किमर्थं विधीयत इत्यत्राह पूर्वस्मिन्निति । इति वच नेति । इत्यर्थप्रतिपादिका वचनव्यक्तिरित्यर्थः । यच्छब्दाद्यभावेऽपीति । तुशब्दाभावोऽभ्युपगतः ।

अस्त्वेवं वचनव्यक्तिः, तथाऽपि प्रकृतेर्मायाशब्दवाच्यत्वसिद्धे मिथ्यात्वमपि सिध्यतीति चेन्न; मायाशब्दस्य मिथ्यार्थपरत्वेऽप्युपचारतोऽपि तत्र तत्प्रयोगसम्भवेन वाच्य त्वनिर्णयासिद्धेः । न हि प्रकृतिर्मायाशब्दवाच्येति श्रुत्यर्थः, अपितु अत्र मायाशब्देन प्रकृतिर्विवक्षितेति ॥ तथाऽपि मुख्यार्थे बाधकाभावादुपचारवृत्तिरत्रानुचितेति चेन्न ; प्रकृति [कारण] त्वान्यथानुपपत्त्यैव बाधात । कारणसत्यत्वं च बहुशो मृद्दृष्टान्तादिभिर्निदर्शितम् । 'अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया' 'गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी' इत्यादिभिः प्रकृतिनित्यत्वसिद्धेश्च तन्मिथ्यात्वं निरस्तम् ॥ सत्यत्वेऽपि केन [धर्मेण ?] मिथ्यात्वोपचारः किमर्थश्चेति चेत, अस्थिरतरभोगप्रसाधकत्वेन स्वप्नार्थतुल्य तया जिहासितत्वज्ञापनार्थं इति मन्वीथाः ।

प्रसाद—यदि कहें कि श्रुति में इस तरह की वचन व्यक्ति होने पर भी प्रकृति के मायाशब्द वाच्य के होने कारण उसके मिथ्यात्व की सिद्धि होती है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है ; माया शब्द के मिथ्या वस्तु बाचक होने पर भी माया शब्द का प्रकृति के अर्थ में औपचारिक प्रयोग भी संभव है । अतएव प्रकृति के माया शब्द वाच्यत्व का निर्णय असम्भव है । श्रुति का यह अर्थ तो है नहीं कि प्रकृति माया शब्द वाच्य है, अपितु श्रुति में माया शब्द से प्रकृति विवक्षित हैं । यदि कहें कि माया शब्द के मिथ्यार्थ मुख्यार्थ होने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति न होने से, प्रकृति के अर्थ में माया शब्द का उपचार नहीं माना जा सकता है, तो यह कहना इसलिए उचित नहीं है कि, यहाँ पर माया शब्द को औपचारिक प्रकृत्यर्थक माने विना उसके उपादानत्व (प्रकृतित्व) की सिद्धि ही नहीं हो सकती है , अतः इस अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ही माया शब्द का मुख्यार्थ बाधित है । श्रुति भी कारण की सत्यता मृतिका आदि कई दृष्टान्तों से स्पष्ट करती है । किञ्च मान्त्रिकोपनिषद् की ये श्रुतियाँ प्रकृति को नित्य बतलाकर उसके मिथ्यात्व का खण्डन करती है । वे श्रुतियाँ है (१) 'अचेतना परार्था च नित्या ततविक्रिया - अर्थात् प्रकृति जड; परार्थ। नित्य तथा सदा विकार वाली है । (२) 'गौरनाद्यन्तवती ।' अर्थात् प्रकृति गमन शील आदि अन्त से रहित है । यदि कहें कि सत्य होने पर भी माया के किस धर्म के कारण उसमें मिथ्यात्व का उपचार होता है ? तो उत्तर है कि माया के मिथ्यात्वोपचार के दो कारण हैं (१) माया अत्यन्त अस्थिर भोगों की साधिका है । (२) मायासिद्ध भोग स्वप्न पदार्थो के तुल्य जिहासित हैं । यह बतलाने के लिए ।

मिथ्यार्थपरत्व इति । मिथ्यात्वे प्रवृत्तनिमित्तमित भावः । अपीत्यभ्युपगमस्य मायाशब्दो न मिथ्यार्थ इति भावः । तत्र प्रकृतौ । मायाशब्देनेति । मायाशब्देन विवक्षिता प्रकृतिरिति योजना ।

ननु मायाशब्देन, मायाशब्दविवक्षितत्वोक्तौ लक्षणा स्यात् ततो वरम्; विपर्यास एवेति चेन्न,-अनुवादतात्पर्ये अवगते वाक्यतात्पर्यानुसारेण लक्षणाया अदोषत्वात् ।

ननु मा भूद्विपर्यासः, नापि लक्षणा, मायाशब्दमुख्यार्थोद्देशेन प्रकृतित्वं विधीयतामिति चेन्न,-पदव्याख्यानरूपता । 'विद्या' दिति पदस्वारस्यसिद्धत्वात् । अस्त्वेवं व्याख्यानरूपता अथापि मायाशब्दो मुख्यवृत्त्यैव प्रकृतौ वर्तते, मुख्यार्थश्च मिथ्यैवेति शङ्कते तथापीति । अनिर्वचनीयनिरासाभिप्रायेण वा शुक्तिरजवादेरुपादानत्वादर्शनाभिप्रायेण चाह प्रकृतित्वेति । तदभ्युपगमेनाप्याह कारणेति । मृद्दृष्टान्तेन कार्यकारणयोरभेदः प्रतीयते , एवञ्चेदमर्थस्य सदभेदः प्रकृतेर्विशेषणतया सच्छब्दवाच्यत्व एव सम्भवति , न च सच्छब्दस्य बाधो युक्त इति भावः । निदर्शित मिति । निदर्शनेन समर्थितमित्यर्थः । यद्वा 'मृत्तिकेत्येव सत्य' मित्यादेः कारणसत्यत्व प्रतिपादनपरत्वं हि त्वयोच्यते, सद्विरुद्धम् कारणंमिथ्यात्ववर्णनमित्यर्थः - गौरित्यादि । मिथ्यात्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वम् स्यादिति भावः । केनेति । उपचारनिमित्तगुणविशेषप्रश्नः । अस्थिरतरभोग प्रसाधकत्वं गुणः । मायाशब्दस्य मिथ्यार्थवाचित्वमभ्युपगम्योक्तम् ।

न च मायाशब्दो मिथ्यार्थवाची ; विचित्रसृष्ट्युपकरणभूतार्थाभिधायित्वात् । सर्वप्रयोगानुगत निमित्तसम्भवे नानारूपार्थोपादानस्य निरस्तत्वात् / न च मिथ्यार्थेष्वेव तत्प्रयोगः, येन तत्रैव तच्छक्तिः कल्प्येत , अपितु सत्येष्वपि , यथा , 'यावन्तः भूमेः संख्याता देवमायया' इति । न हि मिथ्या भूतस्य कस्यचित् संख्यानकरणत्वं प्रतीमः । 'माया वयुनं ज्ञानम्' इति नैघण्टुकानुसारात् अर्थौचित्याच्च ज्ञानविषयत्वमेव तत्रोचितम् । तथा , 'मायया सततं वेत्ति प्राणिनां तु शुभाशुभम्' इति च । तथा , 'तेन मायासहस्रं तत् शम्बरस्याऽऽशुगामिना । बालस्य रक्षता देहमेकैकश्येन सूदितम् ।।' इति । न हि मिथ्याभूतस्य कस्यचिन्छस्त्रच्छेद्यत्वम् , अपितु तत्त्वोपदेशादेव तन्निवृत्तिः । तथाऽप्यनेकशक्तिकल्पनायां गौरवात् तत्रौपचारिकोऽयं प्रयोग इति चेन्न , विपर्यासस्य दुर्वारत्वात् प्रसिद्धिप्रकर्षान्मिथ्यात्वे [र्थे] शक्तिरङ्गीक्रियत इति चेन्न , मिथ्यापर्यायत्वेन मायाशब्दस्य प्रसिद्धेरेवाभावात् । न हि स्वदृग्दोषादिमात्रमूलभ्रमविषयेषु शुक्तिरजत—रज्जुसर्पादिषु मिथ्याशब्दप्रयोगविषयेष्वपि क्वचित् कदाचिदपि मायाशब्दप्रयोगो दृष्टचरः । अतो यत्रेन्द्रजालादिमूलभ्रान्तिविषयेषु मायाशब्दप्रयोगः , तत्रापि मिथ्यात्वमन्तरेण निबन्धनान्तरमस्तीति निश्चीयते । तच्च किमिति निरूप्यमाणेऽप्यैन्द्रजालिकवत् इन्द्रजिदादौ मायाविशब्दप्रयोगात् , तत्र च अलीकत्वस्याविवक्षितत्वात् सत्यस्य वा असत्यस्य (सत्यत्वासत्यस्य) वा विचित्रार्थस्य सृष्टौ प्रकाशने वा सामर्थ्यवानित्येव मायाविशब्दार्थः । तच्च

सामर्थ्यम् सत्यो मन्त्रौषधादिरेव, तदनुबन्धी (बन्ध्यती) न्द्रियशक्तिविशेषो वा । ततश्च मायाजन्यज्ञानविषयतया मिथ्याभूतेष्वप्यर्थेषु लक्षणया मायाशब्दप्रयोग उपपद्यते ।

श्लो. मायोत्थज्ञानवेद्येऽ [र्था] र्थे युक्ता मायेति लक्षणा ।
मिथ्यासम्बन्धरहिते नास्त्रादौ सत्यकारणे ॥

प्रवाद—किन्तु माया शब्द मिथ्या अर्थ का वाचक नहीं है, क्योंकि वह विचित्र सृष्टि के उपकरण भूत वस्तु का वाचक है। यदि किसी शब्द के सभी प्रयोगों के अनुकूल प्रवृत्ति निमित्त हो तो फिर उस शब्द को नानार्थक नहीं माना जा सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि मायाशब्द का प्रयोग मिथ्या अर्थ में ही होने उसकी मिथ्यार्थ में ही शक्ति है। अपितु सत्यार्थ में भी उसका प्रयोग देखा जाता है। तथाहि—जैसे देवताओं की माया में जिसे भूमि के धूलि को गिना है।' इस वाक्य में। मिथ्या वस्तु किसी को गिन नहीं सकती है। अतएव 'माया वयुनं ज्ञानम्' इस कोश वाक्य के अनुसार वहाँ उसे ज्ञान का ही बाचक मानना चाहिए। 'मायया सततं वेति पाणिनां तु शुभाशुभम्' अर्थात् परमात्मा अपने ज्ञान के द्वारा प्राणियों के पुण्य पाप को जानता है। इस वाक्य में भी माया शब्द ज्ञान का वाचक है। तथा 'तेन मायासहस्रं तत् शम्बरस्याशुगामिना। बालस्य रक्षता देहमेकैकश्येन सूदितम्। अर्थात उस शीघ्र ग्रामी चक्र ने बालक के देह की रक्षा करते हुए; शम्बरासुर की एक-एक कर हजारों माया को विनष्ट कर दिया। किसी मिथ्या वस्तु को किसी शस्त्र के द्वारा नहीं विनष्ट किया जाता है; अतएव तत्त्वोपदेश के ही द्वारा मिथ्या वस्तु की निवृत्ति होती है। यदि कहें कि माया शब्द की अनेक शक्ति की कल्पना करने पर गौरव दोष होगा; तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि माया शब्द मिथ्यार्थ का पर्याय है. इस बात की प्रसिद्धि नहीं है। केवल अपने नेत्र के दोष के आदि के कारण प्रतीत होने वाले शुक्ति रजत; रज्जू सर्प आदि के जिनको मिथ्या कहा भी जाता है, उनको बतलाने के लिए कहीं भी माया शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता है। अतएव जहाँ ऐन्द्रिजालिक पदार्थों को बतलाने के लिए माया शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ भी उसके प्रयोग का कारण उन वस्तुओं से भिन्न ही है, यह निश्चित होता है। वह कारण क्या है; इसका उत्तर है कि जिस तरह इन्द्रजाल करने वाले को मायावी कहा जाता है उसी तरह से इन्द्रजीत (मेघनाद) आदि के लिए मायावी शब्द का प्रयोग देखा गया है। यहाँ पर मायावी शब्द के प्रयोग में मिथ्यात्व नहीं अभिप्रेत है, अपितु मायावी शब्द से इतना ही अभिप्रेत है कि; यह मायावी, सत्य या असत्य या विचित्र वस्तु की सृष्टि करने अथवा प्रकाशन करने में समर्थ है। उस व्यक्ति वह सामर्थ्य भी मन्त्र; एवम् औषध के समान सत्य ही है। अथवा माया शब्द का अर्थ उन विचित्र वस्तुओं की सृष्टि अथवा प्रकाशनोपयोगी शक्ति विशेष है। इस तरह माया जन्य ज्ञान का विषय होने के कारण मिथ्याभूत विषयों के भी अर्थ में माया शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है। माया जन्य ज्ञान के विषयभूत अर्थों में माया शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है तथा मिथ्या के सम्बन्ध से रहित अस्त्र आदि जो सत्य कार्य के कारण हैं; उन वस्तुओं के अर्थ में माया शब्द का मुख्य ही प्रयोग होता है।

इदानीं तदेव नेत्याह नचेति। मिथ्यात्वं न प्रवृत्तिनिमित्तम्, किन्तु विचित्रसृष्ट्युपकरणत्वमित्यर्थः। 'तस्मा उकथ्यमेव प्रायच्छत ; तन्निर्मायमभूत, महान् यज्ञो हि तस्य मायासीत् इति यज्ञे मायाशब्दः प्रयुक्तः, स च न मिथ्यार्थः, यज्ञस्य मिथ्यात्वासिद्धेः, मिथ्यात्वं च न

सप्रतिसम्बन्धिकम् , अतः 'तस्य मायासी' दिति विचित्रसृष्ट्युपकरणत्वेन यद्वस्यादस्थानमेव वाक्यमिति भावः। क्वचित्तत्प्रवृत्तिनिमित्तकत्वेन प्रयोगः, क्वचित्तु तत्पुरस्कारेणैव लक्षणया गौण्यावा ; एवमनुगमो विवक्षितः, एतच्चोत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति।

ननु ऐन्द्रजालिके गजे मायागज इति प्रयुज्यते; तस्य गजस्य मिथ्यात्वात्तत्र च माया-शब्दप्रयोगात् मिथ्यात्वमप्यर्थस्स्यादित्यत्राह सर्वप्रयोगेति।

नन्वनुगतप्रवृत्तिनिमित्तम् न कल्पनीयं मायाशब्दस्य सत्ये प्रयोगाभावात् मिथ्यार्थ एव हि मायाशब्दः प्रयुज्यत इत्यत्राह नचेति। यद्येवं कञ्चित्प्रयोगमाश्रित्य प्रयोगान्तरम् निह्नूयते, तर्हि सत्ये प्रयोगमाश्रित्य मिथ्याप्रयोग एव निह्नूयतामिति प्रतिबन्द्यभिप्रायेणाह अपितु सत्येष्वे-वेति। स्यादेवम्प्रतिबन्दी, यदि सत्ये प्रयोगस्स्यादित्यत्राह यथेति।

ननु न वयं प्रयोगं निह्नुमहे, अपित्वनेकशक्तिकल्पनागौरवभयेन अनुगतप्रवृत्तिनि-मित्तम् न कल्पनीयं किन्तु मिथ्यात्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तम् सत्ये प्रयोग औपचारिकं प्रत्येव वक्त-व्यमिति गूढाभिसन्धिश्शङ्कते तथापीति। विपर्यासित्वेति। प्रतिबन्दीमात्रेणापि मिथ्यार्थकत्वान-भ्युपगमानन्तरम् पूर्वपद्यभिमतान्यथानुपपत्तिन सिध्यतीति भावः। अभिसन्धिमुद्घाटयंश्चोदयति प्रसिद्धीति। मिथ्यात्वं प्रवृत्तिनिमित्ततया विवक्षितम्। प्रसिद्धेरेवेति। प्रसिद्धिरेव नास्ति, कुतः प्रकर्ष इत्येवकाराभिप्रायः। प्रसिद्ध्यभावमुपपादयति नहीति। स्वदृक्दोषेति। ऐन्द्रजालिकव्या-वृत्तिः। नन्वैन्द्रजालिके मिथ्यात्वे प्रसिद्धिरस्त्येवेत्यत्राह अतो यत्रेति। शुक्तिरजतादिषु मिथ्यात्वे सत्यपि प्रयोगाभावात् अन्यत्र प्रयोगे च तन्निबन्धन किन्त्वन्यदेवेत्यर्थः। अलौकिकत्वस्येति। परमते मिथ्यात्वे तस्यापि लौकिकैस्तज्ज्ञानात् मिथ्यात्वस्य साधारणत्वाच्चेति भावः। सत्यस्य वाऽसत्य-स्येति। सत्यासत्याभ्यां याथासंख्यम् सृष्टिप्रकाशनयोरन्वयो न विवक्षितः; प्रवृत्तिनिमित्त द्वित्व-प्रसङ्गात्, किन्तु उभयोरुभयत्राप्यन्वयः। सत्यस्य वाऽसत्यस्य वा सर्गसामर्थ्यवानिति परमते, सत्यस्यासत्यस्य वा प्रकाशेन सामर्थ्यवानिति सर्वसाधारणम्; क्वचित्प्रकाशने सामर्थ्यमर्थसृष्टि-द्वारा। यद्वा याथासङ्ख्येनैवान्वयः, विचित्र सर्गकरत्वविचित्रप्रकाशकत्वान्यतरसामर्थ्यं प्रवृत्ति-निमित्ततया विवक्षितम्। तस्मात् सामर्थ्यविशेषो मायाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति भावः। किञ्च मायाशब्दस्य मिथ्यार्थकत्वे शस्त्रादौ प्रयोगोऽनुपपन्न इत्याह मन्त्रौषधेति। मिथ्यासम्बन्धराहित्ये हेतुः सत्यकारण इति। सत्यस्य कारणम्।

न हि पर्वतसमुद्रपावकादिहेतुष्वस्त्रविशेषेषु मिथ्यासम्बन्धगन्धरहितेषु मायाशब्दो पचारः सम्भवति॥ मिथ्यार्थसादृश्यात् तत्र गौणोऽयं प्रयोग इति चेन्न, विपरिवर्तप्रस-ङ्गस्य प्रागेवोक्तत्वात्। लक्षणापेक्षया गौणवृत्तेर्जघन्यत्वाच्च मुख्यलक्षणावृत्तिभ्यां प्रयोग-निर्वाहे सम्भवति; मुख्यगौणवृत्तिभ्यां निर्वाहस्यानुचितत्वात्। अतो विचित्रसृष्ट्युपकरण-भूतार्थविशेष एव मायाशब्दशक्तिः।

नन्वेवमपि सर्वप्रयोगानुगतं निमित्तं न सिध्यति । 'मेघोदयः सागरसन्निवृत्तिः' इत्यारभ्य; 'विष्णोर्विचित्राः प्रभवन्ति मायाः' इति प्रयुज्यते । तथा; 'देवमायेव निर्मिता' 'संख्याता देवमायया', 'मायया सततं वेत्ति' इत्यादिषु निर्दिष्टनिमित्तासिद्धेरिति चेन्न, आद्ययोर्मायाकार्यतया लक्षणयाऽपि प्रयोगोपपत्तेः । मुख्यत्वेऽपि तत्र न दोषः, मेघोदयादीनामपि विचित्रवर्षादिस्रष्टुरीश्वरस्य तत्तत्सृष्ट्युपकरणत्वाविशेषात । 'देवमायेव निर्मिता' इत्यत्रापि स्त्रीरूपेण परिणता देवानां मायेत्यर्थः (परिणता माया देवानामाश्चर्यशक्तिरिवेत्यर्थः) । न चात्र कस्यचिदपि शब्दस्य लक्षणा; अभूतोपमामात्रस्य विवक्षितत्वात । 'संख्याता देवमायया' इत्यत्र तु निघण्टुवा (र्था) नुसारादर्थौ (रादौ) चित्याच्च ज्ञानमेव विवक्षितम् । तथाऽपि घटज्ञानमित्यादिषु घटमायेति प्रयोगादर्शनादाश्चर्यविहरत्वमात्रेण तत्र मायात्वोक्तिः । नैघण्टुकाश्च शक्तिविषयमनादृत्य प्रयोगविषयमात्रं संगृह्णन्तीति बहुलमुपलभ्यते । सम्भवति चास्मदुक्तं मुख्यार्थनिमित्तमत्रापि, इतराशक्याश्चर्येतरभूमिपांसुसंख्यान-सर्वप्राणिशुभाशुभविवेकादिहेतुत्वात् । अस्तु वा ज्ञानपर्यायत्वं क्वचिन्मायाशब्दस्य तथाऽपि तद्व्यतिरिक्तविषयेषु पूर्वोक्तमेव निमित्तम् । न हि गत्यभावात् क्वचिच्छक्तिभेदकल्पने अत्रापि तथा क्लृप्तिः; गौर्वाहीक (बाह्लीक) इत्यत्रापि शक्त्यन्तरकल्पिप्रसङ्गात् ।

प्रसाद—जिनमें मिथ्या से सम्बन्ध की गन्ध भी नहीं है; उन सत्य कार्यों को करने वाले, पर्वतास्त्र, वारुणास्त्र तथा आग्नेयास्त्रादि के अर्थ में माया शब्द का लाक्षणिक प्रयोग नहीं सम्भव है। यदि कहें कि मिथ्या अर्थ के सदृश होने के कारण उपर्युक्त अर्थों में माया शब्द का गौण प्रयोग होता है, तो यह नहीं कह सकते है, क्योंकि आपके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि सत्यार्थ के सादृश्य के कारण उपर्युक्त अर्थों में माया शब्द का मुख्य प्रयोग होता है। क्योंकि लक्षणा की अपेक्षा गौणी वृत्ति जघन्य है। मुख्यावृत्ति तथा लक्षणा वृत्ति इन दोनों के द्वारा प्रयोग का निर्वाह सम्भव होने पर मुख्यावृत्ति तथा गौणीवृत्ति के द्वारा प्रयोग का निर्वाह मानना अनुचित है। अतएव विचित्र सृष्टि के उपकरण भूत अर्थ विशेष में ही माया शब्द की शक्ति है। यदि कहें कि ऐसा होने पर भी माया शब्द का कोई ऐसा प्रवृत्तिनिमित्त नहीं बनता है, जो सर्वप्रयोगानुगत हो। मेघोदय तथा सागर सन्निवृत्ति प्रभृति कार्यों को भी विष्णु की माया बतलाया गया हैं। 'देवमायेव निर्मिता' वाक्य में सीता को देव माया कहा गया है। 'संख्याता देवमायया' वाक्य में देवमाया को गणना करने वाली कहा गया है। 'मायया सततं वेत्ति' वाक्य में माया को जानने का साधन कहा गया है। ऐसा कोई भी प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है जो इन सभी प्रयोगों में अन्वित हो। तो यह कहना ठीक नहीं है; मेघोदय और सागर सन्निवृत्ति दोनों माया के कार्य हैं, अतएव इन दोनों अर्थों में माया शब्द का लाक्षणिक प्रयोग उपपन्न है। यहाँ माया शब्द का मुख्यार्थ भी मानने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि मेघोदय आदि विचित्र सृष्टि करने वाले

ईश्वर की सृष्टि के उपकरणान्तर्गत हैं। 'देवमाया' वाक्य का अर्थ है कि मानों देवताओं की माया स्त्री रूप में परिणत हो गयी है। यह अर्थ करने में किसी भी शब्द में लक्षणा नहीं करनी होती है। इस वाक्य में केवल अभूतोपमा विवक्षित है। 'संख्यातादेवमायया' वाक्य में माया शब्द ज्ञान का वाचक है; कोश आदि में भी माया शब्द को ज्ञान का वाचक बतलाया गया है। फिर भी 'घट ज्ञानम्' इत्यादि के अर्थ में 'घटमाया' यह प्रयोग नहीं देखा जाता। उपर्युक्त प्रयोगों में माया शब्द का प्रयोग आश्चर्य जनकता को सूचित करता है। कोशकार तो शक्ति की सीमा की परवाह न करके प्रयोग विषयता मात्र का संग्रह करते हैं; यह प्रायः देखा जाता है। किञ्च यहाँ पर भी हमारे द्वारा प्रोक्त मुख्य प्रवृत्तनिमित्त सम्भव है, क्योंकि दूसरे ज्ञान से असम्भव अत्यन्त आश्चर्य जनक, धूलिकण की गणना; सभी प्राणियों के शुभाशुभ विवेक आदि का कारण माया है। कहीं पर माया शब्द का ज्ञान का पर्याय भी माना जा सकता है। फिर भी उससे भिन्न विषयों में पूर्वोक्त ही प्रवृत्तनिमित्त है। यदि कहें कि गति के अभाव में कहीं-कहीं पर शक्त्यन्तर की कल्पना की जाती है। उसी तरह यहाँ भी माया शब्द के शक्त्यन्तर की कल्पना करनी चाहिए; तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं है कि—'गौर्वाहिकः' में शक्त्यन्तर की कल्पना का प्रसङ्ग होगा।

नहीति। समुद्रशब्दो महाजलपरः। लक्षणापेक्षयेति। 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणते' ति वार्तिकेन मुख्यलाक्षणिकाभ्यां उभाभ्यां व्यवधानोक्तेः। लक्षणायां मुख्यव्यवधानमात्रमेव मुख्यगौणवृत्तिभ्यामिति उपलक्षणम्। ऐन्द्रजालिकमन्त्रादौ मिथ्यार्थसम्बन्धात्लक्षणासम्भवात्। स्त्रीरूपेणेति। निर्मिता देवानां विचित्रसर्गशक्तिरिव तिष्ठतीत्यर्थः। मात्रणेति। गुणवृत्तिरेव न मुख्यवृत्तिः, अतो नानेकार्थत्वमिति भावः।

ननु भवद्भिरपि गौणवृत्त्या निर्वाहस्यस्वीकारात् कथं गौणवृत्त्या निर्वाहः परस्य दोषतयोद्घाटित इति चेन्न,-गत्यन्तराभावेनात्र गौणी वृत्तिरुभाभ्यामङ्गीकार्या, तथा च यत्र मुख्यलक्षणाभ्यामेव निर्वाहस्सुकारः, तत्रापि त्वया गौणवृत्तिरङ्गीकार्या, इति वैषम्यस्याभिप्रेतत्वात्।

एतेनेदं निरस्तम्। मिथ्यापरिणाम्यज्ञानं मायाशब्दार्थः, ऐन्द्रजालिकेण जतुरागादौ मायाशब्दप्रयोगो मृद्घट इति वत्तादात्म्यात् ऐन्द्रजालिकमणिमन्त्रादौ मायाशब्दप्रयोगो मायाक्षोभकत्वाल्लक्षणया, अस्त्रादौ अघटित कार्यजनकत्वगुणयोगात्, एकत्रैवाज्ञाने साधारणभ्रमानुकूलशक्तिनिमित्तकोमायाशब्दप्रयोगः, तेन ऐन्द्रजालिके मायाविशब्दः असाधारणभ्रमानुकूलशक्तिनिमित्तः, तत्रैवाज्ञानशब्दः, तेन शुक्तिरजतादौ न मायाशब्दप्रयोग इति। इन्द्रजिदस्त्रादौ गौणवृत्त्यङ्गीकारात् तत्कार्ये सत्यपर्वतपावकादौ कथञ्चिदपि प्रयोगासम्भवात्, शुक्तिरजते मायाशब्दप्रयोगप्रसङ्गाच्च॥

ननु साधारणभ्रमानुकूलशक्तिनिमित्तकत्वात् मायाशब्दस्य न तत्र मायाशब्दप्रयोग इति चेन्न, एवमपि कारणतादात्म्यप्रयुक्तप्रयोगस्यानिवार्यत्वात्। न च साधारणभ्रमजनकत्वशक्तियोगोऽज्ञानशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्; ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य तन्निमित्तत्वोक्तिविरोधात्। न च साधारणभ्रमानुकूलशक्तियोगो मायाशब्दप्रवृत्तिनिमित्त, मन्त्रादिसाधारणतया तत्र गौणवृत्त्युक्तिविरोधात्। न

च भ्रमपरिणामित्वं विवक्षितमिति वाच्यम् , अस्मादौ त्वयोक्तघटितकार्यजनकत्वस्यैव लाघवेन मायाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वसम्भवात् । इदमेव च प्रागुक्तम् विचित्रकार्यजनकत्वं मन्त्रौषधाद्यतिरिक्तस्य त्वदभिमतस्य परिणामिनोऽज्ञानात् न तत्र लोके मायाशब्दप्रयोगसम्भवः । एतेन मायाक्षोभकत्वं मन्त्रादौ प्रयोगनिमित्तमित्यपि निरस्तम् । 'यज्ञो हि तस्य मायासी' दिति सप्रतिसम्बन्धित्वप्रतीतेश्च । विचित्रसष्ट्युपकरणमर्थः । बहुलमिति । ' अध्वर्यूद्गातृहोतारो यजुस्सामर्ग्विदः क्रमात् । 'इत्यमरकोशे तत्तद्वेदोक्तकार्यकारिषु चतुर्षु चतुर्षु अध्वर्य्वादयः शब्दा अभिधानतयोक्ताः पूर्वतन्त्रे 'उदगातृणां चमसमक्ष' इत्यत्र उद्गातृशब्द एकत्रैव मुख्यः, उद्गातृ प्रस्तोतृप्रतिहर्तृ सुब्रह्मण्येषु प्रवचनान्वयाद्रूढिपूर्वकलक्षणेत्युक्तम् । एवमध्वर्य्वादिष्वपि । तथा 'दर्शश्च पूर्णमासश्च यागौ पक्षान्तयोः पृथ' गिति दर्शपूर्णमासशब्दौ कर्माभिधानतयोक्तौ पूर्वतन्त्रे दर्शपूर्णमासशब्दाभ्यां कलयुक्तकर्मलक्षणेत्युक्तम् , तथा पृषदाज्यशब्दः नामपाठे उक्तः , पूर्वतन्त्रे पृषच्छब्दश्चित्रतावाची , दध्ना चित्रितत्वात् सदध्याज्यम् योगवृत्त्या पृषदाज्यमित्युच्यत इत्युक्तम् । एवम् कल्पकासिद्धिरुक्ता ॥

किञ्च मिथ्यारूपमायोपादानत्वेऽपि तदुत्पन्नमात्रस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं न सिध्यति ; नविलक्षणाधिकरणन्यायेन विलक्षणादपि विलक्षणकार्योत्पत्तिसम्भवात् । असत्यात्सत्योत्पत्तेर्युष्माभिरेव स्वीकारात् ॥ असत्यस्य सत्यनिमित्तत्वमात्रमुदाहृते ; न तु सत्योपादानत्वमिति चेन्न; तुल्यन्यायत्वात् । न ह्यस्ति राजशासनं मिथ्याभूतेन ; निमित्तेनैव भाव्यत ; न तूपादानेनेति ॥ उपादानोपादेययोरतादात्म्यादुपादानस्य मिथ्यात्वे कार्यस्य सत्यत्वे च सत्य [त्व] मिथ्यात्वयोरेकतरप्रसक्तिरिति चेन्न , उपादानत्वोपादेयत्वदिवत् सत्यत्वमिथ्यात्वयोः क्रमेणाविरोधात् ॥ नन्वेकस्य पूर्वापरीभूतावस्थाभेदवस्थाभेदवत्त्वमुपपन्नम् , एतावता कथं स्वरूपतो मिथ्याभूतमुत्तरस्मिन् काले सत्यं भवेदिति चेन्न— पूर्वस्मिन् काले स्वरूपेणासत एव , द्रव्यस्यावस्थाविशेषवत् उत्तरकाले सत्त्वस्याविरोधात् (वस्थाविशेषस्येवोत्तरकाले सत्त्ववदविरोधात्) ॥ तयोरुत्तरकालवर्तित्वेन सत्त्वं पूर्वकालेऽप्यस्तीति चेन्न, तस्य तत्कालेऽपि प्रामाणिकत्वमात्रस्यात्रापि समानत्वात् । तत्कालसंसर्गविवक्षायां विरोधात् । अतः उपादानमिथ्यात्वे श्रुतिसिद्धेऽपि न कार्यमिथ्यात्वसिद्धिः । उपादानसत्यत्वमेव च सद्विद्यादिष्वसत्कार्यवादनिरासपूर्वकं , 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति , 'सन्मूलास्सोम्येमा' इत्यादिभिरभिधीयते । एवमुपादानमिथ्यात्वेऽपि कार्यसत्यत्वाविरोधोपपादनन्यायेन कार्यमिथ्यात्वेऽप्युपादानसत्यत्वाविरोधोऽप्युपपादित एवेति मिथ्याभूतस्य

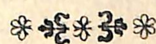
मिथ्याभूतमेवोपादानम् भवितु मर्हतीत्यनिर्वचनीयाज्ञानकल्पनमपि निरस्तमिति ॥

॥ इति शतदूषण्यां मायोपादानत्वान्यथानुपपत्तिभङ्गवादः चतुःपञ्चाशः ॥५४॥



प्रसाद—मिथ्या मायोपादानक होने पर भी मायोत्पन्न होने मात्र से प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । 'न विलक्षणाधिकरण में प्रोक्त न्याय के अनुसार विसदृश कारण से विसदृश कार्य की उत्पत्ति होती हैं । आप लोग भी असत्य से सत्य की उत्पत्ति मानते हैं । यदि कहें कि हमारे मत में असत्य को सत्य का निमित्तमात्र माना जाता है; उपादान नहीं । तो यह भी नहीं कह सकते ; यदि असत्य निमित्तकरण हो सकता है तो वह उपादान कारण भी हो सकता । यह कोई राजाज्ञा तो है नहीं कि मिथ्यावस्तु निमित्त कारण ही होती है; उपादान नहीं । यदि कहें कि उपादान और उपादेय में अभेद होने के कारण उपादान के मिथ्या तथा कार्य की सत्यता होने पर, सत्य एवम् मिथ्या की एकता का प्रसङ्ग होगा । तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जिस तरह उपादानत्व एवम् उपादेयत्व क्रमशः होते हैं उस तरह सत्यत्व एवम् मिथ्यात्व का क्रमशः अविरोध होगा । यदि कहें कि एक ही वस्तु मे पहले उपादानत्व पीछे उपादेयत्व सम्भव है, किन्तु एक ही स्वरूपतः मिथ्या वस्तु पीछे सत्य कैसे हो जायेगी ? तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जैसे पूर्वकाल मे स्वरूपतः असत् द्रव्य की उत्तर काल में सत् रूप अवस्था होने में कोई विरोध नहीं होता उसी तरह यहाँ भी विरोध नहीं हो सकता है । यदि कहें कि पूर्वकाल में भी मृत्पिण्डादि में पिण्डत्व एवम् घटत्व रहते हैं, क्योंकि उत्तरकाल मे वे उसमें पाये जाते हैं तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उसी तरह यहाँ भी मिथ्योपादानकत्व का तत्कालिक प्रमाण सम्भव है । पूर्वकाल में सम्बन्ध की विवक्षा मानने पर विरोध होगा । अतएव उपादान का मिथ्यात्व श्रुति सिद्ध होने पर भी कार्य के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । सद्विद्या प्रकरण का 'मृतिकेत्येव सत्यम्' तथा 'सन्मूलाः सोम्येमाः' इत्यादि श्रुतियों में असत्कार्य वाद के निरास पूर्वक उपादान की सत्यता ही बतलायी गयी है । इस तरह उपादान के मिथ्या होने पर भी कार्य के सत्यत्वोपपादन की तरह ही कार्यके मिथ्या होने पर भी उपादान की सत्यता सिद्ध होती है । इस तरह मिथ्या वस्तु का उपादान मिथ्या वस्तु ही हो सकती है, अतएव अनिर्वचनीय अज्ञान की कल्पना करनी पड़ती है, यह भी अद्वैती विद्वानों का कथन खण्डित हो गया ।

इस तरह शतदूषणी के मायोपादानत्वान्यथानुपपत्तिभङ्ग नामक चौवनवें वाद का प्रसाद समाप्त हुआ ॥



इदानीं कल्पकत्वासिद्धिमाह किंचेति । उपादानत्वेति । उपादानत्वोपादेयत्वप्रयोजक धर्मवदित्यर्थः । उपादानत्वप्रयोजको धर्मः पिण्डावस्था उपादेयत्वप्रयोजको धर्मो घटावस्था । पूर्वस्मिन्काल इति । अत्र सत्त्वशब्देन मिथ्यार्थनिष्ठतया परैरुक्तं विद्यमानत्वं विवक्षितम् । कार्यस्य

पूर्वं सत्वे कार्यत्वानुपपत्तेः असत्त्वे च सत्वासत्वयोर्व्याघातेनानन्तरं सत्वानुपपत्तेश्च कार्यं मिथ्यात्वे च व्याघाताभावात् पूर्वमसतोपि अनन्तरं विद्यमानत्वम् युज्यत इति हि परैरुच्यते । एवम् च सत्त्वमिथ्यात्वयोरिव सत्त्वमिथ्यात्वयोरपि व्याघातः, अन्यथाऽसत्त्वमिथ्यात्वयोरपि व्याघातप्रसङ्गात् , किञ्च कार्यकारणयोर्भेदः परैरङ्गीकृत एव , ततश्च भेदाभेदसत्यत्वमिथ्यात्वाभ्याम् मिथ्यार्थस्य सत्योपादानत्वमुपपद्यत एवेति भावः । तत्कालेपि प्रामाणिकत्वेति । तद्गोचरप्रमाणस्य तत्कालीनत्वं विवक्षितम् । यद्येवं मिथ्यार्थस्य सत्योपादानत्वसम्भवः , तर्हि 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वैसदजाय' तेति श्रुत्यनुसारात् । मिथ्यार्थस्य सत्योपादानत्वम् भवद्भिः कुतो नेष्यत इत्यत्राह उपादानेति । दृष्टान्तेन उपादानोपादेययोरैक्यप्रतिपादनात् उपादानस्य सत्यत्वकण्ठोक्तेश्च सत्यस्यैवोपादानत्वम् । असदुवेत्यत्र स्थूलावस्था भावो विवक्षित इति भावः । प्रसङ्गा—दाह एव मिति ।

इति श्रीमहाचार्यपरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां मायोपादानत्वान्यथानुपपत्तिर्नाम चतुःपञ्चाशः स्कन्धः ॥५४॥



❀ अथ कार्यान्यथानुपपत्ति (कार्यान्वयानुपपत्ति ?) भङ्गवादः पञ्चपञ्चाशः ॥ ५५ ॥ ❀

बालः क्रीडनकैरिव स्थिरचरैः स्वेनैव निर्वर्तितैः
सङ्कल्पैकवशम्वदो विहरति ब्रह्मादिभिर्जन्तुभिः ।
जिज्ञास्याय मुमुक्षतामिह पुनः प्राप्याय मुक्तात्मनां
लक्ष्मीकौस्तुभलक्ष्मणे नम इदं तस्मै परब्रह्मणे ।

प्रसाद—श्री भगवान् ही सम्पूर्ण जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। वे सृष्टि के प्रारम्भ में 'एकोऽहम् बहुस्याम्' इस श्रुति के अनुसार एक से अनेक होने का सत्य सङ्कल्प करते हैं। और अपने सत्य सङ्कल्प के द्वारा आब्रह्म स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि कर वे उस जगत के साथ उसी तरह लीला रस का अनुभव करते हैं, जैसे कोई बालक किसी खिलौने के साथ खेलता है। वे ही श्रीभगवान् मुमुक्षु जीवों के लिए जिज्ञास्य हैं तथा मुक्त जीवों के परमप्राप्य हैं उन श्रीलक्ष्मी जी तथा कौस्तुभ मणि से विभूषित श्रीभगवान् को हम नमस्कार करते हैं।

बालः क्रीडनकैरिति । स्वेनैवेति । कार्यानुपपत्तिपरिहारस्य विवक्षितत्वात् , निर्वर्तितैरिति । विवर्तव्यावृत्तेः , सङ्कल्पैकवशंवदि इति पराभिमताविद्यावशत्वाभावप्रतीतेः , मुमुक्षताम् प्राप्यायेति सत्ययोरेव मोक्षब्रह्मप्राप्त्योस्साध्यत्वप्रतीतेश्च वादार्थः संगृहीतः ।

ननु बन्धविश्लेषफलकर्तृव्यापारो यदा धातुना विवद्यते तदा मुञ्चेति वत्समिति भवति , बन्धविश्लेषलक्षणकर्मव्यापारो यदा धातुना विवद्यते तदा कर्तुरपि वत्सस्य कर्मवद्भाववविधानात् मुच्यते वत्सः स्वयमेवेत्यात्मनेपदमेव भवति, एवञ्च 'पशवः पाशिताः पूर्व परमेण स्वलीलया । तेनैव मोचनीयास्ते' इति ईश्वरस्यैव मोचकत्वात् बन्धविश्लेषलक्षणकर्मव्यापारविवक्षयैव जीवे मुमुक्षतेः प्रयोगो वाच्यः , तत्र च कर्मवद्भावादात्मनेपदभाव स्यात् अतः कथं शत्रन्त प्रयोग इति चेत् ? अन्तर्भावितण्यर्थतया कर्तृव्यापारप्रयोजकव्यापारवर्तिनो मुचेरिह सन्नन्तस्य प्रयोगात् , स च व्यापार उपासनम् , ततश्च मोक्षसाधनमुपासनं चिकीर्षतां श्रौतत्वायेत्यर्थः । मोचकव्यापारप्रयोजकव्यापारविवक्षायाश्च ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात् मिथ्यात्वाभावे तात्पर्यम् ।

यदाहुः–प्रत्यक्षसिद्धम् श्रुत्यादिसिद्धं च सर्वं कार्यं मिथ्यैव , विकल्पासहत्वात् तथाहि—किं कारणेन कार्यं सम्बद्धमारभ्यते ; उतासम्बद्धम् ? आद्ये सम्बन्धाश्रयतया द्वयोरपि सत्त्वाविशेषात् सव्येतरविषाणयोरिव किं कस्य कारणं कार्यं वा ? असंबद्धत्वे तु असम्बन्धाविशेषात् सर्वं सर्वस्य कारणं भवेत् ; न वा किञ्चित् कस्यचित् । तथाऽभिव्यक्तिवादिभिरुक्तम् , 'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः । असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥' इति ।

(२) तथा कार्यं कारणाद्भिन्नम् ; अभिन्नम् वा ? पूर्वत्र भिन्नत्वाविशेषात् सर्वं सर्वतः स्यात् , न वा कुतश्चित् । उत्तरत्राऽऽत्माश्रयप्रसङ्गः (ज्ञात) । नियतपूर्वसत्कारणम् नियतोत्तरसत्कार्यमिति विभजसे । तथा च स्वप्रागभावकाले स्वयमेवास्तीति कथं ब्रवाः ?

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण तथा श्रुति आदि से सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या ही है, क्योंकि विकल्प करने पर प्रपञ्च की सत्यता की सिद्धि नही हो सकती है । तथाहि प्रश्न है कि क्या कार्य कारण से सबद्ध कार्य उत्पन्न होता है, या असम्बद्ध ही ? यदि कारण से सम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानें तो दोनों के सम्बन्धाश्रय होने से जिस तरह दायें और बायें सिंग की तरह कौन किसका कारण है कौन किसका कार्य ? इस बात का निर्णय नहीं हो पायेगा । यदि असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानें तो फिर किसी भी कार्य का कारण कोई भी असम्बद्ध वस्तु हो हो सकती है । अथवा कोई भी किसी का कारण अथवा कार्य नहीं हो सकेगा । अभिव्यक्तिवादियों ने भी वैसा ही कहा है– असत्वात ; इत्यादि—कार्य का सर्ववस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले कारणों से सम्बन्ध सत्वाभाव के कारण नहीं होता है । कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने पर तो कारण एवम् कार्य की व्यवस्था ही

नहीं हो सकती है। दूसरा प्रश्न हैं कि कार्य कारण से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न मानें तो भिन्न होने के कारण सभी वस्तुएँ सबसे उत्पन्न होंगीं अथवा किसी भी कारण से कोई भी कार्य भिन्न होने के कारण नहीं उत्पन्न होगा। यदि अभिन्न मानें, तो फिर अन्योन्याश्रय दोष का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि कार्य से कारण की अभिन्नता सिद्ध हो जाने पर कारण से कार्य की उत्पत्ति होगी, और कारण से कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर कारण से कार्य की अभिन्तता सिद्ध होगी। किञ्च कार्य और कारण में आप यही भेद मानते हैं कि नियत पूर्व सत्कारण ही नियतोत्तर कालवर्ती सत्कार्य होता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि कार्य अपने प्रागभाव काल में भी रहता है।

किञ्चि दिति। 'कारणम् भवेदि' त्यनुषङ्गः। सर्वतस्या दिति। सर्वम् सर्वस्य कारणम् स्यादित्यर्थः। नवा कुतश्चिदिति। 'किञ्चित्स्यादिति शेषः। दोषतामाह नियतेति।

(३) तथा विकृतादविकृताद्वा उपादानात् कार्योत्पत्तिः ? पूर्वत्र (ऽपि) विकृतिरपि विकृतात् अविकृताद्वेति विकल्पेना (ल्पेऽ) नवस्था। उत्तरत्राविकृतत्वाविशेषात् यावदुपादानसत्त्वमुपादेयारम्भप्रसङ्गः॥ सहकारिसंबन्धादिति चेन्न ; तत्सम्बन्धोत्पत्तिरपि विकृतस्य वा अविकृतस्य वेति विकल्पदुःस्थत्वात् / अस्तु च (वा) विकृतं कार्यारम्भकम्, तत्र किं रुचकादिविकृतिविशिष्टं हेमादि स्वस्तिकारम्भकम्, उत रुचकादिमात्रम् ? अथ हेमादिमात्रमिति। नाऽऽद्यः, स्वस्तिके रुचकादिविकृतिविशिष्टहेमानुपलम्भात्। अत एव न द्वितीयः। हेमानुवृत्तिदर्शनविरोधाच्च। न च तृतीयः, आरम्भकहेमातिरिक्त दर्शनात्, [तत्] प्रत्यभिज्ञानाच्च। वदन्ति हि स्वस्तिकमपि, तदेवेदं हेमेति। न च व्यवस्थितबुद्धि शब्द-संख्या-परिमाणकार्य-कारण-कालादिभेदात्, पिण्डघटयोर्नष्टत्वानष्टत्वभेदात् कारक व्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, नित्यानित्यविभागानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च कारणातिरिक्तकार्यसिद्धिरिति वाच्यम्, रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पभूदलनाम्बुधारादिबुद्धिशब्दान्तरादिभिरनैकान्तिकत्वात्। न चाबाधितत्वे सतीति विशेष्टव्यम्, विशेषणासिद्धेः। प्रत्युत तन्निषेधात्-विगीता बुद्धि-शब्दा (न्तरा) दयो भ्रान्तिसिद्धभेदावलम्बनाः ; दुर्निरूपबुद्धिशब्दान्तरादित्वात्, कम्बुकलधौतबुद्धिशब्दान्तरादिवत्, मध्येऽप्यसत कार्यम्, आद्यन्तयोरसत्त्वात्, शुक्ति [का] रजतवत्, विवादगोचरो भेदव्यवहारः स्वविषयसर्वभेदानुगतैकवस्तुमात्रावलम्बनः, भेदव्यवहारत्वात्, रज्ज्वादिविषयसर्पभूदलनादिभेदव्यवहारवदित्यादिभिः। न चैषां प्रत्यक्षबाधः तर्कानुगृहीतानुमानात् तस्य च दुर्बलत्वात्। अन्यथा ज्वालैक्यप्रत्यक्षविजयप्रसङ्गात्।

प्रसाद—कार्य की उत्पत्ति विकृत उपादान से होती है अथवा अविकृत ? यदि विकृत उपादान से मानें तो प्रश्न है कि विकृति भी विकृत से उत्पन्न होती है अथवा अविकृत से ? इस तरह की

अनन्तापेक्षकत्व रूप अनवस्था होगी। यदि अविकृत उपादान से कार्य की उत्पत्ति मानें तो फिर अविकृत उपादान की सत्ताकालके पर्यन्त सर्वदा कार्योत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा। यदि कहें कि कारण से जब सहकारी का सम्बन्ध होता हैं; तब कार्य की उत्पत्ति होती है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं; क्योंकि यहाँ भी प्रश्न है; कि सहकारी के सम्बन्ध की उत्पत्ति विकृत उपादान से होती है या अविकृत उपादान से? इस विकल्प के कारण यह भी मान्यता अव्यवस्थित होगी। विकृत उपादान को ही कार्य का उत्पादक मानें तो, प्रश्न है कि क्या रुचक आदि विकारों से विशिष्ट हेमादि स्वस्तिकादि कार्यो का उत्पादक है? अथवा रुचकादि मात्र ही उनके उत्पादक हैं? या हेमादि मात्र? प्रथम विकल्प नहीं माना जा सकता है क्योंकि स्वस्तिक में रुचकादि विकार विशिष्ट हेमादि की उपलब्धि नहीं होती है। दूसरा विकल्प इसलिए नहीं माना जा सकता है कि स्वस्तिकादि में हेमादि की उपलब्धि होती है। तीसरा विकल्प इसलिए नहीं माना जा सकता है कि कार्यभूत स्वस्तिक में कारणभूत हेम से अतिरिक्त वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। और उसमें हेम का प्रत्यभिज्ञान भी होता है। लोक में लोग स्वस्तिक को देखकर कहते भी हैं, यह वही सोना है। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि निम्न कारणों से कारण और कार्य में भेद होता है—(१) कारण और कार्य की ग्राहिका बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है। (२) दोनों के वाचक शब्द भिन्न-भिन्न हैं। (३) दोनों की संख्या भिन्न होती है। एक मृत्पिण्ड के अनेक घटादि कार्य होते हैं। (४) कारण और कार्य के परिमाण में अन्तर होता है। (५) दोनों के कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। (६) दोनों के कारण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। (७) नियत पूर्ववर्तित्व एवम् नियतोत्तर कालवर्तित्व के भेद से दोनों के काल भी भिन्न-भिन्न होते हैं। देखा जाता है कि घट काल में पिण्ड नष्ट हो जाता है और पिण्ड काल में कार्य घट नहीं रहता है। यदि कारण और कार्य मे भेद न माना जाय तो कारक व्यापार ही व्यर्थ हो जायेंगे। किञ्च कारण आत्मा नित्य और कार्य घटादि अनित्य हैं। अतएव कारण और कार्य में भेद स्वीकारना चाहिए। तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि शब्द; बुद्धि, संख्या आदि की भिन्नता के कारण और कार्य में भेद मानने पर रज्ज्वादि का सर्प, भूदलन तथा जलधारा आदि को कार्य मानना होगा। यदि कहें कि कार्य होने के लिए शब्द; बुद्धि, संख्या; परिमाण तथा कालादि का भेद रहने पर भी वस्तु का अबाधितत्व होना आवश्यक हैं। रज्जू में प्रतीयमान सर्पादि अबाधित नहीं बाधित है, अतएव वे रज्जू के कार्य नही हैं। किञ्च अबाधितत्व विशेषण भी सन्दिग्धासिद्ध है, किञ्च अबाधितत्व विशेषण का निषेध निम्न अनुमानों से होता है। तथाहि-(१) विवादास्पद बुद्धि शब्दान्तर आदि के आश्रय भ्रान्तिसिद्ध भेद ही हैं, क्योंकि बुद्धि शब्दान्तर आदि का निरुपण असम्भव है, सीपी में प्रतीयमान रजत विषयक बुद्धि, शब्दान्तरादि के समान। (२) कार्य बीच के भी काल में (प्रतीत काल में) भी असत् होता है, क्योंकि वह अपने प्रागभाव काल तथा प्रध्वंसाभाव काल में असत् होता है, सीपी में प्रतीयमान रजत के समान। (३) विवादास्पद भेद व्यवहार का आधार अपने विषयभूत सभी भेदों में रहने वाली एक वस्तु है, क्योंकि वह भेद व्यवहार हैं, रज्ज्वादि में प्रतीयमान सर्प, भूदलन तथा जलधारा आदि के समान। इन अनुमानों का प्रत्यक्ष से बाध भी नहीं स्वीकारा जा सकता है, क्योंकि तर्कानुगृहीत अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष दुर्बल होता है। अन्यथा ज्वालैक्य प्रत्यक्ष ही ज्वालाभेदानुमान के बाधक होने का प्रसङ्ग होगा।

सहकारिसम्बन्धादिति। अविकृतात्कार्योत्पत्तिरिति शेषः। नन्वस्त्यतिरिक्तस्वस्तिको-पलम्भ इत्यत्राह तदिति। तदुपपादयति वदन्तीति। बुद्धीति। एकत्र तन्तव इति बुद्धिः परत्र

तन्तव इति बुद्धिः परत्र पट इति बुद्धिरिति बुद्धिभेदः, तथैव शब्दभेदः, तन्तुषु बहुत्वं पट एकत्वमिति संख्याभेदः, सूक्ष्मत्वं महत्त्वमिति परिमाणभेदः, तन्तुषु कारणत्वं पटे कार्यत्वमिति भेदः तन्तूनाम्पूर्वं काले सत्त्वं पटस्योत्तरकाल एवेति कालभेदः। नित्येति। आत्मा नित्यः पटादिकमनित्यमिति विभागो नित्यप्रकृत्यभिन्नत्वेन स्यादित्यर्थः। रज्ज्वादीति। तन्तुपटगोचरबुद्धिशब्दान्तरादयस्तत्त्वतोभिन्नविषयाः, बुद्धिशब्दान्तरत्वात, परसंख्यापरिमाणे तत्त्वतो भिन्नाश्रिते, संख्या परिमाणान्तरत्वादित्याद्यनुमानं विवक्षितम्। तत्र रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादिबुद्धिशब्दान्तरादिभिरनैकान्त्यमित्यर्थः। असिद्धेरिति। संदिग्धासिद्धेरित्यर्थः। तन्निषेधादिति। अबाधितत्वनिषेधादित्यर्थः एतस्य इत्यादिभिरित्यनेनान्वयः। किं बुद्धेर्बाधो भ्रमत्वज्ञान उत विषयापहार इति विकल्पमभिप्रेत्याद्ये ऽबाधितत्वाभावमाह विगीतेति। भिद्यत इति भेदो घटाद्यर्थः द्वितीय आह मध्येऽपीति, तर्केति। सम्बन्धासम्बन्धविकल्पानुपपत्त्यादिस्तर्कः। व्यक्तिसदसद्भावयोरिति। पूर्वमेवाभिव्यक्तेः सत्त्वे कारकव्यापारवैयर्थ्यादि, असत्त्वे सर्वकालासत्त्वोत्पत्त्यसम्भवादि।

नन्वभिव्यक्तिः प्रागेव सती; सैव कारकव्यापारेणाव्यज्यत इत्यत्राह व्यक्तेरिति। नित्येति। तथा च कारकव्यापारवैयर्थ्यमिति भावः। एवम् जन्मनीति। घटः किमिदानीं सन् उतासन्? आद्ये सतः पश्चादसत्त्वानुपपत्तेः विनाशानुपपत्तिः, द्वितीये विनाशकव्यापारवैयर्थ्यम प्रागेवासत्वादित्यर्थः। एव मसम्भावितोत्पत्तिविनाशत्वात उत्पत्तिविनाशवत्वेन भासमानं कार्यम मिथ्येत्युक्तम्। अतः सदसद्व्यावृत्तविनाशोपलब्धियोगान्यथानुपपत्त्या च मिथ्यात्वमध्यवसीयते इत्याह सदसदिति। विनाश उत्पत्तेरप्युपलक्षणार्थः। कार्यानुपपत्तिलक्षणो मिथ्यात्वं तर्कः श्रुतिस्मृतिभ्यामप्यनुज्ञात इत्याह स्मरन्तिचेत्यादि।

ननु 'प्राणावसत्य' मिति श्रुत्या प्राणसत्यत्वं प्रतिपाद्यते; न च तद्व्यतिरेकेण कार्यमिथ्यात्वे तात्पर्यमिति निर्वाहः शक्यः, कार्यस्य तत्रानुक्तेः, इतरतद्विरोध इत्यत आह एतेनेति वक्ष्यमाणेनेत्यर्थः। तत्रापिहीति। यथा राजराजो मन्मथमन्मथः पवित्राणां पवित्रमित्यादौ ऐश्वर्यसौन्दर्यपावनत्वानामुत्कर्षापकर्षौ गम्येते; तथात्र सत्यत्वोत्कर्षापकर्षौ गम्येते, तत्रापकृष्टम प्राणगतं सत्यत्वं व्यावहारिकसत्यत्वं उत्कृष्टम ब्रह्मगतं पारमार्थिक सत्यत्वमित्यर्थः। नश्वरत्वादिति। तावदेव च बाधितत्वमित्यमिति भावः।

(४) किञ्च यदि कारणे पूर्वं कार्यमसत; कथं तेन जनयितुं शक्यम्? न हि प्रलयोदकावसिक्तेष्वपि प्रस्तरेषु अङ्कुराः प्ररोहन्ति। न च पीते विश्वकर्मणाऽपि नीलमुत्कीर्यते (कीर्येत)। अत पूर्वमेव तत्र सत, सिद्धत्वादेव न साध्यं स्यात। तत एव कारकव्यापारनैरर्थ्यं [नैरर्थक्यम्] च॥ व्यङ्ग्यत्वमस्त्विति चेन्न, व्यक्तिसदसद्भावयोरप्यनुयोगावतारात्। व्यक्तेरपि व्यङ्ग्यत्वेऽनवस्थानात्, नित्यव्यक्तत्वे घटादेरपि नित्यव्यक्तिप्रसङ्गात्।

[५] किञ्च भावात् अभावाद्वा घटाद्युत्पत्तिः ? नाऽऽद्यः, अनुपमृदितात्पिण्डा देर्घटाद्युत्पत्त्य [त्तेर] दर्शनात् । न द्वितीयः, घटादेरप्यभावात्मकत्वप्रसंगात् । एवमन्येऽपि परश्शता विकल्पाः सुलभाः ।

एवं जन्मनि निरस्ते विनाशोऽपि निरस्त एव, तुल्यन्यायत्वात् । [७] सदसद्व्यावृत्तिविनाशोपलब्धि (लब्ध्य) योगाच्च तदुभयकोटिविलक्षणतया मिथ्यात्वं स्वध्यावसानम् । [७] स्मरन्ति च, 'अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते । तत्तु नाशि न सन्देहो नाशिद्रव्योपपादितम् ॥' इति । 'यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूयो न तत् तथा तत्र कुतो हि तत्त्वम् ॥' इति च । श्रुतिश्च तदुपबृंहिता, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादिका । न च, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिना ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कार्यभूतस्यापि मृत्तिकादिद्रव्यस्य सत्यत्वमिह कण्ठोक्तमिति भ्रमितव्यम् , भिक्षुपादप्रसा (स) रणन्यायेन व्यावहारिकसत्यत्वा ता) नुपमर्देन घटादिमिथ्यात्वप्रतिपादने तात्पर्यात ; अन्यथा दार्ष्टान्तिकप्रतिकूलत्वप्रसङ्गात । मृत्तिकातिरेकितद्विकारमिथ्यात्ववत मूलकारणातिरेकिमृत्तिकादिसमस्तस (त) द्विकारमिथ्यात्वे हि वाक्यतात्पर्यम् । 'एतेन, 'प्राणा वै सत्यम्' इति श्रुत्यन्तरमपि निर्व्यूढम् । तत्रापि हि, 'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति पूर्वोत्तरवाक्यांशपरामर्शेन मध्यगतप्राणविषयसत्यतोक्तिः व्या [सांव्य]-वहारिकीं सत्यताभभिसन्धायेति गम्यते ।

तदेवं श्रुतिस्मृत्यनुमानतर्कैः सिद्धं कार्यमिथ्यात्वम् । [८] नश्वरत्वाच्च जगतो मिथ्यात्वं निपुणाधियां स्वध्यवसानमिति ॥

प्रसाद—किञ्च यदि कारण में पहले कार्य अविद्यमान रहता है तो फिर उस कारण से उस कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ? प्रलयकालीन जल से सींचित (अर्थात् अत्यन्त शुष्क) पत्थर पर अंकुर नहीं उत्पन्न हो सकते हैं । पीले द्रव्य से विश्वकर्मा भी नील वस्तु नहीं बना सकते हैं । यदि कहें कि यदि कारण में पहले कार्य था तो सिद्ध होने के कारण वह साध्य (कार्य) नहीं हो सकता है । और सिद्ध होने के ही कारण साध्य के जनक कारक व्यापार भी व्यर्थ हो जायेंगे । कार्य को कारण व्यङ्ग्य भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि प्रश्न है कि व्यंग्यवादियों के मत में घटादि कार्य व्यक्ति का सद्-भाव है कि नहीं ? यदि व्यक्ति को भी कारण व्यङ्ग्य मानें तो फिर अनवस्था दोष होगा । यदि कार्य व्यक्ति को नित्यव्यक्त मानें तो फिर घटादि कार्य व्यक्तियों के नित्यव्यक्ति का प्रसङ्ग होगा । किञ्च प्रश्न है कि घटादि की उत्पत्ति भाव पदार्थ से होती है? या अभाव पदार्थ से? प्रथम पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि लोक में देखा जाता है कि घटादि कार्य पिण्डादि कारण के विनष्ट हुए बिना नहीं

उत्पन्न होते हैं, यदि अभाव से घटादि कार्यों की उत्पत्ति मानें तो घटादि कार्यों के भी अभावात्मक होने का प्रसङ्ग होगा। इस तरह सत्कार्यवाद में अनेकों विकल्प का अवसर होने से सत्कार्य वाद उचित नहीं है। इस तरह उत्पत्ति का खण्डन हो जाने से उपर्युक्त तर्कों के ही आधार पर उत्पत्ति के समान विनाश का भी खण्डन हो जाता है। इस तरह सत् एवम् असत् दोनों से भिन्न रूप से उत्पत्ति एवम् विनाश के न होने के कारण उसे सदसद्‌विलक्षण मिथ्या ही मानना चाहिए। कहा भी गया है—आत्मा विनाश रहित तथा परमार्थं हैं। विनश्वर द्रव्य से युक्त वस्तु तो विनश्वर ही होती है। यच्चान्यथात्वम्० इत्यादि—हे द्विज ! जो वस्तु बदलती रहती है वह जिस प्रकार की प्रतीत होती है वह उसी प्रकारकी नहीं है। अतएव तात्त्विक कैसे हो सकती है। श्रुति भी कहती है–'वाचारम्भणम् विकारोनामधेयम्' अर्थात् नाम रूप वागालम्बन मात्र है। 'मृत्तिका मात्र ही तात्त्विक है। इस श्रुति में ब्रह्म से भिन्न कार्यभूत मृतिका द्रव्य को कण्ठतः यहाँ सत्य बतलाया गया है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए, ऐसा मानने पर भिक्षु-पाद प्रसारण न्याय से व्यावहारिक नित्यता का प्रतिपादन कर श्रुति का तात्पर्य यहाँ घटादि के मिथ्यात्व के प्रतिपादन में है। इस वाक्य का तात्पर्य मृतिका से भिन्न उसके समस्त कार्यों के मिथ्यात्व के समान जगत् के मूल कारण ब्रह्म से भिन्न मृतिकादि समस्त विकारों के सत्यत्व के प्रतिपादन में है। इस तरह से 'प्राणा वैसत्यम्' प्राण सहचारी जीव सत्य हैं; इस श्रुति का भी निर्वाह हो जाता है। वहाँ भी श्रुति कहती है—अथ नामधेयम्० इत्यादि। अब नामधेय का वर्णन किया जाता है। ब्रह्म सत्य का सत्य है। प्राण शब्द वाच्य जीव हैं। ब्रह्म उनसे भी सत्य है। इस वाक्य में भी आगे एवम् पीछे के वाक्यों के अंश का परामर्श करने से वाक्य के बीच में आये हुए प्राण शब्द वाच्य जीव की सत्यता व्यावहारिकी सिद्ध होती है। इस तरह श्रुतियाँ, स्मृतियाँ अनुमान एवम् तर्क सभी कार्य के मिथ्यात्व को बतलाते हैं। अच्छी तरह से विचार करने वालों को यह निश्चय होना आसान है कि जगत् मिथ्या है, क्योंकि वह विनश्वर है।

सिद्धान्तः—तत्र (अत्र) ब्रमः—[१] यदुक्तं कारणेन कार्यं सम्बद्धमारभ्यते उतासम्बद्धमिति तत्रासम्बद्धमित्येव पक्षः। न हि कारणानां मिथस्सम्बन्धमन्तरेण कार्येणापि सह सम्बन्धः कार्योत्पत्त्यङ्गतया दृष्टचरः, येन तदङ्गीकुर्मः। यत्तु असम्बन्धाविशेषात् सर्वं सर्वस्य कारणं भवेदिति–तत् तदा स्यात्, यद्यसम्बद्धत्वमेव कार्यारम्भप्रयोजकं स्यात्। न च तदस्ति, तत्तद्वस्तूनां प्रतिनियतशक्तीनां प्रतिनियतकार्यारम्भकत्वस्यान्वयव्यतिरेकि [क] सिद्धत्वात्। यदि कारणानां कार्यसम्बन्धोऽपि कार्यारम्भेऽङ्गमिष्यते, तदाऽनङ्गाङ्गीकारः। अविषयवृत्तित्वं वा, कारणानां परस्पर (दृष्टस्य) संबन्धस्य कार्ये संचारणात्। युक्ताङ्गत्यागो वा, असिद्धत्वेनासम्बन्धस्य साध्यतां प्रत्युपयुक्तस्य त्यागादिति।

प्रसादः—उपर्युक्त पूर्वपक्ष का निम्न उत्तर है-यह जो पूछा गया है कि कारण से सम्बद्ध रह कर ही कार्य उत्पन्न होता है कि असम्बद्ध रहकर ? तो हम असम्बद्ध कार्य की ही उत्पत्ति मानते हैं। यह कहीं देखा नहीं गया है कि कारणों के परस्पर में सम्बद्ध हुए बिना उनका कार्य से भी सम्बन्ध भी

कार्योत्पत्ति के लिए आवश्यक हो । अतएव सम्बन्ध स्वीकारना अनावश्यक है । यह जो कहा गया है कि असम्बन्ध सामान्य के कारण सभी वस्तुएं सबों का कारण हो जायेंगी तो यह तब संभव था जब कि सम्बद्धता को ही कार्यों का उत्पादक माना जाता । असम्बद्धता को हमारे मतमें कार्यारम्भ का प्रयोजक माना नहीं जाता । सीमित शक्ति वाली तत्-तत् वस्तुओं में तत्-तत कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति अन्वय व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होती है । यदि आप कारण का कार्य से सम्बन्ध होना भी कार्योत्पादन के लिए आवश्यक मानें तो उसे (सम्बन्ध को) कार्योत्पत्ति का अङ्ग नहीं माना जा सकता है । अथवा उसमें अविषयवृत्तिता होगी, क्योंकि परस्पर कार्यों में देखे गये सम्बन्ध का कार्य में संचार होगा । या युक्ताङ्ग त्याग रूपी दोष होगा , क्योंकि सम्बन्ध के सिद्ध न हो सकने के कारण साध्योपयोगी असम्बन्ध का त्याग करना होगा ।

युक्ताङ्गत्यागमुपपादयति असिद्धत्वेनेति ।

(२) एतेन भिन्नत्वाभिन्नत्वविकल्पोऽपि निरस्तः ; दण्डचक्रादिविलक्षणस्यैव घटादेस्तत्र (त) उत्पत्तिदर्शनात् । उपादानेऽपि हि कार्यकारणयोः (उपादानकारणकार्यावस्थयोः) अत्यन्तभेद एव 'हि' दृश्यते । अवयविवादिनां तु द्रव्ययोरपि । एवमपि चेदभेदोऽभ्युपगम्येत 'ऽप्यर्थ्येत', तर्हि युक्ताङ्गत्यागः ; कार्यकारणभावोपयुक्तस्यैव भेदस्य परित्यागात् / अयुक्ताङ्गस्वीकारो वा , तद्विरोधिन एवाभेदस्य स्वीकारादिति । अन्यथा स्वव्याघातः सार्वभौमः । एवमुत्तरेष्वपि विवेक्तव्यम् ।

प्रसाद—इसी प्रतिपादन से कारण से कार्य भिन्न है या अभिन्न पूर्वपक्षी का यह भी विकल्प खण्डित हो गया । क्योंकि देखा जाता है कि दण्डचक्रादि से विलक्षण ही घट उन सभी कारण समूहों से उत्पन्न होता है । किन्च कार्य का अपने उपादान कारण से भी अत्यन्त भेद देखा जाता है । अवयवीवादियों के मत में तो कारण द्रव्य से कार्य द्रव्य भी भिन्न ही होता है । इस तरह के भेद के रहने पर भी यदि कारण और कार्य में अभेद स्वीकारा गया तो युक्ताङ्ग का त्याग नामक दोष होगा । क्योंकि इस अभेद की मान्यता मे कार्यकारण भाव के लिए उपयोगी भेद का त्याग किया जाता है । अथवा अनावश्यक अभेद को स्वीकारने के कारण अयुक्ताङ्ग स्वीकार का दोष होगा । अन्यथा आप के मत में स्ववचन विरोध का ही प्राबल्य होगा । इसी तरह से आगे के भी विकल्पो मे भेद पूर्वक विचार करना चाहिए ।

कार्यकारणयोरिति । द्रव्यस्य कार्यत्वघटकीभूता साक्षादुपत्तियोग्यावस्थात्र कार्यशब्देन विवक्षिता । अन्यथेति । एवमप्यनेन तर्काभासेन कार्यनिरासे मिथ्याभूतमपि कार्यमेवं निराक्रियेत । मिथ्यात्वादेव सर्वमुपपद्यत इति चेत् , तत्किं राजशासनेन ? दर्शनादिति चेत् , तर्हि तत एवास्मत्पक्षेऽपि कारणासम्बद्धम् ततो भिन्नम् च कार्यमिति किं न सेत्स्यति ? एव मिति । विकृताविकृतादिविकल्पेष्वपि स्वव्याघातकत्वपर्यन्ता दोषा ग्राह्या इत्यर्थः ।

३—यत्तु विकृतादविकृताद्वोपादानात् कार्यारम्भ इति ; तत्र विकारशब्देन यत्किंचिदागन्तुकधर्म (विशेष) विवक्षायाम् , विकृतादिति ब्रूमः । सहकारिसम्बन्धोऽपि

हि विकार एव । अथ कार्यरूपेण विकृतत्वं विवक्ष्यते , तदा त्व (अ) विकृतादिति वदामः , अन्यथा आत्माश्रयप्रसङ्गात् । यत्तु अविकृतत्वाविशेषात् सर्वदोत्पादकत्वप्रसङ्ग इति-तन्न , अविकृतस्यैव सहकारिचक्रसन्निपातेन कालविशेषनियतकार्यारम्भोपपत्तेः । यत्तु सहकारिसम्बन्धोऽपि विकृतस्य वा अविकृतस्य वेति विकल्पितम् ; तदपि सहकार्यन्तरसम्बद्धस्यैवेति परिहृतम । न चात्रानवस्था दोषः; सिद्धानवस्थारूपत्वात् । न हि पूर्वं पूर्वं कारणं नास्तीत्युत्तरो [पूर्वपूर्वकारणमस्तीत्यु] त्तरासिद्धिः । न च पूर्वपूर्वाभावे प्रमाणमस्ति , प्रत्युत कार्यमेव प्रमितं सत कारणप्रवाहे प्रमाणं भवति । अन्यथा कार्यानुदयप्रसंगात् । न च नोपलभ्यते कार्यं उपलभ्यमानमपि वा किं बाध्यते ? सर्वकार्यबाधे स्वप्रवृत्तिविरोधात । कतिपयकार्य (यन्तर) बाधेत्वबाधितकार्यान्तरसद्भावेन कार्यकारणभावमात्रस्यापलपितुमशक्यत्वात । अन्ततो बाधस्यापि कार्यत्वेन कर्तुमेवाशक्यत्वप्रसङ्गः (कयस्त्वप्रसंगः ?) । बाधस्यापि बाधे व्याघातः स्यादिति ।

प्रसाद—पूर्वपक्षी ने यह जो पूछा है क्या कार्य विकृत उपादान से उत्पन्न होता है ; अथवा अविकृत उपादान से ? तो इसके विषय में हमारा कहना है कि यदि आपको विकृत शब्द के द्वारा कोई आगन्तुक धर्म विशेष अपेक्षित है तो मैं विकृत उपादान से कार्य की उत्पत्ति मानता हूं । क्योंकि सहकारी का सम्बन्ध भी विकार ही है । यदि आपको कार्य रूप से विकृतता अपेक्षित हो तो फिर हम अविकृत उपादान से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं । यदि ऐसा न हो तो फिर अन्योन्याश्रय दोष होगा । पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि अवकृतत्व सामान्य के कारण उपादान के सर्वदा कार्य उत्पन्न करने का प्रसङ्ग होगा, वह उचित नहीं है, क्योंकि अविकृत भी उपादान सहकारी के सम्बन्ध के विना कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता । जिस समय उसका सहकारी से सम्बन्ध होता है, उसी समय वह कार्य उत्पन्न करता है । पूर्वपक्षी ने यह जो विकल्प किया है कि सहकारी का भी सम्बन्ध विकृत उपादान से होता है अथवा अविकृत उपादान से ? तो उसका उत्तर है दूसरे सहकारी से सम्बद्ध ही उपादान से सहकारी का सम्बन्ध होता है । सिद्ध अनवस्था होने के कारण यहाँ पर अनवस्था दोष की कल्पना नहीं की जा सकती है । पूर्व पूर्व कारणों के होने कारण उत्तरोत्तर कारणों की असिद्धि नहीं हो सकती है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि पूर्व पूर्व कारणों के अभाव है, क्योंकि प्रामाणिक कार्य कारण प्रवाह की सत्ता में प्रमाण है । यदि ऐसा न हो तो फिर कार्य की अनुत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि; कार्य की उपलब्धि ही नहीं होती हैं या उपलब्ध कार्य का बाध हो जाता है ? क्योंकि सभी कार्यों का बाध हो जाने पर अपनी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । यदि कुछ ही कार्यों का बाध मानें तो अविद्या के कार्यों के सद्भाव के द्वारा कार्य कारण भाव का अपलाप नहीं किया जा सकता है । किञ्च बाध भी कार्यान्तर्गत है, अतएव उसके रहते कार्य का अपलाप नहीं किया जा सकता है । बाध का भी बाध मानने पर तो सम्पूर्ण कार्यों के सत्य होने के कारण स्ववचन विरोध दोष होगा ।

स्वपक्षनिर्वाहमाह यत्तु विकृतादिति । सहकार्यन्तरसम्बद्धस्येति । सिद्धान्ते उपादानस्य

नित्यत्वात् सहकार्यन्तरसम्बन्धे नानवस्था दोष इति भावः। यथा निश्चितप्रामाण्यस्यैव ज्ञानस्य संशयनिवृत्त्याद्युपयोगित्वे प्रामाण्यस्य परतस्त्वमते प्रामाण्यज्ञानेऽनवस्था सा च साध्यत्वान्मूलक्षयकरीति दोषः न तथेयमित्यभिप्रायेणाह सिद्धेति। अनवस्थाया दोषत्वप्रयोजकं मूलक्षयकरत्वमसिद्धत्वं च नास्तीति क्रमेणाह न हीत्यादिना। सर्वकार्यबाध इति। असद्विलक्षणकार्यस्वरूपाविरोधिबाधविवक्षायां तादृशेनापि कार्येण कारणप्रवाहस्यानुमातुं शक्यत्वात् सहकार्यन्तरसम्बन्धस्य सहकारिसम्बन्धसम्भवात् सहकार्यन्तरसम्बन्धस्य कार्यारम्भकत्वे दोषाभावाद्विकृताविकृतादिविकल्पमूलतर्काप्रवृत्तेर्मिथ्यात्वसाधनायोगात् मिथ्यात्वं साधयता स्वरूपासत्यपर्यवसित एव बाधो वाच्यः, एवञ्च स्वप्रवृत्तिविरोधः; मिथ्यात्वसाधनलक्षणकार्यस्याप्यसिद्धेरित्यर्थः। सर्वकार्यबाधपक्षे दोषान्तरमाह अन्तत इति। इष्टापत्तिमाशङ्क्य परिहरति बाधास्यापीति। प्रपञ्चबाधस्य बाधेप्रपञ्चसत्त्वसिद्धेरित्यर्थः।

यत्तु रुचकादिविकृतिविशिष्टं हेमादि; (हेमातिरिक्त) रुचकादिमात्रं वा; हेमादिमात्रं वा स्वस्तिकारम्भकमिति विकल्पितम्—तत्र आरम्भकमिति किं स्वस्तिकनिर्माणोपयुक्ताकारविशिष्टं विवक्षितम्; उत तदुपयुक्ताकार एव? अथवा रुच (स्वस्ति) काश्रयमात्रमिति, आद्ये रुचकादिविकृतिविशिष्टमिति ब्रूमः। न च स्वस्तिके रुचकाकार-(ाकारित) हेमानुपलम्भविरोधः, कार्योपयुक्ताकाराणां कार्येऽप्यनुवृत्तेरनपेक्षितत्वात्। तदपेक्षणे चानङ्गाङ्गीकारप्रसंगात्। केचन कारणाकाराः कार्येऽप्यनुवर्तन्ते, केचित्तु निवर्तन्त इति यथादर्शनमंगीकार्यत्वात्। द्वितीये तु रुचकादिमात्रमिति वदामः। न च हेमानुवृत्तिदर्शनविरोधः, उक्तो (दत्तो) त्तरत्वात् कारणदशावच्छेदकाकारनिवृत्तावप्याश्रयतयोपयुक्तस्य द्रव्यस्य तदाकारविशेषस्य च नाशकाभावादनुवृत्त (त्व) स्य दुर्निवारत्वात्। तृतीये तु हेममात्रमित्येव तत्त्वम्। न चारम्भकहेमातिरिक्तं न दृश्यत इति वाच्यम्, स्वहृदयसंवादात्, अन्यथा आरम्भकमपि न दृश्यत इति वक्तुं शक्यत्वात्। अतिरिक्तं तु दृश्यते; तत् किमवयवि द्रव्यान्तरम्, उत तदारम्भकतयाऽभिमतावस्थान्तरमात्रम्, उत विवर्तविशेष इत्येवमादिको हि विवादः। हेमप्रत्यभिज्ञानं तु न स्वस्तिकप्रतीत्यपह्नवक्षमम्। हेम्न एव स्वस्तिकविशेषितत्वेन प्रत्यभिज्ञोपपत्तेः। अन्यथा पूर्वानुभूतातिरिक्ताकारमन्तरेण कथं सा प्रत्यभिज्ञा? न हि यत्किंचिद्देशकालावस्थादिविशेषमन्तरेण सोऽयमित्युल्लेखः। अन्यथा स इत्येव स्यात्, अयमित्येव वा।

प्रसाद—पूर्वपक्षी ने यह जो पूछा है कि क्या रुचकादि विकारों से विशिष्ट ही हेमादि स्वास्तिक के आरम्भक हैं? या रुचकादि मात्र? अथवा हेमादि मात्र ही? तो इसके विषय में प्रष्टव्य है

कि क्या आरम्भक शब्द का अर्थ स्वस्तिक निर्माणोपयुक्त विशिष्टता मानते हैं; या स्वस्तिक निर्माणोपयोगी आकार ? अथवा स्वस्तिकाश्रय मात्र ? यदि प्रथम अर्थ मानें तो मैं रुचकादि विकार विशिष्ट हेमादि को स्वस्तिकादि का आरम्भक मानता हूं, क्योंकि स्वस्तिक मे भी रुचकाकाराकारित हेम (स्वर्ण) की उपलब्धि होती है । यह कोई आवश्यक भी नहीं है कि कार्य के लिए उपयोगी कारण के आकार की अनुवृति कार्य में भी हो । यदि आप अपेक्षित भी मानें तो भी इस आकार को कार्य का अङ्ग नहीं माना जा सकता है । उपलब्धि के अनुसार यही माना जाता है कि कारण के कुछ आकारों की कार्यमें अनुवृत्ति होती है और कुछ की नहीं । द्वितीये तु० इत्यादि—यदि आरम्भक शब्द का अर्थ आप कार्य निर्माणोपयोगी आकार मात्र मानें तो हम रुचकादि मात्र को स्वस्तिकादि का आरम्भक मानते हैं । इस पक्ष में कार्य में हेमानुवृत्ति से विरोध का कोई प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर मैं दे चूका हूँ । क्योंकि आप रुचकाकृति मात्र को कार्योपयुक्त आकार मानते हैं । उपादानभूत हेम की निवृत्ति हो सकने के कारण उसकी कार्य में अनुवृत्ति होने में कोई भी विरोध नहीं हैं । यदि आप आरम्भक शब्दका अर्थ स्वस्तिकाश्रय मानें तो मैं भी हेमादिमात्र को स्वस्तिक का आरम्भक मानता हूँ । यदि कहें कि स्वस्तिक में उसके आरम्भक हेम व्यतिरिक्त की उपलब्धि नहीं होतीं, तो इस तरह की बात आप अपने हृदय के विपरीत कर रहे हैं, अन्यथा आप यह भी कह सकते हैं कि आरम्भक हेम की भी उपलब्धि नहीं होती है। हेमादि व्यतिरिक्त की उपलब्धि होती है, किन्तु विवाद इस बात का है कि वह क्या दूसरा अवयवी द्रव्य है ? या स्वस्तिक का आरम्भ करने वाला अवस्था विशेष है ? अथवा विवर्त विशेष है?स्वस्तिक की प्रतीति हो और हेम की प्रतीति न हो ऐसा हो नहीं सकता है । क्योंकि स्वस्तिकाकार से विशिष्ट हेम की ही कार्य में भी उपलब्धि होती है । अन्यथा पूर्वनुभूत आकार से अतिरिक्त आकार से बिना उसे प्रत्यभिज्ञा कैसे कहा जा सकता है ? देश, काल एवम् अवस्था का भेद हुए विना यह वही है, इस तरह से कहा ही नहीं जा सकता है । और न तो ' वह है' या ' यह है ' इस तरह से ही कहा जा सकता है ।

नचेति । रुचकादिमात्रस्यारम्भकत्वे यः पूर्वपक्षे दोष उक्तः, स इह नास्तीत्यर्थः । उक्तोत्तरत्वा दिति । त्वयैव रुचकाकृतिमात्रस्य कार्योपयुक्ताकारत्वस्योक्तत्वादित्यर्थः । एवञ्च हेम्न उपादानत्वस्यानिवर्तितत्वात्तदनुवृत्तौ न विरोध इति भावः । तदाकारेति । हेमाकारम् । तदारम्भकतयेति । अभिमतस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरमित्यर्थः । अन्यथा अतिरिक्ताकारयोगश्च प्रत्यभिज्ञा विरोधित्व इत्यर्थः । पूर्वेति । पूर्वानुभूताकारम् अतिरिक्ताकारम् चान्तरेणेत्यर्थः । अवस्थादिविशेषः—अवस्थादिभेदः । तालद्वयादिविषयीकरणमन्तरेण प्रत्यभिज्ञा न सम्भवतीत्यर्थः ।

यत्तु बुद्धिशब्दान्तरादौ, कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसंगे नित्यानित्यविभागानुपपत्ति प्रसंगे च रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादिकं निदर्शितम् ; तदपि देकेकालादिप्रतिपन्नोपाधौ बाधाभावादेव परिहृतम् । बाधकतया अभ्युपगताश्च प्रत्येकं परिहियन्त एव । अतएव दुर्निरूपबुद्धिशब्दान्तरादित्वादिति हेतुरपि निरस्तः ।

यत्तु मध्येऽप्यसत् कार्यम् आद्यन्तयोरसत्त्वादिति प्रयुक्तम्—तदप्यबाधितसत्त्वोपलम्भेन बाधितम् । अन्यथा मध्येऽप्यनारोपितं कार्यम् , आद्यन्तयोरनारोपितत्वादिति

वक्तुं शक्यत्वात् । अस्य चोपलम्भानुवर्तित्वेन प्रबलत्वादनेन पूर्वस्य बाध एव वा । अपिच कार्यमाद्यन्तयोः सत् ; अध्यस्तं वा, मध्ये सत्त्वात् , मध्येऽध्यस्तत्वाद्वे (त्य्वे)ति सांख्यनयेन त्वन्नयेन वा प्रयोगे किं वक्ष्यसि ? उपलम्भविरोधादिकमिति चेत्-तुल्यम् ।

प्रसाद—जो कि बुद्धि एवम् शब्द आदि के भेद होने पर कारक व्यापार के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग होने पर तथा नित्य एवम् अनित्य वस्तु भेदानुपपत्ति का प्रसङ्ग होने पर रज्जु आदि अधिष्ठान मे प्रतीत होने वाले सर्प आदि का उदाहरण दिया गया है, उसका भी खण्डन देश एवम् काल आदि उपाधियों की भिन्नताके कारण बाध मात्र से ही हो जाता है । प्रपञ्च आदि के बाधकों का भी खण्डन हम करते ही है अतएव बुद्ध्यन्तर शब्दान्तर आदि के दुर्निरूप होने के कारण; यह पूर्वपक्षी को अभिमत हेतु भी निरस्त हो गया । यह जो पूर्वपक्षी ने कहा है कि भूत काल एवम् भविष्यत्काल में न होने के कारण वर्तमान काल में भी कार्य को असत् ही मानना चाहिए ; वह भी वर्तमान काल में कार्य की सत्ता की उपलब्धि के द्वारा ही खण्डित हो जाता है । अन्यथा पूर्वपक्षी के विपरीत यह भी तो कहा जा सकता है कि कार्य वर्तमान काल में भी ब्रह्म में आरोपित नहीं है क्योंकि वह अतीत एवम् अनागत काल मे आरोपित नहीं रहता है । अथवा वर्तमान काल में कार्य की उपलब्धि के अनुवर्तित होने के कारण, उसके द्वारा अतीत एवम् अनागत काल में उसके सत्त्वाभाव का बाध हो जाता है । किञ्च यदि हम जैसा कि सांख्य कहते हैं—कार्य आदि और अन्त में रहता है क्योंकि वह मध्य में भी रहता है, अथवा जैसा कि तुम (अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि कार्य अतीत एवम् अनागतकाल में अध्यस्त रहता है , क्योंकि वह अपने वर्तमान काल में अध्यस्त होता है-वैसा ही हम भी कहें तो फिर तुम क्या उत्तर दोगे ? यदि उपलम्भ का विरोध के कारण कार्य का अभाव मानें तो वर्तमान उपलम्भ में उपलम्भ सद्भाव के कारण उसका अतीत अनागत काल में आपको सद्भाव भी स्वीकारना चाहिए ।

निदर्शितमिति । व्यभिचारस्थानतयोदाहृतमित्यर्थः । अबाधितत्वे सतीति विशेष्यते , बाधश्च प्रतिपन्नदेशकालोपाधौ निषेधः, तदभावश्च घटादेः सिद्ध एवेत्यर्थः । प्रतिरोधमुक्त्वा बाध मप्याह अस्यचेति । सांख्यनयेन-सांख्यप्रयोगमनुसृत्येत्यर्थः । त्वन्नयेनेति । त्वदङ्गीकृतहेतुनेत्यर्थः, उपलम्भेति । वक्ष्याम इत्यनुषङ्गः ।

यच्च विवादगोचरो भेदव्यवहारः स्वविषयसर्वभेदानुगतैकवस्तुमात्रा (त्र) लम्बः । इतिज्ञातम्-तत्र किं मृत्पिण्ड घटैकोपादानकघटशरावादिभेदव्यवहारमात्रं पक्षीक्रियते, उत सर्वभूदलनादिभेदव्यवहारविलक्षणः सर्वोऽपि ? पूर्वत्र श्रुतिनिदर्शितमृत्पिण्ड-लोहमणि-नख निकृन्तनादिभेदव्यवहारैरनैकान्त्यम् (रनैकान्तः) । न हि तत्र मृदादिकमनुवर्तते । पृथिव्यादिकमनुवर्तते इति चेत् ; तदाऽस्तु पृथिव्यादिभेदव्यवहारैः । अथ तत्रापि प्रकृतिभूताविद्यानुवृत्तिं पश्यसि, तथापि ब्रह्माविद्ययोः भेदव्यवहारेणानैकान्त्यं दुस्त्यजम् । न हि ब्रह्माविद्यानुगतं वस्त्वन्तरमिष्यते । न च ब्रह्मैवोभयत्रा (वोभयोर)नुवर्तते ; ब्रह्मणि ब्रह्माध्यासानभ्युपगमात् ; ब्रह्मभेदानभ्युपगमाच्च । अभ्युपगमे च तद्भेदव्यवहारेण तदेव स्यात्

एतेनोत्तरः कल्पोऽपि दत्तोत्तरः । ब्रह्माविद्याभेद (व्यवहार) स्यापि पक्षीकारे बाधात्, तद्बहिष्कारे तु तेनैवानैकान्त्यादिति । किञ्च, वस्तुशब्देन परमार्थविवक्षायां दृष्टान्तासिद्धिः; न हि रज्ज्वादेः सत्यत्वमिच्छसि । अथ प्रतीयमानमात्रविवक्षा, तदा वस्तुमात्रालम्बन इति वक्तुं न शक्यते । आरोपितस्यापि घटादेरालम्बनत्वस्यावर्जनीयत्वादिति । यत्तु तर्कानुगृहीतानुमानात् प्रत्यक्षस्य दौर्बल्यं ज्वालैक्यप्रत्यक्षे निदर्शितम्, तदप्यसत्, अनुग्राहकतयाऽभिमतानां तर्काणामपाकृतत्वात् । ज्वालैक्यप्रत्यक्षं तु सादृश्यादिदोषसम्भवात्, निर्वापितारोपितेऽपि तथैव प्रत्यभिज्ञानदर्शनात्, अनन्यथासिद्धसामग्र्यनुवृत्त्यादिहेतुबलात् तत्र च क्वोपजीव्यविरोधादिप्रसङ्गाभावाच्च बाध्यतामनुभवतीति युक्तम्, इह तु विपरीतमिति विशेषः ।

प्रसाद—किञ्च आपने यह जो प्रतिज्ञा की है कि विवादास्पद भेदव्यवहार का आश्रय सभी भेदों में अनुवर्तित होने वाली एक वस्तु है; तो मैं पूछता हूँ कि, आप मृत पिण्डादि सभी उपादानों में होने वाले सभी घट शख आदि भेद मात्र को पक्ष बनाते है, अथवा सर्प, भूदलन आदि भेद व्यवहारों से भिन्न को ? यदि पहला पक्ष मानें तो श्रुति में प्रदर्शित मृत्पिण्ड, लोहमणि और नखकृन्तन आदि भेद व्यवहारों में यह भेद व्यवहार अनैकान्त होगा । क्योंकि मृत्पिण्ड आदि में वृदादिक की अनुवृत्ति नहीं होती है । यदि कहें कि वहां पर पृथिवी आदि ही अनुवर्तित होते हैं, क्योंकि मृतिका आदि को सत्य बतलाया गया है । तो फिर पृथिवी आदि के भेद व्यवहार के साथ अनैकान्तिकता होगी ही । यदि पृथिवी आदि के भेद व्यवहारों में अविद्यानुवृत्ति को मानें तो भी ब्रह्म और अविद्या में भेद का व्यवहार होनेके कारण अनैकान्तिकता अवश्य होगी । आप ब्रह्म और अविद्या में किसी भी वस्तु को अनुगत नहीं मानते, दोनों में ब्रह्म की अनुवृत्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि आप ब्रह्म में ब्रह्म का अध्यास नहीं मानते हैं । और ब्रह्म का भेद भी नहीं मानते हैं । यदि मानें भी तो उसके भेद व्यवहार के द्वारा भी अनैकान्त्य ही होगा । इस पूर्व कल्प के खण्डन से आप के द्वितीय पक्ष का भी खण्डन हो गया । ब्रह्म और अविद्या के भेद को भी पक्षान्तर्गत मानने पर बाध होगा तथा उसको पक्ष से बहिर्भूत मानने पर तो उस भेद से अनैकान्तिकत्व दोष हेतु में आयेगा । किञ्च वस्तु शब्द से आपको परमार्थ विवक्षित हो तो फिर अनुमान के दृष्टान्त की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि रज्जू आदि आपके मत में परमार्थ नहीं हैं । इस स्थिति में आप भेद को वस्तु मात्र को अपना आश्रय बनाने वाला नहीं मान सकते हैं, क्योंकि भेद व्यवहार के आलम्बन आरोपित घटादि भी हैं । अद्वैती विद्वानों ने जो तर्कानुगृहीत ज्वाला भेदानुमान का ज्वालैक्य प्रत्यक्ष से प्राबल्य बतलाया है, वह भी उदाहरण ठीक नहीं है, क्योंकि आप अनुमान के अनुग्राहक तर्कों को भी अपाकृत करते हैं, ज्वालैक्य प्रत्यक्ष को ज्वालाभेदानुमान से प्राबल्य मानना इसलिए उचित हैं कि उसमें ज्वालाओं का सादृश्य दोष है, बुझाकर जलाये गये दीप की ज्वाला भी पूर्व ज्वाला के समान ही होने के कारण 'सेयं' ज्वाला यह प्रतिभिज्ञा होती है । अनन्यथा सिद्ध सामग्री की अनुवृत्ति रूप हेतु के बलपर ज्वालाभेदानुमान अपने उपजीव्य ज्वालैक्य का बाधक होता है । किन्तु भेद प्रत्यक्ष के द्वारा भेद मिथ्यात्वानुमान का इसलिए बाध होता है कि इस प्रत्यक्ष में कोई कारण दोष नहीं हैं । अतएव भेद का अपलाप नहीं किया जा सकता है ।

मृत्पिण्डेत्यादि । एतद्घटशराबादिभेदव्यवहारः स्वविषयसर्वभेदानुगततदुपादानैकवस्त्वालम्बन इत्यनुमानं विवक्षितम् । श्रुतिनिदर्शितेत्यनेन पक्षसमत्वशङ्का परिहृता, तत्र मृत्तिकासत्यत्वश्रुतेः । एकोपादानालम्बनत्वं एकाधिकरणवस्त्वालम्बनत्वं वा साध्यते, नविकाराधिष्ठानारोपितत्वम ; अतस्तत्राप्यनुगतमस्त्येवेति शङ्कते पृथिव्यादिकमिति । ब्रह्मपर्यन्तगमने मिथ्यात्वम सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणेदानींमृदादेर्मिथ्यात्वानाविष्करणेनैव शङ्कितम् । व्यवहारैरिति । अनैकान्त्यं इत्यनुषङ्गः अनभ्युपगमे हेतुमाह ब्रह्मभेदेति । स्वस्मिन्नध्यासोऽनुपपन्न इति भावः । यद्वाब्रह्मणीतिर्थ अभेदाद्ध्यासोनुपपन्न इत्यर्थः । अस्तु तर्हि ब्रह्मभेदः, तथा च तत्र ब्रह्माध्याससम्भव इत्यत आह ब्रह्मभेदेति । तदेव अनैकान्त्यमेव । बाधोंऽशतः । तदाविस्त्विति । यदा वस्तुशब्देन परमार्थो विवक्ष्यते तदानुगतैकवस्तुमात्रलम्बना इत्यत्र परमार्थव्यवच्छेदसम्भवादनुगतैकपरमार्थोलम्बनत्वे सति तदन्यपरमार्थानालम्बना इत्यर्थो भवति , तच्च वक्तुम न शक्यते , घटादेः परमार्थत्वानङ्गीकारात् , यदा तु प्रतीयमानं विवक्ष्यते तदाऽनुगतैवस्तमात्रालम्बना इत्यत्र परमार्थ व्यवच्छेद सम्भवानुगतैकार्थालम्बत्वे सति तदन्या- र्थानालम्बना इत्यर्थों भवति, अत्र चार्थशब्दः स्वरूपकथनपरः, तच्च पक्षे बाधितम् , घटादेरप्या- लम्बनत्वादिति भावः । प्रत्यक्षा त्तर्कसहकृतानुमानस्य प्राबल्यमङ्गीकृत्योक्तम , इदानीं प्रत्यक्षस्य न तादृशानुमानप्राबल्यात् बाध्यत्वम किन्तु दृष्टदोषसजातीयत्वेनाप्रामाण्यशङ्काग्रस्तत्वादित्याह ज्वालैक्येति ।

४—यत्पुनः कारणे कार्यं [पूर्वं] सदसद्वेति–तस्य कोऽर्थः ? किं कार्यद्रव्यं कारणावस्थायां द्रव्यरूपेण विद्यते, न वेति ? तदा सदित्यङ्गीकुर्मः । तथाऽपि न साध्यत्वविरोध, अवस्थापत्तिरूपेण तदुपपत्तेः । तत एव कारकव्यापारसाफल्यं च । एतावानेव च नः सत्कार्यवादः ॥ अथ कार्यावस्था कारणदशायामस्ति, न वेति पृच्छसि , तदा नास्त्येव ॥ [इति प्रतीम] सा कथमसती तेन जनयितुं शक्येतेति चेत्–किं पूर्वं सतीमेव दशां पश्चादुत्पद्यमानां पश्यसि ; येनैवं विरोधमाशङ्कसे ? तथा चायुक्ताङ्गस्वीकारः, अवस्थासत्त्वस्य जन्यत्वविरोधिनः स्वीकारात् ॥ असत (असदु) उत्पत्तौ प्रस्तरादयोऽप्यङ्कुरेयुः , शशादयोऽपि शृङ्गादिम (शृङ्गव) न्तः स्युरिति चेत्–किमियं राजाज्ञा , उत शापः ? न हि नियतशक्तिकेषु कारणेषु देशकालस्वरूपप्रतिनियतकार्यविशेषारम्भकेषु परिदृश्यमानेषु तच्छक्तिविधुरादपि तदुत्पत्तिराशङ्कितुमपि शक्यते ॥ प्रागसतीं दशां पश्चात्सतीमिच्छतोऽवयविद्रव्ये कः प्रद्वेष इति चेत्–न कश्चित् । (न कस्यचित् आदर्शनादेव तु नाङ्गीकुर्मः ।

प्रसादः—पूर्वपक्षी ने यह जो पूछा है कि कारण में कार्य सत् है या असत् ? तो उसके इस

प्रश्न का क्या अभिप्राय: है ? क्या यह है कि कार्य-कारणद्रव्य में द्रव्यरूप से रहता है कि नहीं ? तो मैं कार्य द्रव्य को कारण द्रव्य में सत् मानता हूँ। ऐसा होने पर भी उसके कार्यत्व का विरोध इसलिए नहीं होता है कि, कारण में विद्यमान काल में उसकी कार्यत्वावस्था नहीं रहती है। कार्यावस्था तो उसकी घटादि कार्य रूपोंमें आने पर ही होती है। उसके कार्यत्वावस्था में आने पर कारक व्यापारों की भी सफलता है। हमारे सत् कार्यवाद का इतना ही अभिप्राय भी है। यदि पूछें कि कारण दशा में उसकी कार्यावस्था रहती है कि नहीं ? तो मेरा उत्तर है कि नहीं। यदि कहें कि अविद्यमान कार्यावस्था को कारण कैसे उत्पन्न कर सकता है ? तो उत्तर है कि, क्या आप पहले विद्यमान दशा को ही उत्पन्न होते हुए देखते हैं कि इस तरह का प्रश्न करते हैं ? यदि हाँ तो फिर पूर्व में विद्यमान अवस्था की ही उत्पत्ति स्वीकार जन्य विरोध के कारण आपके कथन में अयुक्ताङ्ग स्वीकार नामक दोष होगा। यदि कहें कि असत् की उत्पत्ति मानने पर तो शशक के भी शृङ्ग को तथा पत्थर के भी अंकुर को स्वीकार करना होगा, तो मैं कहता हूँ कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती है; यह कोई राजाज्ञा है क्या ? तत्-तत् कारणों की शक्ति निश्चित है, वे निश्चित देश, काल तथा स्वरूप में निश्चित कार्य को उत्पन्न करते हैं यह देखा जाता है, जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है ही नहीं, उस कारण से उस कार्य की उत्पत्ति की शङ्का भी नहीं की जा सकती है। यदि कहें कि पूर्व में असत् दशा को पश्चात् काल में सत् मानने वाले आपको तो फिर अवयवी को स्वीकारने में क्या आपत्ति है, तो इसका उत्तर है है कि, अनुपलब्धि पराहत होने के कारण हम अवयवी को नहीं स्वीकारते हैं।

किं पूर्वमिति। दशां अवस्थां। किमियमिति। किं राजाज्ञयैवं शक्यते उत शापवशा दित्यर्थः। प्रागसतीति। न हि सांख्यवदसत उत्पत्त्यनुपपत्तेरवयविनि द्वेषस्तव सम्भवतीति भावः।

५—यत्तु भावात् अभावाद्वा घटाद्युत्पत्तिरिति—तत्र किं विद्यमाने द्रव्ये घटाद्यवस्था जायते, उताविद्यमान इति प्रश्नार्थः ? तदा विद्यमान एवेति मन्वीथाः। न हि घटाद्यवस्थोत्पत्तौ मृदादिकं नास्ति। उपमर्दिते (मृदिते) ऽपि हि पिण्डे (ऽपि) पिण्डत्वमेव निवृत्तम्, न तु द्रव्यम्। अनुपमृदितेभ्यश्च तन्त्वादिभ्यः पटाद्युत्पत्तिरपि दृश्यते। अथासतो घटाद्युत्पत्तिः, सतो वेति पृच्छसि, तदा सत एवेत्युत्तरम्। पूर्वम् सतः पिण्डात् तदानीं सत एव वा मृदादेः घटाद्युत्पत्तिदर्शनात्। अथ कारणविशेषावच्छेदकावस्था कार्योत्पत्ति दशायां निवृत्ता, न वेति पृच्छसि (पृच्छ्यते) ? तदा पिण्डादौ निवृत्ता, तन्त्वादौ त्वनुवृत्तेति सान्दृष्टिकमिदम्। नचाभावादुत्पत्तौ कार्यस्याभावात्मकत्वप्रसङ्गः, कार्यकारणयोरत्यन्तसालक्षण्यस्य नविलक्षणत्वाधिकरणे निरस्तत्वात् भावान्तराभाववादिन इष्टप्रसंगाच्च। घटत्वादिकमपि हि पिण्डाद्यपेक्षया प्रध्वंसकोटिघटितम्, कपालाद्यपेक्षया तु प्रागभावपक्षनिक्षिप्तम्, कुड्याद्यपेक्षया त्वन्योन्याभावस्त इति। ये चान्ये [ऽपि] पश्यतोहराणां प्रलापाः, "न चेदुत्पत्तिरुत्पत्तेर्नित्यत्वमनवस्थितिः। उत्प

त्वान्यतः कार्यं कारणं वा निरूप्यताम् [च निरूपितम्] ॥" इत्येवमादयः, तेऽप्यनयैव दिशा प्रशमनीया इति ।

श्लो.-सिद्धानवस्थितिः सामग्र्यात्मकोत्पत्तिसंग्रहे ।

अन्यथा स्वपरत्राणान्न काचिदनवस्थितिः ॥ इति ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो पूछा है कि घटादि की उत्पत्ति क्या भाव से होती हैं अथवा अभाव से ? तो आपके इस प्रश्न का आशय-क्या विद्यमान द्रव्य में घटादि अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं क्या; अथवा अविद्यमान द्रव्यमें?यह है क्या?यदि हाँ तो मेरा कहना है कि विद्यमान द्रव्य में ही। घटादि अवस्थाओं की उत्पत्तिकाल में मृदादिक तो रहते ही हैं । पिण्ड के उपमर्दित (विनष्ट) हो जाने पर भी पिण्डत्व मात्र ही विनष्ट होता है द्रव्यत्व नहीं।तन्तु आदि के विना विनष्ट हुए विना भी उनमें पटादि अवस्थाओं की उत्पत्ति देखी ही जाती है । यदि आप पूछते हों कि घटादि की उत्पत्ति असत् से होती है, अथवा सत् से ? तो मैं घटादि की उत्पत्ति सत् से मानता हूँ । क्योंकि पूर्वकाल में विद्यमान पिण्डादि से अथवा घटादि काल में भीं विद्यमान मृदादि से ही घटादि की उत्पत्ति देखी जाती है । यदि पूछते हों कि कारण विशेष की जो अवच्छेदकावस्था उसकी कार्य दशा में निवृत्ति होती है कि नहीं ? तो उत्तर है कि देखा जाता है कि पिण्डादि में वह अवस्था निवृत्ति हो जाती है और तन्त्वादि में नहीं निवृत्त होती है, अतएव इसकी व्यवस्था दर्शनानुकूल ही मानना चाहिए । अभाव से उत्पन्न होने पर कार्यों का अभावात्मक होने का भी प्रसङ्ग नहीं होता क्योंकि शारीरक मीमांसा के 'न विलक्षणत्वाधिकरण' में कार्य कारण की अत्यन्त समानता का खण्डन किया गया है । और अभाव को भावान्तर रूप मानने वालोंके यह अनुकूल भी है । किञ्च घटादि पिण्डादि के प्रध्वंसाभावरूप, कपालादि के प्रागभावरूप; तथा कुड्यादि के अन्योन्याभावरूप हैं । किञ्च पटुवञ्चकों का यह जो प्रलाप है , कि-यदि उत्पत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है तो उत्पत्ति की नित्यत्वापत्ति होगी । यदि उत्पत्ति होती है; तो अनवस्था दोष होगा । अतएव कारण और कार्य दोनों दुर्निरूप्य हैं । तो अद्वैती विद्वानों के इस कथन का भी खण्डन उपर्युक्त प्रकार से ही हो जाता है । तथाहि—यदि उत्पत्ति का अर्थ समग्रीकारण सम्पत्ति मानें तो यह अनवस्था पूर्व-पूर्व सामग्री की स्वीकार करने के कारण हमें अभिप्रेत भी है । यदि आद्यक्षण सम्बन्ध रूपा उत्पत्ति को मानें तो, उत्पत्ति शब्द से अवस्था ही कही गयी और राहोश्शिरः के समान उसका भेद व्यवहार होता है । अतएव अनवस्था का कोई प्रसङ्ग नहीं है ।

अनुपमृदितेभ्य इति । तत्र च न द्रव्यविनाशशङ्कालेशोऽपीति भावः । नन्वभावपदेन प्रसिद्धाभावं विवक्षित्वैव विकल्प्य दूषितमित्यत आह न चाभावादिति । भावरूपाघातपरिणामस्य घटादिध्वंसस्याभावत्ववदभावोपादानकस्यापि तव भावत्वमविरुद्धमिति भावः । भावान्तरेति । अभावादुत्पन्नम् हि घटत्वाद्येव, तच्च भावरूपमप्यभावात्मकमित्यर्थः । तदुपपादयति घटत्वादिकमिति । उत्पत्तेरुत्पत्तिरस्ति नवेति विकल्प्य दूषणार्थः श्लोकः । उत्पत्तावनवस्थितिरित्यन्वयः । "कुर्वत्कार्यमकुर्वद्वा करणं कारणं भवेत् । कुर्वच्चेदनवस्थानमकुर्वत्यनवस्थितिः ॥" इत्यादयः । एवं द्वितन्तुकादिपूर्वपूर्वं पटाभेदेनैवोत्तरोत्तरः पटो जायते, स एव पट एतावानासीदिति विवेकिनामप्यनुभवात् , न च जातस्य जायमानभेदोऽविद्यां विना सम्भवति, तस्मादविद्याम-

हिम्ना प्रथमपटस्तत्परिमाणं च दुर्निरूपस्वरूपेण वर्धत इति कार्यमनिर्वचनीयमेव, एवमेवस्मात्त न्त्वादेरज्जुद्रव्यस्योत्पत्तिरप्यत्र मानम , तत्र एकस्य परमार्थतः संयोगो न सम्भवति, अत एकस्मिन् चन्द्रे द्वित्ववदेकस्मिंस्तन्त्वादौ द्वित्वस्य मायात्मकत्वात तन्नियम्य संयोगोऽपि तदात्मक इति तत्कार्यमपि तथैव , अत एवाधिकपरिमाणात्तन्त्वादेर्न्यूनपरिमाणरज्ज्वारम्भोऽपि; अविद्यां विना तदयोगात , मायया तु गिरिशिखरस्थाधिकपरिमाणवृक्षादौ न्यूनपरिमाणकार्यारम्भो दृष्ट इत्यनिर्वचनीयं कार्यम् ; एवम बाल्यादिशरीरमप्युत्तरोत्तरशरीराकारेण वर्धमानमविद्याकारणत्वे प्रमाणम , मायां विना शरीराभेदे परिमाणभेदायोगात ; न च तद्भेदोऽनुपलम्भबाधात , पूर्वोत्तर शरीरयोः विनाशोत्पत्तिहेत्वभावाच्च , अननुसन्धानप्रसङ्गाच्च; एवम क्षीरस्य दधिभावोऽपि मायया, क्षीरस्वभावे स्थिते तस्य दधिभावानुपपत्तेः , क्षीरविनाशे क्षीरारम्भकैः परमाणुभिर्दध्यारम्भ इत्ययुक्तम् , परमाणूनां सर्वत्र सुलभतया दध्यर्थं क्षीरानुपादानप्रसङ्गात , क्षीरध्वंसानामपि सुलभत्वात् , उपात्त क्षीरध्वंसस्यैव हेतुत्वे पीतादृभूमौ पीतताद्वा दध्युत्पत्तिप्रसङ्गात ,. माहिषात क्षीरादुत्पन्नम माहिषमित्यादिव्यवस्थायोगात क्षीरदध्नोः नियततुल्यपरिमाणत्वायोगाच्च । तस्मा-च्छुक्तिरिव रजतरूपेण क्षीरमेव दध्याकारेण परिणमत इति तन्मिथ्येतीत्येवमादयश्च गृह्यन्ते । तेपीति । उत्पत्तिशब्देन किं प्रथमक्षणसम्बन्धो विवक्षित ? अथ सामग्री ? अन्यद्वा ? आद्ये अयुक्ताङ्गस्वीकारः, अनेकक्षणवर्तिनां पदार्थानामेव प्रथमक्षणवत्त्वेन द्वितीयक्षणस्य द्वितीयक्षणापेक्षाया इव प्रथमक्षणस्य प्रथमक्षणापेक्षाया अभावादित्यभिप्रेत्य द्वितीयम दूषयति सिद्धेति । सामग्रीति । सामग्र्यानन्तर्यसम्बन्धादुत्पन्नमिति विशिष्टव्यवहार इति भावः । तृतीयम दूषयति अन्यथेति ।

यत्तु स एव पट एतावानासीदिति प्रत्यभिज्ञया मिथ्यात्वसमर्थनम , तत्र किमियम प्रत्यभिज्ञा बाधितविषया उताबाधितविषया ? आद्ये धर्मिसत्यत्वं निष्प्रत्यूहम । द्वितीये अभेदत-द्धर्मिणोः सत्यत्वं त्वयैव समर्थितम । किञ्च त्वत्पक्षे तत्राभेदस्य मिथ्यात्वात्तत्र कथं भेदः, समानसत्ताकयोर्विरोधात , नचान्यतरस्य प्रातिभासिकत्वम , विनिगमकाभावात , अभेदस्य प्रातिभासिकत्वे पटयोः सत्यत्वात , भेदस्य प्रातिभासिकत्वे पटस्य सत्यत्वाच्च । अथ नात्र विरोधः , अभेदस्याधिष्ठानसत्तागतत्वात् , स एवाभेदः प्रत्यभिज्ञासामानाधिकरण्ययोर्निमित्तमिति चेन्न,— तयोरभेदाभावेऽपि तत्सम्बन्ध्यभेदमात्रेण तदुपपत्तेः । कुविन्दाभेदाद्वा पटयोस्ते कथं न स्याताम ? अथ कुविन्दस्य न हि पटद्वयतादात्म्यम , अस्ति तु सतः, अतस्तदभेदस्तेन तादात्म्यवतोः पटयोः सामानाधिकरण्यनिमित्तम् स्यादिति चेन्न , तथा सति पटत्वस्यैव निमित्तताप्रसङ्गात । तत एव सर्वपटानां सर्वघटानां सर्वद्रव्याणां च सामानाधिकरण्यप्रसङ्गात । तस्मातयोः स्वरूपाभेदः एव निमित्तम् । तस्मादरत्निमात्रपटीभूता एव तन्तवस्तन्त्वन्तरैः सहषोडशारत्निमात्रपटीभवन्ति । एवञ्च प्रत्यभिज्ञाप्युपपन्ना, पूर्वतन्तुप्रवेशात । भेदोऽप्युपपन्नः , तन्त्वन्तरप्रवेशात । रज्ज्वनुपपत्तिश्चावयविवादिनामेव । त्वत्पक्षे पूर्वोक्तदूषणान्यपि रज्जुसंख्यापरिमाणानि न मुञ्चन्ति । क्षीर-

दध्यनुपपत्तिस्तवैव, नास्माकम् । क्षीरद्रव्यस्यैव गन्धरस क्षीरावस्थाप्रहाणेन दध्यवस्थागन्धरसोत्पत्तेः सर्वत्राविद्यायाः सुलभत्वात् सर्वत्र दध्युपलम्भप्रसङ्गात् ।

यत्तु सदसद्व्यावृत्तविनाशोपलब्धि (ब्ध्य) योगात् तदुभयकोटिविलक्षणतया मिथ्यात्वमिति ; तदपि मन्दम् , उपलब्धिविनाशाभ्यामपि कादाचित्कत्वमात्रसिद्धेः । न ह्युत्तरकालीनो विनाशः, स्वकालेऽप्यसत्त्वं साधयितुमलम् । अथ नित्यमेव सच्छब्दार्थतया परिगृह्य तद्वैलक्षण्यान्मिथ्यात्वमिष्यते, तथाऽप्यनित्यत्वमेव मिथ्यात्वमिति विवक्षितं स्यात् , तथा (दा) [च] वस्तुनो न काचित् क्षतिः । अत एव 'अनाशी परमार्थश्च' इत्यादिस्मृतिरपि निर्व्यूढा । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादिका तु श्रुतिरवयविद्रव्यान्तरनिरासपरेति सद्विद्यानिरूपणे व्यक्तमनुसन्धेयम् । अतएव , 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावपि परमार्थसत्यत्वमेव विवक्षितमिति सिद्धम् ।

अतः प्रत्यक्षादिशरणैः श्रुतिशरणैरपि कार्यजातस्य सर्वस्य सत्यत्वमेष्टव्यम् । अन्यथा प्रागुक्ततर्काभासैः कारणमपि किं न खण्ड्यते ? प्रत्यक्षश्रुत्यादिबलादिति तु समानम् । अथ यदि कारणस्यापि भङ्ग इष्ट इत्याशयः , तथा सति कारणसत्यत्वमुखादरेण प्रतिपादयन्ती श्रुतिर्बाध्येत (बाध्यते) । एतेन कारणसामान्यं तद्विशेषांश्च खण्डयताम् वेदबाह्यत्वम् तावत् सुव्यक्तम् । विशेषदूषणानि तु स्वावसरे ग्राह्याणि ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि सत् एवम् असत् दोनों से भिन्न वस्तु का न तो विनाश ही होता है और न तो उसकी उपलब्धि ही, अतएव उसे सत् एवं असत् से बिलक्षण मिथ्या ही मानना चाहिए । तो इनका यह भी कथन अत्यन्त मन्द है । उपलब्धि और बिनाश के द्वारा भी वस्तु कादाचित्क (अनित्य) ही सिद्ध होती है । उत्तर कालिक विनाश वस्तु के वर्तमान काल में भी उसके असत्त्व को नहीं सिद्ध कर सकता । यदि कहें कि सत् शब्द से नित्य का ही ग्रहण होता है, नित्य विलक्षण होने के कारण जगत् को मिथ्या माना जाता है। तो ऐसा मानने में अनित्यता को ही मिथ्या मानना होगा । का अभिमान होने के कारण ? प्रथम पक्ष तो इसलिए नहीं माना जा सकता है कि नाश और बाध का विवेक अत्यन्त प्रसिद्ध है । अपने वर्तमान काल में सत् वस्तु का अपने उत्तर काल में न रहने को उसका विनाश कहते हैं । जिस वस्तु की प्रतीति तो हो, किन्तु वह उस कालमें भी वह न रहे तो वह वस्तु बाध्य है । यदि कहें कि वस्तु का असत्त्व ही नाश कहलाता है, इतना ही नाश का लक्षण पर्याप्त है, उसे अधिक बढाने से क्या लाभ ? तो उत्तर है कि ऐसा मानने पर भी वस्तु के प्रागभाव काल में भी उसके नाश की अतिव्याप्ति होगी । उत्तरकाल में असत्त्व ही नाश कहलाता है, यह भी लक्षण इसलिए नहीं माना जा सकता है कि—ऐसा लक्षण करने पर तुच्छ आकाश कुसुम आदि के नाश की अतिव्याप्ति होगी । अतएव अपने वर्तमानकाल में सत् (विद्यमान) ही वस्तु का दूसरों की अपेक्षा उत्तर काल अपने प्रागभाव काल में भी न रहने के कारण प्रागभाव तथा गगन कुसुमादि से व्यावृत्त करने

लिए विनाश का लक्षण 'स्वोत्तरकालासत्त्वम्' किया गया है । स्वकाले सत एवार्थस्य' अंश तो लक्षण की स्पष्टता के लिए लक्षण में जोड़ा गया है । यदि वस्तु की किसी प्रकार की अविद्यमानता को ही आप मिथ्यात्व मानते हों तो, आप की इस मान्यता में हमें इष्टापत्ति है । वस्तुओं में अन्योन्याभाव के कारण ऐसा होने पर भी वस्तु के वस्तुत्व में कोई अन्तर नहीं आता है । किञ्च 'अनाशी परमार्थश्च' श्रुति भी 'आपके अभिमत वस्तु के मिथ्यात्व को नहीं सिद्ध कर सकती । वाचारम्भण श्रुति तो अवयवी का खण्डन करती है इस बात को सद्विद्या प्रकरण में स्पष्ट रूप से अनुसन्धान करना चाहिए । अतएव 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुति में कार्य को परमार्थ सत्यता ही विवक्षित है । अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणों को मानने वाले तथा वैदिकों को भी कार्यों की सत्यता ही स्वीकारनी चाहिए । अन्यथा अद्वैती विद्वान् अपने कमजोर तर्कों के द्वारा कारण की भी सत्यता का खण्डन क्यों नहीं करते है ! यदि कहें कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा श्रुति के द्वारा कारण की सत्यता बतलायी जाती हैं; तो ऐसा नहीं कह सकते हैं ; क्योंकि श्रुतियों और प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा तो कार्य की भी सत्यता सिद्ध होती है । यदि आपको कारण की सत्यता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का आपके मत से विरोध होगा । इस तरह से स्पष्ट है कि कारण सामान्य और विशेष कारण का खण्डन करने वाले अद्वैती वेदबाह्य है । अद्वैतमत के विशेष दूषणों को तो तत्-तत् प्रकरणों में ही देखना चाहिए ।

अनाशीत्यादि । निर्मूला—सदसद्व्यावृत्तविनाशयोगान्मिथ्येति न त्वदुक्तन्यायमूलेत्यर्थः । अनाशीत्यादिस्मृतिश्च प्राज्ञानां परमार्थशब्दप्रयोगनिमित्तप्रदर्शनपरा, तत्प्रदर्शनं च अयसामल्पकालतया तदभावकालस्यैव भूयस्त्वात् मध्याल्पकालसत्त्वम् तिरस्कृत्य तस्यास कल्पतया हेयत्वम् परमात्मनः सर्वदा सत्यतया उपादेयत्वम् च प्रदर्शयितुम् । अयम् चार्थस्तत्प्रकरणे स्पष्टः ॥

तत्तु नाशि न सन्देह इत्यस्यायमर्थः—नाश्युपपादितस्य नाशित्वे उपासनस्यापि नाशित्वात्तदुपपादितस्य मोक्षस्यापि नाशिता स्यादित्यत उक्त 'द्रव्ये' ति । द्रव्य शब्दो हेयद्रव्यपरः, नश्वरद्रव्यप्रदानेन देवताभ्यः प्राप्यं फलं स्वप्रदत्तद्रव्यानुगुण्येन नश्वरमेव भवति, उपासनस्य नश्वरत्वेऽपि तस्य स्नेहरूपत्वात्तेन स्निग्धेन परमपुरुषेणात्युदारेण सर्वशक्तेन दीयमानस्य पुरुषार्थस्य तादृशशक्त्यानुगुण्यमेव भवतीति नित्यपुरुषार्थदानमुपपद्यत इति भावः । अतएवेति । घटादेर्मृत्तिकात्वेनैव सत्यता न तु तद्व्यतिरेकेणेत्यवयविनिराकरणपरत्वेन प्रपञ्चमिथ्यात्वतात्पर्याभावात् पारमार्थिकसत्यत्वेनैवोच्यत इत्यर्थः । आदिशब्देन "प्राणा वै सत्य" मित्यादि विवक्षितम । प्राणशब्देन साहचर्यात् जीवा उच्यन्ते, ते सत्यम् ; स्वरूपान्यथाभावराहित्यात् । इदं जीवब्रह्म साधारणम् , जीववत्कर्मकृतस्वभावविकाराभावात् परमात्मा सतोऽपि सत्य इत्युच्यते , कर्मकृतविकारो हि साक्षाज्जीवे स्वनिष्ठत्वभ्रम योग्यः, परमात्मनस्तु स्वभावविकारो न तथेतीदं वैषम्यमाश्रित्य 'सत्यस्य सत्य' मित्युक्तम् । कारणमिति । मृदादिकमित्यर्थः । अत्यादरेणेति । "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" "कार्ष्णायसमित्येव सत्यम्" "लोह इत्येव सत्य" मित्यभ्यासादादरावगतिः ॥

इति श्रीमद्बाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायां चण्ड मारुताख्यायां कार्यान्यथानुपपत्तिभङ्गो नाम पञ्चपञ्चाशः स्कन्धः ॥५५॥

******

८—यश्चासौ व्यामोहः-नश्वरत्वादेव विश्व (स्य) मिथ्यात्वमिति-स किं नाश-बाधविवेकाभावात् ; उत तयोर्व्याप्यव्यापकभावाभिमानात् ? न प्रथमः, उभयोरपि विवेकस्य सुप्रसिद्धत्वात् । स्वकाले सत एव (र्थस्य) स्वोत्तरकालासत्त्वं नाशः ; बाध्यत्वं तु स्वप्रतीतिकालेऽप्यसत्त्वलक्षणमिति ॥ असत्त्वमेव नाश इत्येतावता पर्याप्तो किं विशेष्यत इति चेन्न, प्रागभावेऽपि विनाशशब्दप्रयोगप्रसङ्गात् ॥ तत्राऽप्युत्तरकालासत्त्वमित्येतावताऽलमिति चेत् [न], गगनकुसुमादावपि प्रसङ्गात् । स्वकाले सत एवार्थस्यान्यापेक्षयोत्तरकाले स्वप्रागभावकालेऽप्यसत्त्वसम्भवात् तद्व्यवच्छेदार्थं स्वोत्तरकालासत्त्वमिति विशेष्यते / एतावदेव निष्कृष्ट (निष्कर्ष) लक्षणम्, पूर्वं तु वैशद्यार्थम् । यदि वस्तुनो यथाकथञ्चिदसत्त्वं (स्वमात्रं) मिथ्यात्वमिति विवक्षितम् ; तद.ऽ [सद्] स्माकमिष्टापादनम् परस्पराभावादिरूपतया (रूपतया) केनचिदाकारेण सर्वेषामसत्त्वाभ्युपगमात्, कार्याणां च विनाशाभ्युपगमात् । तावन्मात्रमेव मिथ्यात्वशब्देनोपचर्य (नोच्यर्थं) माणमपि नास्माकमनिष्टमापादयति । नापि द्वितीयः, व्याप्तेरभावात् ॥ रज्जुसर्पादिषु व्याप्तिस्सिध्यतीति चेन्न ; तत्र विनाशस्यानभ्युपगमात् । अर्थबाध एव हि तत्र व्यक्तः । गन्धर्वनगरादिषु विनाशोऽपि प्रत्यक्षसिद्ध इति चेन्न ; तत्रापि मिथ्यात्वपक्षे बाध एव । विनाशभ्रमस्तु स्यात्, सत्यत्वभ्रमवत् । तत्सत्यत्वपक्षे तु कथं तत्र विनाशमिथ्यात्वयोः व्याप्तिर्ग्राह्या ? अतः उत्पत्तिविनाशयोरपि [उत्पत्तिविनाशयोगि ?] [सर्वं] कार्यम् सदेवेति सिद्धम् ॥

॥ इति शतदूषण्यां कार्यानुपपत्तिभङ्गवादः पञ्चपञ्चाशः ॥५५॥

❀-❀-❀

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों को यह जो अज्ञान है कि—विश्वमिथ्या है, क्योंकि वह नश्वर है, उनका यह अज्ञान नाश और बाध का ठीक-ठीक ज्ञान न हो सकने के कारण है; अथवा नाश और बाध में व्याप्य एवं व्यापक भाव सभी वस्तुओं का किसी न किसी प्रकार से अभाव तो हम मानते ही हैं इतने ही मात्र से यदि आप वस्तुओं को मिथ्या मानते हो तो इससे हमारे सिद्धान्त की कोई भी क्षति नहीं है। नापि द्वितीयः इत्यादि—नाश और बाध में व्याप्य व्यापक भाव के अभिमान के कारण भी आप वस्तुओं को मिथ्या नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इस व्याप्ति की सिद्धि ही नहीं हो सकती है। यदि कहें कि रज्जू और सर्प की व्याप्ति देखी जाती है; तो ऐसा भी नहीं कह सकते है। क्योंकि रस्सी प्रतीयमान सर्प का विनाश नहीं माना जाता है; क्योंकि सर्प का बाध ही स्वीकारा जाता है। यदि कहें कि गन्धर्व नगर आदि में विनाशः प्रत्यक्षतः सिद्ध है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि-गन्धर्वनगर को मिथ्या मानने वालों के मत में गन्धर्वनगर का बाध ही माना जाता है उसका विनाश भ्रम तो गन्धर्वनगर के सत्यत्व भ्रम के समान है। गन्धर्वनगर को सत्य मानने वालो के मत में तो विनाश और मिथ्यात्व की व्याप्ति बिल्कुल असम्भव है। अतएव वस्तुओं की उत्पति तथा उनका विनाश होने पर भी, यही सिद्ध होता हैं कि सभी वस्तुएं अपने वर्तमान काल में सत्य हैं।

इस तरह शतदूषणी के पञ्चावनवें 'कार्यानुपपत्ति भङ्ग वाद' का प्रसाद समाप्त हुआ॥



❀ अथ आनन्त्यनिरूपणवादः षट्पञ्चाशः ॥ ५६ ॥ ❀

देशानामपि देशतामुपगतं स्वाभाविकात् वैभवात्
काल्स्यापि कलाद्युपाधिकलनात् काल्यत्वहेतुं स्तुमः।
निश्शेषेऽपि विभूतिकोटिघटिते निम्नोन्नते वस्तुनि
स्वाच्छन्द्येन जहत्समाधिककथासम्भावनं तन्महः॥

प्रसाद—श्रीभगवान् का वर्णन करती हुई तैत्तिरीय श्रुति उन्हें अनन्त पद से अभिहित करती है। अनन्त पद का अर्थ देश काल एवम् वस्तु की सीमा से राहित्य रूप है। श्रीभगवान् सम्पूर्ण देशोंमें व्यापक रहकर सम्पूर्ण देशों से भी बाहर विद्यमान हैं, इस अर्थ का वर्णन 'सभूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' श्रुति करती है। अतः सम्पूर्ण देश भगवद् व्याप्ति के अन्तर्गत ही हैं। काल की कला आदि सभी उपाधियों में श्रीभगवान् की व्यापकता है। अतएव काल उनका व्याप्य है। अतएव वे सभी कालों के भी कालयत्व के कारण हैं। नित्यविभूति तथा लीला विभूति की सभी छोटी बड़ी वस्तुओं में व्यापक होने के कारण वे सबों से महान् हैं; उनके सदृश ही कोई नहीं है। श्रुति कहती है—परम ब्रह्म के न तो कोई सदृश है और न तो उससे महान् ही। अर्जुन भी गीता में कहते हैं 'नत्वत् समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोन्यः।' इस तरह श्री भगवान् में त्रिविध परिच्छेद राहित्य रूप श्रौत आनन्त्य पूर्ण रूप से समन्वित होता है।

देशानामपीति । देशकालवस्तुपरिच्छेदाभावाः क्रमेण संगृह्यन्ते । निश्शेषे वस्तुनि जहत्समाधिककथासम्भावनमित्यन्वयः । सप्तमी च निर्धारणे । समाधिकवस्तुनी निर्धार्ये। विभूतिकोटिघटित इति हेतुगर्भविशेषणम् । निम्नोन्नत इति यथा निम्नम् स्तम्बादि तथा हिरण्य गर्भाद्युन्नतमपि सर्वेश्वरापेक्षयेत्यभिप्रायम् । स्वाच्छन्द्येनेति । उपगतत्वादिना सम्बध्यत । जहती समाधिक कथासम्भावना यदिति विग्रहः ।

यत्पुनः परिभाषन्ते—अनन्तपदसामर्थ्यादेव ब्रह्मव्यतिरिक्तानन्तवस्तुमिथ्यात्वं सिध्यति । तथाहि—अनन्तशब्देन असङ्कोचात् सर्वविधपरिच्छेदाभावोऽप्युच्यते, परिच्छेदश्चतुर्धा—देशतः, कालतः, वस्तुतः, स्वरूपतश्चेति । तत्र गगनकुसुमादिवत् स्वरूपपरिच्छेदः सद्रूपत्वेन प्रतिक्षिप्यते । तच्च सत्यपदेनैव सिद्धमित्यनन्तपदेन तद्विवक्षा भवतु वा म, वा त्रिविधपरिच्छेदाभावस्तावद्विवक्षित एव । तत्र सर्वदेशसर्वकालव्यापित्वात् , अत्र देशे नास्ति ; अत्र काले नास्तीत्येवंरूपयोर्देशकालपरिच्छेदयोरभावः सिद्धः । वस्तुपरिच्छेदस्तु इदमिदं न भवतीत्येवंरूपः । आश्रयप्रतियोगिविशिष्टस्य भेदस्याभावो [भवन्] भेद—तत्प्रतियोगितदाश्रयाणां सर्वेषाभावाद्वा , अन्यतमाभावाद्वा ? आद्ये शून्यवादावतारः । द्वितीयेऽपि सर्ववस्तुतादात्म्याद्वा , स्वव्यतिरिक्तसमस्तमिथ्यात्वाद्वा , स्वस्य तुच्छत्वाद्वा सम्भवति , तत्राद्यः पक्षोऽभ्यर्हितविरोधानामहन्ताहार्णां भास्करादीनामेव युज्यते । अन्तिमस्त्वर्थो लोकायतिकानां निरीश्वरमीमांसकादीनाम् । अतो मध्यमः पक्षः परिशिष्यते । न च वाच्यं वस्त्वन्तराभावे तन्निरूपितपरिच्छेदाभावेन तन्निरूपणीयवस्तु, परिच्छेदाभावो दुर्वच इति ; वस्तुपरिच्छेदाभावेन वस्तुपरिच्छेदाभावो दुर्वच इति स्ववनव्याघातात् ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वान् यह जो उद्घोष करते हैं कि—' सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म ' श्रुति के अनन्त पद के सामर्थ्य से ही ब्रह्मव्यतिरिक्त अनन्त प्रापञ्चिक वस्तुओं के मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती है । क्योंकि अनन्त पद अपने विस्तृत अर्थ में ब्रह्म के सभी प्रकार की सीमाओं का अभाव बतलाया है । सीमाएँ चार प्रकार की होती हैं-देश , काल ; वस्तु एवम् स्वरूप की सीमाएँ । ब्रह्म सत् स्वरूप है । उसके स्वरूप का परिच्छेद आकाश कुसुम के समान (तुच्छ) है । ब्रह्म के स्वरूप की सद्रूपता श्रुति के सत्य पद से ही सिद्ध है वह अनन्त पद से विवक्षित हो या न हो कोई भी आपत्ति नहीं है । अथवा अनन्तपद से तीन प्रकार का परिच्छेद मानना चाहिए । ब्रह्म सभी देशों तथा सभी कालों में है , अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि ब्रह्म इस देश अथवा काल में नहीं है । इस तरह ब्रह्म के देश एवम् काल के परिच्छेदों का अभाव सिद्ध होता है । यह नहीं है , इसी तरह का वस्तु परिच्छेद है । यह वस्तु परिच्छेद आश्रय तथा प्रतियोगी से विशिष्ट का अभाव होते हुए, भेद, भेदप्रतियोगी तथा उसके

आश्रय इन सबों के अभाव के कारण होता है अथवा इनमें से किसी एक के अभाव के कारण होता है, सबों के अभाव के कारण मानें तो फिर शून्यवाद के अवतार का प्रसङ्ग होगा। यदि किसी एक के अभाव के कारण मानें तो प्रश्न है कि यह आप ब्रह्म से सभी वस्तुओं के अभेद के कारण मानते हैं? या ब्रह्म व्यतिरिक्त सभी वस्तुओं के मिथ्या होने के कारण मानते है? या ब्रह्म के तुच्छ होने के कारण इनमें से पहला पक्ष तो जैनों के ही समान सप्तभङ्गीवाद के ही समान अनेक विरोधों को मानने वाले भास्कर आदि का ही हो सकता है और अन्तिम मत चार्वाकों तथा निरीश्वर मीमांसकों का हो सकता है। अतएव मध्यम मत ही बचता है। अतएव ब्रह्म व्यतिरिक्त सभी वस्तुओं श मिथ्या होने से ही ब्रह्म के वस्तु परिच्छेद की सिद्धि सम्भव है। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तु का अभाव मानने पर वस्तु निरुपित परिच्छेद (वस्तु परिच्छेद) के अभाव के द्वारा ब्रह्म के वस्तु परिच्छेद का अभाव नहीं प्रतिपादित किया जा सकता है; क्योंकि वस्तु परिच्छेद के अभाव के विना ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद की सिद्धि नहीं हो सकती। फलतः ब्रह्म के वस्तु हरिच्छेद को मानने वाले सिद्धान्ती के मत में स्ववचन विरोध नामक दोष होगा।

परिभाषन्त इति। अनेन युक्तिशून्यत्वं विवक्षितम्। वस्त्वन्तरभेदाभावो वस्त्वपरिच्छेदः, अयं च वस्त्वन्तरमिथ्यात्वेनैव निर्वाह्य इत्यभिप्रायेण सामर्थ्यादिति। वस्तुपरिच्छेद—श्चेति। इदमिदं तु भवतीत्येवं रूप एव प्रतीयमानो भेद इत्यर्थः; सर्ववस्त्विति। भेदाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावकोटयभिप्रायेणोक्तम्। अभ्यर्हितेति। तादात्म्यं हि भेदसहिष्ण्वेव भेदः, स च सप्तभङ्गीवादिवद्विरोध बहुमन्यमानानां भास्करादीनानेव युज्यत इत्यर्थः।

भावाभावसमावेशप्रसङ्गो विरोधः, स च चतंरिष्टप्रसङ्गत्वेन स्वीक्रियत इति तस्य तैर्बहुमतत्वम्। अत्यन्ताभेदपक्षस्तु स्वप्रवृत्तिव्याघातेन सयौक्तिकाभासैरप्यनभ्युपगत इति वक्ष्यमाणत्वाच्छङ्कानर्ह एवेति भावः। असद्व्यावृत्तस्वरूपाङ्गीकारात् तत एव परिच्छेदतदभावौ सुनिरूपावित्यभिप्रायेण परिहरति वस्तुपरिच्छेदाभावेनेति।

ननु प्रत्यक्षाद्यविरोधेन वस्तुपरिच्छेदाभावो वर्णनीयः, अन्यथा प्रागुक्तपक्षयोरपि प्रतिक्षेपायोगात् ’ शक्यते चाविरोधेन निर्वहणम्, तथाहि—वस्तुना परिच्छेदो वस्तुपरिच्छेदः, यथा कुड्यादिभिरालोकादेः। स चास्य नास्तीति वस्तुपरिच्छेदरहितम् ब्रह्मेति॥ तदसत्, देशपरिच्छेदात् ईदृशस्य वस्तुपरिच्छेदस्य विशेषाभावात्॥ स्वतः परिमितदेशा घटादयः। आलोकादयस्तु प्रसृमरतया स्वतोऽनेकदेशव्यापिनोऽपि कुड्यादिभिरुपाधिभिः परिच्छिद्यन्ते। इह तु कथं परिच्छेद इति चेन्न—तथाऽप्यदूराविप्रकर्षेण पृथक्प्रतिपादनप्रयोजनाभावात्। एतेन वस्तुपरिच्छेदो वस्तुनः परिमाणम्, देशपरिच्छेदस्तु तत्कार्यम् इति विभागोऽपि प्रत्युक्तः। न च वाच्यम्; इदमिदं न भवतीति प्रतिषेधो (परिच्छेदो) वस्तुपरिच्छेदः, स च सर्वशरीरिणो न सम्भवतीति—‘अस्थूलमनण्वह्रस्वम्’ इत्यादिनिषेधशतश्रवणात्। अन्यथा चिदचिदीश्वरस्वरूपविवेकाद्यनुपपत्तेश्च। न च सर्व-

स्तुसामानाधिकरण्ययोग्यत्वेन इदमिदं न भवतीति निषेधैकान्त्याभावात् वस्तुपरिच्छेदाभाव इति वाच्यम् ; अमुख्यसामानाधिकरण्य स्यान्यत्रापि सम्भवात् , 'आपो वा इदं सर्वं इत्यादिवत् ' मुख्यसामानाधिकरण्यस्य तु ब्रह्मणोऽपि सर्वत्रासम्भवात् । न हि शरीरम् ब्रह्मेत्यादिसामानाधिकरण्यं दृष्टमिष्टं श्रुतं वा । एवमूहान्तरेष्वपि दूषणमूहनीयम् । ततश्च स्वव्यतिरिक्तसमस्तवस्तुमिथ्यात्वादेव ब्रह्मणो वस्तुपरिच्छेदाभाव इति ॥

प्रसाद—यदि सिद्धान्ती कहें कि वस्तु परिच्छेद के अभाव का वर्णन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अनुकूल ही करना चाहिए , अन्यथा उपर्युक्त दोनों पक्षों के भी खण्डन का प्रसङ्ग होगा। और ब्रह्म के वस्तु परिच्छेद का निर्वाह प्रत्यक्षादि के अनुकुल भी किया ही जा सकता है । तथाहि- वस्तु से होनेवाले परिच्छेद को वस्तु परिच्छेद कहते हैं । जैसे कुडी आदि के द्वारा प्रकाश का परिच्छेद होता है । सर्व-व्यापक ब्रह्म का इस प्रकार के परिच्छेद का अभाव है, अतएव ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद सिद्ध होता है । तो यह कथन उचित नहीं है । क्योंकि सिद्धान्ती प्रोक्त वस्तु परिच्छेद में कोई अन्तर नहीं है। घट आदि परिमित देश में रहने वाले हैं । आलोक आदि प्रसरणशील हैं। अतएव वे कुडी आदि के द्वारा परिच्छिन्न होते हैं । किन्तु घटादि का कुडी आदि से परिच्छेद कैसे सम्भव है ? तो यह भी नहीं कहा जा सकता है । कुड्यादि से घटादि का परिच्छेद न होने पर भी सन्निकटस्थ दूरी के द्वारा पृथक् प्रतिपादन का कोई भी प्रयोजन नहीं है । इसी प्रतिपादन के द्वारा सिद्धान्ती के इस कथन का भी खण्डन हो जाता है कि, वस्तु का परिमाण ही उसका परिच्छेद तथा उसका कार्य देशपरिच्छेद कहलाता है तो यह नहीं हो सकता इस प्रकार का वस्तु परिच्छेद ब्रह्म में इसलिए नहीं हो सकता है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का शरीर है । यह भी नहीं कहा जा सकता है , क्योंकि 'अस्थूलमनणु बहस्वम्' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ ब्रह्म के शरीर आदि सम्पूर्ण धर्मों का निषेध करती हैं । सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का शरीर मानते हैं तो फिर आप के मत में चेतना चेतनों का विवेक भी नहीं उपपन्न होगा । सिद्धान्ती यह भी नहीं कह सकते हैं कि सभी वस्तुओं का ब्रह्म के सामानाधिकरण्येन निर्देश सम्भव है । यह वस्तु नहीं हो सकती है. यह सामानाधि-करण्य का निषेध ही वस्तु परिच्छेद है । ब्रह्म में यह निषेध ब्रह्म में असम्भव है। अतएव उसमें वस्तु परिच्छेद का अभाव है । क्योंकि अमुख्य सामानाधिकरण्य ब्रह्म व्यतिरिक्त स्थलों में भी देखा जाता है । जैसे जल ही यह सम्पूर्ण जगत् है । इत्यादि श्रुति में जल का सम्पूर्ण जगत् के सामानाधिकरण्येन निर्देश, सभी वस्तुओं का ब्रह्म के साथ भी सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है । शरीर के साथ ब्रह्म का सामाना-धिकरण्य न तो श्रुत है, न तो दृष्ट और न तो अभिप्रेत । इस तरह सिद्धान्ती के अन्य तर्क भी दोष पूर्ण हैं । अतएव ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी वस्तुओं के मिथ्यात्व स्वीकार से ही उसका वस्तु परिच्छेद का अभाव सम्भव है ।

ननु प्रत्यक्षेति । सति सम्भव इति भावः । [शक्यते चेति-चस्त्वर्थः । विशेषाभावा-दिति । गूढाभिसन्ध्युत्तरम् । अभेदोक्तिभ्रमाभिसन्धिमजानानश्चोदयति स्वत इति । अभिसन्धिमु-दुघाटयति तथापीति । एतेनेति । द्रव्यस्य परिमाणाभाव एव विभुत्वमिति भावः । निषेधैका-न्त्यम्-इदमिदं नेति प्रतिषेधयोग्यत्वे सति सामानाधिकरण्यायोग्यत्वम् , स एव वस्तुपरिच्छेदः , तदभावोऽपरिच्छेदः , इदं च सामानाधिकरण्ययोग्यत्वे पर्यवसितमिति तदेव सामानाधिकरण्यं

किमगुख्यसाधारणं विवक्षितम् उत मुख्यमेवेति विकल्पमभिप्रेत्य दूषयति अमुख्येत्यादिना । असम्भवादिति । शरीरशरीरिभावस्य ब्रह्मणो देवादिशब्दवाच्यत्वस्य चासिद्धेरिति भावः । अभ्युपेत्याह नहीति । ऊहान्तरेणेति । स्वतन्त्रवस्त्वन्तरासम्भवः, उत्कृष्टवस्त्वन्तराभावः, असंख्यातगुणत्वमित्यादयः । लाघवाद्वस्त्वन्तरसद्भाव एव परिच्छेद इत्याद्ययोर्निरासः । असंख्यातवस्तु गुणगतमिति न ब्रह्मणोऽनन्तत्वसिद्धिः । तावतैव तदनन्तत्वव्यपदेश औपचारिकत्वप्रसङ्ग. ।

सिद्धान्तः-अत्रोच्यते । शास्त्रप्रत्यक्षयोर्विरोधे प्रत्यक्षप्राबल्यं तावत् स्थितमन्यत्र (२६) । अतएव अनन्तपदश्रुत्यन्यथानुपपत्त्योऽपि न प्रत्यक्षादिविरुद्धं प्रपञ्चमिथ्यात्वम् सुसाधम् । अतो भवदभिमतवस्तुपरिच्छेदाभावो दुरुपपादः । भास्करादिपक्षेऽपि सर्वंसत्त्वैक्ये सत्यपि भेदस्यापि विद्यमानत्वात् परिच्छेदनिषेधोऽनुपपन्नः, अन्यथा भेदाभेदस्यापि विलयप्रसङ्गात् । केवलाभेदपक्षस्तु सर्वव्यवहारविलोपप्रसंगेन यौक्तिकाभासैरपि नाभ्युपगम्यते । अभेदमात्रमस्तीत्येतावता वस्तुपरिच्छेदाभाववचनं त्वमुख्यम् । यत्तूक्तम् परिच्छेद इति पक्षे वस्तुपरिमाणपक्षे च देशपरिच्छेदात् पृथग्व्यपदेशप्रयोजनं नास्तीति, तदयुक्तम्, विरुद्धार्थप्रतिपादनादल्पप्रयोजनार्थप्रतिपादनस्यैव वरिष्ठत्वात् (वरीयस्त्वात् ?) भवत्पक्षेऽपि वस्तुपरिच्छेदात् देशकालपरिच्छेदयोरनतिभेदेन पृथग्व्यपदेशप्रयोजनाभावप्रसङ्गः; यदा हि स्वव्यतिरिक्तसमस्तवस्तुमिथ्यात्वेन वस्तुपरिच्छेदाभावः, तदा देशकालयोरेवाभावात् तदधीनपरिच्छेदस्याप्रसक्तत्वेन तन्निषेधो निरर्थकः। यदि पुनः त्रयाणां परिच्छेदानां स्वरूपभेदात्, घटादिषु च दृष्टेरत्र तन्निषेध इति, तत् परोक्तयोरप्यर्थयोः समानमेव ।

प्रसाद---उपर्युक्त पूर्वपक्षी का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है-पीछे मैंने यह प्रतिपादित किया है कि शास्त्र और निर्दोष प्रत्यक्ष में विरोध होने पर प्रत्यक्ष ही प्रबल होता है; अतएव प्रपञ्च को मिथ्या माने बिना अनन्तपद के अनुपपन्न होने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विपरीत प्रत्यक्ष के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है । अतएव अद्वैत्यभिमत वस्तु परिच्छेद के अभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती है, भास्कर आदि के भी मत में सभी वस्तुओं का ऐक्य होने पर भी भेद को स्वीकार करने के कारण परिच्छेद का निषेध अनुपपन्न है। अन्यथा उनके मत में भेदाभेद की भी सिद्धि नहीं हो सकती है । केवल अभेद पक्ष तो सभी व्यवहारों के पूर्णरूप से लोप हो जाने के प्रसङ्ग के ही कारण तर्काभासों के द्वाराभी नहीं सिद्ध होता है अभेद मात्र होने के कारण वस्तु परिच्छेद का स्वीकार अमुख्य है । अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि वस्तु के द्वारा परिच्छेद मानने वालों के पक्ष में तथा वस्तु परिणाम पक्ष में वस्तु परिच्छेद का देश परिच्छेद से पृथक् व्यपदेश का कोई प्रयोजन नहीं है । तो यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने की अपेक्षा अल्पप्रयोजन वाले अर्थ का प्रतिपादन ही ठीक है ।

अद्वैत मतमें भी देशपरिच्छेद से देश एवम् काल का बहुत अधिक भेद नहीं हो सकने के कारण उनदोनों के वस्तु परिच्छेद से उन दोनों के पृथक् व्यपदेश का कोई प्रयोजन नहीं है। जब आपके मतमें स्वव्यतिरिक्त समस्त वस्तुओं के मिथ्या होने के कारण ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद का अभाव है तब तो देश एवम् काल दोनों के ही अभाव के कारण ब्रह्म मे देश एवम् काल के परिच्छेद का कोई प्रसङ्ग न होने के कारण आपके मत में ब्रह्म में देश एवम् काल परिच्छेद का निषेध करना ही व्यर्थ है। यदि तीनों परिच्छेद के स्वरूप की भिन्नता के कारण तथा तीनों परिच्छेदों के घटादि में पाये जाने के कारण ब्रह्म में तीनों परिच्छेदों का निषेध किया जाता है। अतएव वस्तु परिच्छेद के ही समान देश और काल के परिच्छेदों का अभाव प्रतिपादन उचित ही है।

अत इति। मिथ्यात्वस्य स्वयमेव बाधितत्वान्न त्वदभिमतवस्तुपरिच्छेदाभावोपपादनं तेन शक्यमित्यर्थः।

ननु भास्करादिमते प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वाभावान्न प्रत्यक्षादिविरोध इत्याकांक्षायामाह भास्करादीति। अन्यथेति। भेदस्याभावे। अपि शब्देन तदत्यन्ताभिमतिः सूच्यते।

ननु आनन्त्यश्रुतिसिद्ध्यर्थं विलयोऽप्यस्तु, तत्राह केवलेति। सर्वेति। नित्यब्रह्माभेदेन सर्वस्य नित्यत्वात् किञ्चित्प्रयोजनोद्देशेन प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः। यौक्तिकाभासैरप्यस्वीकृतं कथम् वैदिकाभासैः स्वीकार्यम्, आमुष्मिकप्रवृत्तेरपि विरोधादित्याशयेनापिशब्दः। ननु सत्यपि भेदे तदभावात्मकभेदस्य सत्त्वात् भेदस्य वस्तुपरिच्छेदाभाव इत्यत आह अभेदेति। भेदाभावमात्रान्नपरिच्छेदः-अन्यथा अपरिच्छिन्नब्रह्माभेदात् घटादेरप्यनन्तत्वप्रसङ्गात्, तत्र च पटभेदसहचरितत्वात् विद्यमानोऽप्यभेदो नापरिच्छेदः; भेदासहचरितस्यैव तस्यापरिच्छेदशब्दार्थत्वादिति वाच्यम्, तथाचाभेदमात्रं परिच्छेदाभाववचनम् अमुख्यमित्यर्थः। परिच्छेदयोरित्यनन्तरम् चकारोऽध्याहार्यः।

तदपीति। मुख्यसर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वं वस्त्वपरिच्छेदः, "यस्यात्मा शरीर" मित्यादिभिश्च सर्वस्य ब्रह्मशरीरत्वेन ब्रह्मप्रकारत्वात् प्रकारवाचिनां च प्रकारिपर्यन्तत्वस्याकृत्यधिकरणसिद्धत्वाच्च न तदसम्भवः, न च कैश्चित् शब्दैरसामानाधिकरण्यात्तदभावः अनिष्कर्षकैस्तद्वाचिशब्दैः सामानाधिकरण्यादित्याशयः। तदर्हत्वञ्च स्वतन्त्रवस्तुभेदाभाव इत्यभिप्रायेण परिच्छेदस्वरूपमाह ततश्चेति। भाष्यमुदाहरति भेदवादिनस्त्विति। स्वत इति वस्तुपरिच्छेदाभावो विवक्षितः; तत्र हेतुः सर्वप्रकारत्वादिति। अस्य हेतुत्वेनाभिधानात्, पृथक्सिद्धवस्तुभेदो वस्तुपरिच्छेद इत्युक्तं भवति। परत इति तत्कार्यभूतदेशकालपरिच्छेदाभावो विवक्षितः। तत इति। अनृत जडपरिच्छिन्नविवेकस्य परेणापि वाच्यत्वादित्यर्थः। नहि घटादीति। सजातीयत्वविशिष्टवेषेण ब्रह्मणोऽपि वस्तुत्वं नास्तीत्यर्थः।

ननु सजातीयनिष्ठवस्तुभेदप्रतियोगित्वरूपं सजातीयवस्त्वन्तरवत्त्वं परिच्छेदः, तस्य मिथ्यात्वात् ब्रह्मणः सत्यत्वात् ब्रह्मणि तदभावोऽस्ति, घटे तु तादृशप्रतियोगिमिथ्यात्वेऽपि घटस्यापि मिथ्यात्वान्न तत्र तदभावः; मिथ्याभूतस्य ह्यधिष्ठान एवाभावः, न तु स्वसमानसत्ताके स्वाश्रयेऽ-

पीति शङ्कते घटादीति । स्वरूपस्यापीति । भेदप्रतियोगित्ववदिति भावः । मिथ्यात्वेऽपि घटस्य तत्र पटत्वाभावस्य विरोध्यसन्निधानादेव, ततश्च सजातीयवस्तुनिष्ठ भेदप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वेन तत्र पारमार्थिकाभावं प्रत्यविरोधित्वात, अभावोधिकरणत्वे च विरोध्यसन्निधानस्यैव प्रयोजकत्वात्पटत्वाभाववत्परिच्छेदाभावोपि स्यादित्यर्थः । अस्त्वेवमिति । यद्यपि त्वदुक्तरीत्या सत्यत्वमभाववत्त्वे न प्रयोजकम्, तथाप्यविरोधीत्यभिप्रायेणासत्यत्वकीर्तनम् ।

यच्चोक्तं सर्ववस्तुसामानाधिकरण्ये मुख्यामुख्यविकल्पेन दूषणम्–तदपि मन्दम्; स्वव्यतिरिक्तसमस्तद्रव्यशरीरिणः तद्द्रव्यवाचिभिरनिष्कर्षकैः शब्दैः प्रतिपादने विवक्षिते दोषकथाऽभावात । ततश्चात्र वस्तुपरिच्छेदो नाम स्वस्मात्पृथक्सिद्धाद्वस्तुनो भेदः । स च सर्वप्रकारस्य ब्रह्मणो न सम्भवतीति, 'स्वरूपभेदमात्रस्य निषेधो निषेधशतदुःस्थत्वादविवक्षित एव' इति विवेकानुपपत्तिचोद्यं नावतरति । अयं त्वर्थः प्रत्यक्षाद्यविरुद्धः श्रुतिस्मृतिसूत्रानुगृहीतश्चेत्ययमेव आरम्भणाधिकरणभाष्ये प्रदर्शितः । यथा, 'भेदवादिनस्तु सर्वचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मणः सर्वप्रकारत्वात स्वतः परतः परिच्छेदोऽपि न विद्यत' इति ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने ब्रह्म के सर्ववस्तु सामानाधिकरण्य के विषय में मुख्य एवं अमुख्य विकल्प के द्वारा दोष दिया है, वह भी अत्यन्त मन्द है । क्योंकि ब्रह्म स्वेतर समस्त वस्तु शरीरक है, उसका प्रतिपादन करने वाले निष्कर्षक शब्दों द्वारा उसका प्रतिपादन करने में कोई दोष नहीं है । अतएव अपने से पृथक सिद्ध वस्तुओं से होने वाले भेद का नाम वस्तु परिच्छेद है । सम्पूर्ण जगत् शरीरक ब्रह्म में वह वस्तुपरिच्छेद नहीं हो सकता । ब्रह्म में स्वरूप भेद मात्र का निषेध अनेक निषेधों के द्वारा बाधित होने के कारण यह मूर्खतापूर्ण अनुपपत्ति सम्भव ही नहीं है । सर्वशरीरक ब्रह्म में वस्तु परिच्छेदानुभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अनुकूल, तथा श्रुति, स्मृति एवम् सूत्रानुकूल है इस अर्थ का प्रतिपादन श्रीभाष्य के आरम्भणाधिकरण में किया गया है । तथाहि—भेदवादियों के मत में ब्रह्म के सम्पूर्ण चिदचिच्छरीरक होने के कारण सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का प्रकार है, अतएव ब्रह्म में स्वतः एवम् परतः भी परिच्छेद का अभाव है ।

नन्वेवमपि सर्वविधपरिच्छेदनिवृत्तिर्न सिध्यति, स्वरूपविवेकदशायामिदं इदं न भवतीति परिच्छेदस्य विद्यमानत्वादिति चेत्–सत्यम्, तथाविधवस्तुपरिच्छेदस्य श्रुतिभिरेव प्रतिपाद्यमानत्वात । विश्वमिथ्यात्वपक्षेऽपि ततः परिच्छेदोक्तेः त्वयाऽभ्युपेतत्वाच्च तन्निषेधो न शक्यः । यदि च वस्त्वन्तराभावात वस्तुपरिच्छेदाभाव उच्यते भवत्पक्षे घटादेरपि वस्त्वन्तराभावात तत्सिद्धिः स्यात ॥ ब्रह्माख्यं वस्त्वन्तरं तस्य विद्यत इति चेन्न; तत्स्वरूपसद्भावेऽपि तयोर्भेदस्य मिथ्यात्वेन तस्य वस्त्वन्तरत्वायोगात । व्यावहारिकं वस्त्वन्तरत्वं तस्य विद्यत इति चेत् तत् ब्रह्मापेक्षया घटादेरपि समानम् । न च तदपेक्षया

ब्रह्मणः परिच्छेदोऽपि मिथ्याभूतः, जडाजडैक्यप्रसङ्गादेरन्यत्रोक्तेः ।। स्वजातीयवस्त्वन्तरसद्भावो वस्तुपरिच्छेद इति विशेष इति चेन्न, यथाकथञ्चित्सजातीयत्वविवक्षायां प्रकाशमानत्वादिरूपेण ब्रह्मणः सजातीयस्याविद्यादेर्विद्यमानत्वात् । न चाविद्यादेवस्तुत्वेन परिहारः, घटादेरपि समानत्वस्योक्तत्वात् । न हि घटाद्यपेक्षया वस्तुतः सजातीयत्वादिकं ब्रह्मणः ।। घटादिस्वरूपस्यापि मिथ्यात्वाद्विशेष इति चेत्, किमतः ? मिथ्यात्वेऽपि घटादेः पटत्वाद्यभाववत् वस्तुपरिच्छेदाभावस्यापि सिद्धेः ।। अस्त्वेवम् ; तथाऽपि सत्यस्य ब्रह्मणोऽपि तत्सिद्धिरस्त्येवेति चेन्न—इतरव्यावर्तकयथार्थानि सत्यज्ञानानन्तपदानीति स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात् । सर्वथा; 'सजातीयवस्त्वन्तरसद्भावो वस्तुपरिच्छेदः' इति तदभावविवक्षायां प्रपञ्चसत्यत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः । ब्रह्मणस्तद्विभूतिप्रपञ्चेन अत्यन्तसाजात्याभावस्य ब्रह्मलक्षणादिवशादेव सिद्धेः ।

प्रसाद—यदि कहें कि ऐसा मानने पर भी ब्रह्म में सभी प्रकार के परिच्छेदों के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है ; क्योंकि स्वरूप विवेक की दशा में भी 'यह नहीं हो सकता' इस तरह के परिच्छेद के रहने के कारण । तो यह कहना इसलिए उचित नहीं है कि इस तरह का ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद का प्रतिपादन श्रुतियाँ ही करती हैं । प्रपञ्चके मिथ्यात्व को स्वीकार करने वाले आप भी ब्रह्म में श्रौत वस्तु परिच्छेद मानते हैं । अतएव आप भी ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद के अभाव का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं । यदि आप वस्त्वन्तर के अभाव के कारण वस्तु परिच्छेद का अभाव मानें तो आपके मत में वस्त्वन्तर का अभाव होने के कारण घटादि में भी वस्तु परिच्छेद का अभाव होगा । यदि कहें कि घटादि का वस्त्वन्तर तो ब्रह्म है ही, तो यह नहीं कह सकते हैं, ब्रह्म के स्वरूप का सद्भाव रहने पर भी, ब्रह्म और घटादि के भेद को आप मिथ्या मानते हैं, अतएव ब्रह्म घटादि का वस्त्वन्तर नहीं हो सकता है । यदि भेद की व्यावहारिक सत्यता मानें तो फिर ब्रह्म की अपेक्षा घटादि की भी तो व्यावहारिक सत्यता होने से वस्त्वन्तर सद्भाव के कारण आपके मत में ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद का अभाव नहीं हो सकता है । ब्रह्म की अपेक्षा घटादि परिच्छेद को भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता है , क्योंकि ऐसा मानने पर आप जड एवम् अजड का भेद नहीं कर सकते, यह मैं अन्यत्र कह चुका हूँ । आप स्वजातीय वस्तु के सद्भाव को वस्तु परिच्छेद मानकर सजातीय वस्तु के अभाव के कारण ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद के अभाव का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं ; क्योंकि जिस किसी भी तरह की सजातीयता के विवक्षित होने पर तो प्रकाशमानता मात्र की ब्रह्म से सजातीयता अविद्या की भी है । और अवस्तुता तो अविद्या और घटादि में समान रूप से है । घटादि की अपेक्षा ब्रह्म की सजातीयता वास्तविक नहीं है । यदि कहें कि घटादि का स्वरूप भी मिथ्या है, यह अविद्या और घटादि में अन्तर है , तो यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि जिस तरह मिथ्या होने परभी घटादि में पटादि का और पटादि में घटादि का अभाव है, उसी तरह घटादि में वस्तु परिच्छेद का भी अभाव है । यदि कहें कि घटादि में वस्तु परिच्छेद का अभाव होने पर भी सत्य ब्रह्म में भी वस्तु परिच्छेद का अभाव है ही ; तो ऐसा भी नहीं कह सकते , क्योंकि ऐसा होने पर ब्रह्म की स्वेतर भिन्नता के साधक सत्य, ज्ञान एवम्

नन्तपद के होने से आपके सिद्धान्त भङ्ग का प्रसङ्ग होगा। पूर्ण रूप से सजातीय वस्तु के सद्भाव को वस्तु परिच्छेद कहते हैं, उसके अभाव की विवक्षा होने से प्रपञ्च की सत्यता होने पर भी ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद के अभाव में कोई दोष नहीं आता है। प्रपञ्च ब्रह्म की विभूति है, अतएव उसमें ब्रह्म के अत्यन्त साजात्य का अभाव है; इस बात की सिद्धि ब्रह्म के लक्षण से ही हो जाती है।

किंच देशकालपरिच्छेदाभावोऽपि न घटादिव्यावर्तकः; सत्यदेशकालपरिच्छेदस्य घटादावप्यभावात्, मिथ्यादेशकालपरिच्छेदस्य ब्रह्मण्यपि विद्यमानत्वस्य भवतैव स्वीकारात्। किंच देशकालपरिच्छेदाभावो न देशकालयोः स्वरूपनिषेधगर्भः; वस्तुपरिच्छेदाभावेनैव तत्सिद्धेः। तद्वत् वस्त्वन्तरस्वरूपे सत्येव तत्प्रयुक्तपरिच्छेदाभावो वर्णनीयः; अन्यथा वैरूप्यात्। सम्भवतश्चैकरूप्यस्य परित्यागायोगात्। सम्भवति तदस्मत्पक्षे सर्वेषु वस्तुषु यथाप्रमाणमवस्थितेष्वेव प्रतिघात-परिणाम-पृथक् सिद्ध्यादिलक्षणपरिच्छेदस्य प्रतिक्षेपात्।

प्रसाद—किञ्च ब्रह्म के देश एवम् काल के परिच्छेद का अभाव भी ब्रह्म से घटादि का व्यावर्तक नहीं है, क्योंकि सत्य देश एव सत्य काल के परिच्छेद का अभाव घटादि में भी है। किञ्च आप भी स्वीकारते हैं; कि ब्रह्ममें मिथ्या देश और मिथ्या काल का परिच्छेद है। किञ्च ब्रह्म में विद्यमान देश और काल के परिच्छेद के अभाव के द्वारा देश एवम् काल के स्वरूप का निषेध नहीं करते, क्योंकि उनके स्वरूप का निषेध तो वस्तु परिच्छेद के द्वारा ही सम्भव था। देश एवं काल के ही समान वस्त्वन्तरकी सत्यता को ही स्वीकार करके उसके कारण वस्तु परिच्छेद का अभाव ब्रह्म में सिद्ध करना चाहिए। अन्यथा परिच्छेदा भावों में वैरूप्य होगा। तीनों परिच्छेदाभावों में एकरूपता होने पर उसका परित्याग नहीं किया जा सकता है। हमारे सिद्धान्तानुसार प्रमाणानुकूल सभी वस्तुओं के बने रहने पर भी जब हमारे मत में समानरूपता सम्पन्न त्रिविध परिच्छेद उपपन्न हो जाता है, तो, उसीसे आपके अभिमत प्रतिघात, परिणाम तथा पृथक् सिद्ध्यादिरूप परिच्छेदों का खण्डन हो जाता है।

स्वीकारादिति। जीवस्य मिथ्यात्वस्वीकारात् तस्य च प्रतिबिम्बस्य ब्रह्माभिन्नत्वात् घटाद्यपरोक्षज्ञानस्य च वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपस्योत्पत्तिविनाशस्वीकारादित्यर्थः। वस्तुपरिच्छेदाभावेनेति। तथा च देशकालयोः सतोरेव सर्वदेशकालसम्बन्धात् तत्कृतपरिच्छेदाभावाद्देशकाल परिच्छेदो वाच्यः, तद्वैरूप्यार्थं तद्वस्तुपरिच्छेदाभावोऽपि देशकालयोः सतोरेव वाच्य इत्यर्थः।

किञ्च अनन्यथासिद्धानेकश्रुतिगणप्रतिपन्नस्य ब्रह्मविभूत्यादेरनेकार्थसाधारणैकानन्तपदस्वारस्यानुरोधाय (धेन) बाधो न युक्तः। तदनुरोधेनैव त्वेकानन्तपदस्वारस्यं सङ्कोचनीयम्। ततश्च प्रत्यक्षाद्यविरुद्धत्रि (वि) विधपरिच्छेदाभाव एवात्र विवक्षित इत्यङ्गीक्रियताम्। अन्यथाऽनन्तपदश्रुत्यसङ्कोचाय संख्यातोऽपि परिच्छेदाभावस्वीकारेण ब्रह्मबहुत्वप्रसङ्गात्। एकत्वश्रुतिवशात् वस्तुपरिच्छेदाभावेनान्योन्यव्याघाताच्च तत्परित्याग इति चेत्

तर्हि प्रपञ्चसत्यत्वप्रतिपादकप्रत्यक्षश्रुत्यादिवशात् तत एव व्याघाताच्च देशवस्तुपरिच्छेदाभावोऽपि परित्यज्य एव । यदि च त्रिविधपरिच्छेदाभावो (वे ?) ऽवश्यमभिसन्धिः, तर्ह्यविरुद्धः परिच्छेदाभावोऽत्र स्वीक्रियताम् । सम्भवन्ति चान्येऽपि व्यवच्छेदभेदाः वस्त्वन्तरप्रतिघात–वस्तुपरिणामस्वतन्त्रवस्त्वन्तरसद्भावादयः । एवं वाऽस्तु वस्तुपरिच्छेदाभावः । उत्कृष्टेन वस्तुना उत्तरावधिभूतेन परिच्छिन्नं ह्यपकृष्टं वस्तु । तथाविधोऽपकर्षो ब्रह्मणो नास्तीति । अस्मिंश्चार्थे विवक्षिते तस्य सर्ववस्तुशरीरित्वेन सर्वात्मकत्वमप्यन्तर्गतं भवति । एवं सति, " उल्लङ्घितत्रिविधसीमसमातिशायिसम्भावनं तव परिब्रढिमस्वभावम् " इति भगवद्यामुनाचार्यवचनं गोबलीवर्दन्यायेन ; फलफलिनिर्देशेन वा नेतव्यम् । आरम्भणाधिकरणभाष्यमप्येतत्परमेव योजनीयम् । अतः सिद्धं सत्यैरेव देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्नम् सर्वदेशकालव्यापि सर्वान्तरात्मभूतं सर्वैर्मङ्गलगुणैः समस्तहेयप्रतिभटतया च सर्वस्मात्परम् ब्रह्म अनन्तपदनिर्दिष्टमिति नातः प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरिति ॥

॥ इति शतदूषण्यां आनन्त्यनिरूपणवादः षट्पञ्चाशः ॥५६॥



प्रसाद--किञ्च ब्रह्म की विभूति आदि का प्रतिपादन अनेक अनन्यथा सिद्ध श्रुतियाँ करती है; उसका अनेकार्थक अनन्त पद के स्वारस्य के अनुरोध के चलते बाध मानना उचित नही है, अपितु उस श्रुति समुदाय के अनुसार ही अकेले अनन्त पद के अर्थ का सङ्कोच कर लेना चाहिए । अतएव आपयहीं यही मान लें कि प्रत्यक्ष आदि के अनुकूल ब्रह्म में अनेक परिच्छदों का अभाव बतलाया गया है । अन्यथा अनन्त श्रुतिमें सङ्कोच न करने के लिए आपके तीन प्रकारके परिच्छेद का अभाव स्वीकारने से ब्रह्म में बहुत्वापत्ति होगी । ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के कारण ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद का अभाव होने से ; तथा परस्पर में व्याघात के कारण प्रपञ्च सत्यता का हम परित्याग करते हैं, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रपञ्च की सत्यता का प्रतिपादन करने वाले प्रत्यक्ष श्रुति आदि के द्वारा तथा अनन्त शब्दार्थ तथा वस्तु परिच्छेद के व्याघात के कारण ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद के अभाव का त्याग कर देना चाहिए । यदि आप श्रुति की त्रिविध परिच्छेद के अभाव में अभिसन्धि आवश्यक मानें तो, फिर आपको श्रुत्यादि के अनुकूल परिच्छेदों का अभाव स्वीकारना चाहिए । वस्त्वन्तर प्रतिघात रूप, वस्त्वपरिणाम रूप तथा स्वतन्त्र वस्त्वन्तर सद्भाव आदि भी परिच्छेदों का अभाव ब्रह्म में प्रतिपादित करना चाहिए । इस तरह सिद्ध होता है कि-उत्तरावधिभूत (सबसे महान्) उत्कृष्ट वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न वस्तु अपकृष्ट वस्तु कहलाती है । ब्रह्म से महान् किसी दूसरी वस्तु के न होने के कारण वस्तु

वस्तुकृत अपकर्ष नहीं होना ही उसमें वस्तु परिच्छेद का अभाव कहलाता है । ब्रह्म में इस तरह के वस्तु परिच्छेद का अभाव मानने पर ब्रह्म सर्ववस्तु शरीरक तथा सबों की आत्मा भी सिद्ध होता है । इस तरह से मानकर 'उल्लंघित त्रिविध सीमसमतिशायी सम्भावनं तव परिव्रढिमस्वभावम्' अर्थात् हे प्रभो ! तीनों प्रकार की सीमाओं तथा समाभ्यधिक सम्भावना से रहित आपका स्वभाव है । इस श्रीमद् यामुनाचार्य के वाक्य का निर्वाह गोबलिवर्दन्याय से अथवा फल और फलवान रूप से करना चाहिये । आरम्भणाधिकरण भाष्य का भी निर्वाह इसी तरह करना चाहिए । इस तरह सिद्ध हुआ कि सत्य देश काल और वस्तु की सीमा से अवच्छिन्न, सभी देशों और कालों में व्यापक; सभी वस्तुओं की अन्तरात्मा सभी कल्याणकारी गुणों से विशिष्ट, सभी हेयगुणों के प्रत्यनीक तथा सबों से महान् ब्रह्म ही अनन्त पद से बतलाए गये हैं । अतएव अनन्त पद के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती है ।

इस तरह शतदूषणी के छपनवे आनन्त्यनिरूपण नामक वाद का प्रसाद समाप्त हुआ ।

******

स्वारस्यनुरोधेनेति । वस्त्वन्तरभेदमात्रं वस्तुपरिच्छेद इत्यभ्युपगमवादः । तत एवेति अनन्तशब्दार्थवद्वस्तुपरिच्छेदाभावयो र्व्याघातादित्यर्थः ।

अस्मिश्च । वस्त्वन्तरप्रतियोगिकापकर्षो वस्तुपरिच्छेदः, तदभावश्चोत्कर्षः, भावान्तरस्याभावत्वात्, स च सर्वशरीरत्वादि, तदपि तदन्तर्गतमित्यर्थः । उल्लङ्घितेत्यादि । यद्यपि परिव्रढिमाप्रभुत्वम्, 'प्रभौ परिवृढ' इति निपातनात्, तथापि तस्य धर्मिद्वारानन्तत्वान्वय इत्यभिप्रेत्येदमुक्तम् । स्तोत्र भाष्ये साक्षात्प्रभुत्वगततयैवोक्तम्-'देशतः कालतो विषयतश्चे'ति । प्रभुत्वस्य ब्रह्मादिवदेकाण्डादिमात्रगतत्वाभावो देशापरिच्छेदः, एतल्लोके पुण्यपापविवेकप्रभोरपि वैवस्वतस्य 'प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवाना'मिति विषयविशेषादिव सङ्कोचो विषयपरिच्छेदः, तदभावो ब्रह्मादिसर्वविषयत्वमपरिच्छेद इति तत्र भेदः । तत्र च न पौनरुक्त्यशङ्कापि, तिस्रो विधा यस्येति बहुव्रीहावन्यपदार्थत्रये समाधिकराहित्यस्य पृथक्वचनात् । संख्याया(इवो) ल्लङ्घनानन्वयात् गोबली वर्दन्यायसम्भवः । फलेति । त्रिविधा सीमा समातिशायिसम्भावना चोल्लङ्घिता येनेति विग्रहः, तत्र सम्भावनोल्लङ्घनम् फलमित्याशयः । आरम्भणेति । 'स्वत' इति स्वरूपसम्बन्धिपरिच्छेदः, स च देशकालाभ्याम्, 'परत इति गुणविभूतिभ्यां परिच्छेदः, तदभाव एव वस्त्वपरिच्छेद इति भावः । सत्यैरेवेति । सत्यैरेवापरिच्छेद उपपादयितुम् शक्यः, नासत्यैः; घटस्य सत्यात्पटादिवासत्यात् शुक्तिरजतादेरपि भेदस्य परिच्छेदरूपत्वात्, न चैतन्नाहित, परिभाषामात्रपरिशेषापत्तेः ।

अयमत्रनिष्कर्षः-त्वया वस्तुपरिच्छेदशब्देन परिभाषितोऽनन्तशब्दार्थ इति किमभिधाननकोशसिद्धम् ? उत व्यवहारसिद्धम् ? किं वा वस्तुपरिच्छेदशब्द वदनन्तशब्दोपि त्वया परिभाषितः ? आद्यौ न क्वापि दृष्टचरौ । परिभाषाम् तु न निषेधामः - परन्तु श्रुतेस्तत्परिभाषापारतन्त्र्यम् ।

ननु देशपरिच्छेदस्यात्यन्ताभावरूपत्वात् कालपरिच्छेदस्य प्रागभावध्वंसरूपत्वात् तत्र चान्तशब्दप्रयोगात् नानाशक्तिकल्पने संसर्गाभावत्वेन शक्तिकल्पने च गौरवाबाभावत्वेनैव लाघवाच्छक्तिः कल्प्यते, ततश्च भेदोऽप्यन्तशब्दार्थ इति चेत् , यद्येवं तर्हि लाघवाद्वस्तुत्वमेवान्तशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् ततोऽपि लाघवात् सर्वशब्देपि वा वस्तुत्वमिति किं न कल्प्यते ? व्यवहारस्य शक्तिकल्पकत्वात् तदनुसारेण तिरस्कृत्य तत्तच्छब्दानां तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तकल्पनमिति परिहारः प्रकृतेपि तुल्यः । [अ] भेदे अन्तशब्दप्रयोगाभावात् ।

किञ्च देशकालपरिच्छेदयोरन्तशब्दश्चरमभागार्थः , ग्रामान्तः कर्मान्त इत्यादौ तथा दर्शनात् , क्वचित्प्रयोगबलात् ध्वंसार्थोपि , तथा समीपार्थश्च; प्रागभावात्यन्ताभावान्योन्याभावेषु न क्वचिदप्यन्तशब्दप्रयोगो दृष्टचरः । कथं तर्हि सिद्धान्ते वस्तुपरिच्छेदार्थकताभिधानम् ? उच्यते, उत्कृष्टम वस्त्वपकृष्टवस्तुपरिच्छेदकतया लोकव्यवहारसिद्धम , अतः परिच्छेदशब्दार्थतामात्रेण तदपि विवक्षितुम शक्यत इत्येतावता तदङ्गीकारः, क्वचित्तदन्तर्गतस्वतन्त्रवस्त्वन्तरशून्यपरत्वाङ्गीकारश्च । अस्तु वा भेदोऽप्यन्तशब्दार्थः , अथाप्यन्तशब्दस्यानेकार्थत्वात् देशकाल परिच्छेदे तयोः प्रचुरप्रयोगाच्च अत्रापि तन्निषेध एव युक्तः । नानार्थत्वाच्च न सङ्कोचगन्धः । अस्तु वा त्वदुक्तरीत्या एकार्थत्वम् , तथापि प्रचुरप्रयोगान्मानान्तराविरोधाच्च उक्तरीत्या सङ्कोच एव युक्तः । अन्यथा "अनादिर्भगवान् कालो नान्तोस्य द्विज विद्यत" इति अन्तशब्देन कालस्यापि वस्तुपरिच्छेदाभावप्रसङ्गात् । अन्तशब्देन भेदस्याप्युक्तौ निषेधानुपपत्तिश्च , ब्रह्मणः प्रपञ्च भिन्नत्वात् । सत्यादिपदैः प्रपञ्चभेदः प्रतिपाद्यते, अनंतशब्देन भेदनिषेधः क्रियते, इदं च वाक्यं तत्त्वावेदकम , पदत्रयमपि स्वरूपलक्षकमिति कस्मादुपाध्यायादधीतोयं वृषलोद्वाहमन्त्रः ? क्षम्यताम् अयमसंदृष्टप्रलापः; पदद्वयमपि स्वरूपलक्षकमित्येतावदेवोच्यत इति चेत् , तर्हि आनन्त्यश्रुतितः कथं मिथ्यात्वसिद्धिः ? अतः पुनरावृत्तः स एव मन्त्रः । अपि च प्रपञ्चमिथ्यात्वं कथं भेदनिषेधोपपादकम् ? सत्यपदोक्तानृतव्यावृत्त्युपपादकत्वात् ।

ननु प्रपञ्चस्य सत्यत्वे तद्भेदोऽपि सत्यः स्यात् । मिथ्यात्वे तु भेदोऽपि मिथ्येति निषेधोपपत्तिरिति चेन्न—अनृतव्यावृत्तेर्मिथ्यात्वप्रसङ्गात् । सत्यादि पदानां तत्त्वावेदकत्वप्रसङ्गाच्च तेषां व्यावृत्तिपरत्वोक्तेः ।

ननु सा व्यावृत्तिः स्वरूपात्मिका , निषिध्यमानस्तु भेदः स्वरूपातिरिक्तो मिथ्येति चेत् , तर्हि सत्य एव परिच्छेद इति कथमानन्त्यसिद्धिः ? न हि स परिच्छेदो न भवतीति राजाज्ञा, अविद्याया अप्यपरिच्छेदप्रसङ्गात् । तत्रापि भेदाङ्गीकारे अनवस्थाप्रसंगेन स्वरूपात्मकतयैव भेदस्य स्वीकार्यत्वात् ।

ननु देशकालपरिच्छेदवदयमपि परिच्छेदः अभावप्रतियोगित्वात्मक एव, अभेदप्रतियोगित्वम वस्तुपरिच्छेदः; तदेवात्र निषिध्यते, न तु भेदाश्रयत्वमिति चेन्न , सदसद्विलक्षणत्वम् वदता ब्रह्मभेदस्य प्रपञ्चेऽङ्गीकारात् । स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वं परिच्छेद इति चेन्न ,—

प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् सत्ताभेदासिद्धेः। प्रातिभासिकसत्ताङ्गीकारेऽपि न विशेषणस्य प्रयोजनम् पश्यामः।

ननु भेदप्रतियोगित्वस्य ब्रह्मणि निषेधात् विद्यमानमपि भेदप्रतियोगित्वं मिथ्यैव, एवं च, तन्मिथ्यात्वस्य भेदतदाश्रयमिथ्यात्वं विनानुपपत्तेः तत्सिद्धिः, न च भेदप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वमभेदप्रतियोगित्वस्य सत्यत्वेनाप्युपपन्नम्, तत्सत्यत्वं चाभेदसत्यत्वाधीनम्, तच्च प्रपञ्चसत्यत्वाधीनम्, अतः प्रपञ्चसत्यत्वेनोपपन्नम् प्रपञ्चभेदप्रतियोगित्वमिथ्यात्वं कथं प्रपञ्चमिथ्यात्वम् साधयेत्? प्रपंचसत्यत्वेनैव वा तदुपपत्तिः, भेदप्रतियोगित्वस्यासत्यत्वे अभेदप्रतियोगित्वस्य सत्यत्वावश्यंभावात्, अतोऽनन्तपदं प्रपञ्चसत्यत्वस्यैव साधकमिति वाच्यम्, जडाजडयोः पारमार्थिकाभेदासम्भवादिति चेन्न,—अभेदप्रतियोगित्वस्यापारमार्थ्ये भेदप्रतियोगित्वपारमार्थ्यस्यावर्जनीयत्वात्, ब्रह्मणोऽधिष्ठानतया प्रपञ्चस्य तदभेदाच्च। सोऽपि मिथ्येति चेत्तर्हि समानसत्ताकयोर्विरोधाङ्गीकारात्तथाविधयोरेव भेदप्रतियोगित्वाभेदप्रतियोगित्वयोरङ्गीकाराच्च पुनरावृत्तस एव मन्त्रः।

ननु सत्यभूतभेदप्रतियोगित्वस्याभाव एवाभेदः; तेनाधिष्ठानत्वोपपत्तिः, अयमेव चानन्तशब्दार्थोऽपीति चेत्, तर्हि सत्यभूतभेदप्रतियोगित्वं परिच्छेद इति घटादेः तदभावात् तेषामपि अपरिच्छिन्नत्वप्रसङ्गः। ब्रह्मणः प्रपंचभिन्नत्वात् भेदस्य च ब्रह्मस्वरूपत्वात् सत्यभूतभेदप्रतियोगित्वात् घटादेः कथं तदपरिच्छेद इति चेत्, तर्हि घटादेः घटादिभेदः परिच्छेदो न स्यात् न चेष्टापत्तिः, अविशेषात् ब्रह्मनिष्ठभेदप्रतियोगित्वस्यापि अपरिच्छेदत्वप्रसङ्गात्। आश्रयसमानसत्ताकं भेदप्रतियोगित्वं परिच्छेद इति तु दत्तोत्तरम्, समानसत्तापदवैयर्थ्यस्योक्तत्वात्।

ननु घटादौ भेदप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वात् समानसत्ताकयोर्भावाभावयोर्विरोधाच्च भेदप्रतियोगित्वाभावो मिथ्याभूतो घटादौ न सम्भवति, सत्यभूतस्तु नास्त्येव। अनन्तपदेन कृत्स्नमिथ्यात्वावगमदशायामभेदप्रतियोगित्वाभावस्यापि मिथ्यात्वावगमात्। तस्मान्नापरिच्छेदप्रसङ्गो घटादेरिति चेत्, एवं तर्हि ब्रह्मणोऽपि नापरिच्छेदसिद्धिः। भेदप्रतियोगित्वस्य तत्रापि मिथ्यात्वेन मिथ्याभूततदभावस्यासम्भवात्, सत्यभूताभावासिद्धेश्च। अथोच्येत ब्रह्मणि भेदप्रतियोगित्वाभावः स्वरूपमेवेति, सिद्धम् तर्हि घटादेपरिच्छेदः, ब्रह्मणीव ब्रह्मस्वरूपस्य प्रतियोगित्वाभावस्य घटादावप्यवश्यम्भावात्, प्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वेन तदविरोधस्याविशेषात्, सद्वैलक्षण्यस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वप्रसंगेन ब्रह्मण एव सद्वैलक्षण्यरूपताया वाच्यत्वेन भेदत्ववत् भेदप्रतियोतित्वाभावरूपताया अवर्जनीयत्वात्।

इति श्रीवाधूलकुलतिलकश्रीनिवासाचार्यपादसेवासमधिगतपरावरतत्त्वयाथात्म्येन तदेकदैवतेन तच्चरणपरिचरणपरायणेन तत्प्रसादलब्ध महाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायाम् आनन्त्यनिरूपणं नाम षट्पञ्चाशः स्कन्धः॥

❀ अथ निर्विशेषब्रह्मण आनन्दत्वभङ्गवादः सप्तपञ्चाशः ॥ ५७ ॥ ❀

ब्रह्मण्ययानन्दशब्देन दर्शितां गुडजिह्विकाम् ।
निर्विशेष (षाऽऽ ?) गृहीतानां वादिनां विलुनाम्यहम् ॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वान् ब्रह्म में आनन्द नामक धर्म को नहीं स्वीकार कर ब्रह्म को आनन्द-मात्र बतलाकर मुमुक्षु जीवों का प्रवञ्चन करते हैं, ब्रह्म की निर्विशेषता में उनका महान् आग्रह है । मैं उनकी उस प्रवञ्चना का खण्डन करता हूं ।

क्षिप्तानासुरयोनिषु प्रतिमुहुर्मूढानबोधोगता
न प्राप्यैव तु पार्थभूतपरमानन्दम् ततो निन्दतः ।
नैर्गुण्येन सतां तदाप्तियशसा दग्धान् तदा वादिनो
नीचान् भाति तुदन् सतां परिवृढस्त्रय्यन्तसद्देशिकः ॥

निरुपममिदम् वैराग्यम् वा क्षमा च वितिन्दय
प्रगुणमपि यत् ब्रह्मानन्दम् स्वतो गुणवत्तया ।
यदपि निरयं मूढा न द्विष्ट भावि वयं पुन
र्जनितभगवत्प्रेमाणः श्रीनिवासगुरूक्तिभिः ॥

श्रूयते हि-, 'विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्यादि । तत्र किमिदं ब्रह्मण आनन्दत्वं नाम ? सुखत्वमिति चेत् ; तदपि किमिति विचारयामः (१) किमनुकूलवेदनीयत्वम् ? (२) उतानुकुलवेदनत्वम् ? (३) अथानुकूलत्वमात्रम् ? (४) यद्वा दुःखनिवृत्तिरूपतामात्रम् ? (५) उत ज्ञानात्मकत्वमेव ? (६) किञ्चि-द्धर्मान्तरं वा ?

प्रसादः—ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करती हुई श्रुतियां कहती हैं—'ब्रह्म विज्ञानमय तथा आनन्दमय है ।' 'ब्रह्म आनन्दस्वरूप है ।' 'ब्रह्म कम् खम् शब्द वाच्य सुख स्वरूप है । इत्यादि । प्रश्न है कि ब्रह्म की इस आनन्दता का स्वरूप क्या है । यदि सुखत्व मानें तो भी प्रश्न है कि उस सुखत्वका स्वरूप क्या है ? (१) अनुकूल वेदनीयत्व रूप? (२) या अनुकूलवेदनत्वरूप? (३) या अनुकूलत्वमात्र? (४) या दुख निवृत्ति रूपता मात्र ? (५) या ज्ञानात्मकत्व मात्र ? (६) या कोई दूसरा धर्म ?

आनन्दत्वस्य परपक्षे असम्भवं दर्शयिष्यन् तस्येष्टापादनत्वनिरासायाह श्रूयत इति । किमिदमिति । न तावत्स्वरूपम, तथा सति हि स्वरूपमानन्दो न स्यात्, नापि धर्मः, अनिर्वचनात्, अतो दूर्निरूपमित्यर्थः ।

न प्रथमः, वेदनीयत्वस्यानभ्युपगमात् ॥ व्यावहारिकं तदस्त्विति चेत्, तर्हि ब्रह्मण आनन्दत्वं व्यावहारिकमिति ब्रह्मणोऽनानन्दत्वमेव परमार्थः स्यात् । ततश्च व्यावहारिकदशायामनुकूलत्वम्; तन्निवृत्तिदशायां तन्निवृत्तिरपीति संसारस्यैव ग्राह्यत्वं मोक्षस्य दुस्परिहरणीयत्वमिति स्यात् ॥ यदा कदाचिदनुकूलवेदनीयत्वं यावद्द्रव्यभाविन आनन्दत्वस्योपलक्षणमिति चेत्, तर्हि सांसारिकस्य सर्वस्यापि वस्तुजातस्य, 'वस्त्वेकमेव दुःखाय', 'तदेव प्रीतये भूत्वा' इति श्लोकद्वयोक्तप्रकारेण कदाचिदनुकूलवेदनीयत्वस्य सद्भावात् यावद्द्रव्यमानन्दत्वं स्यात् । ततश्च सप्रपञ्चतयैवानुभव उपादेयः स्यात्, सहस्रवतः पञ्चशतं किमधिकमिति न्यायात् ॥ विषयानुकूल्यानुभवदशायां ब्रह्मानन्दानुभवो न सिध्येदिति चेन्न, तस्य नित्यस्वयम्प्रकाशत्वाभ्युपगमात् । वैशद्यावैशद्यादिदूषणम् त्वन्यत्रैव (......) । एवं वेदितुरभावादपि वेदनीयत्वासिद्धेः व्यावहारिकदशायां तत्सद्भावमात्रमपि दत्तोत्तरमेव ।

प्रसाद—प्रथम पक्ष तो इसलिए नहीं माना जा सकता है कि आप वेदनीयत्व को स्वीकारते ही नहीं है । यदि ब्रह्म की व्यावहारिक वेदनीयता मानें तो फिर ब्रह्म के आनन्दत्व को व्यावहारिक और उसके आनन्दत्व को ही परमार्थिक मानना होगा । इस तरह मानना होगा कि व्यावहारिक दशा में ब्रह्म में आनन्दत्व रहता है; व्यवहारिक दशा के निवृत्त होने पर उसके आनन्दत्व की भी निवृत्ति हो जाती है । ऐसी स्थिति में संसार की ही ग्राह्यता तथा मोक्ष की त्याज्यता सिद्ध होगी । यदि आप कहें कि ब्रह्म की कादाचित्क अनुकूलवेदनीयता ब्रह्म में सर्वदा रहने वाले आनन्दत्व का उपलक्षण है, तो फिर सभी सांसारिक वस्तुओं में-'वस्त्वेकमेव दुःखाय' एक ही वस्तु दुखद है; 'तदेव प्रीतये भूत्वा' वही वस्तु सुख देने वाली बनकर' इन दोश्लोकों में प्रोक्त प्रकार से, अनुकूलवेदनीयता का सद्भाव रहने के कारण उन सभी वस्तुओं के शाश्वत आनन्दत्व होने का प्रसङ्ग होगा । इस तरह प्रपञ्च रूप से ही अनुभव करना 'सहस्र की अपेक्षा पाँच सौ कम ही होता हैं' इस न्याय से उपादेय होगा । यदि कहें कि विषयों की अनुकूलता के अनुभव दशा में ब्रह्मानन्द का अनुभव नहीं हो सकता है। तो यह नहीं कह सकते हैं; क्योंकि आप ब्रह्मानन्द को नित्य तथा स्वयम्प्रकाश मानते हैं । इसके वैशद्य एवम् अवैशद्य का खण्डन हमने अन्यत्र किया है । मोक्ष में तो अनुभव करने वाले का अभाव होने के कारण भी वेदनीयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । व्यावहारिक दशा में आनन्दत्व का सद्भाव तो पहले ही खण्डित कर चुका हूं ।

व्यावहारिकमिति । वेद्यत्वस्य घटादाविव धर्मिसमसत्ताकत्वाभावान्नाभ्युपगमविरोध इति भावः । व्यावहारिकेति । संसारदशायामित्यर्थः । तदिति । संसारनिवृत्तिदशायामित्यर्थः । यदा प्रपंचस्य कल्पितत्वान्निष्प्रपंचत्वं ब्रह्मणः परमार्थतयाऽऽनन्दत्वस्य कल्पितत्वे तद्विपरीतमनानन्दत्वमेव परमार्थः स्यादिति भावः । एतेन वृत्तिविषयत्वमादायानुकूलवेद्यत्वमित्यपि निरस्तम् । आनन्दत्वस्येति । आनन्दात्मकस्वरूपस्येत्यर्थः । आनन्दत्वं स्यादिति । उपादेयस्वरूपम् स्यादित्यर्थः । अनुभवः-ब्रह्मानुभवः । ननु अपरिच्छिन्नब्रह्मानन्दलाभात् क्षुद्रसुख रूपप्रपंचस्य नोपादेय-

तेत्यत्राह सहस्रवत इति । अधिकम्-अपेक्षितादधिकमनपेक्षितमित्यर्थः ।

ननु अधिकब्रह्मानन्दानुभवविरोधित्वात् विषयानन्दानुभवो नोपादेय इति शङ्कते विषयानुकूल्येति । तस्येति । ब्रह्मस्वरूपस्येत्यर्थः ; तथा च तन्मात्रानन्दस्य नाप्रकाश इति भावः । यद्वा ब्रह्मानन्दस्येत्यर्थः । उक्तम् हि युष्माभिः "भासत एव परमप्रेमास्पदत्वलक्षणं सुखमिति । संसारदशायामप्यात्मनि परमप्रेमास्पदत्वप्रयोजकं सुखासाधारणं स्वरूपं भासत इति हि तदर्थः । संसारदशायामविशदब्रह्मानन्दानुभवेऽपि विशदानुभवाभावादस्त्येव विरोध इत्यत्राह वैशद्येति । व्यतिरिक्ताकारप्रकाश एव च वैशद्यम् , तस्मिन्नप्याकारे स एव सत्यत्वमिथ्यात्वविकल्प इत्यादिना जिज्ञासानुपपत्तिवादे वैशद्यदूषणमित्यर्थः । आदि शब्देनावरणानावरणारधावणत्वानवधारणत्वादिकम् तत्र तत्र दूषितमित्यर्थः । दूषणान्तरमाह एवमिति । वेदनीयत्वासिद्धेः न प्रथम इत्यन्वयः । दशेति । मोक्षदशायां वेदितुरभावेनानानन्दत्वापत्त्येत्यर्थः ।

नापि द्वितीयः, वेदनरूपत्वातिरिक्तानुकूलत्वाभ्युपगमे निर्विशेषवादोपक्रमात् । तदनभ्युपगमे व्यर्थविशेषणत्वात् ; पर्यायत्वादिप्रसङ्गाच्च । भिन्नार्थत्वे विशेषणत्वाभावे च घटः पट इतिवत् अनन्वयात् ।

न तृतीयः , आनुकूल्यस्याऽऽपेक्षिकत्वेन किञ्चिदपेक्ष्येत्यभ्युपगम्यत्वात् भवतश्च तदयोगात् ॥ स्वात्मानं प्रति इदमानुकूल्यमिति चेन्न , प्रतिसम्बन्धित्वलक्षणस्वभावविशेषाभ्युपगमेऽपसिद्धान्तात् , अनभ्युपगमे तदुपाधिकानुकूलत्वस्यापि विनिवृत्तेः ॥ अविद्याशबलितं स्वात्मानं प्रतीति चेत्—तर्हि तन्निवृत्तिप्रसङ्गः प्रागेव ।

प्रसाद—दूसरा विकल्प भी नहीं माना जा सकता है , क्योंकि अनुकूलत्व को वेदन स्वरूप से भिन्न मानने पर निर्विशेषवाद का ही खण्डन हो जायेगा । यदि उसे वेदन स्वरूप से भिन्न मानें तो अनुकूलत्व जो ज्ञान के विशेषण रूप से अभिमत है, वह व्यर्थः होगा । किञ्च स्वरूपानतिरिक्त विशेषण मानने पर पर्यायत्वदि दोष होंगे । विशेषण व्यतिरिक्त होते हुए अनुकूलत्व को भिन्नार्थक मानें तो उसका घटः पटः के समान अन्वय नहीं होगा । न तृतीयः इत्यादि—तीसरा पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है , कि अनुकूलत्व सापेक्ष होता है, अनुकूलता किसी अनुभव कर्ता के प्रति होती है। अद्वैत मत में कोई भी अनुकूलानुभव कर्ता नहीं है । यदि कहेंकि स्वयं ब्रह्म इस अनुकूलता का अनुभव करता है । ब्रह्ममें आनुकूल्य प्रतिसम्बन्धित्व रूप धर्म को मानने पर अपसिद्धान्त होगा । यदि उसे नहीं मानें तो प्रतिसम्बन्धित्व प्रयुक्त अनुकूलत्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती है । यदि अविद्याशबलित ब्रह्म के द्वारा आनुकूल्य अनुभूति को मानें तो , फिर अविद्या की निवृत्तिकाल में अनन्दत्व की निवृत्ति हो जायेगी ।

वेदनेति । वेदनस्वरूपातिरिक्तानुकूलत्वाभ्युपगम इत्यर्थः । व्यर्थेति । विशेषणवाचित्वाभिमतमनुकूलपदं विशेषणाभावाद्व्यर्थमित्यर्थः। पर्यायत्वादीति । अनुकूलवेदनपदयोरुभयोरपि स्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे पर्यायत्वम् , अन्यथा तु प्रवृत्तिनिमित्तान्तरस्याप्यभावादबोधकत्वमेव स्यादित्यर्थः ।

ननु वेदनानुकूलपदयोर्भिन्नार्थत्वान्न पर्यायत्वम् , नचैवं सविशेषत्वं तद्गतविशेषण-वाचित्वाभावादित्यत्राह भिन्नार्थत्व इति । विशेषणवाचित्वाभावे विशेष्यतो भिन्नार्थम् वाच्यम् , तथा च न सामानाधिकरण्येनान्वयः-घटः पट इतिवदिति भावः । आपेक्षिकत्वेन--पुरुषविशेषापेक्षत्वेनेत्यर्थः । विनिवृत्तेरिति । स्वरूपे प्रतिसम्बन्धित्वानभ्युपगमे तदघटितानुकूल्यस्यप्यभावादित्यर्थः ।

नापि चतुर्थः, औपनिषदमर्यादाबहिष्कारात् । अभावात्मकत्वप्रसङ्गाच्च ॥ ब्रह्मणो दुःखनिवृत्तिरेव सुखशब्दवाच्यं भावान्तरमिति चेन्न , उदासीनावस्थायाः सर्वसम्मतत्वात् ; पूर्वं निदुःखस्यापि शर्करादि रस स्वादजन्यसुखानुभवदर्शनाच्च । अन्यथा सुखनिवृत्तिरेव दुःखमिति वदन्तं प्रति किमुत्तरं भवेत ? अभ्युपगम एवोत्तरमिति चेन्न ; द्वयोरपि भावरूपत्वासिद्धिप्रसङ्गात् ॥ भावान्तराभाववादिना नैवं चोदनीयमिति चेन्न , भिन्नोपाधिक्रोडीकारेणोदासीनावस्थासङ्ग्रहसिद्धेः ; स्वरूपतः एव निरूपण (णा) सिद्धेश्च । किञ्च समस्तदुःखनिवृत्तिरूपां सुषुप्त्यवस्थामुद्दिश्य , 'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' इति वदन्तम् प्रत भोग्यात्मस्वरूपोपदेशदर्शनात् दुःखनिवृत्त्यतिरिक्तसुखस्वरूपमात्मस्वरूपमिति ज्ञायते ।

प्रमाद—आनन्दत्व को दुःखनिवृत्ति रूपतामात्र इसलिए नहीं माना जा सकता है कि ऐसा मानने पर औपनिषद मर्यादा का बहिस्कार होगा । किञ्च आनन्दत्व को अभावात्मक मानना होगा । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ब्रह्म के दुःख की निवृत्ति ही सुख शब्द वाच्य और भावान्तररूप है , क्योंकि ब्रह्म की उदासीनावस्था सर्व सम्मत है, जो पहले दुख का अनुभव नहीं किया है; उसको भी चीनी आदि के रस के अस्वाद से जन्य सुख उत्पन्न होते देखा जाता है । उदासीनावस्था को नही स्वीकारने पर सुख की निवृत्ति को ही दुख मानने वाले को आप कौन सा उत्तर देंगे ? यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उदासीनावस्था स्वीकारने पर ही उत्तर सम्भव है . क्योंकि दोनों सुख निवृत्ति तथा दुख निवृत्ति दोनों की भावरूपता की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि दोनों का निरूपण प्रतियोगी के निरूपण के विना नहीं हो सकती है । यदि कहें कि अभाव को भावान्तर रूप मानने वाले आप को इस तरह की बात नहीं करनी चाहिए । तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि न तो हम दुखाभाव को सुखाभाव को दुखरूप मानते हैं, किन्तु उसे हम विभिन्न देश एवम् काल विशिष्ट अभावान्तर रूप मानते है । अत एव उदासीनावस्था सिद्ध होती है । भिन्न अवस्थाओं को स्वीकार करने से तो उदासीनाव था की सिद्धि हो नहीं सकती है । किञ्च उदासीनावस्था का स्वरूपतः निरूपण असम्भव है । किञ्च सभी दुखों की निवृत्ति रूप सुषुप्ति अवस्था को लेकर, इस अवस्था में मुझे किसी प्रकार के भोग की उपलब्धि नहीं होती है , यह कहने वाले को श्रुतियाँ भोग्य रूप से आत्मा के स्वरूप का उपदेश करती हैं । अतएव सिद्ध होता है कि आत्मा दुःख निवृत्ति से भिन्न सुख स्वरूप है ।

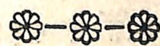
औपनिषदेति । दुःखनिवृत्तेः पुरुषार्थत्व इत्यर्थः । वैशेषिकाद्यविशेष इति भावः । सुखरूपं भावान्तरमेव दुःखनिवृत्तिः, अतो नाभावात्मकमिति शङ्कते ब्रह्मण इति । उदासीनेति ।

कदाचिद्दुःखावस्था अन्यदा तु दुःखनिवृत्त्यात्मकसुखावस्था इत्यवस्थाद्वयमेव स्यात् , नोपेक्षावस्थेत्यर्थः । इतोऽपि दुःखनिवृत्तिः सुखमित्याह पूर्वमिति । अन्यथा उदासीनावस्थानङ्गीकार इत्यर्थः । द्वयोरिति द्वयोरपि प्रतियोगिनिरूपणनियतनिरूपकत्वादिति भावः । भावान्तरेति । भावान्तराभाववादिना भावयोरेव सुखदुःखयोः परस्पराभावात्मकत्वस्य वक्तव्यत्वात् उदासीनावस्थासंग्रहाभावतौल्यात् , अन्यथा सुखनिवृत्तिरित्यादिचोदनद्वाद्वयोरपीत्यादिचोदनञ्च न सम्भवतीत्यर्थः । भिन्नोपाधीति । न वयं सुखत्वेन दुःखाभावत्वं दुःखत्वेन सुखाभावत्वं वा ब्रूमः , किन्तुतत्तद्देशकाल विशिष्टाभावान्तरत्वेन: अत उदासीनावस्था सिध्यतीत्यर्थः । एवमुदासीनावस्थासंग्रहाभावप्रतिबन्दी पराकृता; द्वयोरपि भावरूपत्वासिद्धिप्रसङ्गप्रतिबन्दीमप्युद्धरति स्वरूपत इति । किंचेति । 'नाहमत्र' त्यत्र अत्र शब्देन सुषुप्त्यवस्था परामृश्यते, सा च ज्ञानेच्छादुःखादिसकलवृत्तिनिवृत्तिरूपा; ततश्च दुःखाभावे ज्ञायमानेऽपि 'नाहमत्र भोग्य' मित्युक्तेर्दुःखाभावस्य भोग्यत्वाभाव उक्तः उत्तरे चात्मनो भोग्यत्वमुक्तम् ; अतो भोग्यत्वेनोक्तस्यात्मनोऽभोग्यत्वेनोक्त दुःख निवृत्तिमात्रत्वम् दुर्वचनमिति भावः ।

नापि पञ्चमः , 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति सहप्रयोगेण व्यतिरेकसिद्धेः , न हीदं निघण्टुवत् पर्यायबोधनोपक्षीणं सङ्कीर्तनरूपं वा वाच्यम् , येन सहप्रयोगः सह्येत । यावता च विज्ञानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम् ; तावतैव हि भवताऽप्युपरन्तव्यम् । किमानन्दत्वोपपादनप्रयासेन ॥ अपर्यायताबोधनिवृत्त्यर्थोऽयं प्रयास इति चेन्न ; तथाविधविवादाभावात् ! तत्सद्भावेऽपि महता प्रयासेनापि सर्वलोकप्रसिद्धस्यापर्यायत्वस्यापि दुरपह्नवत्वात् । दुःखरूपाणि च कानिचित् विज्ञानान्युपलभ्यन्ते , तदपि ज्ञानमात्रस्य सुखरूपत्वे विरुद्धम् ॥ भ्रान्त्या तदुपलम्भ इति चेन्न , विरोधिनि विज्ञानात्मकत्वे प्रकाशमाने तद्विरोधिनो दुःखरूपत्वस्यारोपासम्भवात् । न हि सुखरूपतया प्रकाशमाने दुःखरूपत्वं कदाचिदध्यस्यति ।

नापि षष्ठः , बहिष्कृतानुकूलस्य तस्याऽऽनन्दशब्दवाच्यत्वायोगात् । तत्प्रतीकारे उक्तदूषणानुवृत्तेरेव दुष्टत्वात् । ज्ञानात्मकत्वातिरेकविकल्पेनापि दत्तमेवोत्तरं मन्तव्यमिति । अतो न कथञ्चिदपि निर्विशेषचिन्मात्रवादिनस्तदानन्दत्वसिद्धिरिति ॥

॥ इति शतदूषण्यां निर्विशेषब्रह्मण आनन्दत्वभङ्गवादः सप्तपञ्चाशः ॥५७॥



प्रसाद—आनन्दत्व को ज्ञानात्मकत्व इसलिए माना जा सकता है, क्योंकि 'विज्ञानमानन्दंब्रह्म' इस वाक्य में विज्ञान और आनन्द इन दोनों पदों का एक साथ प्रयोग होने से विज्ञान और आनन्द ये दोनों ब्रह्म के विशेषण भी सिद्ध होंगे। यह वाक्य कोश के समान पर्याय बोधन के समान नाम सङ्कीर्तन रूप नहीं है। जिससे कि विज्ञान और आनन्द इन दोनों पदों का सहप्रयोग उपपन्न हो सकेगा। आपको भी उतना ही प्रयास करना चाहिए जितने प्रयास से ब्रह्म का विज्ञानत्व सिद्ध हो, ब्रह्म के आनन्दत्वोपपादन के प्रयास से आपको कौन सा लाभ है? यह भी नहीं कह सकते हैं कि आनन्द आदि पद ज्ञानके पर्याय वाची मात्र नहीं हैं, यही सिद्ध करने के लिए हम यह प्रयास कर रहे हैं; क्योंकि पर्यायता के विषयमें कोई भी विवाद नहीं है। पर्यायता के रहने पर भी इस महान् प्रयास के द्वारा भी सर्वलोक प्रसिद्ध पर्यायत्व का आप अपलाप नहीं कर सकते हैं। किञ्च कुछ विज्ञान दुःखरूप से उपलब्ध होते हैं, सम्पूर्ण ज्ञान को सुख स्वरूप मानने पर उन उपलब्ध दुःखरूप ज्ञानों का भी विरोध होगा। यदि कहेंकि ज्ञानों की दुःख रूप से उपलब्धि भ्रान्तिरूप है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, विरोध विज्ञानात्मकता के प्रकाशित होते रहने पर, विज्ञान में विरोधी दुःख रूपता का आरोप असम्भव है। सुखरूपता की प्रतीति होते रहने पर ज्ञान में दुःखरूपता का अध्यास असम्भव है। छठा पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है कि आनुकूल्य रहित उस वस्तु को आनन्द शब्द से नहीं अभिहित किया जा सकता है। यदि उसमें अनुकूलता मानें तो उपर्युक्त दोष अवश्य होंगे। किञ्च प्रश्न है कि वह वस्तु ज्ञानात्मक है या नहीं। इन दोनों पक्षों में होने वाले दोषों को ऊपर ही प्रदर्शित किया गया है। इस तरह निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्म की किसी भी प्रकार आनन्दत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस तरह शतदूषणी के सत्तावनवें 'निर्विशेष ब्रह्मणः आनन्दत्व भङ्ग' नामक वाद का प्रसाद समाप्त हुआ॥



किञ्च ज्ञानत्वस्यैव आनन्दत्वरूपत्वे ज्ञानत्वं प्रसाध्यापि पुनरानन्दत्वसाधनप्रयासात्मकत्वप्रवृत्तिव्याघात इत्याह यावतावेति। अपर्यायतेति। ज्ञानस्यानन्दशब्दवाच्यत्वमेव साध्यत इत्याशयः। तथाविधेति। आनन्दस्यानन्दशब्दवाच्यत्वे अविप्रतिपत्तेः, ज्ञानत्वानन्दत्वयोरभेदे ज्ञानेऽपि न तद्विप्रतिपत्तिरिति भावः। किंच न ज्ञानत्वमानन्दत्वं गतत्वादित्याह दुःखेति। दुःखादिकमपि ज्ञानविशेष इति स्वमतेनेदमुक्तम्। तदुपलम्भ इति। ज्ञाने दुःखत्वोपलम्भ इत्यर्थः ज्ञानत्वस्य विरोधित्वाभावादारोपसम्भव इत्यत्राह नहीति तथाच ज्ञानत्वमेव सुखत्वमित्युक्तत्वात् ज्ञानत्वे प्रकाशमाने दुःखत्वारोपो न सम्भवतीत्यर्थः।

अस्तु यत्किञ्चिदानन्दत्वम्; आनन्दत्वेनाभिमतस्यानुकूल्यमस्ति न वा? द्वितीये दोषमाह बहिष्कृतेति। आद्ये दोषमाह तत्प्रतीकार इति। आनुकूल्याङ्गीकारेण तत्प्रतीकार इत्यर्थः। उक्तेति। तृतीय पक्षोक्तदूषणेनेत्यर्थः।

ज्ञानात्मकत्वेति। तदानुकूल्यं ज्ञानात्मकत्वमेव? अतिरिक्तम् वा? अतिरेक निर्विशेषवादापक्रमाद्द्वितीयपक्षोक्तदोषः प्रसज्येत, अनतिरेके सहप्रयोगादुपपत्त्यादिः पंचमपक्षोक्तदोषः प्रसज्येदिति भावः।

यदाह नवीनः—

सुखत्वं हि सुखपदप्रवृत्तिनिमित्ततयानुगतव्यवहारविषयतया व्यावृत्तावेव कल्प्यते, न तु सुखरूप आत्मनि, तत्र तत्कल्पने प्रमाणाभावात्, श्रुतौ सुखपदस्य वृद्धव्यवहारे वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यात्मनि सुखे व्युत्पन्नस्य ज्ञानादिपदवल्लक्षणया आत्मनि प्रयोगात्, ननु यद्यात्मनि न सुखत्वं तह्यात्मा न सुखम्, तस्यैव तत्स्वरूपलक्षणत्वादिति चेन्न,—न सुखत्वं सुखस्य स्वरूपलक्षणम्, तस्य ततोन्यत्वात्, अन्यस्यान्यस्वरूपत्वायोगात्। किंच सुखत्वाश्रयव्यक्तौ विशेषोऽस्ति न वा? न चेत्कथं सुखत्वव्यवस्था? व्यक्तिविशेषं विना सुखत्वस्यैव धर्म इति नियन्तुमशक्यत्वात्, प्रथमेऽपि स विशेषो न धर्मः, तत्रापि व्यवस्थापकाभावात्, व्यक्ति स्वरूपातिरिक्तधर्मा निरूपणाच्च। ततः सुखस्वरूपमेव विशेषः; तदेव तल्लक्षणम्-गोत्वादेरिव तत्स्वरूपम्।

नचैवं ज्ञानानन्दपदयोः पर्यायत्वमेकार्थत्वादिति वाच्यम्,— तत्तद्वृत्ति विशेषशबलस्य तदुपहितस्य वा ज्ञानानन्दपदवाच्यत्वात् प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनापर्यायत्वात्। नचैवमानन्दपदलक्ष्यत्वादात्मा नानन्दः स्यादिति वाच्यम्,— लक्षिणः छत्रिपदलक्ष्यत्ववदनौपाधिकप्रीतिविषयतया आनन्दस्यैव आत्मन आनन्दपदलक्ष्यत्वेनानन्दत्वानपायात, तस्मादनौपाधिकप्रीतिविषयो यच्चैतन्यं तदेव सुखम्, तच्च दुःखानुभवदशायामपि स्वासाधारणरूपेण प्रतीयत इति न तदा प्रमानुपपत्तिः। एतेन यदि चैतन्यमेव सुखलक्षणं तदा चैतन्यस्य परेणाप्यभ्युपगामत तदतिरिक्तस्य सिद्धान्तेऽप्यभावाच्चैतन्यं सुखमिति नाममात्रं न अर्थविशेष इति प्रत्युक्तम्, आत्मातिरिक्तम् सुखमिति वदतामप्यनौपाधिकप्रीतिविषयत्वमेव तल्लक्षणम्। आत्मापि चेत्तादृशः कथम् नात्मा सखम् वा न परमताद्विशेषः? प्रमाणंत्वत्रात्मासुखरुपेनिरुपाधिकप्रेमगोचरत्वाद्व्यतिरेकेणानात्मवत।

नन्वत्र न सुखत्वाश्रय इति प्रतिज्ञार्थः, केवल आत्मनि तदभावात्, अतएव न सुखत्वविशिष्टाभिन्न इत्यर्थः, केवलस्य सुखत्वविशिष्टाभेदे केवलेऽपि तत्प्रसङ्गात्, नापि दुःखान्यत्वं साध्यम्; सिद्धसाधनात्, नापि दुःखविरोधित्वं दुःखात्यन्ताभावत्वेनार्थान्तरत्वादिति चेन्न; निरवयवसुखपदवाच्याभेदस्य साध्यत्वात्, अत्र स्वमते वृत्तेरपि सुखपदवाच्यत्वादभेदसाधने बाध इति निरवयवेत्युक्तम्, वस्तुतस्त्वेतद्विशेषणं विनापि बाधितसखपदवाच्यांशम विहायाबाधितस्वरुपसुखभेदाभावमादाय साध्यं सिध्यति, तथा च न बाधपरिहाराय विशेषणम्, किन्तु सुखपदवाच्यवृत्तिभेदस्य साध्यव्यतिरेकस्यात्मनि सत्वेऽपि हेतुव्यतिरेकाभावात् तत्र व्यतिरेकव्यभिचारपरिहाराय, न च निरवयवसुखपदवाच्यसुखत्वभेदोऽप्यात्मन्यस्तीति व्यतिरेकव्यभिचारस्तदवस्थ इति वाच्यम्, वृत्तिविशेषानुगतात्मस्वरुपसुखस्यैव सुखानुगतबुद्धिविषयतया सुखत्वरूपत्वेन तस्य तद्भेदाभावात्, यद्वा परमप्रेमास्पदताप्रयोजकरूपाभेदः साध्य इति।

तदसत् परमते हेतोः स्वरुपासिद्धेः अहं भूयासमित्यत्राहमर्थस्यैव निरुपाधिकप्रेमगोचरत्वदर्शनात् सुखं मे भूयादित्यत्राप्युपपत्त्यादिमतो लोकप्रसिद्धस्य सुखत्वाश्रयस्यैव निरुपाधिकप्रेमगोचरत्वदर्शनात्। नचोभयत्रापि सुखस्वरुपचैतन्याभेदादेव प्रेमेति वाच्यम्, अद्यापि त्वदभिमतात्मनः सखत्वासिद्धेः संदिग्ध व्यभिचारात्। अत एवाहमर्थ व्यभिचारः।

किञ्च—सुखपदवाच्या हि वृत्तिरेव ; तस्यामेव प्रवृत्तिनिमित्तयोगस्य त्वयाभिधानात, चैतन्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तयोगाभावात, सुखवृत्तितादात्म्यमात्राध्यासाद्योगाभावात, सुखवृत्तितादात्म्याध्यासात सुखपदवाच्यत्वे शुक्तेरपि रजत पदवाच्यताप्रसङ्गात, तथा च साध्याप्रसिद्धिः ; सखरुपत्वासिद्धावपि सुखरुपत्वासिद्धावपि सुखत्वरुपत्वसिध्या अर्थान्तरत्वञ्च । द्वितीयसाध्यमप्यनुपपन्नम्, परमप्रेमास्पदताप्रयोजक रुपाभेदेऽपि परमप्रेमास्पदत्वासिद्धे रर्थान्तरत्वात ।

किंच-मोक्षदशायां ब्रह्मणः उपादेयत्वसिध्यर्थं हि श्रतिरानन्दत्वं प्रतिपादयति, तत्रापि स्वरुपमात्रस्य स्वप्रकाशादिसिद्धत्वात तावन्मात्रप्रतिपादनेऽप्युपादेयत्वासिद्धेः सत्यज्ञानादिपदैस्तत्सिद्धेश्च न तस्य प्रतिपाद्यता । धर्मप्रतिपादने चाद्वैतहानिः । धर्मस्य मिथ्यात्वे तु कल्पितप्रपंचाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः परमार्थतो निष्प्रपंचस्वरुपत्वात कल्पितानन्दत्वपरमप्रेमास्पदताकस्य ब्रह्मणः तद्विपरीतस्वरुपं परमार्थः स्यात् । तदिदमुक्तम् प्रथमविकल्पदूषणे "ब्रह्मणोऽनानन्दत्वमेव परमार्थः स्या" दिति । यच्च सुखत्वाश्रयव्यक्तौ विशेषोऽस्ति नवेत्यादि, तन्न, तत्र विशेषो यदि भेदः, सोस्त्येव, सत्स्वरुपस्य तदितरसमस्तभिन्नत्वात, यदि सुखत्वाश्रयप्रयोजको धर्मविशेषः, स नास्त्येव न चैवं सुखत्वाव्यवस्थापत्तिः, स्वरुप विशेषेऽपि तत्पर्यनुयोगस्य सुशकत्वात् । यच्च ज्ञानानन्दपदयोरपर्यायत्वसाधनम् ; तदपि न सुखात्मकवृत्तौ ह्यनुगतव्यवहारनिमित्तमानन्दत्वमधिष्ठानसुखस्वरुपमेवेति त्वयोक्तम्, तथा ज्ञानत्वमपि । अतो ज्ञानत्वानन्दत्वयोरभेदात्स्यादेव पर्यायत्वम । "विज्ञानमानन्द" मित्यादौ आनन्दपदलक्ष्यत्वेऽनानन्दत्वापत्तिश्च । न च छत्त्रिपदलक्ष्यत्वेऽप्यानन्दस्वरुपानपायः ; तत्र छत्त्रिणोऽपि गमनस्य प्रमाणान्तरसिद्धत्वादजहल्लक्षणा, अत्र तु न स्वरुपमानन्द इत्यत्र प्रमाणान्तरमस्ति ।

किंच आनन्दत्वस्य वृत्तिगतप्रवृत्तिनिमित्ततया तव वृत्तेरेव विशेष्यत्वात जहल्लक्षणैव न च तदभेदाध्यासाच्चैतन्यमपि वाच्यम ; दुःखपदेपि वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यस्य वाच्यत्वापत्तिः । अजहल्लक्षणाया मुख्यत्वात्तत्सिध्यर्थमेव सुखपदवाच्यं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमिति चेन्न, लक्षणामुख्यत्वाय शक्तिगौरवस्यान्याय्यत्वात् । किंच एवं शक्तिकल्पनायामपि आनन्दत्वं वृत्तावेव न चैतन्य इति कथं तदानन्द स्वरुपम् ?

एतेन लाघवेनानन्दपदस्य विशेष्यस्वरूपलक्षकत्वात्तदेव ब्रह्मानन्दस्वरूपमित्यत्र प्रमाणमिति निरस्तम् । यच्चानौपाधिकप्रीतिविषयत्वमेव सुखलक्षणम तच्चात्मन्यपीति, तन्न, अनौपाधिकत्वं यद्यन्येच्छानधीनत्वं तदा तवाहङ्कारेति व्याप्तिः । यद्यन्यसम्बन्धानधीनत्वम, तदा चैतन्ये असम्भवः; अहमर्थसम्बन्ध प्रयुक्तत्वात्तत्र प्रेम्णः, सर्वेषामपि हि अहं भूयासं मम सुखं भूयादिति स्वान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्ये स्वसम्बन्धिसुखे च निरुपाधीच्छा भवति, न तु देवदत्तो भूयात तत्सुखं भूयादिति ।

इति श्रीवाधूलकुलतिलकश्रीनिवासाचार्यपाद सेवासमधिगतपरादरतत्त्वयाथात्म्येन

तदेकदैवतेन तच्चरणपरिचरणपरायणेन तत्प्रसादलब्धमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषण्यां व्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां निर्विशेषब्रह्मण आनन्त्यभङ्गः सप्तपञ्चाशः स्कन्धः ॥५७॥



॥ अथ निर्विशेष ब्रह्मणो नित्यत्वभङ्गवादः अष्टपंचाशः ॥५८॥

पूर्ववृत्तचतुष्केऽपि पूर्वत्वेनोपवर्णिते । नित्यानित्यविवेकेऽत्र नित्यत्वं वो निरस्यते ॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वान् ब्रह्म जिज्ञासा के पूर्ववृत्त रूप से साधन चतुष्टय को मानते हैं । उस साधन चतुष्टय में भी वे नित्यानित्यविवेक को सर्वप्रथम मानते हैं । नित्य ब्रह्म और अनित्य तद्व्यतिरिक्त वस्तुओं के स्वभाव का ज्ञान ही नित्यानित्यविवेक है । वाद में अद्वैताभिमत निर्विशेष ब्रह्म के नित्यत्व का खण्डन किया जा रहा है ।

पूर्ववृत्तेति । मुमुक्षापर्यन्तम् हि साधनचतुष्टयान्तर्गतं सर्वं नित्यानित्यवस्तुविवेकसाध्यम् , अतो नित्यत्वसिद्धावेव नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वकं पूर्ववृत्तचतुष्कं सिद्धयति, तच्च नित्यत्वं त्वन्मते न सम्भवतीति शास्त्रारम्भ एवोच्छिद्य तेति भावः ।

श्रूयते हि–; 'नित्यं विभुं सर्वगतम्' ; 'नित्यो नित्यानाम्' ; इत्यादिभिरात्मतत्त्वनित्यत्वम् । तत् भवत्पक्षे नोपपद्यते , ब्रह्मव्यतिरिक्तमविद्याकालादिकं स्वरूपतोऽपि सर्वमनित्यं ब्रह्मैकमेव नित्यमिति हि वः सिद्धान्तः । तदेतत् ब्रह्मासाधारणनित्यत्वम् (१) किं सर्वकालसत्तारूपम् (२) उत कालावच्छेदनिवृत्तिरूपम् , (३) अथवा प्रध्वंसरहितत्वम् , (४) आहोस्विदबाधितत्वम् ; [५] उत निर्विकारत्वम् , [६] यद्वा उभयावधिरहितत्वम् , [७] किञ्चिद्धर्मान्तरं वा ?

प्रसाद––ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रुतियाँ बतलाती हैं कि; ब्रह्म नित्य, विभु एवम् सर्वव्यापक है । नित्यो नित्यानाम्' श्रुति ब्रह्म की नित्य आत्माओं की अपेक्षा भी नित्य बतलाती है । इन श्रुतियों से आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि होती है । अद्वैत मत में आत्मा की नित्यता उपपन्न नहीं होती हैं । आपके मत में केवल ब्रह्म ही नित्य है; ब्रह्म से भिन्न अविद्या तथा काल आदि सबके सब अनित्य हैं । प्रश्न है कि ब्रह्म की नित्यता (१) सभी कालों में सत्ता रूप हैं ? (२) या काल की सीमा की निवृत्ति रूप हैं ? (३) या प्रध्वंस रहितत्व रूप है ? (४) या बाधितत्व रूप हैं ? (५) या निर्विकारत्व रूप है ? (६) या आद्यन्तरहितत्व रूप है ? (७) या कोई धर्मान्तर रूप हैं ?

श्रूयतेहीति । तथा च श्रुतिसिद्धत्वान्नित्यत्वानुपपत्तौ नेष्टप्रसङ्ग इति भावः । वक्ष्यमाणाविद्याकालातिव्याप्त्यादिदूषणोपयोगितया वा ब्रह्मव्यतिरिक्तमिति । ब्रह्मणोऽपि तत्तद्रूपत्व-

च्छिन्नसंविद्रूपेणानित्यत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थं माह स्वरूपतोपीति । च: सिद्धान्त इति । नित्यानित्यविवेकपूर्ववृत्तत्ववादिनां च इत्यभिप्रायेण च इत्युक्तम् ।

नाऽऽद्यः, अविद्याया अपि नित्यत्वप्रसङ्गात् । साऽपि हि सर्वेण कालेन सम्बध्यत एव, सर्वस्यापि कालस्य तत्कार्यत्वाभ्युपगमेन तदसम्बन्धानुपपत्तेः ॥ साऽपि कदाचिन्निवर्तिष्यत इति चेत्, किमनेन, तन्निवृत्तौ तदुपादानकालावस्थानायोगात् तदसम्बद्धकालासिद्धेः ॥ सर्वकालसम्बन्धे सत्यपि सर्वकालसत्ता नास्तीति विशेष इति चेत्–तर्हि नित्यत्वलक्षणे सर्वकालपदवैयर्थ्यम्, सत्त्वे नित्यत्वमित्येतावतैव ब्रह्मव्यतिरिक्त सर्वव्यवच्छेदात् । न चैवमस्त्विति वाच्यम्, सच्छब्दनित्यशब्दयोरपर्यायत्वेनैव प्रसिद्धेः । अतः सर्वस्मिन् काले स्वरूपलाभमात्रमेव नित्यत्वं वक्तव्यम्; तच्चाविद्यायामपि समानमिति न ततो विवेकः ।

प्रसादः—उसे सर्वकाल सत्ता रूप मानें तो अविद्या के भी नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि अविद्या का भी सभी कालों से सम्बन्ध होता है । क्योंकि सम्पूर्ण काल अविद्या के कार्य हैं, अतएव उसका सभी कालों से सम्बन्ध होगा ही । यदि कहेंकि उसकी भी कभी न कभी निवृत्ति होती ही है' तो इस कथन से आपको कोई भी लाभ इसलिए नहीं हैं, कि अविद्या की निवृति होने पर अविद्योपादानक काल की भी निवृत्ति हो जाने से, ब्रह्म से सम्बद्ध काल की भी सिद्धि नहीं हो सकती है । यदि कहें कि सभी कालों से सम्बन्ध रहने पर भी सभी काल में उसकी सत्ता नहीं रहती । तो फिर नित्यत्व के लक्षण में सर्वकालपद का प्रयोग व्यर्थ होगा । सत्ता ही नित्यता है, इतने मात्र से उसका ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी वस्तुओं से व्यवच्छेद हो जायेगा । किन्तु आप ऐसा भी इसलिए नहीं स्वीकार सकते हैं कि-सत् शब्द नित्य शब्द का पर्याय है । अतएव सभी कालों में स्वरूपतः रहना ही नित्यता है । और इस प्रकार की नित्यता आपके अभिमत अविद्या में भी है । अतएव अविद्या से ब्रह्म का भेद पूर्वक ज्ञान नहीं हो सकता है ।

तत्कार्यत्वेति । तदुपादेयत्वाभ्युपगमेनेत्यर्थः ।

नन्वविद्यानिवृत्तिरपि कदाचिद्भविष्यति, तत्काले च नाविद्येति न सर्वकालसम्बन्धित्वमिति शङ्कते सापीति । किमनेनेति । कदाचिन्निवर्तिष्यत इति वचनमपार्थमित्यर्थः । तन्निवृत्ताविति । उपादानोपादेययोरभेदादिति भावः ।

न च तयोस्तादात्म्यमेव, तच्च भिन्नत्वेसत्यभिन्नसत्ताकत्वमिति वाच्यम्, भेदाङ्गीकारेऽवयविवादप्रसङ्गात्, तादात्म्यस्य निरस्तत्वाच्च । किञ्च यद्यविद्यानिवृत्त्यनन्तरम् तदधीनकालस्य निवृत्तिः, तदा कालनिवृताधिकरणकालान्तरस्वीकारप्रसङ्गः ।

नन्वविद्यानिवृत्त्यनन्तरकाले कालनिवृत्ति न ब्रूमः किन्त्वविद्यानिवृत्तिदशायामपि कालो वर्तते निवर्तते चेत्येवं ब्रूमः इति चेत्, यद्यविद्यानिवृत्तिजन्या कालनिवृत्तिर्न स्यात् तदाविद्यया सहैव कालस्तत्त्वज्ञानान्निवर्तेत, नैव वा निवर्तेत, यथविद्यानिवृत्तिजन्या तदा तदुत्तरकालोऽवश्य-

मङ्गीकर्तव्यः, उत्तरकालं विना तदसम्भवात् । किंच अविद्यासम्बद्धावरणादेर्नित्यत्वप्रसङ्गः सर्वथा दुस्तरः । न सर्वकालसत्त्वेत्यनेन सर्वकालसम्बन्धो विवक्षितः, किन्तु सर्वकालसत्यत्वमिति शङ्कते सर्वकालेति । नित्यत्वलक्षणे-नित्यत्वात्मके ब्रह्मासाधारणधर्म इत्यर्थः ।

ननु सत्तामात्रे विवक्षिते नित्य इति व्यवहाराभावात् सन्नित्यशब्दयोः पर्यायत्वप्रसङ्गाच्च सर्वकालसत्त्वमेव नित्यशब्दार्थः, अतो न वैयर्थ्यमपीत्यत्राह अतः सर्वस्मिन्निति । व्यवहारापर्यायत्वाभ्यां सर्वकालप्रवेशे आवश्यके सत्यत्वांशो न प्रवेश्यो गौरवात्, तदप्रतिसन्धानेऽपि नित्यत्वव्यवहाराच्चेति भावः ।

न द्वितीयः, कालस्यापि तत्सद्भावेन ततो विवेकासिद्धेः । न कालः कालान्तरेणावच्छिद्यते, तथा सति अनवस्थानात् । नापि स्वेन; कर्मकर्तृविरोधात् । न च स्वतः पूर्वापरभावेनावस्थितैः स्वांशैरवच्छिद्यत इति वाच्यम्, तथा सति वस्तूनामिव कालस्यापि क्षणिकत्वादिप्रसङ्गात् ॥ समस्तस्वांशसमुदायावच्छेदान्न दोष इति चेत्-तत्र कोऽयमवच्छेदो नाम ? किं तत्सम्बन्धित्वमात्रम्, किं वा तत्पूर्वोत्तरकालयोरविद्यमानत्वम्, उत तत्समकालभावित्वम् यद्वा तदात्मकत्वमेवेति । आद्ये ब्रह्मणोऽप्यनित्यत्वप्रसंगः, तत्सम्बन्धस्यावर्जनीयत्वात्, तन्मिथ्यात्वात् तत्परिहारे घटादेरपि नित्यत्वप्रसंगात् । द्वितीये पूर्वोत्तरकालशब्दार्थासिद्धिः । न हि कालात्पूर्वं पश्चाच्च 'कालोऽस्ति' इति बालिशोऽपि ब्रूयात् । एवं नास्तीति न ब्रूयादेव, स्ववचनविरोधप्रसंगात् । अतएव च कालस्यानाद्यन्तत्वसिद्धिरिति कुतस्ततो विवेकः ? तृतीयेऽपि कालान्तराभावेन समकालशब्दार्थासिद्धिः चतुर्थे तु घटादेर्नित्यत्वप्रसंगः, कालांशतादात्म्यलक्षणकालावच्छेदाभावात् ।

प्रसाद—कालावच्छेदरहितत्व रूप भी नित्यत्व को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि नित्यत्व के लक्षण में काल का सदभाव बना रहता है । अतएव काल से ब्रह्म का विवेक (भेद पूर्वक ज्ञान) नहीं हो सकता है । एक काल दूसरे काल के द्वारा अवच्छिन्न (व्यावर्तित) नहीं होता है । एक काल को दूसरे का अवच्छेदक मानने पर अनवस्था दोष होगा । काल स्वयम् भी अपना अवच्छेदक नहीं होता, क्योंकि समान क्रिया में एक ही वस्तु का कर्तृत्व एवम् कर्मत्व व्याहत है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि एक ही काल स्वयम् पूर्वकाल में विद्यमान एक अंश के द्वारा अपने दूसरे अंश से उत्तर काल में रहकर व्यवच्छिन्न होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य वस्तुओं के समान काल के भी क्षणिकत्व का प्रसङ्ग होगा । यदि कहें कि काल में यह दोष समस्त अपने अंश समुदाय से अवच्छिन्न होने के कारण नहीं है, तो प्रश्न है कि; यह अवच्छेद पदार्थ क्या है ? (१) क्या तत् सम्बन्धित्व मात्र ? (२)या उसके पूर्व एवम् उत्तर काल में अविद्यमानता ? (३) या तत्समकाल भावित्व ? (४) या तदात्मकत्व ? आद्ये इत्यादि—तत्सम्बन्धित्व मात्र मानने पर ब्रह्म की भी अनित्यता का प्रसङ्ग होगा । ब्रह्म का काल से सम्बन्ध होना अनिवार्य है । यदि काल सम्बन्ध को मिथ्या मानकर ब्रह्म के अनित्यत्व का परिहार करें

तो घटादि की भी नित्यता का प्रसङ्ग होगा । यदि दूसरा विकल्प मानें तो पूर्वकाल एवम् उत्तरकालकी सिद्धि ही नहीं हो सकती है । कोई मूर्ख भी नहीं कह सकता है कि काल रहता है। इस तरह स्ववचन विरोध के प्रसङ्ग के ही कारण वहाँ काल हो ही नहीं सकता है । इसीलिए तो काल को अनादि और सान्त माना जाता है । अतएव काल से ब्रह्म का विवेक कैसे हो सकता है? तीसरा पक्ष मानें तो कालान्तर का अभाव होने के कारण समकाल शब्द के अर्थ की सिद्धि ही नहीं हो सकती है । चौथे पक्ष में तो कालात्मक होने के कारण घटादि के भी नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा । क्योंकि कालावच्छेद कालांश के तादात्म्य रूप नहीं है ।

स्वांशनामपि पौर्वापर्यार्थं कालान्तरापेक्षां परिहरति स्वतइति । क्षणिकत्वादीति । क्षणकालवादिनां सूक्ष्मस्थूलतरादिकालानां प्रत्येकमवच्छेदकत्वे ततः सूक्ष्मादि कालमात्रस्थायित्वं स्यादित्यर्थः ' प्रत्येकं स्वांशानामवच्छेदकत्वे ह्ययं दोषः. समस्तांशसमुदायस्यावच्छेदकत्वे तु न दोष इति शङ्को समस्तस्वांशसमुदायेति । तत्सम्बद्धस्य-समस्तस्वांश सम्बद्धस्येत्यर्थः . वस्तुतस्तु समस्त कालांशसम्बन्धो नित्यत्वमेव नानित्यत्वमिति बोद्धव्यम् तन्मिथ्यात्वादिति . पारमार्थिककाल संबन्धस्याभावो नित्यत्वमित्यभिप्रायः द्वितीय इति कालांशसमुदायापेक्षया पूर्वोत्तरकालयोरभावादित्यर्थः नहीति अंशापेक्षयाकालौ दृश्यपेक्षयापीति वक्तव्यम ,अंशी चात्र कालः, तदपेक्षया च पूर्वोत्तरकालौ न संभवतः कालान्तराभावात्, अभेदे तु पौर्वापर्यासम्भवादिति भावः । कालांशसमुदायेनावच्छेदो नाम तत्पूर्वोत्तरकालयोः कालस्याविद्यमानत्वम् , तत्र तत्पूर्वोत्तरकालयोरुक्तस्य सम्भव उक्तः। अथ तत्र कालस्याविद्यमानत्वोक्तेरप्यसम्भवमाह एवमिति । अतएवेति । पूर्वोत्तरकालाभ्यां तत्राविद्यमानत्वाच्चेत्यर्थः । पूर्वोत्तरकालौ तत्रा विद्यमानत्वं च यतो व्याघातान्न सम्भवति तत एव कालस्यानाद्यन्तभावस्त्वयावाच्य इति कालाद्विवेको ब्रह्मणो न सिद्ध्यतीत्यर्थः ।

प्रध्वंसरहितत्वं नित्यत्व पक्षं दूषयति न च तृतीय इति । ननु प्रध्वंसस्यापि प्रध्वंसस्तत्वज्ञानाद्भवति, अनवस्था तु ब्रह्मण एव तत्प्रध्वंसत्वेन परिहृता, अतएव मुक्तावपि ध्वंसप्रवाहानन्त्यकल्पनादपि प्राथमिक ध्वंस एवानन्तोऽस्त्विति शङ्का च परिहृतेति चेत् , तर्हीदानीन्तनघटादिप्रध्वंसोपि ब्रह्मैव स्यादिति ध्वंसोच्छेदः । न च मुद्गराद्यनन्तरभावित्वान्न तथेति वाच्यम्-तत्वज्ञानाविद्यानिवृत्त्यनन्तरभावित्वेन ध्वंसध्वंसस्यापि ब्रह्मातिरेकित्वात । अनन्तप्रध्वंसेति , अनन्तपदमसंख्यपरम । परमतेऽबाधितत्वासम्प्रतिपत्तेरुक्तं लोकाभिमतेष्विति । न च बाधेति । यदि नित्यत्वमबाधितत्वम , तर्हि बाधितत्वेन ज्ञात एवानित्यशब्द प्रयुज्येत , घटादिषु नचैवं दृश्यत इत्यर्थः । विकारः परिणामो वा कादाचित्कापृथक्सिद्धधर्मो वा इति विकल्पमभिप्रेत्य प्रथमं दूषयति विकाराणामिति । सर्वलोकेति । पूर्वद्यु: पिण्डात्मनावस्थिता मृदादीनां घटीभूय तिष्ठतीति द्रव्यनित्यस्थैर्यं विकारास्थैर्यं च लोकसिद्धमित्यर्थः । प्रथमपक्षे दोषमाह ब्रह्मणश्चेति । तत्तदुपाध्यवच्छिन्नस्य व्यावहारिकभेदवद्ध कादाचित्कतया उत्पत्तिरप्यस्त्येवेत्यभिप्रायेणाह व्यावहारिकेति । ननु स्वसमानसत्ताकोभयान्तयोरभावो नित्यत्वमिति चेन्न,-अविद्याया अपि नित्यत्वापत्तेः तस्या अपि अन्तद्वयाभावात् । ब्रह्मैव अविद्याध्वंस इति चेत , एवं सत्यविद्यैव ब्रह्मप्रागभाव इति

ब्रह्मापि नित्यं न स्यात् ।

नन्वविद्याया ब्रह्मसमानसत्ताकत्वाभावात् न ब्रह्मणो नित्यत्वहानिरिति चेन्न,-ब्रह्मणोऽप्यविद्यासमानसत्ताकत्वाभावात् तस्या अपि नित्यत्वप्राप्तेः ।

ननु स्वासमानकालीनत्वमप्यन्तविशेषणम् , अविद्या च ब्रह्मसमानकालीनेति न ब्रह्मण्यसम्भव इति चेन्न,-ब्रह्माप्यविद्यासमकालमित्यविद्याया अपि नित्यत्वप्रसङ्गात् । किञ्च यद्यविद्याध्वंसो ब्रह्म, तदा अविद्यैव ब्रह्मध्वंस इति किं न स्यात् ? उत्पत्तिमदभावत्वप्रागभावान्यप्रतियोग्यसमानकालाभावत्वादेर्ब्रह्मण्यपि दुर्वचत्वात् । न च प्रागभावप्रतियोग्यभावत्वं ध्वंसत्वम् , अविद्यैव ब्रह्मप्रागभाव इति वाच्यम् , ब्रह्मण एवाविद्याप्रागभावत्वापत्तेः प्रतियोग्यसमानकालीनानाद्यभावत्वादेरविद्यायामपि दुर्वचत्वात् । ध्वंसप्रतियोगित्वम् प्रागभावत्वमित्यत्रान्योन्याश्रयात् ।

ननु साध्याभावत्वं ध्वंसत्वम् ; ब्रह्म च तत्त्वज्ञानसाध्यम् , यस्मिन्सत्यग्रिमक्षणे यस्य अविद्याव्यतिरेकात्मनो ब्रह्मणः सत्वं यद्व्यतिरेके तस्य ब्रह्मणो व्यतिरेकोऽविद्येत्येवं साध्यत्वलक्षणयोगादिति चेन्न,-अविद्याया अपि तत्त्वज्ञानप्रागभाव साध्यत्वस्य त्वद्रीत्या सत्त्वात् , तथा अविद्यानिवृत्तिप्रतिबन्धकमावरणमिति त्वन्मते अविद्यायास्तदधीनाया उक्तरूपावरणसाध्यत्वसत्वाच्च ।

एतेन उभयान्तवत्वमुभयान्तवत्वप्रतियोगित्वम् ; तच्च यद्यपि व्यावहारिकम् ब्रह्मणोऽस्ति तथापि तत्र तदभावोऽप्यस्ति, अधिष्ठानस्य कल्पितप्रतियोगिकाभावाश्रयत्वात् , अविद्यायाम् तु न तदभावः, तस्या अनधिष्ठानत्वादिति परास्तम् , ब्रह्मणो ध्वंसत्वासिद्धेरुक्तत्वात् ।

ननु पारमार्थिकत्वं राहित्यविशेषणं न प्रतियोगिविशेषणम् , घटादौ च स्वरूपस्य मिथ्यात्वाद्राहित्यमपि बाधितमिति शङ्कां निराकरोति अत एवेति । घटादौ हि उभयान्तवत्वम् व्यावहारिकं तद्राहित्यं च न प्रातिभासिकम् , अप्रतीतेः, समानसत्ताकप्रतियोगिविरोधाच्च न व्यावहारिकम् , अतः परिशेषात् परमार्थ इत्यर्थः । न च घटादौ तद्राहित्यमेव नास्तीति वाच्यम् अबाधितत्वविशेषण वैयर्थ्यादिति भावः ।

ननु माभूदत्राबाधितत्वविशेषणमिति चेन्न , तथापि प्रतियोगिनोपरमार्थत्वे प्रपञ्चे उभयान्तवत्वाभावस्यावश्यंभावादिति । आद्य इति । लोके सर्वकालसम्बन्धित्वादेरेव प्रवृत्तिनिमित्ततयाग्रह इत्यर्थः ।

न च तृतीयः, प्रध्वंसस्य प्रध्वंसाभावेन नित्यत्वप्रसङ्गात् । ततः किमिति चेत् ब्रह्मव्यतिरिक्तानन्तप्रध्वंसनित्यत्वेन ब्रह्मैकमेव नित्यमिति निर्बन्धानुपपत्तिः । नापि चतुर्थः, अबाधिततया लोकाभिमतेषु सत्यर (म्यग्र) जतादिषु नित्यशब्दप्रयोगादर्शनात । न च लोकमन्तरेण शब्दार्थसम्बन्धसिद्धिः । । न च बाधबुद्ध्या घटादिष्वनित्यशब्दप्रयोगो दृश्यते भवदीयमुपदेशमविदुषां लौकिकानां तेषु तद्बुद्ध्यभावात् । नापि पञ्चमः , विकाराणाम् निर्विकारत्वेन नित्यत्वप्रसङ्गात् । तेषामपि सविकारत्वे नवस्थानात । विकारान्तरोपादा-

न्त्वे च तेषां द्रव्यत्वप्रसङ्गाच्च । ततश्च द्रव्याणामनित्यत्वं तद्विकाराणां नित्यत्वमिति सर्व लोकविरोधादिप्रसंगः । ब्रह्मणश्च निर्विकारत्वानुपपत्तिः स्वावसरे द्रष्टव्या । नापि षष्ठः ; व्यावहारिकोभयान्तवत्त्वस्य संविदात्मके ब्रह्मण्यपि समानत्वात । पारमार्थिकस्य तस्य प्रपञ्चेऽप्यभावेन तस्यापि नित्यत्वप्रसंगात । अत एवाबाधितमुभयान्तराहित्यमित्यपि निरस्तम् , प्रपञ्चगतोभयान्तराहित्यस्याप्यबाधितत्वात् । नापि सप्तमः , तत् किं नित्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्ततया लोकव्युत्पत्तिसिद्धम् , उत नेति विचारणीयम् । आद्ये लोक एव प्रतिपक्षः । द्वितीये तु ब्रह्मण औपचारिकनित्यत्वमेव वा पारिभाषिकं वा नित्यत्वमिति अनित्यतायामेव पर्यवसानम् । तथा च कुतो नित्यानित्यवस्तुविवेकः ?

प्रसाद—नित्यत्व को प्रध्वंसरहितत्व रूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रध्वंस स्वयम् प्रध्वंस रहित होता है, अतएव प्रध्वंस की ही नित्यतापत्ति होगी । यदि पूछें कि तो इससे क्या हुआ ? तो इसका उत्तर है कि ब्रह्म से भिन्न अनन्त प्रध्वंसों की नित्यता के कारण, आप यह नहीं कह सकते हैं ; कि केवल ब्रह्म ही नित्य है । नित्यत्व को अबाधितत्व रूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि लोकमें सत्य रजत को कोई भी नित्य नहीं कहता है ; किन्तु सत्य रजत अबाधित है । शब्द एवम् अर्थ का सम्बन्ध लोक से ही होता है । किञ्च घट आदि में जो अनित्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है , वह घटादि के बाधित होने के कारण नहीं, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्त में अनिपुण व्यक्ति घटादि को बाधित नहीं मानता । निर्विकारत्व को भी नित्यत्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विकार तो स्वयम् निर्विकार होते हैं और निर्विकार होने के कारण उनके भी नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा । विकारों का सविकार मानने पर अनन्तापेक्षकत्वरूप अनवस्था होगी । यदि विकारों का उपादान कारण दूसरे विकार को मानें तो उनकी द्रव्यत्वापत्ति होगी , क्योंकि जो उपादान होता है, वह द्रव्य अवश्य होता है । इस तरह द्रव्यों को अनित्य और उनके विकारों का नित्य मानने का प्रसङ्ग होगा , जो सर्वलोक विरुद्ध है । ब्रह्म के निर्विकारत्व की अनुपपत्ति का प्रतिपादन हम करेंगे । आद्यन्तरहितत्व को भी नित्यत्व इसलिए नहीं माना जा सकता है कि जिस तरह व्यावहारिक वस्तुएँ सादि एवम् सान्त होती हैं, उसी तरह ज्ञान स्वरूप ब्रह्म का भी सादित्व एवम् सान्तत्व देखा जाता हैं । पारमार्थिक सादित्व एवम् सान्तत्व का प्रपञ्च में भी अभाव होने के कारण, उभयावधिराहित्य के कारण प्रपञ्च के भी नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा । इस तरह प्रपञ्चगत पारमार्थिक उभयान्तराहित्य के सद्भाव कारण यह अबाधित उभयान्तराहित्य रूप छठा पक्ष भी खण्डित हो गया । किसी धर्मान्तर को नित्यत्व इसलिए नहीं माना जा सकता है; कि प्रश्न है कि वह धर्मान्तर नित्य शब्द के प्रवृत्ति निमित्त रूप से लोक व्युत्पत्ति सिद्ध है ? या नहीं ? प्रथम विकल्प मानें तो फिर लोक में तो सर्वकाल सम्बन्धी को ही नित्य कहा जाता है । और इस पक्ष का खण्डन हम कर चुके हैं । दूसरा विकल्प को मानें तो वह ब्रह्म की परिभाषिक अथवा औपचारिक नित्यता होगी । और उसका पर्यवसान अनित्यता में ही होगा । इस तरह आपके मत में नित्यनित्यविवेक कैसे सम्भव है ?

किञ्च संविदनित्येति वदतः सौगतादीन् प्रति किं लोकोपलम्भसिद्धाया विषयग्राहिण्या एव संविदस्त्वया नित्यत्वं साध्यते ? उत लोकोत्तीर्णायाः कस्याश्चित् ? आद्ये

प्रत्यक्षादिविरोधः, विषयनित्यत्वप्रसङ्गश्च। अस्मदादिप्रत्यक्षज्ञानं तावत् घटादिकं स्वसत्ताकाले सन्तं साधयति, न पुनः पूर्वोत्तरकालसत्तां विद्यमानामपि गृह्णाति। तत् कस्य हेतोः ? स्वकालकलितवस्त्ववभासित्वनियमात्। ततश्च यदि स्वयं कालानवच्छिन्ना संवित् स्यात्, विषयस्यापि कालानवच्छेदेन प्रकाशप्रसङ्गः। तेनैवाबाधितेन तन्नित्यत्वमवर्जनीयम्। यदि पुनर्विषयिकालानवच्छेदेन विषयो गृह्यत इति मन्यसे, तथाऽप्येकयैव अस्मदाद्यैन्द्रियकसंविदा विषयस्य यावत्सत्त्वं प्रकाशप्रसंगो दुर्वारः। एवं वर्तमानतया वस्तु गृह्णन्तीष्वनुमानादिसंवित्स्वपि विषयनित्यत्वप्रसंगः समानः। याश्चातीततयाऽनागततया च स्वसंवेद्यं गृह्णन्ति, ता अपि स्वकालापेक्षयाऽतीततयाऽनागततया च वस्तु गृह्णन्तीति स्वयं कालानवच्छेदे स्वविषयाणामप्यतीतत्वागामित्वलक्षणकालावच्छेदो न स्यात्। द्वितीये त्वाश्रयासिद्धिः॥ शास्त्रसिद्धा सेति चेन्न; नित्यतया तत्सिद्धौ अनुमाननैरपेक्ष्यात्, अनित्यतया तत्सिद्धौ तु बाधात्। संविन्मात्रस्य च लोकसिद्धत्वेन शास्त्रागोचरत्वात्।

प्रसाद—किञ्च संवित् को अनित्य मानने वाले बौद्धादिकों के प्रति आप किस संवित् की नित्यता सिद्ध करते हैं, लोक में उपलब्ध तथा विषयों को ग्रहण करने वाली संवित् की ? या किसी लोकोत्तर संवित् की ? प्रथम पक्ष को मानें तो प्रत्यक्ष आदि का विरोध होता है; क्योंकि उस बुद्धि की नित्यता स्वीकारने पर बुद्धि के विषयों की भी नित्यता का प्रसङ्ग होगा। हम लोगों के प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा घटादि विषयों की वर्तमान काल में सत्ता सिद्ध होती है; उससे घटादि की अतीत एवम् अनागत काल में रहने वाली भी सत्ता की सिद्धि नहीं होती। यह क्यों होता है ? इसलिए कि बुद्धि अपने काल में विद्यमान वस्तु का ही प्रकाशन करती हैं। यदि संवित् स्वयम् नित्य हो तो उसके द्वारा विषयों के भी नित्य प्रकाश का प्रसङ्ग होगा। उस अबाधित ज्ञान के ही द्वारा विषयों के नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा। यदि कहें कि विषयों का ग्रहण विषयी के कालावच्छिन्न रूप से नहीं होता है, तो भी हमारे एक ही इन्द्रिज ज्ञान के द्वारा विषय की सत्ता काल पर्यन्त तो प्रकाश अवश्य होना चाहिए। इस तरह से वर्तमान रूप से विषयों का ग्रहण करने वाली अनुमानादि ज्ञानों के भी विषयों के नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा। और अपने विषयों का अतीत एवं अनागत रूप से ग्रहण करने वाले बुद्धियाँ भी अपने काल से ही अतीत कालिक रूप से तथा अनागत कालिक रूप से विषयों का ग्रहण करती हैं, यदि वे स्वयम् कालनवच्छिन्न होतीं तो कैसे विषयों को अपने काल से अतीत कालिक एवं अनागत कालिक रूप से ग्रहण करतीं ? यदि आप अलौकिक बुद्धि में नित्यत्व प्रतिपादन करें तो फिर आश्रया सिद्धि होगी। उस अलौकिक बुद्धि को शास्त्रसिद्ध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि वह बुद्धि नित्य है तो, उसको अनुमानादि की अपेक्षा नहीं होगी, यदि अनित्य है तो फिर बाध होगा। किञ्च सभी ज्ञान लोकसिद्ध हैं; अतएव उन्हें शास्त्र का विषय नहीं बतलाया जा सकता है।

नित्यत्वं साध्यत इति। अनुमानेनेति शेषः। उत्तरत्र "नित्यतया तत्सिद्धावनुमाननैरपेक्ष्या" दिति वक्ष्यमाणत्वात्। अस्मदादीति। परोक्षज्ञाने स्वकालीनत्वेन ग्राहकत्वनियमाभा-

वात् प्रत्यक्षेत्युक्तम् । लौकिकप्रत्यक्षं हि स्वाधिकरणतया यावान्काल उभयसम्प्रतिपन्नः तावत्कालीनतया विषयं गृह्णाति, तत्कालपूर्वोत्तरकालीनत्वं विद्यमानमपि न गृह्णाति; तत्र किञ्चित्प्रयोजकम् वाच्यम्, नचान्यदुपलभामहे, अतोऽस्य यावत् स्वकालमात्रावच्छिन्नवस्त्ववभासित्वस्वभावः तत्प्रयोजकः कल्प्यः, ईदृशस्वभावं चेत् ज्ञानं नित्यं स्यात् यावत्पूर्वोत्तरकालावच्छिन्नतया विषयमवभासयेत्, तावत्कालीनत्वम् चाबाधितमिति विषयोऽपि नित्यः स्यात् । न च पूर्वोत्तरकालयो घटोनास्तीति प्रतीत्या बाधस्तदया सुवचः ज्ञानभेदानङ्गीकारात् । स्वेनैव स्वस्य बाधायोगात्; बाधकत्वाभिमतज्ञानान्तरस्यापि नित्यत्वेन परस्परविरोधेन द्वयोरप्येकत्रासम्भवाच्च; सर्वदा अस त्त्वग्रहप्रसंगेन नित्यत्वात्यन्तासत्त्वयोरापत्तेश्चेति भावः । यदि पुनरित्यादि । ज्ञानेन तत्कालावच्छिन्नतया विषयो न गृह्यते किन्तु स्वरूपतः, नचैवमपि नित्यप्रकाशप्रसङ्गः, विद्यमानस्यैव वस्तुनः प्रत्यक्षे भाननियमादिति यदुच्यते तथापि भासकज्ञानस्य नित्यत्वेन यावत्सत्त्वम् विषयः प्रकाशेतेत्यर्थः । क्वचित् पुरुषान्तरसंविदा धारावाहिकादिसंविदा च विषयस्य यावत्सत्त्वम् प्रकाशेनेष्टापादनत्वात्तदर्थं एकये त्युक्तम् । एवमिति । वर्तमानत्वप्रकारिकानुमितिः नित्या चेत् तत्तत्स्वकालावच्छिन्नतयैव विषयम् गृह्णीयादिति विषयस्य नित्यत्वम् स्यादित्यर्थः । याश्चेति ।

किञ्च नित्यत्वं किं स्वरूपम्, उत धर्मः ? पूर्वत्र स्वप्रकाशेनैव नित्यमित्युपलम्भप्रसङ्गः । धर्मत्वेऽपि किं स्वप्रकाशैकवेद्यम्; उत ज्ञानान्तरवेद्यम् ? पूर्वत्र स एव प्रसङ्गः । उत्तरत्रापि किं संविन्निष्ठतया ग्राह्यम्, उतान्यथा ? आद्ये संविदोऽपि ज्ञानान्तरवेद्यत्वसधर्मत्वादिप्रसंगः । अन्तिमे संविन्नित्यत्वासिद्धिः । न हि नित्यत्वम् कस्यचित्सिद्धमित्येतावता संविदो नित्यता सिध्येत् । तथासति अविशेषेण सर्वेषामपि नित्यत्वप्रसंगः एवमानन्दत्वादिधर्मेष्वपि विकल्पदूषणानि निपुणैरनुसन्धेयानि ।

एवं च सति संविन्नित्या अनुत्पन्नत्वात्; यदनित्यम् तदुत्पन्नं यथा घट इत्यनुमानमपि निरस्तम्, प्रागभावेनानैकान्त्यात् । भावत्वे सतीति विशेषणेऽपि भवदभिमताविद्यायामनैकान्त्यम् दुर्वारम् । सा ह्यनादिरन्तवती च भवन्मते ।

प्रसाद-किञ्च प्रश्न है कि नित्यता ब्रह्म का स्वरूप है? या धर्म? स्वरूप मानने पर उसके स्वयं प्रकाश होने के कारण ही उसके नित्योपलब्धि का प्रसङ्ग होगा । यदि धर्म मानें तो प्रश्न है कि वह स्वप्रकाशैकवेद्य है ? या ज्ञानान्तर वेद्य ? स्वप्रकाशैकवेद्य मानने पर उसके नित्योपलब्धि का प्रसङ्ग होगा और ज्ञानान्तरवेद्य मानने पर भी प्रश्न है कि नित्यता का ग्रहण संवित् निष्ठरूप से होता है ? या किसी अन्य प्रकार से ? संविन्निष्ठरूप से नित्यत्व के ग्राह्य होने पर संवित् में भी ज्ञानान्तर वेद्यत्व तथा सधर्मत्व आदि का प्रसङ्ग होगा । यदि अन्य प्रकार से उसको ग्राह्य मानें तो फिर संवित् के नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । किसी की नित्यता के सिद्ध होने मात्र से संवित् की नित्यता नहीं सिद्ध हो सकती है । यदि सिद्ध हो सकती है तो फिर उसी तरह सबों के नित्यत्व की सिद्धि होगी । इस तरह निपुण लोगों को चाहिए कि वे आनन्दत्व आदि को धर्म मानने पर अद्वैतमत में होने वाले दोषों का

अनुभव करें। इस तरह संवित् नित्य है; क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होती, जो उत्पन्न होता है वह घट के समान अनित्य होता है, यह अनुमान भी खण्डित हो गया। क्योंकि प्रागभाव तो उत्पन्न नहीं होता फिर भी वह नित्य नहीं होता। यदि कहें कि भावपदार्थ होने के साथ ही अनुत्पन्न होने के कारण संवित् नित्य है, तो भी आपके अभिमत भावरूपा तथा अनादि अविद्या में यह हेतु अनैकान्तिक है।

ननु स्वापेक्षया अतीतत्वग्रहणं माभूत ; भोजनादितत्तत्क्रियान्तरापेक्षयातीत्वं गृह्णात्विति चेत्, भोक्ष्यमाणः स्नास्यामि भोक्ष्यमाणः स्नामि भोक्ष्यमाणोऽस्नासिषमित्यत्र स्नानस्य भोजनपूर्वकाले सर्वत्र गृहीते भूतभविष्यद्वर्तमानव्यवस्थाया ज्ञानापेक्षया ज्ञानसमानकालक्रियापेक्षया वा वाच्यत्वात्तस्य नित्यत्वात्। उत धर्म इति। अत्र धर्मत्वं स्वरूपातिरिक्तत्वम् विवक्षितम्, न ब्रह्मधर्मत्वम्, उत्तरत्र संविन्निष्ठतया ग्राह्यत्वपक्षे सधर्मत्वापादनात्। धर्मत्व इति। स्वरूपातिरिक्तत्व इत्यर्थः। स एवेति। स्वरूपातिरिक्तस्य स्वप्रकाशवेद्यत्वे तद्धर्मत्वमेव वक्तव्यम्, अतो नित्यमित्युपलम्भप्रसङ्ग इत्यर्थः। नित्यत्वग्राहिज्ञानत्वाबाधितत्वे नित्यत्वस्य सत्यत्वात् सधर्मत्वम् स्यादित्याह सधर्मत्वेति। बाधितत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्ग आदिशब्दार्थः। एवम्चेति। संविदो ज्ञानान्तरावेद्यत्वात नित्यत्वानिरूपणाच्चेत्यर्थः।

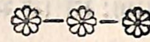
किञ्च संविच्छब्देन किम् अहमिति प्रत्यक्त्वेन प्रतीयमानमात्मस्वरूपं पक्षीक्रियते, उत सकललोकप्रसिद्धा विषयग्राहिणी वित्तिः, उत सैव सकलविषयाश्रयविरक्ता भवद्भिः सह प्रव्रज्यां गतेति। न प्रथमः; सिद्धसाधनात्। न द्वितीयः, सकललोकविरोधात्; हेतोश्च स्वरूपासिद्धेः करणानां चेन्द्रियादीनाम्, एतस्य चानुमानप्रयोगप्रयासस्य निष्प्रयोजनत्वप्रसंगात्॥ तदभिव्यक्त्यर्थं तदपेक्षेति चेत्, नित्यमभिव्यक्तत्वाभ्युपगमे तदभिव्यक्तेस्तदनपेक्षणात्, अन्यथाऽस्मन्मतप्रसंगात्॥ भवदभिमतनित्य स्वयम्प्रकाशात्मस्वरूपस्यैव संविद्वैशद्यार्थं तदपेक्षेति चेन्न, वैशद्यासम्भवात्, ( ) स्थलान्तरे तस्यानुसन्धेयत्वात्। न च तृतीयः, आश्रयासिद्ध्यादेः प्रागेवोक्तत्वात्॥ अनेनैवानुमानेन तत्सिद्धिरिति चेन्न, अन्योन्याश्रयणात्—तादृशसंवित्सिद्धौ तत्पक्षीकारेणैतदनुमानप्रवृत्तिः तत्प्रवृत्तौ च तादृशसंवित्सिद्धिरिति। अनेनैव न्यायेन, 'अनुत्पन्नत्वात् निर्विकारा' इत्यादिसाध्यप्रयोगो दूषणीयः।

तदेवं ब्रह्मासाधारणनित्यत्वासिद्धेर्न नित्यानित्यवस्तुविवेकः। नित्यमुपादेयमिति सामान्य विवेकमात्रमपि निपुणनिरूपणेन निष्फलमापन्नमिति॥

श्लो—आनन्त्यानन्दनित्यत्वप्रभृतीनां स्वरूपतः।
विभागे सविशेषत्वविभागे त्वसत्यता॥

सौगतोक्तेऽपि विज्ञाने स्वरूपं विद्यते ततः ।
नित्यत्वादिविवेकस्ते नैरर्थक्येन जायते ॥

॥ति शतदूषण्यां निर्विशेषनित्यत्वभङ्गवादः अष्टपञ्चाशः ॥५८॥



प्रसाद—प्रश्न है कि संवित् शब्दके द्वारा आपको 'मैं' 'मैं' इस रूपसे आत्मा रूप से प्रतीत होने वाले आत्मा का स्वरूप विवक्षित है ? अथवा सम्पूर्ण जगत् में प्रसिद्ध विषयों का ग्रहण करने वाला ज्ञान ? या विषय एवं आश्रय विहीन आप लोगोंके ही समान संन्यासिनी संवित् । प्रथम पक्ष मानें तो सिद्ध साधनता दोष होगा । क्योंकि हम भी अहमर्थ आत्मा को नित्य मानते हैं । यदि लोक प्रसिद्ध ज्ञान को आप संवित् शब्दवाच्य मानें तो सम्पूर्ण लोक का विरोध होगा । क्योंकि कोई भी उस ज्ञानको नित्य नहीं मानता है । किञ्च अनुत्पन्नत्व हेतु भी स्वरूपासिद्ध है , क्योंकि ज्ञानके साधकतम इन्द्रियों की उत्पत्ति देखी जाती है । किञ्च इस अनुमान प्रयोग का कोई प्रयोजन भी नहीं सिद्ध हो पायेगा । यदि कहेंकि नित्यता की अभिव्यक्ति ही इस अनुमान का प्रयोजन है, तो यह भी नहीं कह सकते है; क्योंकि नित्य अभिव्यक्त संवित् अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखती । अन्यथा आप संवित् की अभिव्यक्ति स्वीकार कर हमारे ही मत को स्वीकार कर लेंगे । यदि कहें कि आप के अभिमत नित्य तथा स्वयम्प्रकाश आत्मा के स्वरूप ही संवित् की विशदता के लिए वह अनुमान अपेक्षित है, तो संवित् से स्वरूप का वैशद्य असम्भव होने के कारण आप ऐसा नहीं कह सकते हैं , क्योंकि दूसरे वाद में हम प्रतिपादित कर चुके है कि, आत्माके स्वरूप का वैशद्य असम्भव है । तीसरा विकल्प इसलिए नहीं मान सकते हैं कि आश्रयासिद्धि आदि दोष इस मत में होगे । यदि कहें कि इस अनुमान के ही द्वारा निर्विषय और निराश्रय संवित् की सिद्धि होती है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष होगा । उस प्रकार की संवित् की सिद्धि होने पर ही उसकी सिद्धि हेतु अनुमान की प्रवृत्ति सम्भव होगी और अनुमान की प्रवृत्ति हो जाने पर ही उस प्रकार की संवित् सिद्ध हो सकती है । इसी तरह अद्वैतियों के इस अनुमान का खण्डन हो जाता है कि; संवित् निर्विकार है . क्योंकि वह उत्पन्न नही होती है, इत्यादि ।

इस तरह ब्रह्म के असाधारण धर्म नित्यत्व की सिद्धि न हो सकने के कारण नित्यानित्यविवेक कैसे सम्भव होगा ? इस तरह अद्वैत्यभिमत नित्य ही उपादेय है; यह सामान्यविवेक भी उपर्युक्त निपुण निरूपण के द्वारा निष्फल सिद्ध हो गया ।

आनन्त्य० इत्यादि—इस तरह आनन्त्य , आनन्दत्व तथा नित्यत्व आदि का स्वरूप से भेद मानने पर ब्रह्म की सविशेषता सिद्ध होगी ; और भेद नही मानने पर इनकी असत्यता सिद्ध होगी । इस तरह बौद्धाभिमत विज्ञान में भी स्वरूपाभिन्न नित्यत्व है ही , क्योंकि स्वरूप तो सिद्ध है । अतएव बौद्धों के प्रति नित्यत्व साधन सिद्धसाधनता दोष ग्रस्त है । इस तरह आप का नित्यानित्यविवेक भी निरर्थक सिद्ध होता है ।

इस तरह शतदूषणी के अठानवें निर्विशेषनित्यत्व भङ्गवाद का प्रसाद समाप्त हुआ ।



करणानामिति । एतज्जननीयत्वाभिमतज्ञानस्यापि नित्यसिद्धत्वदिति भावः ।

नन्वभिव्यक्ता वित्तिर्विषयप्रकाशिका, अभिव्यक्तिश्चावरणाभिभवः, स च वृत्त्या, तदर्थं करणापेक्षेति शङ्कते अभिव्यक्तयर्थमिति । आवरणस्य निरासादभिव्यक्तिः स्वरूपमेव [स्फुरणमेव] वाच्यम् , तस्य च नित्यत्वान्न करणापेक्षेत्यर्थः । अन्यथेति । अभिव्यक्तेरनित्यत्वे स्वरूपस्य तदभिव्यक्तित्वासम्भवाद्विषयग्रहणात्मकावस्थाविशेषस्यैव तदभिव्यक्तित्वम् वाच्यमित्यस्मन्मतप्रसङ्ग इत्यर्थः । वैशद्यासम्भवादिति । अधिकाकारविशेषमानम् वैशद्यमस्मन्मते सम्भवति, ननु त्वन्मत इति भावः । अनेनैवेति । प्रागभावाविद्याभ्यामनैकान्त्यमित्यादिनेत्यर्थः ।

इति महाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां निर्विशेषब्रह्मणो नित्यत्वभङ्गो नाम अष्टपञ्चाशः स्कन्धः ॥५८॥



॥ अथ परमते अद्वितीयश्रुतिविसंवादवादः एकोनषष्ठितमः॥५९॥

स्वतस्सर्वजगत्स्रष्टुः संवित्सिद्ध्यादिभिः स्फुटम् ।
अद्वितीयपदोक्त्यैव साधिता सविशेषता ॥

प्रसाद—संवित् सिद्धि आदि ग्रन्थों से स्पष्ट हैं कि साधनान्तर निरपेक्ष होकर सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करने वाले श्रीभगवान् सविशेष ही हैं, निर्विशेष नहीं इस अर्थ की सिद्धि 'सदेवसोम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्' श्रुति के अद्वितीयम् पद के विवेचन से स्पष्ट होता है ।

स्वत इति । कर्त्रन्तरानधिष्ठितत्वेनेत्यर्थः । अनेन एकपदेन अविभक्तनामरूपत्ववाचिना उपादानत्वमुच्यते, अद्वितीयपदेन कर्त्रन्तरनिषेध इति भगवदभिमतनिर्वाहः सूचितः । तेन तस्यैव कर्तृत्वे तदुपयोगिज्ञानादिसिद्ध्या सविशेषत्वसिद्धिरिति भावः । परमाचार्याणाम् निर्वाहमभिप्रेत्याह संवित्सिद्ध्यादिभिरिति ।

अत्र हि अनन्तपदवत् अद्वितीयपदेनापि सविशेषतैव । तथाहि—अद्वितीयपदे किं तत्पुरुषः ; उत बहुव्रीहिः ? यदा तत्पुरुषः , तदाऽपि किं (१) द्वितीयादन्यत्वम् ; (२) तद्विरुद्धत्वम् , (३) तदभावमात्रं वा स्यात् । (१) पूर्वत्र द्वितीयादन्योन्याभावमात्रं वा विवक्षितम् ; उत अब्राह्मणादिनयात् तत्सादृश्यपरत्वम् ? द्विधाऽपि न द्वितीयहानिः ; नतरां ब्रह्मणो निर्विशेषत्वम् । द्वितीयत्वाभावे प्रथमत्वादिमात्रं स्यात् , विशेषनिषेधे शेषाभ्यनुज्ञानसिद्धेः । अन्यथा प्रथमत्वादेरपि सामान्यतो विशेषतो वा निषेधे निर्विशेषत्वस्य

निषेध्यत्वात् । तथा च न किञ्चिदित्युक्तं स्यात् । (२) अनन्तरेऽपि विरोधः किं भावाभावात्मकतया, सहानवस्थित्या, वध्यघातुकभावेन वा ? न प्रथमः, द्वितीयस्य ब्रह्माभावरूपत्वे तत्प्रतियोगितया ब्रह्मण एव तुच्छत्वापातात् । अभावप्रतियोगित्वमेव हि सर्वत्र तुच्छत्वम् ॥ देशकालादिभेदात् सदपि स्यादिति चेन्न, अदेशकालव्यवच्छेदनीयत्वोपगमात् । प्राक्प्रध्वंसादिविकल्पेनापि ब्रह्मणः कार्यत्वानित्यत्वतुच्छत्वप्रपञ्चान्तरसद्भावादिदोषो द्रष्टव्यः । अयमेव ब्रह्मण एव द्वितीयाभावरूपत्वेऽपि / किञ्च स्वाभावे ब्रह्माणि द्वितीयं कथमध्यस्येत ? तद्भानाभानयोस्तदयोगात् । अविशदभाने सविशेषत्वमानावश्यम् सविशेषत्वावश्यं ?) भावात् ॥ दोषवैचित्र्यात् सर्वमुपपन्नमिति चेन्न, विरुद्धाकाराग्रहणमन्तरेण क्वचिदप्यध्यासादृष्टेः । तद्ग्रहेऽप्यध्यासे नित्यमध्यासप्रसङ्गात् ॥ सहानवस्थानविरोधे सतः परिच्छिन्नत्वापत्तेः शीतोष्णादिवत् भिन्नाश्रयत्वनियमविवक्षायां धर्मधर्मिणोरेकाश्रयत्वाभावात् ब्रह्मणः सधर्मकत्वाविरोधः, स्वनिष्टताभङ्गश्च । एकाश्रयत्वाभावमात्रे वक्तव्ये सर्वस्य ब्रह्माश्रयत्वं श्रुत्यन्तरसिद्धं सिध्यत्येव ॥ न तृतीयः, द्वितीयस्य घातुकत्वे सदनित्यत्वादिप्रसङ्गात् । सतो घातुकत्वेऽपि न द्वितीयात्यन्ताभावः ; हन्तव्यस्याऽऽदौ स्वरूपलाभावश्यम्भावात् ॥ अध्यासनिवर्तकत्वमेव अस्मदिष्टं घातुकत्वमिति चेत्, अस्तु सत् अध्यासघाति । अनध्यस्तात्मना द्वितीयस्थितेर्न क्षतिः ॥ तथा तस्य न प्राप्तिरिति चेन्न, सगुणादिश्रुत्यैव तत्प्राप्तेः ॥ कल्पितविषया सेति चेन्न, अद्यापि तद्बाधादृष्टेः, सतोऽध्यासविरोधित्वे च अविद्यासहस्रैरपि न स्यादध्यासः, सति आदित्ये सन्तमसवत् अध्यस्यति हन्ति चेति चेन्न, नैरपेक्ष्य (क्ष्ये ?) विरोधात् । अन्यथाऽन्यस्यैवान्ततो घातुकत्वात् ॥ साधारणहेतुत्वे सिद्धे विशेषोक्तिरियमिति चेन्न ; तस्यैव त्वदभिमतस्येतः पूर्वमसिद्धेः । प्रथमतृतीयादिभावमात्रेण द्वितीयविरोधवाचोयुक्त्या सुस्थं द्वितीयम् ॥

(३) तदभावमात्रपरे तु समासे न सदादिशब्दैः सामानाधिकरण्यं स्यात्, नञर्थस्य स्वतन्त्रत्वात् । तस्य तदात्मकत्वविवक्षायोगस्योक्तत्वाच्च । न च सम्भवन्त्यां गतौ वाक्यभेदाध्याहारादिर्न्याय्यः ।

प्रसादः—अनन्त पद के ही समान अद्वितीय पद के द्वारा भी ब्रह्म की सविशेषता ही सिद्ध होती है । तथाहि—प्रश्न है कि 'अद्वितीयम्' पद में तत्पुरुष समास है, या बहुव्रीहि ? यदि तत्पुरुष, तो

प्रश्न है कि अद्वितीय पद का अर्थ (१) द्वितीय से भिन्न है कि (२) द्वितीय विरुद्ध (३) या द्वितीय का अभाव मात्र ? यदि अन्य अर्थ मानें तो प्रश्न है कि यहाँ अन्योन्याभाव मात्र विवक्षित है या 'अब्राह्मणम् आदि के समान तत् सादृश्य मात्र विवक्षित है । इन दोनों में से कोई भी अर्थ मानें तो ब्रह्म से भिन्न द्वितीयपद वाच्य को तो स्वीकारना ही होगा । और न तो ब्रह्म की निर्विवेषता सिद्ध होती है । यदि अद्वितीय पद का अर्थ द्वितीय का अभाव मानें तो ब्रह्म से प्रथम अथवा तृतीय आदि का सद्भाव तो सिद्ध होगा ही ; क्योंकि जब किसी एक का निषेध करते हैं; तो शेष तो बचे ही रहते हैं । अन्यथा सामान्य अथवा विशेष रूप से प्रथमत्व आदि का निषेध करने पर निर्विशेष का भी निषेध हो जाने का प्रसङ्ग होगा । फलतः अद्वितीय पद से कुछ भी उक्त नहीं होगा । यदि अद्वितीयपद का अर्थ ब्रह्मविरुद्ध करें तो प्रश्न है कि वह विरोध (१) भावा भावात्मक रूप से है ? या (२) सहानवस्थान रूप है ? (३) या बाध्यबाधकभाव रूप है ? प्रथमपक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता है ; कि द्वितीय को ब्रह्म का अभावरूप मानने पर उसके प्रतियोगी ब्रह्म ही तुच्छ सिद्ध होगा , क्योंकि सर्वत्र अभाव का प्रतियोगी तुच्छ ही होता है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि देश एवं काल के भेद से वह है, क्योंकि आप ब्रह्म को देश परिच्छेद और कालापरिच्छेद से रहित मानते हैं। प्राक्प्रध्वंसादि० इत्यादि-किञ्च द्वितीयत्व रूप से अभिमत अभाव को प्रागभावरूप मानने पर उसके प्रतियोगी ब्रह्म में कार्यत्वापत्ति; अनित्यत्वापत्ति तुच्छत्वापत्ति,तथा प्रपञ्चान्तर सद्भावत्व आदि दोष होगे । यदि ब्रह्मको ही द्वितीय का अभावरूप मानें तो भी ये ही दोष आयेंगे ही । किञ्च अभावरूप ब्रह्ममें द्वितीय का अध्यास कैसे सम्भव है? क्योकि अभाव-रूप ब्रह्म के न तो भान होने पर अध्यास सम्भव है और न तो भान न होने पर । अविशद प्रतीति होने पर ब्रह्म में सविशेषता अवश्य होगी । यदि कहें कि ब्रह्म को तिरोहित करने वाली अविद्या का विचित्र स्वभाव है , अविद्या की विचित्रता के द्वारा सब कुछ सम्भव है । तो यह भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि विरुद्ध आकारों की प्रतीति के बिना कहीं अध्यास होता नहीं है । विरुद्ध अकारों की प्रतीति मानकर अध्यास मान लेने पर भी अध्यास का प्रसङ्ग होगा ।

ब्रह्म और द्वितीय में सहानवस्थानरूप विरोध भानने पर सत् शब्द वाच्य ब्रह्म की परिच्छिन्नता का प्रसङ्ग होगा यदि ब्रह्म और द्वितीय का परस्पर विरुद्ध शीत और उष्ण का आश्रय भिन्न-भिन्न विवक्षित होने पर, धर्मी (ब्रह्म) और धर्म (द्वितीय) का एक आश्रय न होने के कारण , ब्रह्म के सधर्मकत्व का विरोध नहीं होगा । तथा ब्रह्म की स्वनिष्ठता का भङ्ग होगा । एकाश्रयत्व का अभाव मात्र ही विवक्षित होने पर सम्पूर्ण जगत् का आश्रय ब्रह्म है ; यह दूसरी श्रुतियों से भी सिद्ध अर्थ सिद्ध होगा किन्तु आप ब्रह्म को सबों का आश्रय मानते नहीं हैं । न तृतीयः इत्यादि—ब्रह्म और द्वितीय में वाध्य-घातुकभाव रूप भी विरोध नहीं माना जा सकता है , क्योकि ब्रह्म की अनिष्टतापत्ति होगी । ब्रह्म को घातुक मानने पर भी द्वितीय के अत्यन्ताभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि हन्तव्य नही होता है, जिसका पहले सद्भाव रहता है । यदि कहें कि अध्यास का निवर्तक होने मात्र से ही हम ब्रह्म में घातुकत्व मानते हैं, तो फिर ब्रह्म को अध्यास का घातक मानना होगा । ऐसी स्थितमें द्वितीय अनष्पस्त रूप से बना ही रहेगा । यदि कहेंकि सत्यरूप से द्वितीय की उपलब्धि वहीं होती है । अतएव अध्यासनिवृत्ति के द्वारा उसकी भी निवृत्ति होती है, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, सगुणादि श्रुतियाँ ही प्रपञ्च की सत्यता का प्रतिपादन करती हैं; यदि कहें कि सगुण श्रुतियों के विषय कल्पित हैं तो यह भी नहीं कह सकते, आज तक भी अद्वितीयश्रुति के द्वारा प्रपञ्च का बाध सिद्ध नहीं है । सत् शब्दबाच्य के अध्यास विरोधी होने पर हजारों अविद्याके द्वारा अध्यास उसी तरह सम्भव नहीं है, जिस तरह सूर्य के रहने पर अन्धकार नहीं होता । अध्यस्यति

इत्यादि—यदि कहें कि आलोक अन्धकार का कारण नहीं है, अतएव आलोक के पास अन्धकार क्षणभर भी नहीं ठहरता; किन्तु ब्रह्म तो अध्यास का अधिष्ठान है, अतएव वह अपने में अध्यस्त करके उसका निवर्तन करता है; तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि आप सत् को अध्यास का निरपेक्ष निवर्तक मानते हैं और निरपेक्ष निवर्तक अधिष्ठान नहीं होता। जो उत्पादक होता है वह निरपेक्ष निवर्तक नहीं होता। यदि ऐसा नहीं मानें तो अधिष्ठान व्यतिरिक्त ही घातुक होता है। यदि कहें कि ब्रह्म का अध्यास का साधारण कारणत्व सिद्ध होने पर उसकी अधिष्ठानत्ववोक्ति विशेष कारण रूपसे बतलायी गयी है, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, इससे पहले आपके अभिमत ब्रह्म की अध्यास की सामान्य कारणता ही नहीं सिद्ध हो पायी है। इस तरह अद्वितीय पद को द्वितीय के विरोधी का वाचक मानने पर ब्रह्म के प्रपञ्च का प्रथम एवम् द्वितीय सिद्ध होने के कारण द्वितीय की सिद्धि हो जाती है।

अद्वितीय पद को द्वितीय के अभाव का वाचक मानने पर उसका सत् आदि शब्दों से सामानाधिकरण्य नहीं होगा, क्योंकि नञर्थ स्वतन्त्र होता है, नञर्थ के द्वारा अभेद विवक्षित नहीं है, यह मैं कह चुका हूं, और अन्य उपपन्न होने पर भी वाक्य भेद तथा अध्याहार आदि उचित नहीं हैं।

अनन्तपदवदिति। 'बृहद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहु' रित्यादिप्रमाणानि विवक्षितानि। नञ्स्तदन्यतद्विरोधितदभावरूपार्थत्रयसम्भवाद्विकल्पयति किं द्वितीयादित्यादि। अन्योन्याभावमात्रमिति। अन्योन्याभावमात्रपरत्वमित्यर्थः। नञिप्रायुक्तन्यायमभिप्रेत्याह अब्राह्मणादिनयादिति। अब्राह्मणमानयेत्यादौ ब्राह्मणाद्यन्वितनञस्तत्सदृशपरत्ववदित्यर्थः। तत्सादृश्यवत्त्वमिति। विवक्षितमित्यनुषङ्गः। द्विधापीति। प्रत्युत भेदसादृश्यनिरूपकतया द्वितीयसत्त्वं वाच्यमिति भावः। न तरामित्युक्तमुपपादयति द्वितीयत्वेति। भेदसादृश्याभ्यामपि सविशेषत्वं स्यादिति विवक्षितम् विशेषेति। अशिशिरः पावक इत्युक्ते यथा शैत्यातिरिक्तस्पर्शः सामान्यतो विशेषतश्चौष्ण्यादिरूपेण न निषिध्यते तथा अद्वितीयत्वमित्युक्तेपि प्रथमत्वतृतीयत्वादिकोटचन्तरं सामान्यरूपेण विशेषतश्च न निषिध्यत इत्यर्थः। अन्यथेत्यादि। यद्येकविशेषनिषेधे शेषाभ्यनुज्ञानं न स्यादित्यर्थः।

अत्र 'अन्यथा प्रथमत्वादेरपि सामान्यतो विशेषतो निर्विशेषत्वविशेषतो वा निषेधतो वा निषेध्यत्वा' दिति यदि पाठः, तदायमर्थः आदिशब्देन तृतीयत्वादि गृह्यते; प्रथमत्वादेश्च सामान्यतो निषेधः-ब्रह्म कथितमपि न-प्रथमादिकं नेत्यादिरूपः, विशेषतो निषेधः--प्रथमं न तृतीयं नेत्यादिरूपः, निर्विशेषत्वविशेषतः-निर्विशेषत्वेन स्वरूपविशेषणाद्वा, निषेधतः-धर्मिस्वरूपनिषेधतोवेति। ततः किमित्यत आह तथाचेति। सर्वनिषेधस्तथासति सिद्ध्येदित्यर्थः। यद्वा--विशेषतानिषेधत इति। ब्रह्मणि द्वितीयरूपविशेषनिषेधे प्रथमत्वादिकमनुज्ञातं स्यात्, तथा द्वितीयस्य ब्रह्मणि अधिकरणविशेषे निषेधे ब्रह्मातिरिक्तं द्वितीयमभ्यनुज्ञातं स्यात्, अत्र विशेषरूपेण निषेधो विशेषनिषेधः, तेनाधिकरणविशेषप्रतियोगिविशेषसाधारण्यसिद्धिः। अन्यथा-उक्तप्रतियोग्यधिकरणविशेषद्वयानुज्ञाभावे। धर्मान्तरानुज्ञाभावे दोषमाह प्रथमत्वादेरिति। निर्विशेषत्वविषेतोवेत्यस्य पूर्ववदेवार्थः। धर्म्यन्तरानुज्ञाभावे दोषमाह निषेधतोवेति। स्वरूपेण निषेधतः। सदद्वितीयमिति सद्रूपे अधिकरणविशेषेण न निषिध्यते; किन्तु द्वितीयं नेति निरूपकतयेति भावः। यद्वा—सामान्यतो निर्विशेषत्वविशेषतो वा विशेषतो निषेधतो वेति पूर्वतसन्तयोरुत्तरत-

सन्ताभ्यां बाधासंख्येनान्वयः। सामान्यतो निर्विशेषत्वविशेषप्रतिपादनं न प्रथमत्वादिनिषेधः कार्यः स्यात् , विशेषतः—प्रथमत्वादिविशेषरूपेण, निषेधतः प्रथमं द्वितीयं नेत्यादिप्रातिस्विकरूपेण निषेधतो वा प्रथमत्वादिनिषेधः कार्यः स्यादिति। यदि तु 'अन्यथा प्रथमत्वादेरपि सामान्यतो वा विशेषतो वा निषेध्यत्वा' दिति पाठस्तदा स सुसङ्गतः।

किं द्वितीयं ब्रह्माभावरूपं ब्रह्मद्वितीयाभावरूपं वेति विकल्प्याद्यं दूषयति द्वितीयस्येति। देशकालेति। सर्वदा सर्वत्राभावप्रतियोगित्वम् हि तुच्छत्वम् , अतः अभावप्रतियोगित्वमात्रान्न तुच्छत्वप्रसक्तिः देशकालान्तरे असत्वेपि देशकालान्तरे सत्वस्यापि सम्भवादित्यर्थः। द्वितीयस्य प्रागभावत्वादिविकल्पमभिप्रेत्याह प्रागिति। प्रक्कालीनपरः प्राक्छब्दः, अभावविकल्पगतप्रध्वंस-समभिव्याहाराच्च प्रागभावलाभः। तुच्छत्वेति। यद्यपि प्रागपीदं दूषणमुक्तम , तथाप्यभावत्वेन सामान्येनोपस्थितस्य इह त्वत्यन्ताभावत्वेन विशिष्योपस्थितस्येति भेदः। एतदपि विकल्प्य दूषणे न्यूनत्वशङ्का [ङ्कया] त्यन्ताभावो न दूषित इति कस्यचिन्मन्दधियोमाभूदिति। अन्योन्याभावपक्षे दोषः प्रपंचेति। वियादिप्रपञ्चान्तरसद्भावः, अतः प्रपञ्चान्तरमेव ब्रह्मान्यद्वक्तव्यमित्यर्थः। आदि-शब्देन सत्यत्वाविरोधो विवक्षितः ; ब्रह्मद्वितीयाभाव इति द्वितीयं दूषयति अयमेवेति। कार्यत्वा दिरेवेत्यर्थः। ब्रह्मणो विनाशित्वकार्यत्वे ब्रह्मणो देशकालाद्य (नव) परिच्छिन्नतया प्रपञ्चतुच्छत्वं प्रपंचान्यब्रह्माश्रयसद्भावादिश्च दोषः स्यादित्यर्थः। प्रपंचाभावत्वेप्यवैशद्यादध्यासः सम्भवतीत्य—त्राह अविशदेति। सर्वमिति। विरुद्धाकारभानमध्यासश्चेत्यर्थः। विरुद्धेति। ननु विरुद्धाकार-ग्रहेप्यौपाधिकाध्यासः सम्भवति, प्रपंचाध्यासश्चौपाधिक इति चेन्न , विरोधिब्रह्मस्वरूपे भासमाने उपाध्यध्यासस्यैवासम्भवात्। द्वितीयंदूषयितुमुपादत्ते सहेति। किं विरोधो भिन्नाश्रयत्वनियमः? उत एकाश्रयत्वाभावः? आद्ये सत इति। शीतोष्णादिवत् भिन्नाश्रयत्वनियमविवक्षायां सतः परि-च्छिन्नत्वापत्तेरित्यन्वयः। दूषणान्तरमाह धर्मधर्मिणोरिति। एकाश्रयत्वाभावादिति। भिन्नाश्रय-त्वस्याप्युपलक्षणम् , विरोधे सत्यपि लोके धर्मधर्मिभावदर्शनात् , ब्रह्मणः सधर्मत्वं न विरुध्यत इत्यर्थः। स्वनिष्ठतेति। 'स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठित' इति प्रतिपादितानन्याश्रयत्वभङ्ग इत्यर्थः। परिच्छि न्नत्वस्वनिष्ठताभङ्गोद्धारतया द्वितीयं पक्षमुत्थाप्य निरस्यति एकाश्रयत्वेति। सदनित्यत्वादिति। प्रपंचसत्यत्वाविरोधमुमुक्ष्वनुपादेयत्वादि गृह्यते। शङ्कते-अध्यासेति। सत्यत्वप्रत्युक्तस्वरूपलाभः प्रपंचस्य कुत इति भावः। अस्त्विति। सतोऽध्यासघातित्वे प्रागिव तत एव स्वरूपसिद्ध्यभावेपि द्वितीयस्य न सत्यत्वक्षतिरित्यर्थः।

ननु सत्यत्वेन द्वितीयं न प्राप्तमध्यस्तं चोच्यते, अतश्शुक्तिरजतादिष्विव अध्यासनि-वृत्तौ विषयनिवृत्तेरपि सिद्धं ज्ञाननिवर्त्यतया मिथ्यात्वं स्यादिति शङ्कते तथेति। अद्यापीति : तद्बाधो ह्यद्वितीयश्रुत्या वाच्यः, अद्वितीयश्रुतेश्च बाधकत्वं नैतावत्पर्यन्तं सिद्धमित्यर्थः। सतोऽध्यास-निवर्तकत्वे तस्याध्यासेन सहानवस्थानलक्षणा विरोधिता वाच्या, व्यापारमन्तरेणापि स्वरूपत एव निवर्तकत्वात् , तमोनिवर्तकालोकवत् , ततश्चालोकविरहदशाया अपि सत्त्वात् तमः स्वरूप सम्भवः ; इह तु सतो नित्यसिद्धत्वान्नाध्याससम्भव इत्याह सत इति।

नन्वालोकस्य सन्तमसं प्रति हेतुत्वाभावादालोकः सन्तमसं क्षणमपि न सहते, स त्वाध्यासं प्रत्यधिष्ठानत्वादध्यस्य निवर्तयतीति शङ्कते अध्यस्यतीति । निरपेक्षनिवर्तकत्वे अधिष्ठानत्वमेव न स्यादित्याह नैरपेक्ष्येति । अधिष्ठानत्वे तु उत्पादकस्य निरपेक्षनिवर्तकत्वासम्भवादन्यदेव निरपेक्षनिवर्तकं स्यादित्यर्थः ।

ननु कार्यमात्रसाधारण्येन हेतुत्वे सिद्धे तद्विशेषरूपनिवृत्तिहेतुत्वमनेनानूद्यते, अतः प्रतियोगिनिवृत्त्योरुभयोरपि हेतुत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वादुभयत्र हेतुत्वमेष्टव्यम्, प्रतियोगिनम प्रति हेतुत्वं चाध्यासाधिष्ठानत्वमेवेति अध्यस्य निवर्तकत्वमुपपद्यत एवेति शङ्कते साधारण्येति । अध्यस्य निवर्तकत्वे तु निवर्त्यातिरिक्तानपेक्षेण सता निवर्त्यस्य द्वितीयस्य क्षणिकत्वप्रसङ्ग इत्यपि दूषणम् द्रष्टव्यम् । द्वितीयत्वविरोध्याकाराश्रयत्वं द्वितीयविरुद्धत्वमित्याशंक्य निराकरोति प्रथमेति । तत्पुरुषविकल्पे तृतीयं दूषयति तदभावमात्रपरे तु समास इति । अयं विकल्पः प्रौढवादः । नञर्थस्येति । द्वितीयाभावस्य सदर्थधर्मत्वादित्यर्थः । सदर्थ एव द्वितीयाभाव इत्यत आह तस्येति । उक्तत्वादिति । तद्धानाभानयोरध्यासायोगस्योक्तत्वादित्यर्थः - यद्वा नञर्थो निषेधः, तस्य समासे स्वातन्त्र्येण बोधनासम्भवादित्यर्थः । पर्युदासनञ एव तत्पुरुषः न तु निषेधनञ इति भावः ।

नापि बहुव्रीहिः । तत्र द्वितीयं यस्य नास्तीति किं प्रथमादिविधिकटाक्षेण, सर्वनिषेधाभिप्रायेण वा ? न पूर्वः, सर्वनिषेधासिद्धेः । नोत्तरः, बहुव्रीहिविरोधात् । "अनेकमन्यपदार्थे" इति हि सः । **किञ्च, द्वितीयनिषेधवत्त्वं च धर्मं ब्रह्मण उपस्थापयन्त्यां** वृत्तौ कथं निर्विशेषत्वसिद्धिः ? अनुपस्थापयन्त्यां च कथंतरां नास्त्यर्थे (र्था ?) सम्बन्धे यस्येति विग्रहः ? न च स्वरूपमेवात्र नास्तिशब्दार्थः । अन्यपदार्थत्वायोगात्, स्वस्य स्वसम्बन्धायोगाच्च ॥ भेदकल्पत्युपचार इति चेत् तथापि द्वितीयाभाव एव ब्रह्मेति निष्कर्षः स्यात् । तत्र चोक्तमध्यासनुपपत्त्यादि । अपि च अविद्यातद्विकाराणां ब्रह्मव्यतिरेके कथमद्वितीयत्वम् ? तन्मिथ्यात्वेऽपि तेषां द्वितीयत्वस्य दुस्त्यजत्वात् । सत्यमिथ्यार्थयोरव्यतिरेके विरोधात् । न च यूयं जैननयनिष्ठाः । तन्निष्ठाश्च तत्तामिव द्वितीयता वाञ्छन्ति । ब्रह्मणो निर्विशेषत्वविवक्षायां च न किञ्चिदपि लक्षणं तत्र स्यादिति तदुदाहरणविरोधः । व्यवच्छेद्यायोगाच्चेति ॥

अस्मत्पक्षे तु वृत्तिद्वयमपि सम्यक् ।

श्लो–द्वितीय व्यतिरेकोक्त्या सतः स्यादग्रगण्यता ।
द्वितीयशून्यतोक्त्या च तत्समाननिषेधनम् ॥

प्रसाद—'अद्वितीयम्' पद में 'नास्ति द्वितीयम् यस्य' इस तरह का बहुव्रीहि समास भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि प्रश्न है कि इस विग्रह के द्वारा आप प्रथम एवम् तृतीय के विधान पूर्वक द्वितीय का निषेध करते हैं ? या सबों का निषेध यहाँ आपको अभिप्रेत है । यदि प्रथम विकल्प स्वीकारें तो आपके अभिमत ब्रह्म व्यतिरिक्त सबों का निषध सिद्ध नहीं होगा । यदि दूसरा पक्ष मानें तो फिर बहुव्रीहि समास होगा ही नहीं । क्योंकि 'अनेकमान्यपदार्थे' (व्या० सू० २-२४) सूत्र के ही द्वारा अन्य पदार्थ के अर्थ में बहुव्रीहि समास होगा । किञ्च अद्वितीय पद का अर्थ होगा कि जिस ब्रह्म का द्वितीय अविद्यमान है; इस विग्रह के अनुसार द्वितीय का निषेधवत्त्व ब्रह्म का धर्म सिद्ध होता है । ऐसी स्थिति ब्रह्म की निर्विशेषता की सिद्धि कैसे सम्भव होगी ? यदि उसके द्वारा निषेध का धर्म रूप से उपस्थापन नहीं होगा, तो फिर नास्ति के सम्बन्ध में 'यस्य' यह विग्रह होगा । यहाँ पर नास्ति शब्द का अर्थ स्वरूप को ही नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर वह अन्य पदार्थ नहीं हो पायेगा । और अपने से अपना सम्बन्ध नहीं होता है । यहाँ पर भेद की कल्पना का उपचार भी नहीं हो सकता है , क्योंकि वैसा होने पर द्वितीयाभाव ब्रह्म ही सिद्ध होगा । और अभाव रूप ब्रह्म में अध्यास नहीं हो सकता हैं, यह मैं कह चुका हूँ । किञ्च अविद्या तथा अविद्या के विकारों के रहते ब्रह्म अद्वितीय कैसे हो सकता हैं ? यद्यपि आपके मत में ये मिथ्या हैं; फिर भी इनके द्वितीयत्व को कैसे त्यागा जा सकता है? किञ्च सत्य ब्रह्म और मिथ्या अविद्या में भेद मानना आवश्यक होगा । आप जैनियों के अनुगामी तो हैं नहीं। जैनी भी तद्भाव के ही समान द्वितीयता को मानते हैं । ब्रह्म को निर्विषय मानने पर, ब्रह्म का कोई भी लक्षण इसलिए नहीं होगा कि ब्रह्म का कोई असाधारण धर्म है नहीं, अतएव उसका उदाहरण भी नहीं दिया जा सकता है । उदाहरण में सादृश्य होना आवश्यक है । हमारे मत में तो अद्वितीयपद में पर्युदास तथा प्रसज्ज्यप्रतिषेध दोनों समासों का अच्छी तरह से निर्वाह होता है । यदि भिन्न अर्थ में तत्पुरुष समास मानें तो अद्वितीय पद का अर्थ होगा द्वितीय से भिन्न अर्थात् ब्रह्म प्रथम यानी प्रधान तत्त्व है । अभाव अर्थ में नञ् समास मानें तो ब्रह्म के सदृश कोई नहीं है । श्रुति भी इसी अर्थ को कहती है । 'न तत समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।'

नन्वरतिरव्यवहारोऽस्मरणमित्यादौ निषेधनञोपि समासो दृश्यत इति चेन्न-गुणक्रियावाचिसमभिव्याहृतनञो निषेधवाचिनोपि तत्पुरुषो नान्यस्येति नियमात् । अन्यथा भूतले घटो नेति वत् अघटे इति प्रयोगापत्तेः । असामर्थ्यम्—अदाढर्यमधैर्यमित्यादावपि वैयाकरणाभिमतम् गुणत्वमस्त्येव । एवम् शब्दानुपपत्तिमुक्त्वा , अर्थानुपपत्तिमाह तस्येति ।

नन्वद्वितीयमिति न साद्विशेषणम् ' किन्तु द्वितीयाभावप्रतिपादकं वाक्यान्तरम् । यद्वा यत्राद्वितीयम्-द्वितीयाभावस्तत सदेवाग्रे आसीदिति योजना , अतो न दोष इत्यत्राह नचेति । सदशद्वितीयनिषेधाधिष्ठात्रन्तरशङ्कानिवारणेन सम्भवन्त्यां गताविर्थः । प्रथमादीति । यदा द्वितीयत्वं ब्रह्मातिरिक्तावधिकं तदा प्रथमादिविधिः , यदा ब्रह्मावधिकं तदा सर्वनिषेधः । अनेकमिति तथा च बहुव्रीहि वशात् द्वितीयतदभावान्यपदार्थानां सिद्धिरिति भावः ।

ननु ज्ञानस्वरूपमितिवत् भेदकल्पनात् बहुव्रीहिः स्यादिति शङ्कते भेदेति । भेदक्लृप्त्योपचार इत्यर्थः । तन्मिथ्यात्वेपीति । न च मिथ्यात्वेन द्वितीयाभावस्यापि तत्र सत्वात् बहुव्रीहिः, स्वनिरूपितद्वितीयस्वरूपे विद्यमाने तदभावमात्रेण तथा निर्देशानुपपत्तेः । न हि घटे

सदृशद्वितीयाभावसत्त्वेपि अद्वितीयः सवितेतिवदद्वितीयो घट इति प्रयोगोऽस्ति, न वा गवाभाववत्यपि ?) गवयऽसदृशो गवय इति। अविद्यादीनां ब्रह्माव्यतिरेकपक्षं दूषयति सत्येति। अव्यतिरेके सत्यमिथ्यात्वयोर्विरोधादित्याशयः।

अन्ये तु "एकमेवाद्वितीय" श्रुतिर्न मिथ्यात्वे मानम्, तथा हि, एकशब्दोऽनेकार्थः; "एके मुख्यान्येकेवला" इत्यमरोक्तेः, "एको गोत्र" इत्यत्र 'एकशब्दोयमन्यप्रधानासहायसंख्याप्रथमसमानवाची' ति कैयटोक्तेश्च, सम्भवति च ब्रह्मणि जीवादितोन्यत्वप्राधान्यप्राथम्यादि; निर्दोषत्वेन च नामरूपसमानत्वं, अतो न तस्य स्वगतभेदनिषेधकत्वम्; अद्वितीयशब्दोपि कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा ? आद्ये ब्रह्म द्वितीयान्यत्वेपि प्रथमं तृतीयं वा स्यात्, नान्त्यः, प्रथमार्थत्वेन कर्मधारये सम्भवति जघन्यस्य बहुव्रीहेरयोगादित्याहुः।

अत्र नवीनः--अस्त्वेकशब्दस्यानेकार्थत्वं, तथापि शब्दार्थ इत्येव न ते प्रकृते ग्राह्याः, तथा सति 'चित्रया यजेते' त्यत्रापि चित्त्वं ग्राह्यं स्यात्, सम्भवति च चित्रत्वस्याप्यग्नीषोमीयपशुविशेषणत्वेन यागसाधनत्वम्, अथ तत्र स्त्रीत्वचित्रत्वयोर्विधाने वाक्यभेदः स्यादिति, तर्हि प्रकृतेप्यनेकगुणविधाने स तुल्यः, सतोपि प्राप्तत्वात्। किञ्च केषाञ्चिन्मानान्तरेण सिद्धत्वेन केषाञ्चित्तद्विरुद्धत्वेन च नान्यत्वादिगुणेषु तात्पर्यम्; अन्यत्वैकत्वे तावन्मानान्तरसिद्धे; साम्यमपि यदि केनचिद्धर्मेण, तदा प्रमेयत्वादिना तदपि सिद्धमेव, अथ निर्दोषत्वेन, तदपि न, जीवादेर्दोषबहुलस्य तत्समत्वायोगात्। ब्रह्मणोप्यविद्यादिदोषाश्रयत्वाच्च। असहायत्वमपि यदि स्वकार्ये इतरसहकारिराहित्यम्; तन्न, अदृष्टादे र्विद्यमानत्वात्। न चेतनान्तरसहकारिराहित्यम्, भोक्तृनुद्दिश्य भोग्यसृष्टौ तेषामपि सहकारित्वान्न तद्राहित्यम्, तस्यापि तव मते अद्वितीयपदेनैव सिद्धत्वात्। प्राथम्यमपि यदि प्रथमकालीनत्वम्, तदा पूर्ववाक्य एव तत्सिद्धमनुपपन्नञ्च जीवानामप्यनादितया तत्तुल्यकालत्वात्। नापि गुणोत्कर्षः। "निर्गुण" मित्यादिस्वार्थपरगुणनिषेधकानेकश्रुतिविरोधेन तस्याऽतदर्थत्वात्। प्राधान्यमपि स्वातन्त्र्यम्। तच्च यदि स्वेच्छया प्रवर्तमानत्वम्, तन्न, जीवस्याप्येतत्सत्त्वेन तदपेक्षया तदयोगात्। अथानन्यप्रेर्यत्वम्, तच्च सवज्ञान्तराप्रेर्यत्वम्, तस्यापि तव मते अद्वितीयपदेन सर्वज्ञान्तरनिषधे अर्थादेव सिद्धत्वात्। नापि जीवानियाम्यत्वं, तस्यापि सर्वं नित्यतृत्वपरश्रुत्यैवलब्धत्वात्। 'येनाश्रुतं श्रुतं भवती' त्यादिना अद्वैत एवोपक्रमात्, मृदादिदृष्टान्तैस्तदुपपादनाच्च। न गुणेषु तात्पर्यम्। अथोपक्रमोपि ब्रह्मणः प्राधान्याद्यभिप्रायेणैव, तज्ज्ञानात् सर्वज्ञानमुपचर्यत। इति चेन्न,-असति बाधकेऽप्युपचारकल्पनेतिप्रसङ्गात्। कथञ्चित्तदाक्षेपानुपपत्तेश्च। न हि ब्रह्मणः प्राधान्यादौ किञ्चिल्लौकिकं मानं विरुध्यते तथापि मृदादिवाक्यासङ्गतिरेव, तेन तस्य प्राधान्याद्यनुपपादनात्, मृत्तिकेत्येव सत्य' मिति कारणस्यैव सत्यत्वमुपसंहृत्य 'एवं सोम्य स आदेशो भवती' ति जगत्कारणस्यैव सत्यत्वप्रतिपादनाच्च। समवायस्य भेदाभेदस्य निरस्तत्वेन धर्माणां सम्बन्धाभावादपि न ब्रह्म धर्मत्वम्। यद त्वद्वैतवाद्यभ्युपगतनिर्धर्मत्वनिषधाय संख्यादिक श्रुतिर्दधत्त इति, तन्न, अद्वैतिनो ब्रह्मनिर्धर्मत्व-

प्रसिद्धेः, श्रुतिमूलत्वात् । किञ्च अद्वैतवादिभिरप्यामोक्षम् ब्रह्मणः प्राधान्यादिकमभ्युपेयत एवेति तद्विधानं व्यर्थम् । न च तस्य वास्तवत्वं मुक्तिकालीनत्वं वा श्रुत्या प्रतिपाद्यत इति वाच्यम्, अत्र, वास्तवादिपदाभावात् । श्रुतेस्तत्र तात्पर्ये च न किञ्चिन्मानं पश्यामः । प्रत्युत रुद्ररोदनादिवत् निष्प्रयोजनत्वात्तत्रातात्पर्यमेव । तच्च 'तदुब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यत' इत्यादिना भेदज्ञानादेव मुक्तिश्रुतेः । तस्मादेकमिति ः भेदनिषेधपरमेव ।

यत्त 'अद्वितीय' मित्यत्र बहुव्रीहिर्जघन्य इति कर्मधारय एवाभ्युपेय इति । तन्न, अघटो देश इत्यादावपि तदभावप्रसङ्गात् । न च तत्र विवक्षानुसारात् तथा, तर्हि प्रकृतेप्युपक्रमादिलिंगैः द्वैताभावे श्रुतितात्पर्यावगमात् तथास्तु । किंच तत्र कर्मधारयासम्भवादपि बहुव्रीहिरेव ग्राह्यः, ब्रह्मातिरिक्तचेतनाभ्युपगमे ब्रह्मणि द्वितीयत्वस्य सत्त्वात् । न च धर्मतो निष्कृष्टस्यैव द्वितीयत्वम्, ब्रह्म च सकलसद्गुणाश्रय इति न द्वितीयमिति वाच्यम्, सजातीयान्यमात्रे द्वितीयम् शब्दव्युत्पत्तेः अन्यथा द्वितीयं चक्षुरित्यादौ समे द्वितीयशब्दप्रयोगो न स्यात् ।

ननु सर्वज्ञद्वितीयत्वं निषिध्यत इति चेन्न;-चेतनद्वितीयातिरिक्तस्य सर्वज्ञद्वितीयत्वस्य सिद्ध्यसिद्ध्योस्तदयोगात् । एतेन सम एव द्वितीयशब्दव्युत्पत्तेरद्वितीय इति समाधिकनिषेध इति निरस्तम्, सर्वज्ञान्तराभावात्, एकशब्देन निर्दोषत्वादिरूपेण प्रपञ्चेन ब्रह्मणः साम्यं विधीयत इति तदुक्तिव्याघाताच्च सामान्यानिषेधे बाधके सत्येव विशेषविषयत्वस्य वक्तव्यत्वाच्च ।

ननु द्वितीयमात्रनिषेधो न सम्भवति, द्वितीयाभावस्यैव द्वितीयस्य सत्त्वादिति चेन्न,-द्वितीयाभावस्याप्यात्ममात्रत्वस्यासकृदुक्तत्वात् । तस्मादेकादिशब्देन स्वगतात् स्वविलक्षणात् सजातीयाच्च यो भेदः स एव प्रतिषिध्यत इति ।

अत्रोच्यते,-यदुक्तमनेकगुणविधाने वाक्यभेदप्रसङ्ग इति, तत्तवापि तुल्यम्, एकमिति विहितस्यैव पुनर्विधाने तद्वैयर्थ्यप्रसंगेन एकशब्देन स्वगतभेदा भावस्वरूपस्य एवकारेण विजातीयभेदाभावस्वरूपस्य अद्वितीयमिति सजातीयभेदा भावस्वरूपस्य च प्रतिपाद्यत्वात् । न च सजातीयाद्यभावात्मकमेकमेव सत्प्रतिपाद्यत इति न वाक्यभेद इति वाच्यम्-ब्रह्मधर्मो धर्म्यभिन्न इति पक्षेपि तुल्यत्वात् । यदि च निवर्त्यसंशयभेदेन प्रयोजनभेदाद्वाक्यभेदः तदा तवापि तुल्यम् । किंच सन्मात्रस्य प्राप्तत्वात् सजातीयाभावात्मकेपि तस्मिन् तात्पर्यं न सम्भवति, भेदवत् । यदि च सजातीयाद्यभ.वरूपेणाप्राप्तम्; तर्हि वाक्यभेद एव । वस्तुत 'इद' मिति निर्दिष्टप्रपञ्चस्य एकत्वादिविशिष्टब्रह्मात्मकत्वविधाने कुतो वाक्यभेदः ? यच्च मानान्तरासिद्धत्वान्न तेषु तात्पर्यमिति तत्रोक्तमुत्तरं कुसमयप्राप्त निर्गुणत्वनिषेधाय सख्यादिविधिरिति । न च निर्धर्मत्वप्रसिद्धेः श्रुतिमूलत्वान्न तद्बाध इति वाच्यम्, तर्कतोपि तत्प्राप्तेः, 'कथमसतः सजायेते' ति कुतर्क प्राप्तनिराकरणदर्शनात् । 'नेह नाने' त्यादिवाक्यान्तरान्मन्दमतीनां भ्रमप्रसक्तौ तन्निवारणार्थत्वसम्भवाच्च । 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश' मित्यादिभेदवाक्यादापाततो भेद ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वावगमान्मुमुक्षोर्भेदवाक्यभ्रमात्प्रवृत्तिवारणार्थं अद्वैतात्मवाक्यश्रवणनियमविधिरिति त्वयैवोक्तत्वात् ।

यदप्यद्वैतिभिरप्यामोक्षं ब्रह्मणः प्राधान्याभ्युपगमात् तद्विधानं व्यर्थमिति; तन्न, न हि त्वत्समथ एव कुसमयः, सन्त्यन्येपीश्वरस्य साक्षिमात्रत्वादिवादिदः, तद्वाक्यैर्भ्रमः स्यात् । अथवा किं न एतेन त्वदीयकुमतित्वाभिमानखण्डनेन, त्वां प्रत्येव परमार्थप्राधान्यादिप्रतिपादनार्थोऽयमुद्यमः । सत्यपदाभावेऽपि तात्पर्यं सम्भवति, "स्तब्धोऽस्युततमादेश' मित्येकत्वप्रशासनकर्तृत्वाद्युपक्रमादेरेव तात्पर्यलिङ्गत्वात् । न च निष्प्रयोजनत्वम् । एकत्वविधिमुखेनाद्वैतनिरासे भेदज्ञानान्मोक्षस्य 'पृथगात्मान' मिति वाक्यावगतस्य सिद्धेः । प्रत्युताद्वैतस्यैव निष्प्रयोजनत्वम् , ब्रह्माभेदलक्षणप्रयोजनस्य सिद्धत्वात् । एवञ्च साम्यविधानेऽपि न दोषः; प्रमेयत्वादिना सिद्धावपि सत्त्वेन साम्यस्य कुदृष्टिनिरासार्थं विधेयत्वात् ।

यच्चोक्तम् सहायत्वे दूषणम् , तन्न, अदृष्टाद्वारकचेतनान्तरसहकारिराहित्यस्य विवक्षितत्वात् । नह्यसहायेन मयेदं कृतमित्यादौ ज्ञानादृष्टादि निषिध्यते । यथोक्तं-अस्त्यसहायार्थः एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमसहायैरिति गम्यते , न हि तत्र जितानामदृष्टद्वारा सहकारित्वमपि निषिध्यते ।

यच्चोक्तम् अद्वितीयपदेनैव सिद्धत्वात् सर्वज्ञसहकार्यन्तरराहित्यं नासहायत्वमिति, तन्न प्रथमार्थपक्षेऽद्वितीयपदस्य कर्मधारयत्वात् ।

यच्च प्राथम्यं पूर्ववाक्य एव सिद्धमिति; तन्न; 'अग्र' इतीदंशब्द निर्दिष्टप्रपञ्चस्याव्याकृतसदात्मनावस्थानकालपरम् ; 'एक' मिति ब्रह्मणः सर्वकार्यापेक्षया प्राथम्यं प्रतिपादयनादित्यपरम् , अतो न जीवेभ्यः प्राथम्यानुपपत्तिरपि दोषः । सगुणत्वव्यवस्थापनादेव गुणोत्कर्षरूपप्राथम्येऽपि न दोषः । किञ्च अनेनगुणोत्कर्षे विहिते निर्गुणश्रुतिरेवार्थान्तरपरा स्यात् । यच्चान्यानियाम्यत्वं पारतन्त्र्यमित्यत्र दूषणमुक्तम्-सर्वानियन्तृत्ववचनसामर्थ्यात् सिद्धमिति । तन्न ; एकविज्ञानात् सर्वविज्ञानानुपपत्त्या 'तत्वमसी' त्युपदेशानुपपत्त्या च सिद्धस्यापि सजातीयाद्यभावस्य शब्दतः प्रतिपादनस्य त्वयापि वाच्यत्वात् ।

यच्च सम्बन्धाभावान्न ब्रह्मणः कश्चिद्धर्म इति , तन्न; यदि सम्बन्धाभावेऽपि धर्मधार्मव्यवस्था व्यावहारिकी, तदा सत्यभूतैव व्यवस्था सम्बन्धं विनैवास्तु; यदि सम्बन्धोऽपि कश्चिद्व्यावहारिकः, तदा स एव सत्यः किं न स्यात् ?

यच्चाद्वितीयशब्दे कर्मधारयदूषणम् ; तन्न, उपक्रमादिलिङ्गानां विपरीतत्वात् । न च द्वैतिमते कर्मधारयासम्भवः, धर्मतो निष्कृष्टस्य द्वितीयशब्दार्थत्वेन तत्सम्भवात् । न च सजातीयान्यमात्रमेव तदर्थः , एवं शूरेषु प्रथम एव द्वितीय इत्यादौ निष्कृष्टेऽपि प्रयोगात् । यच्च द्वितीयाभावोऽप्यात्मैवेति न द्वितीय निषेधानुपपत्तिरिति , तन्नः सन्मात्रस्य प्राप्तत्वेन द्वितीयाभावादावतात्पर्यप्रसङ्गादेरसकृदुक्तत्वात् ।

इति श्री महाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायाम् शतदूषणीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां अद्वितीयश्रुतिविसम्वादो नाम एकोनषष्ठितमः स्कन्धः ॥५६॥

❀❀❀

न ह्यपरं कुतश्चित् सर्वकारणं ब्रह्म, येन तस्य द्वितीयता स्यात् । न चास्य किञ्चिदैश्वर्येण संगम् ; येन द्वितीयगणनां सहेत । 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्यादिश्रवणात् । तेनात्र सदृशद्वितीयनिषेधपरं वचः । आहुश्च—'पृथगेक एव सविता न द्वितीयो नमस्स्थले । इत्युक्त्या न हि सावित्रा निषिध्यन्तेऽत्र रश्मयः ॥ तथाच, यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽत्र भूतले । इति तत्तुल्यनृपति निवारणपरं वचः । न तु तत्पुत्रतद्भृत्यकलत्रादिनिवारणम् ॥' इति । भाष्ये तु प्रकरणस्थमृत्पिण्डादिष्विव एकशब्देन विभक्तनामरूपावस्थाविशेषविशिष्टबोधनादुपादानत्वसिद्धौ पिण्डादिष्विवाधिष्ठात्रन्तरशङ्कायां तन्निषेधपरोऽयमद्वितीयशब्द इति स्थापितम् । एतदेव 'बहुस्याम् इति बहुभवनतत्सङ्कल्पयोराश्रयतया अनन्तरमेव स्थाप्यते । 'सोऽकामयत ; बहु स्याम्' इति श्रुत्यन्तरैश्च । एतदर्थमेव प्रकृत्यधिकरणम् । अतोऽद्वितीयश्रुतिरेव विश्वातिशायित्ववाचिनी गुणविभूति-श्रुतिशतविदितबहुविधविशेषजातातिशयित विशेषान्तरतत्परानिर्विशेषवादिनां विसम्वादिनीति नीतिविदः ॥

॥ इति शतदूषण्यां परमते अद्वितीयश्रुतिविसंवादवादः एकोनषष्टितमः ॥५९॥



प्रसाद—ब्रह्म से भिन्न कोई सम्पूर्ण जगत् का कारण है नहीं कि उसे द्वितीय माना जाय । अतएव ब्रह्म अद्वितीय सिद्ध होता है । ब्रह्म के सदृश ऐश्वर्य वाला भी कोई नहीं है जिससे कि ब्रह्म को सद्वितीयतापत्ति हो । 'न तत्' श्रुति भी अद्वितीय पद के इसी अर्थ को बतलाती है । अतएव 'अद्वितीय' पद को ब्रह्म के सदृश अन्य का निषेधक मानना चाहिए । प्रामाणिकों ने भी कहा है-जिस तरह 'आकाश में अकेला सूर्य है' यह कहने से सूर्य की रश्मियों का निषेध नहीं होता, उसी तरह से अद्वितीय श्रुति ब्रह्म के ऐश्वर्य आदि का निषेध नहीं करती है । दूसरे वाक्यमें श्रीमद्यामुनाचार्य कहते हैं-'इस पृथिवी में चोलराज अद्वितीय है' यह वाक्य जिस तरह चोलराज के सदृश दूसरे राजा मात्र का निषेध करता है, राजा के पुत्र, मित्र, कलत्र तथा भृत्यों का अभाव नहीं बतलाता, उसी तरह अद्वितीय पद ब्रह्म के सदृश दूसरे मात्र का निषेध करते है, ब्रह्म के ऐश्वर्यों का निषेध नही करता है । श्रीभाष्य के आरम्भणाधिकरण में तो कहा गया है कि-'वाचारम्भण' श्रुति में जैसे मृत पिण्ड में अव्यक्त घटादि रहते है उसी तरह की अविभक्त नाम रूपावस्था विशिष्ट जगत् को एक शब्द से निर्दिष्ट करके, उसीको उपादान बतलाकर यह शङ्का होने पर कि इस जगत् का निमित्त कारण कौन है, इस अधिष्ठानान्तर शङ्का तो निवृत्त करने के लिए ब्रह्म को अद्वितीय कहा गया है । अर्थात् ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त दोनों है । इसी बात आगे चलकर 'बहुस्याम' श्रुति समष्टि सृष्टि से व्यष्टि सृष्टि के संकल्प के आश्रय

रूप से ब्रह्म को बतलाकर स्थापित करती है । दूसरी श्रुति भी कहती है कि–उस ब्रह्म ने सत्यसङ्कल्प किया कि मैं समष्टि सृष्टि से व्यष्टि सृष्टि में आकार एक से अनेक होऊँ । शारीरक मीमांसा के प्रकृत्यधिकरण में भी यही बात कही गयी है । अतएव अद्वितीय श्रुति ही ब्रह्म के गुण, विभूति तथा अनेक श्रुतियों में वर्णित अनेक विशेषताओं की सर्वोत्कृष्टता को बतलाते हुए, ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता को बतलाती है । अतएव निर्विशेष वादियों के विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करती है, यह श्रुति । यह शास्त्रज्ञों का कहना है ।

इस तरह शतदूषणी के उनसठवें 'अद्वितीश्रुतिविसम्वादवाद' का प्रसाद समाप्त हुआ ।



❀ अथ सत्त्वासत्त्वविवेकवादः षष्टितमः ॥ ६० ॥ ❀

अस्ति नास्तीति बोधाभ्यामभिव्याप्तेषु वस्तुषु ।
सदेव सदसद्बुद्धिनिमित्तत्वेन साध्यते ॥

प्रसाद—सत् शब्द वाच्य परम ब्रह्म ही सम्पूर्ण वस्तुओं में व्याप्त है । वही कहीं पर सत् रूप से गृहीत होता है और कहीं कर असत् रूप से । उसको इन दोनों प्रकार से ग्रहण करने वाली बुद्धि सद्रूपा तथा असद्रूपा है । इसी अर्थ का प्रतिपादन इस वाद में किया जा रहा है ।

यदेव हि प्रामाणिकत्वेन सदिति प्रतीतिगोचरतां भजते, तदेव रूपान्तरेण नास्तीत्यपि प्रतिक्षेपं भजते । तत्र [१] असत्त्वमेव तत्त्वमिति सौगतोपदेशिनः, [२] सदा सत्त्वमिति सांख्याः, [३] सत्त्वासत्त्वसमुच्चय इति जैनाः; [४] उभयप्रहाणमित्यद्वैतिनः । [५] उपाधिभेदादुभयव्यवस्थेत्यपरे, [६] तत्रैव नास्तीति व्यपदेशोऽपि भावान्तरनिमित्त इति निष्कर्षकाः ।

प्रसाद—जो वस्तु 'है' इस प्रामाणिकरूप से ज्ञान को विषय बनाती है; वही वस्तु अन्यत्र नहीं है, इस तरह से निषेध को विषय बनाती है । अब प्रश्न है कि वास्तविक कौन है ? वस्तु का सत्त्व या असत्त्व ? इस विषय में (१) बौद्ध विद्वान् असत्त्व को ही तात्त्विक मानते है । (२) सांख्य सत्त्व को शाश्वत मानते हैं । (३) जैन सत्त्व एवम् असत्त्व दोनों के समुच्चय को स्वीकारते हैं । (४) अद्वैती विद्वान् वस्तु के सत्त्व एवम् असत्त्व दोनों को त्याग देते हैं । (५) नैयायिक आदि असत्त्व एवम् असत्त्व दोनों को उपाधि की भिन्नता के कारण वास्तविक मानते हैं । (६) सिद्धान्ती का तो कहना है कि उपाधि भेद के ही कारण सत् वस्तु की नास्ति रूप से प्रतीति भावान्तर निमित्तक होती है ।

वस्तुस्थितिमाह । यदेवहीति । प्रामाणिकत्वेनेति । तदेव सत्त्वमितिभावः । अपर इति । नैयायिकादयः । तत्रैवेति । उपाधिभेदादिति पक्ष एव भावान्तरनिमित्तत्वम् विशेष इत्यर्थः ।

(१) नन्वसत्त्वमेव सर्वत्र युक्तम् , असतोऽपि शुक्तिरजत-खरविषाणादेः भ्रान्तिहेतुवैचित्र्यात् अस्तीति धीविषयत्वदृष्टेरिति चेन्न, बाधाभावात् ।। नास्तिधीरेव बाध इति चेन्न, उपाधिभेदेन विरोधाभावात् ।। मध्येऽप्यसत् कार्यम् आद्यन्तयोरसत्त्वात् ; खपुष्पवदिति चेन्न, धर्मिहेतुग्राहकाभ्यां विरोधात् ; स्ववाग्व्याघाताच्च ।। अस्तिबुद्धेर्नान्तबुद्धिरपच्छेदनयेन बलीयसी, प्रतिषेधस्य प्राप्तिसापेक्षतया परत्वात्, 'पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सिध्यति' इति मीमांसकैरप्युच्यत इति चेन्न, दुष्टहेतुजन्यत्वाविशेषे बलाबलविभागायोगात् । हेतुवैचित्र्ये पौर्वापर्यानियमाच्च । परत्वमात्रेण निषेधे त्वन्मतं नास्तीत्युक्तिमात्रेण तद्विरुद्धानां सर्वेषां विजयप्रसङ्गात् । तदुपरि जल्पेऽप्यव्यवस्थितिप्रसङ्गात् ।।

प्रसाद—बौद्ध विद्वानों का कहना है कि सभी वस्तुओं का असत्त्व ही मानना उचित है। हेतु की विचित्रता के कारण असत् ही शुक्तिरजत तथा खरविषाण सत् की तरह प्रतीत होते हैं। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि वस्तुएं असत् होती तो उनके अस्तित्व बुद्धि का बाध होता, किन्तु ऐसा तो होता नहीं। यदि कहें कि वस्तुओं की नास्तित्व (अभाव) प्रतीति ही उनका बाध है; तो ऐसा भी नहीं कह सकते। वस्तुओं के अस्तित्व एवम् नास्तित्व की प्रतीति उपाधि भेद के कारण होती है। रजत सत्य है, क्योंकि सोनार की दुकान पर सत्य रजत की उपलब्धि होती है। इसी तरह गो का शृङ्ग सत्य है। किन्तु रजत और शृङ्ग के अधिष्ठान शुक्ति और खर नहीं है। इन दोनों उपाधियों के कारण ही, इन दोनों में नास्ति रूप से प्रतीत होते हैं। यदि कहें कि आदि तथा अन्त (अतीत एवं अनागत काल) में असत् होने के कारण अपने मध्य (वर्तमान) काल में भी कार्य असत् होते हैं, अतीत एवम् अनागत काल के ही समान वर्तमान काल में भी रहने वाले आकाशपुष्प के समान। तो यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बौद्धों के इस कथन का घटादि धर्मियों के ग्राहक प्रमाण तथा उनके सत्यत्व साधक हेतुओं से विरोध होता है। वस्तु के सत्तावच्छेद काल की अपेक्षा उसके पूर्वोत्तरत्व का ग्रहण करना चाहिए। अतएव हेतु ग्राहक प्रमाण का सत्ताग्रह से बाध होता है। किञ्च उनके हेतु और साध्य में विरोध है। वे कहते हैं कि वस्तु अपनी सत्ताकाल में नहीं रहता है, क्योंकि उनका अतीत और अनागत काल में अभाव रहता है। इस अनुमान मान वाक्य में यह विरोध है कि जब वस्तु वर्तमान है तो उस समय में उसका अभाव कैसे सिद्ध होगा। यदि कहें कि वस्तु के अस्तित्वज्ञान की अपेक्षा उसका नास्तित्व ज्ञान बाधक होने के कारण अपच्छेदन्याय से बलवान है; क्योंकि नास्तित्व ज्ञान एवं अस्तित्व ज्ञान सापेक्ष होने के कारण पश्चातन कालिक होता है। इसीलिए पूर्वमीमांसा में कहा गया है कि—जब तक पूर्वप्राप्त का बाध नहीं होगा तब तक उत्तर प्राप्त की प्राप्ति ही नहीं होती। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं हैं कि, अस्तित्व ज्ञान तथा नास्तित्व ज्ञान दोनों दोष दूषित बुद्धि जन्य हैं। अतएव दोनोंके दोष दूषित होने के कारण आपके मत में यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक ज्ञान बाध्य और अमुक

ज्ञान बाधक । जब दोनों के हेतु भिन्न-भिन्न परत्व मात्र से बाधकता मान ली जाय तो फिर कोई यह कहे दे कि तुम्हारा मत नहीं हैं । तो इस कथन मात्र से आप का मत पूर्व प्राप्त हो जायेगा और उसका बाध्यता स्वीकारनी होगी । उसके उपर जल्प भी नही हो सकता। ।

हेतुग्राहकेति । सत्तावच्छेदककालापेक्षया पूर्वोत्तरत्वं ग्राह्यम् , अतो हेतुग्राहकेण सत्ता ग्रहात् बाधः । स्ववागिति । सत्तावच्छेदककालापेक्षया पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वादिति हेतूक्तसाध्यो क्त्योर्व्याघात इत्यर्थः , अनुमानमेव धर्मिग्राहकाद्ध ग्राहकाच्च बलीय इति शङ्कते नास्तिबुद्धिरिति दुष्टेति । तन्मते सर्वस्याप्यनादिवासनादोषजन्यत्वादिति भावः । हेत्विति । यदि दुष्टकारणरूप हेतु वैचित्र्यमङ्गीक्रियते, तदा पौर्वापर्येण नियमो न स्यात , अदुष्टकारणजन्येनैवान्यस्य बाधप्रसङ्गात् , ततश्चापच्छेदन्यायोपन्यासो व्यर्थ इति भावः । अत एव हेतोः सर्वस्य दुष्टकारणजन्यत्वेनाविशेषमभ्युपगम्यावच्छेदन्यायोक्तौ दोषमाह परत्वेति । मात्रशब्देन दुष्टकारणजन्यत्वाभावो व्यवच्छिद्यते । अपच्छेदन्यायापेक्षितानियत विरोधपौर्वापर्याभावोपि मात्रशब्देन विवक्षितः ।

[२] नन्वस्तु तर्हि सर्वस्य सदा सत्त्वम् , असद्भिः सत्त्वप्राप्तिसापेक्षत्वात् , प्राप्तस्य च निर्बाधत्वादिति चेन्न-उपाध्यन्तरेण बाधाबाधविवेकस्य वक्तुं शक्यत्वात् । अन्यथा घटादिषु असद्व्यवहारस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात् ॥ अनभिव्यक्त्या तद्विषयत्वमिति चेन्न, अभिव्यक्तेरपि सदा सत्त्वेन तत्रापि नञर्थासिद्धेः । तत्कार्यत्वे तद्वत् सर्वत्र सत्कार्यवादक्षतियात् । अभिव्यक्त्यन्तरस्वीकारेऽनवस्थादिदोषात् । उक्तं च "अभिव्यक्तेरनादित्वे कारणानामनर्थता । तदागन्तुकतामिच्छन् किं नान्यत्रैव रिच्छति ।" इति ॥ पूर्वोत्तरकालाद्युपाधिद्वयसम्बन्धेन सत्त्वासत्त्ववर्णने संबन्धिन उभयानुवृत्तेः , असतः शशशृङ्गादेर्देशकालभेदेन सत्त्वाभावाच्चेति चेन्न , स्वस्य स्वप्रतियोगिनश्चाधारतया पूर्वोत्तकालसंबन्धव्यपदेशात् , नित्यासद्वस्तुनः क्वचिदपि कथञ्चिदभावात् ॥ 'आदावन्ते च यन्नास्ति नास्ति मध्येऽपि तत्तथा' इति चेन्न; शशशृङ्गादाविष्टत्वात् ; घटादौ बाधात् तत्प्रसंगेऽपि तत्तत्कार्योपाधिकाद्यन्तग्राहकैरेव व्याप्तिग्रहणनिरोधात् । तद्विपर्यये च हेत्वात्मनि बाधादेव असतः कथं जन्म ॥ सतो वा कथम् ॥ अभिमानमात्रमिति चेत् , दूषणमभ्युक्तमेव । प्रागसत्त्वं च जन्मोपकारीति न तत्र विरोधचोद्यावकाशः ॥ प्रागसतः खपुष्पस्य कथमनुत्पत्तिः ? प्राक् सतो वा प्रत्यगात्मनः कथम् । नित्यव्यक्ति वते ?) रिति चेत् खपुष्पे नित्यासत्त्वादेवेति निपुणं पश्य । नित्यविशेषणं प्रयुञ्जानेन च स्वीकृतमनित्यमिति स्ववाग्विरोधः । ननु प्रागसतः उत्पत्तिकालेऽपि कारणादुत्पत्तिर्न घटत इत्युक्तम् , 'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः । असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थिति ।

इतीति चेत्, अत्रोत्तरं दत्तमाच (मत्त ?) पादैः, 'घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः' (न्यायदर्शने) इति। अस्यान्यत्र विस्तरो द्रष्टव्यः। अतोऽसतो नित्य सत्त्वमिति सांख्यवादः सुहृद्भिर्दव्यविषये योज्यः।

प्रसादः—यदि कहें कि तो फिर सभी वस्तुओं की सार्वकालिकी सत्ता स्वीकार लेनी चाहिए क्योंकि किसी भी वस्तु का अभाव ज्ञान उसके सद्भाव ज्ञान की अपेक्षा रखता है, और वस्तु का सद्भाव बाधित नहीं है, तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के बाध एवम् अबाध का बिवेक दूसरी उपाधि के द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है। अन्यथा घट आदि के असत्त्व का जो व्य-वहार होता है, उस व्यवहार का कोई बिषय नहीं रह जायेगा। यदि कहें कि उनके अभाव व्यवहार का सविषयत्व इसलिए मान लेना चाहिए कि उन वस्तुओं की अभावकाल में अभिव्यक्ति मात्र नहीं होती है, किन्तु उस काल में भी उस वस्तु का सद्भाव रहता ही है। तो ऐसा इसलिए नहीं माना जा सकता है कि, सर्वान्तर्गत होने के कारण अभिव्यक्ति का भी सदा सद्भाव होने के कारण अभिव्यक्तेरभाव इस इस अर्थ में अभिव्यक्ति के साथ नञ् का सम्बन्ध ही नहीं हो पायेगा। यदि अनभिव्यक्ति का अभिव्यक्ति का कार्य मानें तो फिर सर्वत्र सभी वस्तुओं के सद्भाव को उनके सद्भाव का कार्य मानने पर सत्कार्य वाद के ही बिलय का प्रसङ्ग होगा; क्योंकि सत्कार्यबाद के अनुसार सत् का कार्य सत् ही होता है, असत् नहीं। कहा भी गया है कि—यदि अभिव्यक्ति को अनादि माना जाय तो फिर अभिव्यक्ति के कारणों का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। यदि अभिव्यक्ति को कादाचित्क माना जाय तो फिर सर्वत्र ही इसी प्रकार से कार्यों को आगन्तुक नहीं माना जाता है। यदि कहेंकि जिस तरह एक ही व्यक्ति में देश एवम् काल की भिन्नता के कारण बालत्व एवम् युवत्व आदि का व्यवहार होता है; उसी तरह देश काल रूपी उपाधियों के भेद के कारण एक ही वस्तु के सत्त्व एवं असत्त्व का अभिधान होता है, चूँकि सत्त्व एवम् असत्त्व दोनों में सम्बन्धि अनुवर्तित होता है, अतएव वह सदातन है। असत् शशशृङ्ग आदि का देश का देश और काल के भेद के द्वारा भी असत्त्व होने के कारण कभी भी सत् असत् नहीं हो सकता। तो यह इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि जिस वस्तु का अभाव बतलाया जाता है वह अपने प्रतियोगी का आधार होता है, अतएव उसके पूर्वकाल तथा उत्तरकाल मे सम्बन्ध का व्यपदेश होता है। जिन वस्तुओं का नित्य ही असद्भाव होता है; उनका किसी भी वस्तु से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। यदि कहें कि जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं रहती है, वह आदि और अन्त के ही समान मध्यकाल में भी नहीं रहती है। तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आप का यह कथन हमें शशशृङ्ग आदि के विषय में अभिप्रेत है तथा आपकी यह बात घटादि के विषय में बाधित है यदि 'आदावन्ते च' इत्यादि वाक्य के द्वारा वस्तुका आदि और अन्त में भी असत्त्व सिद्ध करना सिद्ध करना चाहें तो भी किसी वस्तु के अधिकरण भूनकाल की अपेक्षा काल का पूर्वोत्तरत्व ग्रहण करके आकाश पुष्पादि में पूर्वोत्तर कालों में गृहीत असत्त्व की मध्य काल में भी व्याप्ति गृहीत करनी होगी। उससमय उस वस्तु के सत्त्व का ग्रहण होने के कारण; वही पर व्यभिचार हो जायेगा; अतएव उसके मध्यकाल में भी असत्त्व ग्रह का व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता है। और मध्यकपाल में प्रसञ्जनीय असत्त्व के विपरीत असत्त्व होने पर उक्त प्रसङ्ग का अनुग्राहक हेतु का प्रत्यक्षादि के द्वारा बाध हो जाता है। यदि कहें की असद् वस्तु की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? तो मैं पूछता हूँ की सत् की उत्पत्ति कैसे संभव है? यदि कहें कि उसकी उत्पति का अभिमान मात्र होता है तो इस पक्ष में मैं कह चुका हूँ कि फिर उसके

कारणों को निष्प्रयोजन मानना होगा। किञ्च किसी भी वस्तु का प्रागभाव उसके जन्म का उप कारक होता है, अतएव असत् की उत्पत्ति के विषय में आप किसी भी प्रकार की विरोध विषयक शङ्का नहीं कर सकते हैं। यदि कहें कि पहले असत् आकाश पुष्प की कैसे अनुत्पत्ति होती है ? या पहले से ही विद्यमान प्रत्यगात्मा की कैसे नित्य व्यक्ति होती है तो इसका उत्तर है कि, आकाशपुष्प में नित्य असत्त्व है; अतएव उसकी अनुत्पत्ति में कोई भी बाधा नहीं है। किञ्च प्रत्यगात्मा की अभिव्यक्ति के नित्यविशेषण का आपकी प्रत्यगात्म विषयिणी कादाचित्क अभिव्यक्ति की मान्यता से विरोध भी है। यदि कहेंकि पहले असत् वस्तु की कारण के द्वारा उत्पत्ति नहीं हो सकती है इस बात को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि-सद् वस्तु के ही साथ सम्बद्ध होने वाले कारणों का असद् वस्तु से सम्बन्ध नहीं हो सकता है। कारण से सम्बन्ध के बिना भी उत्पत्ति मानने पर कारण कार्यभाव रूप सम्बन्ध की व्यवस्था बिगड़ जायेगी। तो इस शङ्का का समाधान गौतम इस प्रकार देते हैं। 'घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडनेचाभिचारादप्रतिषेधः,' अर्थात् प्राग् असत् भी घटादि की उत्पत्ति देखे जानें तथा और अभिचार कर्म के द्वारा शत्रु को पीडित करने में शत्रु की पीडा देखे जाने के कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रागसत्की कारणों के द्वारा उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसका विस्तृत विवेचन न्यायवार्तिक आदि में देखना चाहिए अतएव आप मित्रों को असत् वस्तु का नित्य ही असत्त्व तथा सद् वस्तु का नित्य ही सत्त्व यह ज्ञान बाद द्रव्यों के विषय में स्वीकारना चाहिए।

नन्विति। कार्ये सत्त्वबुद्धिरस्ति न वा ? न चेदसद्धियः सत्त्वप्राप्तिसापेक्षत्वात् उत्पत्तिर्न स्यात्, कुतो बाधकता ? अस्तिचेत्तदापि तेन प्रतिबन्धादुत्पत्तेरसम्भवात् प्राप्तस्य सत्त्वस्य तेन बाधो न सम्भवतीत्यर्थः। उपाधीति। देशकालादिभेदेन अस्तिनास्तिबुद्धिरूपबाधाबाधव्यवस्थाया वक्तुम् शक्यत्वादित्यर्थः। अन्यथेति। देशकालादिभेदाद्विरोधानुपपादने असत्त्वधीर्निर्विषया स्यात्; सत्त्वाभावादतिरिक्तविषयस्य वक्तुमशक्यत्वात्। असत्त्वधीश्चानुभवसिद्धेति भावः। तत्कार्यत्व इति। तस्या अभिव्यक्तेः कार्यत्व इत्यर्थः। कारणानामिति। अर्थः-प्रयोजनं न भवतीत्यनर्थस्तस्य भावमर्थता। कारणानामनर्थता—अभिव्यक्तिः कारणानां प्रयोजनं न स्यादित्यर्थः। तेन "अर्थान्नञ्" इत्युरः प्रभृतिषु पाठात् न नित्यसमासान्तकप्रत्ययचोद्यावकाशः।

बालत्वयुवत्वादिवदेकस्यैव देशकालसम्बन्धिभेदेन सत्यासत्ये उक्ते--इत्यभिमानेन चोदयति पूर्वेति। असत इति। तथा च सतः कदाप्यसत्त्वन्नोपपद्यत इति भावः। नित्येति। नित्यासद्वस्तुन एव सत्त्वासम्बन्धनियमादित्यर्थः। शङ्कते आदाविति। किं मध्येप्यसत्त्वं साध्यते? किं वा पूर्वोत्तरकालयोरपि स व पर्यवसानायापाद्यते ? आद्य आह शशशृङ्गादाविति। द्वितीय आह तत्प्रसग इति। यत्किञ्चिद्वस्त्वधिकरणकालापेक्षया पूर्वोत्तरत्वं कालस्य गृहीत्वा गृहीरय खपुष्पादौ पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वस्य मध्येप्यसत्त्वव्याप्तिर्ग्राह्या, तन्न तद्वस्तुनः तत्काले सत्त्वग्रहात्तत्रैव व्यभिचाराद्व्याप्तिग्रहो नोपपद्यत इति प्रसंगे मूलशैथिल्यमित्यर्थः। तदिति। तस्य-प्रसञ्जनीयस्य मध्येप्यसत्त्वस्य; विपर्ययः-मध्ये सत्त्वम्, प्रसञ्जकस्य पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वस्य विपर्यये साध्ये उक्तप्रसङ्गानुग्राह्यो हेतुर्वाच्यः; स च पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वस्य कार्ये प्रत्यक्षादिना निश्चयाद्वाधित इत्यर्थः। शङ्कते असत इति। परिहरति सतोवेति। सत्त्वेन सिद्धस्योत्पत्त्यसम्भवात्

उत्पत्तिरेव न स्यादित्यर्थः । इष्टापत्त्या परिहारं शङ्कते अभिमानमात्रमिति । अभिव्यक्तिमात्रमित्यर्थः । उक्तमिति । अभिव्यक्तेरनादित्व इत्यादिना । असतः करजन्मेत्युक्तानुपपत्तिपरिहरति प्रागिति । नित्यासत्त्वं हि जन्मविरुद्धम , जन्मात्मकसत्त्वकाले तदसत्त्वविरोधात् , प्रागसत्त्वं तु तदवच्छिन्नोत्तरकालतत्त्वात्मक जन्मन्युपकारकमेवेत्यर्थः, प्रागसतो जन्माङ्गीकारे खपुष्पस्यापि जन्म कथं नस्यादिति शङ्कते प्रागसत इति । सतो जन्माङ्गीकारे नित्यस्यात्मनस्त्वदभिमतम् जन्म घटादिवत् किमिति न स्यादिति प्रतिबन्धा परिहरति प्राक्सत इति । अनुत्पत्तिरित्यनुषङ्गः । मन्मते कादाचित्काभिव्यक्तिरुत्पत्तिः, सा नित्यव्यक्तस्वभावे विरुद्धेति शङ्कते नित्येति नित्यासत्स्वभावत्वात् खपुष्पादावपि आगन्तुकसत्त्वात्मकजन्मविरुद्धमिति परिहरति खपुष्प इति । नित्यविशेषणमिति । अनित्यव्यक्तस्वभावे तद्व्यावर्तकविशेषणायोग इत्यर्थः ।

(३) यत् पुनः सत्त्वासत्त्वसमुच्चय इत्युच्यते ; तत् देशकालादिभेदेन चेत्, वयमनुमन्यामहे । अन्यथा चेत् , अत्यन्तविरोधान्नाद्रियामहे । तथाच दूषणभूषणादिव्यवस्थाविलयेन व्यवहार एव निरुफलः स्यात् । तेन परस्परविरुद्धोऽयं पक्षः ।

(४) ये पुनरुभयप्रहाणवादिनः ; तेषामेव पक्षं परिशोधयामः । परस्परविरुद्धोभयाङ्गीकारवत् तदुभयप्रहाणस्यापि विरोधकुक्षिनिक्षेपमेवोपलभामहे । न हि घटत्वाघटत्वसमुच्चयवत् घटाघटविलक्षणयोरपि समुच्चयः संभवति ; विरोधस्याविशेषात् । उपलम्भ एव विरोधोपशमने प्रभवति ; स तु घटत्वाघटत्वसमाहारवत् तदुभयवैलक्षण्येऽपि परिपन्थी । न हि घटाघटविलक्षणं किञ्चित् पश्यामः । घटविलक्षणस्याघटत्वात् । अघटविलक्षणस्य च घटत्वात् । उभयविलक्षणंपुनर्न किञ्चिदुपलभामहे ।

(५) उपाधिभेदादुभयव्यवस्थेति पक्षमदूरविप्रकर्षात् परिगृह्णीमहे । उपाधिभेदस्तु स्वात्मना सत्त्वमन्यत्माना पुनरसत्त्वम् , स्वकाले सत्त्वमन्यकाले पुनरसत्त्वम् ; तथा स्वदेशे सत्त्वमन्यदेशे पुनरसत्त्वमिति । इह तादात्म्यसंसर्गो वा सत्त्वमिति व्यपदिश्यते । तद्विरुद्धवेषेण वस्तुन्येवासद्व्यपदेशः ।

(६) षष्ठे तु पक्षे विरुद्धधर्मयोग एव वस्तुन्यसद्व्यवहारहेतुतया व्यपदिश्यते; घटो हि घटात्मना सन् पटात्मना पुनरसन्निति निदिश्यते । सन्नेव स्वदेशकालयोः स्वविरोधिदेशकालयोरसन्निति । उपलम्भानुकूलत्वाल्लाघवाच्चेद (च्चेम ?) मेवाद्रियन्ते वृद्धाः इति ॥

॥ इति शतदूषण्यां सत्त्वासत्त्वविवेकवादः षष्टितमः ॥६०॥

प्रसाद—जैन मतावलम्बी सत्त्वासत्त्वसमुच्चय को तात्त्विक मानते हैं । उनकी यह मान्यता देश एवं काल की भिन्नता को लेकर सत्त्व एवं असत्त्व रूप है तो फिर हम भी उनसे सहमत हैं । यदि वे समान देश एवम् समान काल में ही किसी वस्तु का सत्त्व एवम् असत्त्व दोनों मानें; तो इस मान्यता का अत्यन्त विरोध होने के कारण हम उसका समादार नहीं करते । हमारे मत में दूषण ही भूषण है; इत्यादि जैनगन्धि दार्शनिकों की मान्यता का खण्डन कर देने के कारण उनका यह सत्त्वासत्त्वसमुच्चय का व्यवहार ही व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा । इस तरह यह जैनों की मान्यता परस्पर विरुद्ध है ।

जो अद्वैती विद्वान् वस्तुओं के मिथ्यात्व को स्वीकार करके उनके सत्त्व एवम् असत्त्व दोनों का खण्डन करते है, उनके विषय में मेरा कहना है कि जिस तरह वस्तुओं का सत्त्वासत्त्वसमुच्चय परस्पर में विरोधी है; उसी तरह उनके सत्त्व सत्त्व दोनों का अभाव भी परस्पर विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य। वस्तुओं का सत्त्व एवम् असत्त्व इन दोनों में से कोई एक अवश्य स्वीकारना होगा । जिस तरह किसी भी वस्तु में घटत्व एवम् अघटत्व का समुच्चय नहीं होता उस तरह कोई भी वस्तु घट एवं अघट इन दोनों से विलक्षण भी नहीं होती है , क्योंकि इन दोनों मान्यताओं में एक ही प्रकार का दोष है । विरोध का शमन उपलब्धि के द्वारा होता है । जिस तरह घटत्व एवम् अघटत्व इन दोनों के समुच्चय की किसी वस्तु में उपलब्धि नही होती है , उसी तरह किसी भी वस्तु में घटविलक्षणत्व एवम् अघट विलक्षणत्व के समुच्चय की भी उपलब्धि नहीं होती है । कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो घट एवम् अघट इन दोनों से विलक्षण हो; क्योंकि जो घट विलक्षण होगा वह अघट होगा और जो अघट विलक्षण होगा वह घट होगा । इन दोनों से विलक्षण तो कोई व तु हो नहीं सकती हैं । यदि उपाधि भेद के कारण आप सत्त्व एवं असत्त्व विलक्षण मानते हों तो फिर उसे हम भी मानते हैं । उपाधि भेद के कारण तो किसी वस्तु का स्वात्मना सत्त्व तथा दूसरे प्रकार से असत्त्व, अपने काल में सत्त्व में दूसरे काल में असत्त्व, अपने देश में सत्त्व तथा दूसरे देश में असत्त्व मानना होगा । यहाँ पर तादात्म्य अथवा सम्बन्ध से वस्तु में सत्त्व तथा उससे भिन्न प्रकार से असत्त्व का व्यपदेश होता है ।

उपाधि की भिन्नता के कारण वस्तु में सत्त्व एवं असत्त्व की व्यवस्था होती यह छठा पक्ष है इस पक्ष में विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध ही वस्तु में असद्व्यपदेश का कारण माना जाता है । घट रूप से सत् है और पट रूप से असत् है। अपने देश और काल में सत् वस्तु ही अपने विरोधी देश और विरोधी काल में असत् हो जाती है । उपलब्धि के अनुकूल तथा इस मान्यता में लाघव होने के कारण इसीपक्ष का विद्वान् लोग समादर करते हैं ।

इस तरह शतदूषणी के साठवें सत्त्वासत्त्वविवेकवाद का प्रसाद समाप्त हुआ ॥

❀❀❀

दूषणेति । दूषणस्य असत्त्वं स्वपक्षे सत्त्वं भूषणस्य तद्विपर्ययेण सत्त्वमसत्त्वम् चेति व्यवस्था न स्यादित्यर्थः । तेनेति । तेन--उक्तव्यवहारोच्छेदप्रसंगेन , विरोधस्यावश्यकत्वात , परस्परविरुद्धार्थकार्य पक्षः स्वेनैव बाधित इत्यर्थः । विलक्षणयोरिति- भाव प्रधानम् । ननु भावो भावयोर्विरुद्धत्वेपि संयोगतदभावयोरविरोधवत् घटाघट वैलक्षण्यस्यापि क्वचिदविरोधोऽस्त्वत्यत

आह उपलम्भ इति । अदूरविप्रकर्षादिति । अभावस्य भावातिरिक्तत्वाङ्गीकारमात्रम् विप्रकर्ष इति भावः । उपाधिभेदपदेनोपाधिभेदाधीनाव्यवस्थोच्यते । अन्यात्मने त्वन्योन्याभावः ।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां सत्त्वासत्त्वविवेक नाम षष्ठितमः स्कन्धः ॥६०॥



॥ अथ जीवैक्यभङ्गवादः एकषष्टितमः॥६१॥

पयोधितनयान्वितं परमधाम्नि यद् वर्तते सदा यदवलोकनं विदधते फणीन्द्रादयः ।
अकृत्रिमसरस्वतीवदन सन्ततास्वादितैर्गुणैरधिगुणं महः स्वयमनन्तमालक्ष्यते ॥

प्रसाद—वेदान्तों में श्री भगवान् को परम मह, परम ज्योति,आदि शब्दों से अभिहित किया गया है । 'श्रीश्चते' इत्यादि श्रुतियाँ श्रीदेवी को भगवान् की पत्नी बतलाती हैं । श्रीभगवान् श्रीदेवी तथा मुक्त जीवों के साथ वैकुण्ठ लोक में विराजमान रहते हैं । वैकुण्ठलोक को ही परमधाम; परमाकाश; परमव्योम आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है । 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार शेष शेषाशन आदि नित्य एवम् मुक्तजीव उन श्रीपति भगवान् का सदा साक्षात्कार किया करते हैं । अकृत्रिम सरस्वती वेदों को कहते हैं । वेदों का मुख (प्रमुख) भाग वेदान्त कहलाता है । वेदान्त वाक्य श्रीभगवान् के कल्याणकारी अनन्तगुणों का प्रेमपूर्वक आम्नान किया करते हैं। अतएव श्रीभगवान अनवधिकातिशय कल्याण गुणों के एक मात्र आश्रय हैं । 'सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति श्रीभगवान् को अनन्त बतलाकर त्रिविध परिच्छेदों से रहित बतलाती है ।

'विगीतं मदविद्याकल्पितम्' 'विवादाध्यासितं चेतनजातमहम्' इत्यादिषु किं सर्वत्राहमर्थैक्यं सिषाधयिषितम , उत तद्धर्मसंविदेक्यम , यद्वा तदुपलक्षितसन्मात्रैक्यम् ? न प्रथमः , अपसिद्धान्तप्रत्यक्षादिविरोधप्रसङ्गात । न ह्यहमर्थं सत्यमात्मानमनुमन्यसे । न चाहङ्काराणां स्वरूपैक्यम् । न च परदुःखादेः स्वदुःखादित्वमभिमन्यसे । 'एको बहूनाम्' इत्यादि च न स्मरसि । अतएव न द्वितीयः , सर्वेषां सर्वदा सर्वज्ञत्वस्यासर्वज्ञत्वस्य वा प्रसङ्गाच्च । न तृतीयः ; सर्वानुयायिसदैक्येऽप्यात्मैक्यासिद्धेः । न हि कस्यचित्सद्बुद्धिविषयमात्रे स्वात्माभिमानः , आत्माभिमानमात्रं वा , तथा सति देहात्मभ्रमादेर्विशेषत परिहारे निदानाभावात ॥ आत्मनः सत्त्वं त्वयापीष्यत इति चेत्–सत्यमेतत , न तु सतः सर्वस्यात्मत्वम् ॥ आत्मव्यतिरिक्तस्य न सत्त्वमिति चेन्न ; 'तदनुप्रविश्य ,

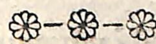
सच्च त्यच्चा भवत्;' 'कथमसतः सज्जायेत' इत्यादिविरोधात् । किञ्च सता मैक्यं तु जात्यैक्यमात्रं स्यात् । सत्तैव महानात्मेति चेन्न, तस्यान्यधर्मत्वायोगात् । सतां हि भावः सत्ता; न तु सा स्वतन्त्रा । उक्तं च संवित्सिद्धौ, स्वैः स्वैर्व्यवस्थितैः रूपैः पदार्थानां तु या स्थितिः । सा सत्ता न स्वतन्त्रा स्यात् तत्राद्वैतकथा कथम् ॥" इति । पारतन्त्र्यभ्रमोऽयमिति चेत्—स किं सत्तायाः, उत सतः ? आद्ये विरोधः ; सतां हि भावः सत्ता । द्वितीयेऽपि विरोधः । न हि सतां स्वधर्मभूता धीरस्ति । न चैतावता तेषामैक्यसिद्धिः ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वान् अपने अनुमान वाक्यों में कहा करते हैं—'विवादास्पद जगत् मेरी अविद्या से कल्पित है ।' 'विवादास्पद जीवसमुदाय मैं हूं' प्रश्न है कि क्या वे इन अनुमान वाक्यों के द्वारा अहमर्थ की एकता सिद्ध करना चाहते हैं ? अथवा अहमर्थ के धर्मभूत संवित् की एकता सिद्ध करना चाहते हैं ? या अहमर्थोपलक्षित सन्मात्र की एकता सिद्ध करना चाहते हैं ? अहमर्थ की एकता को वे सिसाधयिषित इसलिए नहीं कह सकते हैं कि अपसिद्धान्त तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध का प्रसङ्ग होगा । अद्वैत सिद्धान्त में अहमर्थ को सत्य तथा आत्मा नहीं माना जाता है । अहङ्कारों के स्वरूप की एकता भी आपको अभिप्रेत नहीं है । आप दूसरों के दुःख आदि को अपना दुःख आदि भी नहीं मानते हैं । आपको—'एको बहूनां यो विदधाति कामान्' अर्थात् अकेला परमात्मा अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है ।' इत्यादि श्रुतियां भी स्मरण नहीं आती । अतएव दूसरा पक्ष भी नहीं स्वीकारा जा सकता है, क्योंकि इस पक्ष में प्रथम पक्ष के सभी दोषों के साथ ही यह अधिक दोष है कि सबों के सर्वदा सर्वज्ञ अथवा असर्वज्ञ होने का प्रसङ्ग होगा । तीसरा पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता कि सबों में अनुवर्तित होने वाले सन्मात्र की एकता होने पर भी आत्मा की एकता की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि कोई भी सन्मात्र को कोई भी आत्मा नहीं मानता है । अथवा आत्माभिमान मात्र को भी कोई आत्मा नहीं मानता है । अन्यथा किसी भी प्रकार देहात्मभ्रम आदि को दूर नहीं कर सकते, क्योंकि देहादि में भी आत्माभिमान होता है । यदि कहें कि आप भी आत्माको सत् स्वरूप मानते है, तो इसका उत्तर है आत्मा को सद्रूप मानकर भी सन्मात्र को सबकी आत्मा हम नहीं मानते हैं । यदि कहें कि आत्मा से भिन्न कोई नहीं है तो ऐसा मानने पर वह'पृथिवी आदि के भीतर प्रवेश कर जड़ चेतनरूप हो गया ।' हे सोम्य असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ।' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा । किञ्च सत् पदार्थों की एकता का अभिप्राय सत्ता जाति की एकता से है । सत्ता को ही महान् तथा आत्मा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सत्ता को आत्मा मानने पर वह दूसरे का धर्म नहीं हो सकती है । सत् पदार्थों के भाव को सत्ता कहते हैं । अतएव सत्ता स्वतन्त्र नहीं है । संवित्सिद्धि में कहा भी गया है कि-अपने-अपने व्यवस्थित रूपों में जो पदार्थों की स्थिति है; वह सत्ता कहलाती है, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती है । धर्म अपने धर्मी के परतन्त्र होता है । अतएव सत्ता के विषय में अभेद की चर्चा की ही नहीं जा सकती है । यदि कहें कि सत्ता के विषय में परतन्त्रता का यह भ्रम मात्र है । तो प्रश्न है कि यह भ्रम किसका है सत्ता का या सत् पदार्थ का । प्रथम पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि वह सत् पदार्थों का भाव रूप है । उसको भ्रम सम्भव नहीं है । दूसरा पक्ष मानने में

यह विरोध है कि आपके मत में सत् पदार्थों को अपना धर्म भूत ज्ञान नहीं स्वीकार जाता हैं। अतएव उसको भी भ्रम नहीं हो सकता है। किञ्च भ्रम स्वीकारने मात्र से आत्मा की एकता की सिद्धि भी नहीं हो सकती है।

अपि च जीवैक्यं सत्यम्; मिथ्या वा? पूर्वत्रापसिद्धान्तः, अविद्यातत्संबन्धिजीवभावतदेकत्वादीनां मिथ्यात्वाभ्युपगमात्। उत्तरत्र जीवबहुत्वमपि तथैवेति किमन्यतरपक्षपातेन? तत्साधनेन वा? प्रतीत्यनुसारेण जीवभेदपक्षे वा किं न पतसि? न च जीवैक्यं प्रातिभासिकम्, सर्वधीव्यवहारविरोधात्। नापि यौक्तिकम्, [विरुद्ध] धर्मधीविरोधात्। प्रवृत्त्यादिभेदैर्हि परानुमानम्। न च स्वात्म (स्वाप्न ?) पर त्मधीन्यायः 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इति सूत्रोक्तन्यायविरोधात्। स्वात्मनश्च ते तथैव प्रसङ्गात्। स्वात्मनश्च परं प्रति परात्मत्वात्। न हि दृश्यवत् द्रष्टाऽपि ते मिथ्याभूतः॥ व्यावहारिकं सत्यत्वं तस्यास्तीति चेत्—स्वीकृतं तर्हि व्यावहारिकजीवबहुत्वं तदैक्यं चेति नैकत्र पक्षपातो युक्तः। यथा दृष्टवह्नेर्लिङ्गतो वह्न्यन्तरानुमितिः तथैव ह्यत्र आत्मान्तरानुमितिः। यदि अत्रैक्यं साध्यते; तर्हि वह्न्याद्यैक्यमपि किं न साध्यते। विरुद्धधर्मविहतेरिति चेत्, तुल्यम्। नैकाश्रयतया सर्वदुःखादीनां प्रतिसन्धानमस्ति॥ अन्तःकरणाद्युपाधिभेदादप्रतिसन्धानमिति चेन्न, देहावयवबाह्येन्द्रियभेदेऽपि प्रसङ्गात्। स्वेच्छया विशेषवर्णनेऽत्यतिप्रसंगात्। महाप्रलयान्तर (लयानन्तर ?) भाविनां महात्मनां केषाञ्चिदन्तःकरणभेदेऽपि पूर्वकल्पानुभूतप्रतिसन्धानदर्शनाच्च॥ अद्यतनाना प्राग्भवीयाननुसन्धानवत् स्यादिति चेन्न, प्रायेण (प्रायण ?) नरकक्लेश-प्रसूति-गर्भ-क्रान्तिप्रकारादिभिः संस्कारविलयात्। न चेह तथा स्वस्याप्यस्मरणापातादिति॥

॥ इति शतदूषण्यां जीवैक्यभङ्गवादः एकषष्टितमः ॥६१॥



प्रसाद—किञ्च आपको अभिमत जीवों की एकता सत्य है या मिथ्या? यदि सत्य मानें तो अपसिद्धान्त होगा, क्योंकि आप अविद्या, अविद्या सम्बन्धी जीवभाव, तथा जीवों के एकत्व आदि को मिथ्या मानते हैं। यदि जीवैक्य को मिथ्या ही मानें तो फिर आपको मिथ्या ही मानें तो फिर आपको मिथ्या जीवैक्य के समान मिथ्या जीव बहुत्व को स्वीकारने में क्या आपत्ति है? अतएव जीव के एकत्व का पक्षपात अथवा जीवैक्य के समर्थन से आप को कौन सा लाभ है? किञ्च प्रतीति के अनुसार जीव

भेद वाद को आप क्यों नहीं स्वीकारते हैं ? जीवैक्य को आप प्रतीतिसिद्ध इसलिए नहीं मान सकते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर जीवानैक्य को लेकर होने वाले सभी ज्ञानों तथा व्यवहारों का विरोध होगा। जीवैक्य को आप युक्ति सिद्ध भी नहीं मान सकते हैं; क्योंकि उन युक्तियों का भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न भिन्न प्रतीति होने वाले सुखित्व, दुःखित्व, उदासीनत्व आदि धर्मों का विरोध होगा। प्रवृत्ति आदि की भिन्नता को देखकर ही दूसरे जीवों का अनुमान है। किञ्च 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' सूत्र के शाङ्कर भाष्य में बतलाया गया है कि जागरावस्था में प्रतीयमान वस्तुओं को मिथ्या अथवा प्रातिभासिक इस लिए नहीं माना जा सकता है कि वे स्वाप्नावस्था में प्रतीति मिथ्या अथवा प्रातिभासिक वस्तुओं के समान बाधित नहीं होते। इस शाङ्कर भाष्य के अनुसार भी भेद की सत्यता सिद्ध होती है। किञ्च जीव बहुत्व को मिथ्या मानने पर आपके अपने आत्मा के भी मिथ्यात्व का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि आपकी अपनी आत्मा दूसरों से भिन्न है। किञ्च आपके मत में जिस पर दृश्य पदार्थ मिथ्या हैं उसी तरह आप द्रष्टा को भी मिथ्या नहीं मानते हैं। यदि कहें कि हम द्रष्टा की व्यावहारिक सत्यता मानते हैं; तो फिर आपने जीव बहुत्व की व्यावहारिक सत्यता स्वीकार ही कर ली, इस स्थिति में आपका जीवैक्यमात्र में कोई पक्षपात नहीं होना चाहिए। जिस तरह अग्नि सहचरित धूमलिङ्ग के द्वारा दृष्ट अग्नि के समान ही अग्न्यन्तर का अनुमान होता है, उसी तरह प्रवृत्ति निवृत्ति भेदलिङ्ग के द्वारा अपने सदृश ही आत्मान्तर का अनुमान होता है। यदि आप आत्मैक्य की सिद्धि करते हैं तो फिर आपको दृष्ट अग्नि से अनुमित अग्नि के भी ऐक्य की सिद्धि करनी चाहिए। यदि विरुद्ध धर्म के कारण वह्न्यन्तर मानें अनुमित वह्नि को; तो फिर आप को धर्मभेद के कारण आत्मभेद को स्वीकारना चाहिए। सभी सुख-दुख आदि एक ही आत्मा को हो रहे हैं, इस तरह की प्रतीति किसी को नहीं होती है। यदि कहेंकि अन्तःकरण आदि उपाधियों की भिन्नता के कारण यह सुखित्व दुखित्व आदि की भिन्नता प्रतीत होती है; तो फिर आपको प्रतीत होने वाले आभ्यन्तरेन्द्रिय, बाह्येन्द्रिय, सभी अङ्ग, सभी शरीर आदि को भी अन्तःकरण का धर्म मानना होगा। यदि आप इन विशेषों को स्वेच्छया मानें तो अति प्रसङ्ग होगा। किञ्च महाप्रलय के पश्चात होने वाले भी कुछ महान पुरुषों को; अन्तःकरण के बदल जाने पर भी अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्तों का स्मरण देखा जाता है। यदि कहेंकि जिस तरह आधुनिक लोग पूर्वजन्म के वृतान्तों को नहीं स्मरण कर पाते उसी तरह उनको स्मरण होता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनुभूत विषयों के संस्कारों के प्रमोषक मरण, नारकीय क्लेश, जन्मकालीन क्लेश आदि हैं। इन्हीं कारणों से प्राग्जन्मों के वृतान्त स्मृतिपथ में नहीं आते। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर सोकर जगने के पश्चात् भी शयन के पूर्व अनुभव का स्मरण नहीं होता। अतएव सुखित्व दुःखित्व आदि धर्म भेदों के कारण आत्माओं की भिन्नता स्वीकारनी चाहिए। आत्मैक्य का प्रतिपादन दुराग्रहमात्र है।

इस तरह शतदूषणी के एकसठवें 'जीवैक्यभङ्गवाद' का प्रसाद समाप्त हुआ।



❀ अथ परमते अपशूद्राधिकरणविरोधवादः द्विषष्ठितमः ॥६२॥❀

स्वे स्वे कर्मणि युञ्जानो मुखबाहूरुपादजान् ।
स्वयं नस्संप्रकाशेत स्वान्ते स्वच्छन्दसारथिः ॥

प्रसाद—भगवान् के अनन्तानन्त कल्याणकारी गुणों में स्वाश्रितवात्सल्य नामक गुण भक्तों के लिए भोग्यतम है। भगवान् सर्वदा अपने अश्रित जीवों का कल्याण करते रहते हैं। भगवान् अपने आश्रित भक्त अर्जुन का कल्याण करने के लिए अर्जुन के सारथि बन गये थे। त्रैलोक्य स्वामी का तोत्रवेत्रैक-पाणि होकर अर्जुन के सारथ्य का सम्पादन उनकी एक मात्र इच्छा पर निर्भर था। क्योंकि वे तो सम्पूर्ण जगत् के नियामक हैं। वे ही मर्यादापालक जनता को उसके वर्णों एवं आश्रमों के अनुसार शास्त्रविहित कर्मों में नियुक्त किया करते हैं। श्रीभगवान् ने स्वयम् गीता में ब्राह्मण; क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्रों के कर्मों का निर्देश किया है और अन्तर्यामी रूप से वे उन्हें शास्त्रोचित कर्मों में लगा भी देते हैं; तथा उनके उस शास्त्रोचित कर्मानुष्ठान से प्रसन्न होकर उनके स्वच्छ अन्तःकरण में अपने स्वरूप को प्रकाशित भी कर देते हैं। इस मङ्गलश्लोक में उन्हीं भगवान् से उपासकों के अन्तःकरण में अपने स्वरूप के प्रकाश की प्रार्थना की गयी है।

स्वे स्वे कर्मणीति। स्वे स्व इत्यनेन ब्राह्मणाद्यधिकारिभेदेन कर्मणां व्यवस्था सूच्यते अनेन परपक्षे स्वे स्वे कर्मणि नियोजनं न सम्भवति; शूद्रस्यापि उपासनप्रसङ्गादिति सूच्यते। सूत्रितमिति। "शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि" इत्यादिभिरित्यर्थः सूत्रति। वेदे च शूद्राणामनधिकारादिति भावः।

यत्तु भगवता बादरायणेन सूत्रितं ब्रह्मविद्यायामनधिकारित्वम्, तत् भवन्तः कथं निवहन्ति? किं शूद्रैर्निर्विशेषज्ञानस्य दुःसम्पादत्वात्, तत्सम्पत्तिसद्भावेऽपि सा ततः तेषामविद्यानिवृत्त्यसम्भवादिति। न प्रथमः। स हि, [१] तथाविधस्य ज्ञानस्य वेदैकजन्यत्वाद्वा, [२] अवेदजन्यत्वेऽपि वेदसापेक्षत्वाद्वा, [३] वेदावेदयोः शूद्रादिषु ज्ञानजनकत्वाशक्तेर्वेति?

आद्यस्तावत् अधिगतत्वत्सिद्धान्तेन त्वया नांगीकर्तव्यः, आत्मघातुकतर्कानुगृहीतानुमानादिनाऽपि निर्विशेषत्वस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वादेश्च भवद्भिः साध्यमानत्वात्। न च निर्विशेषे श्रुतिसमधिगम्यं विशेषान्तरं सम्भवति। श्रुतेरपि भवद्भिरध्यस्ताततद्रूपनिवृत्तिमात्रपरत्ववर्णनात्। आनन्दत्वादेरपि स्वरूपानुप्रवेशनिर्णयात्। न चानुमानादिषु सर्वत्र शूद्रस्यानधिकारः शंक्यः; लोकसिद्धान्वयव्यतिरेकमूलेषु त्वदुक्तेष्वाचण्डालमधिकारात्। यत्र

च तिरश्चामप्यधिकारः, तत्र द्विपदां कः परिपन्थी / अन्यथा तेषां सर्वलौकिकव्यवहारोच्छेदप्रसंगात् । निर्विशेषं तत्त्वमित्यादिलौकिकवाक्येन च तेषां तत्त्वज्ञानं सुलभमेव । न च ततस्तेषां निवर्तकं ज्ञानं नोपलभ्यत इति वाच्यम्; त्रैवर्णिकानां वैदिकवाक्येनापि तुल्यत्वात् । श्रवणमनननिदिध्यासनजनितविकल्पवैमुख्यानां दृश्यत इति चेत्–एवं लौकिकवाक्येऽपि तान्येव सहकारीकृत्य तत्सिद्धिं पश्य । न च सामग्र्यां सत्याम्, क्वचित् ज्ञानम् क्वचिन्नेति नियन्तु शक्यम्, अनीश्वरेच्छया तन्नियमासिद्धेः । भवतु वा वेदैकमूलत्वम्, तथापि न शूद्रादेस्तत्रानधिकारः, व्युत्पन्नपदपदार्थानां तेषां ततोऽपि ज्ञानसम्भवात् । उत्पन्नेऽपि तत्त्वज्ञाने वेदश्रवणतदर्थानुसन्धानादिमूलप्रत्यवायस्य भवन्मते प्रसंगाभावात् । यदा विश्वभ्रमोन्मूलनं ज्ञानमुदेष्यति, तदा तदन्तःपातिनः कस्यचित् प्रत्यवायभ्रमस्य का वार्ता ? न चानुपनीतस्यानधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तवाक्यस्य, 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति वचनबलान्निषिद्धाचार्यलाभस्य शूद्रादेः कथं ततो ज्ञानमिति वाच्यम्, दग्धाधिकतया वेदशिरसि वर्तमानैर्भवद्भिर्वेदान्तानां तदर्थस्य च तेभ्योऽपि यथावदुपदेशसम्भवात् । न हि वो विधिनिषेधकिङ्करता । यथा ब्रूथ–, दग्धाखिलाधिकारत्वात् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः । वर्तमानः श्रुतेर्मूर्ध्नि नैव स्यात् वेदकिङ्करः ॥" इति । यद्यपि, 'त्यजधर्ममधर्मं च' इत्यादिबलात् दुर्बलबुद्धिभिर्मुमुक्षुभिस्तस्यूर्थ्यैर्निषिद्धवर्जनमनुज्ञायते, तथाऽप्यन्यैः कैश्चिदुन्मर्यादैरर्थादिलिप्सया तेभ्यस्तदुपदेशः सम्भवत्येव । न चैवमस्मन्मते प्रसङ्गः; वक्तुरिव श्रोतुरपि प्रत्यवायेन तन्मूलोपासनादेः तेष्वसम्भवात् । उपासनविधीनां च उपनयनाद्यङ्गकाध्ययनविधिभिस्स्वाध्यायसम्पन्नज्ञानत्रैवर्णिकाधिकारिलाभेन कर्मविधीनामिव तदितरेषु स्वसिद्ध्यर्थं ज्ञानान्तरकल्पनौदासीन्यात् । तत एवो बृंहणभूतेतिहासपुराणजन्यज्ञानस्यापि विधिभिरनादृतत्वात् । तच्छ्रवणानुज्ञानस्य पापक्षयादिमात्र फलत्वात् । उपास्यस्य च ब्रह्मणोऽनन्तविशेषस्यानुमानाद्यगोचरत्वात् । उपासनस्यैव वाक्यार्थज्ञानातिरिक्तस्य बन्धनिवर्तकत्वात् । बन्धस्य च सत्यत्वेनादृष्टद्वारा तन्निवृत्त्युपपत्तेरिति ।

प्रसाद—प्रश्न उठता है कि भगवान् बादरायण ने शारीरक मीमांसा के अपशूद्राधिकरण में कहा है कि शूद्रों का ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है, अद्वैती विद्वान् बादरयण के इस कथन का कैसे निर्वाह करते हैं ? क्या यह कहकर कि शूद्रों द्वारा निर्विशेष ज्ञान का सम्पादन कठिन है ? या यह कह कर कि निर्विशेषज्ञान का सम्पादन कर लेने पर भी, उस ज्ञान के द्वारा शूद्रों की अविद्या की निवृत्ति नहीं सम्भव है । इनमें यदि प्रथम पक्ष मानें तो प्रश्न है कि शूद्रों द्वारा निर्विशेषज्ञान दुःसम्पाद्य क्यों है ?

क्या इसलिए कि निर्विशेषज्ञान वेदैकजन्य है ? या इसलिए कि अवेद जन्य होने पर भी निर्विशेषज्ञान वेदसापेक्ष है ? या इसलिए कि वेद तथा वेदेतर को शूद्रों में निर्विशेष ज्ञानोत्पन्न करने की शक्ति है ही नहीं ? आप तो अपने सिद्धान्त के जानकार है । अतएव आपको प्रथम पक्ष नहीं स्वीकारना चाहिए। क्योंकि आत्मा का खण्डन करने वाले तर्कों से सहकृत अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाणो के द्वारा भी आप निर्विशेषत्व की सिद्धि तथा प्रपञ्च मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं ; अतएव निर्विशेष ज्ञान को वेदैक जन्य नहीं माना जा सकता है । यह भी नहीं कह सकते हैं कि निर्विशेषज्ञान में भी वही ज्ञान मोक्षप्रद होता है, जो श्रौत विशेषताओं से विशिष्ट हो, क्योंकि आप तो मानते हैं कि श्रुति भी अध्यस्त तथा निर्विशेषज्ञान निवर्त्य है । आपके मत में आनन्द भी स्वरूपानुप्रविष्ट है । अनुमान और प्रत्यक्ष में भी शूद्रका अधिकार नहीं माना जा सकता है । आप जिन बातों का प्रतिपादन करते हैं, वे यदि लोक सिद्ध हैं तो फिर उन अर्थों में सबों का अधिकार होगा । जिन विषयों में तिर्यग्योनि के जीवों का भी अधिकार है उन विषयों में मनुष्यों के अधिकार को कौन रोक सकता है ? उन अनुमानादिगम्य विषयों का सार्वलौकिक व्यवहार ही समाप्त हो जायेगा । निर्विशेष ही तत्व है, इस लौकिक वाक्य से भी उनको निर्विशेषज्ञ न सुलभ है । यदि कहेंकि लौकिक वाक्यों से शूद्रों को निवर्तक ज्ञान नहीं होता है, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि त्रिवर्गों को वैदिक वाक्य द्वारा भी निवर्तक ज्ञान नही उत्पन्न होते नहीं देखा गया है । यदि कहें कि श्रवण, मनन एवम् निदिध्यासन जन्य विकल्पों से पराङ्मुख त्रैवर्णिकों को भी वैदिक वाक्यों से निवर्तक ज्ञान नही उत्पन्न होता है; यह देखा जाता है । तो फिर श्रवण, मनन, निदिध्यासन सहकृत लौकिक वाक्यों से भी निवर्तक ज्ञानों की उत्पत्ति माननी चाहिए । सामग्री के रहने पर किसी को ज्ञान हो तथा किसी को न हो ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है । क्योंकि इस तरह का कादाचित्क एवम् क्वाचित्क का नियम तो कोई ईश्वर ही कर सकता है । श्रवण, मनन, एवम् निदिध्यासन ही सामग्री है । निर्विशेषज्ञान के वेदैक मूल होने पर भी उसमे आप शूद्रों का अनधिकार नहीं कह सकते हैं, क्योंकि पदों एवम् पदार्थों का जानने वाले शूद्रों को भी वेद वाक्यों से ज्ञान हो सकता है । आपके मतानुसार यह तो कहा नहीं जा सकता है कि तत्वज्ञान हो जाने पर शूद्रों को वेद श्रवण तथा वेदार्थानुसन्धान जन्य विघ्न हो जाने के कारण उनको निवर्तकज्ञान नही होता है । क्योंकि जब विश्वभ्रम का विनाशक निर्विशेषज्ञान उत्पन्न हो जायेगा तो फिर विश्वभ्रमान्तर्गत प्रत्यवायभ्रम कैसे बच सकता है ? आप यह भी नही कह सकते है कि; अनुपनीत, अनधीतवेद; अश्रुत वेदान्त वाक्य शूद्रों को 'शूद्र को तत्वोपदेश न करे' इस नियमानुसार आचार्य लाभ ही सम्भव नही है, अतएव उनको कैसे वेदवाक्यों से तत्वज्ञान हो पायेगा, क्योंकि आप तो दग्धाधिकार पुरुष है , आप वेदों के शिर पर हैं, अतएव आप वेदान्तों तथा उनके अर्थों का शूद्रों को भी यथावत् उपदेश कर सकते हैं । आप (अद्वैती विद्वान्) वेदों के विधि निषेध वाक्यों के परतन्त्र नही हैं । जैसा कि आप लोग कहते हैं–दग्धाखिलाधिकारत्वात्० इत्यादि । अर्थात् ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा सभी कर्मोंके अधिकारों के दग्ध हो जाने के कारण, श्रुति से ऊपर उठा हुआ मुनि (ब्रह्मनिष्ठ) वेदों के परतन्त्र हो ही नही सकता है ।

यद्यपि 'धर्म एवम् अधर्म दोनों का त्याग करो' इत्यादि वाक्यों के अनुसार कमजोर बुद्धि वाले आपके साथी निषिद्ध का त्याग मानते; फिर भी कुछ मर्यादा का उल्लघन करने वालों द्वारा धनादि के लोभ में शूद्रों को तत्वोपदेश सम्भव ही है । इस प्रकार की बात विशिष्टाद्वैत मत मे नही है । क्योंकि हमारे मत में वक्ता की तरह श्रोता का भी प्रत्यवाय सम्भव होने से श्रोता शूद्रादि वेदमूलक उपासना नहीं कर सकते । किञ्च हम मानते है कि उपासन विधियो में भी उपनयन आदि के अङ्गभूत

वेदाध्ययन विधि वाक्यों से सिद्ध स्वाध्याय जन्य ज्ञानवान त्रैवर्णिक अधिकार ही का ही अधिकार है; कर्म विधि वाक्यों के ही समान उनसे भिन्न विधियों के विषय में कर्मविधि की सिद्धि के लिए आक्षेप किया जाता है। उनसे भिन्न ज्ञानान्तर की कल्पना हम स्वतन्त्ररूप से नही करते हैं। इसीलिए वेदार्थोपबृंहण भूत इतिहास पुरादिज्ञान विषयक विधि वाक्यों द्वारा शूद्रा का अनादर सुने जाने के कारण इतिहासपुराणों में भी शूद्रों का अधिकार नही माना जाता है। यह जो कहा गया कि ब्राह्मणों को आगे करके सभी वर्णों को इतिहास पुराण आदि सुनाए उसका तात्पर्य है कि उस प्रकार से श्रवण करने से शूद्रादिकों का पाप क्षय होता है। उपास्य ब्रह्म की अनन्त विशेषताएँ अनुमान इत्यादि का विषय नहीं हो सकती है। किञ्च वाक्यार्थज्ञान से भिन्न ब्रह्मोपासना को ही बन्ध का निवर्तक बतलाया गया है। वह बन्ध भी सत्य है अतएव उसकी निवृत्ति हम अदृष्ट द्वारा मानते हैं।

अवेदेति। वेदाकरणकत्वेपीत्यर्थः। अनुमानादिनेति। आदिशब्देन प्रत्यक्षम् विवक्षितम्। तस्य तर्कसहकृतस्य सन्मात्रे प्रामाण्याभिधानात्। ननु निर्विशेषज्ञानमात्रं सुसम्पादमस्तु तथापि निर्विशेषस्य आकारविशेषेण ज्ञानं मोक्षहेतुः; स चाकारः श्रुत्येकसमधिगम्य इत्यत्राह न चेति। श्रुत्या विशेष प्रतिपत्तिश्च न त्वयाभ्युपगता, स्वरूपाभिन्नानृतादिव्यावृत्तिपरत्ववर्णनादित्याह-श्रुतेरपीति। स्वरूपेति। एतेन ब्रह्मणो निर्धर्मकसदात्मस्वरूपमागमं विना न केनचित् निश्चेतुं शक्यमिति नवीनोक्तम् प्रत्युक्तम्, निश्चितस्वरूपानतिरेकात्। ननु माभून्निर्विशेषज्ञानं वेदैकजन्यम्, अथापि शूद्रैस्तद्दुस्सम्पादम्, अनुमाने प्यनधिकारादित्याशङ्क्याह नचेति। ननु शूद्रादीनां लोकतः सविशेषस्यैव ग्रहान्निर्विशेषव्याप्तिग्रहाभावाद्वस्तुमात्रे सविशेषत्वभ्रमादेव व्यतिरेकिणाप्यनुदयान्नानुमानमित्यत आह निर्विशेषत्वं स्वमितीति। नन्वद्वैततत्वसाक्षात्कारो हि भ्रमविरोधी; सचेदानीं शूद्रादीनां ततो न जायते, वाक्यश्रवणेप्यविद्यानिवृत्त्यदर्शनादित्य आह न च तत इति। तुल्यत्वादिति। ज्ञानानुत्पादस्येति शेषः। श्रवणेति। श्रवणादिनिरस्तभेदवासनानामित्यर्थः। ननु "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य" इति श्रुतिवाक्यैरेव श्रवणनियमात् सामग्र्यभावादेव ज्ञानानुत्पाद इत्यत आह भवतुवेति। वेदेऽनधिकारः किं शूद्रादीनां ततो ज्ञानस्यैवानुत्पत्तेः? प्रत्यवाययोगाद्वा? नाद्य इत्याह व्युत्पन्नेति। द्वितीय आह उत्पन्न इति। अतो न प्रत्यवायेन मोक्षप्रतिबन्ध इति भावः। तदेवोपपादयति यदेति। किञ्च प्रत्यवायस्य प्रायश्चित्तेन नाशे मोक्षः कुतो न स्यादित्यपि विवक्षितम्। ननु निषेधोल्लंघनेन लोभादिना उपदेशसम्भवात् श्रोतुश्च प्रायश्चित्तेन प्रत्यवायपरिहारसम्भवात् त्वन्मतेपि शूद्रस्य मोक्षः स्यात्, लौकिकवाक्यैरनुमानैर्वा तज्ज्ञानसम्भवाच्चेत्यत्राह उपासनेति। पूर्वकाण्डे ह्यपशूद्राधिकरणे क्रतुविधयो ह्यन्यथानुपपत्त्या विद्यार्जनमाक्षिपन्ति, यदा तु स्वाध्यायविधिविहिताध्ययनोपात्तविद्यान् द्विजन्मनो लभन्ते, तदा तैरेव लब्धात्मानोनुपपत्तिक्षयात् न चतुर्थस्य विद्यामाक्षिपन्तीति शूद्रस्यानधिकारो निर्णीतः; तेनैव न्यायेन इहापि तादृशाधिकारलाभात् न शूद्रस्य स्वच्छन्दार्जितज्ञानस्याप्यधिकार इति न तत्कृतोपासनस्य मोक्षसाधनत्वमित्यर्थः। ननु यदीतिहासादिजन्यज्ञानं विधिभिरनादृतम् तर्हि "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत" इति श्रवणानुज्ञानं किमर्थमित्यत्राह तच्छ्रवणेति अनुमानात् ज्ञानासम्भवे हेत्वन्तरमप्याह उपास्यस्येति।

ननु अद्वैतिमते मोक्षसाधनीभूतज्ञानोद्देशेन श्रवणादिविधानात्तेषां च त्वदुक्तन्यायेन त्रैवर्णिकाधिकारकत्वात् शूद्रस्य श्रवणाद्यभावान्मोक्षसाधनं ज्ञानमेव नास्तीति चेत्; उच्यते, त्वन्मते मनननिदिध्यासनाङ्गकश्रवणविधेर्नियमविधित्वाङ्गीकारात् तस्य त्रैवर्णिकाधिकारित्वेपि मुमुक्षुशूद्रस्य विध्यतिलविगुरुमुखाधीताद्वेदान्ताद्वा तदर्थप्रतिपादकभावादिभिर्वा जायमानम् ज्ञानं ततो मोक्षश्च केन वार्यते? न हि प्रतिग्रहादिना ब्राह्मणो धनमार्जयेदिति ब्राह्मणविषयको नियमः साधनान्तरेण धनार्जनमन्येषां निरुणद्धि।

ननु यद्यप्युक्तरीत्या शूद्रस्य अद्वैतविद्या सम्भाव्यते, तथापि सा न बन्धमोचनाय प्रभवति; यतः-'श्रवणादिक्रमोन्निद्रवाक्यजा धीर्विमोचिका'; श्रवणं च वेदान्तवाक्यानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणम्; तच्च शूद्रस्य नेति न तस्य तादृशी विद्योत्पद्यत इति चेत्;-न तावन्नियमविधिबलाच्छ्रवणाभावः, तत्र तस्यासामर्थ्यात्, नापि श्रुतिनिषेधात्, प्रायश्चित्तेन तान्निष्कृतेः, तदुपदेष्टृसम्भवश्च ग्रन्थ एवोक्तः।

किञ्च काचैषा तादृशी विद्या? किमपरोक्षरूपा? किं वा अपरोक्षावधारणात्मिका? यद्वा अप्रतिबद्धापरोक्षवेषा? आद्या तावदपरोक्षविषयस्वाभाव्याद्वाक्येन प्रसूयत एव। त्वन्मते द्वितीयामपि त्वत्कुमतिकल्पितदुराग्रहाश्लिष्टा वा काचित् सामग्री सुखं प्रसूयते। न हि न्यायोपबृंहितेनाप्यनवधारणमेव जायत इत्यनुन्मत्तः कोऽपि ब्रूयात्। तृतीयापि अधिष्ठानयाथात्म्यविषयो विपरीतवासनां बन्धानुवृत्तिप्रतिबन्धकतयाविद्याभिमतामपि निवर्तयेदेवेति न केनापि प्रतिबन्धसम्भावनामर्हति।

ननु विद्या हि साक्षादविद्याविरोधिनी न तत्कार्यं प्रतीति भेदवासनया कथम् न प्रतिबन्धार्हा? नैवम्, शुक्तिसाक्षात्कारात् शुक्त्यज्ञाननिवृत्तौ रजतवासनायाः प्रतिबन्धकत्वादर्शनात्, किञ्च चरमसाक्षात्कारः किं भेदवासनायां सत्यामेवोत्पद्यते? उत निवृत्तायां? नाद्य, चरमवृत्तेरप्यध्यस्तत्वेन भेदवासनाजन्यत्वात्। नान्त्यः, तथासति प्रागेव प्रतिबन्धात् तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः। न च निदिध्यासनेन भेदवासनानिवृत्तिकाल एव चरमसाक्षात्कारोत्पत्तिः, भेदवासना च विनश्यदवस्थासाक्षात्कारहेतुरिति वाच्यम्,-अद्वैतवाक्यप्रतिसन्धानपदार्थस्मरणादिसामग्रीविलम्बेन साक्षात्कारस्य निदिध्यासनस्यवधानात्। अतस्त्वदभिलक्षिताः तिस्रोऽपि विद्याः शूद्रादीनभिसरन्त्यो न केनापि वारयितुं शक्याः।

एतेन द्वितीयोऽपि पक्षो निरस्तः; वेदसापेक्षत्वेऽपि तेषां तदधिगमोपायस्योक्तत्वात्। कथं वा अनुमानादेर्वेदसापेक्षता? न तावत् तदङ्गतया तर्कादिवत्, क्वाश्चिदपि तयाऽनभ्युपगमात्। नापि कारणतया; वेदस्यैव व्युत्पत्त्यादावनुमानादिसापेक्षत्वेन वैपरीत्यात्! नापि नैसर्गिकलोकव्यवहारमूलतया तत्त्वबुभुत्साशून्यानां तद्भ्रान्तत्वसमर्पणमूलतत्त्वबुभुत्सोत्पादनद्वारेण, सांख्यसौगतादिभिः प्रत्यक्षादिवृत्तपरीक्षाप्रवृत्तैस्तदुत्पत्त्युपपत्तेः।

उत्पन्नायां च तस्यां भवदभिमतप्रत्यक्षानुमानादिभिर्निर्विशेषज्ञानसम्पादनोपपत्तेः। तिष्ठन्तु सांख्यादयः, त्वदभिमततत्त्ववित्संप्रदायागतलौकिकवाक्यादपि तद्‌बुभुत्सा जायत एव। पश्यामश्चैतदद्यतनेषु। न च वेदानुवचनस्य विविदिषासाधनत्वश्रुत्या तत्सापेक्षता; यज्ञादेरिव जन्मान्तरानुष्ठितस्यापि तस्यादृष्टद्वारा तद्धेतुत्वोपपत्तेः।

प्रसाद—उपर्युक्त विवेचन से ही 'अवेद जन्य होने पर भी निवर्तक ज्ञान वेद सापेक्ष है।' यह द्वितीय पक्ष निरस्त हो गया, क्योंकि वेद सापेक्ष होने पर भी उसके द्वारा उस निर्विशेषज्ञान की प्राप्ति के साधनों का हमने निर्देश किया है। किञ्च अनुमान आदि को आप वेद सापेक्ष कैसे कह सकते हैं? अनुमान को तर्क आदि के ही समान कोई वेदों का अङ्ग नहीं मानता है। वेद को अनुमानादि का कारण का भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि देखा जाता है कि वेदादि ज्ञान में अनुमानादि ही कारण हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि नैसर्गिक व्यवहार का मूल होने के कारण तत्त्वबुभुत्सा शून्यों के तत्त्वभ्रान्ति बोधक तत्त्वों की बुभुत्सा को उत्पन्नकर तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करता है, यह प्रत्यक्षादि वृतों की परीक्षा करने वाले सांख्य तथा बौद्ध आदि मानते हैं। उस तत्त्वज्ञान के हो जाने पर आप के अभिमत प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि के द्वारा निर्विशेषज्ञान का सम्पादन सम्भव है। छोड़िये सांख्यादिकों को आपके अभिमत तत्त्ववेत्ताओं के सम्प्रदाय से प्राप्त लौकिक वाक्यों से भी तत्त्व बुभुत्सा उत्पन्न ही होती है। आधुनिक लोगों में यह देखा भी जाता है। यह भी नहीं कह सकते है कि-वेदानुवचन को विविदिषा का साधन श्रुति बतलाती है; अतएव लौकिक वाक्य वेद सापेक्ष हैं, जिस तरह आप मानते है कि जन्मान्तरानुष्ठित यज्ञादि के द्वारा निष्कल्मष अन्तःकरण में विविदिषा उत्पन्न होती है, उसी तरह जन्मान्तरानुष्ठित वेदानुवचनजन्य अदृष्ट संस्कृत अन्तकरण में लौकिक वाक्यों से विविदिषा होती है।

उक्तत्वादिति। भवतु वा वेदैकमूलत्वमित्यादिनेत्यर्थः। वेदस्यैवेति। शक्ततया ज्ञातपदस्य वाक्यार्थज्ञाने करणत्वादिति भावः। तत्त्वबुभुत्सायां ह्यनुमानादौ प्रवृत्तिः, सा चानादिसिद्धलौकिकव्यवहारजनितभेदसत्यत्वभ्रमस्य पुरुषस्य लोकव्यवहारस्य भ्रान्तत्वबोधनात् भवतीति भेदमिथ्यात्वं बोधयद्वेदस्तत्त्व बुभुत्सां जनयति, अतो वेदसापेक्षमनुमानादीत्याशंक्य निराकरोति नापीति। द्वारेणेत्यनन्तर वेदस्योपयोग इति शेषः। सांख्येति। सांख्यसौगतादीनां प्रत्यक्षादिषु परमार्थविषयत्वापरमार्थविषयत्वविप्रतिपत्तेः संशयात् बुभुत्सा भवतीति न वेदस्योपयोग इत्यर्थः। तस्यां-बुभुत्सायां। यज्ञादेरिवेति। यथा त्रैवर्णिकस्य वेदानुवचने सति बुभुत्सोत्पत्तिर्विविदिषासाधनत्वेन श्रुतजन्मान्तरानुष्ठितयज्ञादिभिरेवादृष्टद्वारेत्युच्यते तथा शूद्रस्यापि जन्मान्तरीयवेदानुवचनात् बुभुत्सा सुवचेत्यर्थः। अतएवेति। दुर्ज्ञानजनकत्वम हि वेदनसाधनत्वं यज्ञादीनामाश्रित्य शूद्रे तद्विरहाद्वाच्यम्, न च तत् सम्भवति, जन्मान्तरीययज्ञादीनामपि अदृष्टद्वारा विविदिषायामियोपयोगादित्यर्थः।

अतएव न तृतीयः; व्युत्पत्त्यन्वयव्यतिरेकादिशालिषु त्रैवर्णिकेषु शूद्रादिषु च प्रमाणानां पक्षपातविरहात्॥ भवतु वा शूद्रादीनां यतःकुतश्चित् तत्त्वज्ञानम्, त्रैवर्णि-

कानां तु वेदत एवेति नियमार्थमधिकरणमिति चेन्न; नियामकाभावात् ॥ अधीतवेदत्वमेव नियामकमिति चेत्; त्यज तर्हि अध्ययनक्लेशम् , शूद्रादिवत् लघीयसवोपायेन तत्प्रयोजनसिद्धेः । अतएव चान्ततो वेदान्तोच्छेदः प्रसज्येत । न चाधीतवेदैरन्यतस्तदर्थो ज्ञातुं न शक्यः [जातमपि वा ज्ञानं न कार्यक्षममिति । नाद्यः ?] तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वाभावात् । नापि तेऽन्यतो न जानीयुरिति निषेधः । न च निषेधोल्लंघनेऽपि वः प्रत्यवाय इत्युक्तम् । नापि द्वितीयः; अन्यूनातिरिक्तविषयत्वे कस्यचिद्बाधकत्वं कस्यचिन्नेति नियामकाभावात् । न चादृष्टद्वारा वैषम्यम्; भवद्भिस्तथाऽनभ्युपगमात् । न च बाधे तत्त्वज्ञानातिरिक्तमपेक्ष्यते । नापि बाधातिरिक्ता निवृत्तिरिष्यते, यत्रादृष्टादिसापेक्षता स्यात् । अतएव हि ध्याननियोगवादिनोऽपि भवद्भिर्दूरीकृताः । न च प्रत्यक्षानुमानपुंवाक्यानां बाधकत्वमेव नास्ति, रज्जुसर्पादिभ्रमानुच्छेदप्रसङ्गात् । न च, तानि ब्राह्मणादेरेव रज्जुसर्पादिभ्रमबाधकानि, न पुनः शूद्रादेरिति नियमं पश्यामः । न च विश्वबाधकैस्तदन्यबाधकैरपि न दृश्यत इति वाच्यम्, वैदिकवाक्येष्वपि तथा प्रदर्शितत्वात् ॥ भवत्वेवं तत्त्वज्ञानतत्फलयोः सम्भवाच्छूद्राणामपि ब्रह्मविद्याधिकारः, तस्य मिथ्यात्वमात्रेण त्वनधिकारवाचोयुक्तिरिति चेत्—हन्तैवं त्रैवर्णिकानामप्यसौ मिथ्येति किं विशिष्याभिधीयत इति । तदेतत् सर्वं तत्रैवाधिकरणे प्रपञ्चितम् । शास्त्रोपक्रमेऽपि सन्मात्रस्य ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगोचरत्वे तद्विषयस्यागमस्यानुवादत्वं प्रसञ्जयता सूचितम् ।

॥ इति शतदूषण्यां अपशूद्राधिकरणविरोधवादः द्विषष्टितमः ॥६२॥



प्रवादः—अतएव वेद तथा वेदव्यतिरिक्त वाक्य भी शूद्रादि में निर्विशेषज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है, यह तीसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि प्रमाण व्युत्पन्न त्रैवर्णिकों तथा शूद्रों में समान रूप से ज्ञान उत्पन्न करते हैं । इनका किसी के प्रति कोई भी पक्षपात नहीं है । किञ्च शूद्रों को किसी भी प्रकार तत्त्वज्ञान होए किन्तु त्रैवर्णिकों को तो वेद द्वारा हीं तत्त्व ज्ञान होता है, इस नियम को बतलाता है अपशूद्राधिकरण । तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस तरह का कोई भी नियामक नहीं है । यदि कहें कि त्रैवर्णिकों का अधीतवेद होना ही इस अर्थ का नियामक है, तो मैं कहता हूं कि तो फिर आप लोगों को अध्ययन रूपी विपति को त्याग देना चाहिए । क्योंकि अधीतवेद नहीं होने पर लोगों को भी बड़ी आसानी से ही शूद्रों के ही समान वेदाध्ययन के प्रयोजन रूप तत्त्वज्ञान

की प्राप्ति हो जायेगी । इस तरह आपका सिद्धान्त अन्त में वेदान्त के विनाश में ही परिणत हो जायेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वेदाध्ययन करने वाले दूसरे प्रकार से तत्त्व ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकते हैं और न तो उत्पन्न ज्ञान प्रपञ्च का निवर्तक हीं हो सकता । क्योंकि प्रथम पक्ष के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वेदाध्ययन , अन्यत:तत्त्वज्ञान प्राप्ति का प्रति बन्धक नहीं है । अधीतवेद पुरुष दूसरे साधन से तत्त्वज्ञान न प्राप्त करें ऐसा कोई निषेध वाक्य भी नहीं है । किञ्च निषेध का उल्लांघन करने पर भी आप लोगों का कोई अनिष्ट नहीं होना है, यह मैं पहले कह चुका हूँ । दूसरा पक्ष भी इसलिए अनुपपन्न है कि—समान विषयकत्व रहने पर किसी को बाधक तथा किसी को अबाधक नहीं कहा जा सकता है । अतएव तर्कादि के माध्यम से भी उत्पन्न ज्ञान प्रपञ्च का बाधक होगा ही । अदृष्ट के द्वारा भी वेदान्त जन्य तथा अनुमानादि जन्य तत्त्वज्ञानों में कोई वैषम्य नहीं सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि आप इस तरह की बात स्वीकारते नहीं । प्रपञ्च के बाध के लिए तत्त्वज्ञान व्यतिरिक्त वस्तु की कोई अपेक्षा भी नहीं होती है । निवृत्ति के लिए तो आप को बाधमात्र अपेक्षित है ; अतएव उसके लिए अदृष्टादि की कोई अपेक्षा नहीं होती । अतएव आप लोगों (अद्वैतियों) को ध्यान नियोग—वादियों की भी बात मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । आप यह भी नहीं कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष अनुमान तथा पौरुषेय वाक्य जन्य ज्ञान बाधक नहीं होते, रज्जुसर्पस्थल में रस्सी का साक्षात्कार करके, ही सर्पभ्रम बाधित हो जाता है । ज्वालाभेदानुमान द्वारा ज्वालैक्य भ्रम का बाध होता है , आप्त पुरुष का यह सांप नहीं रस्सी है; यह वाक्य सुनकर भी सर्पभ्रम की निवृत्ति होती है । यह भी कोई नियम नहीं है कि उयुंपक्त प्रत्यक्ष, अनुमान तथा पौरुषेय वाक्य ब्राह्मणादिकों के ही भ्रमादि के निवर्तक हो , अपितु इनसे शूद्रादिकों को भी होने वाले भ्रम निवर्तित होते हैं । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि निर्विशेषानुमान आदि के द्वारा शूद्रादिकों को विश्वबाध नहीं होता है , तथा उस अनुमान के पश्चात् भी उनको भ्रम बना ही रहता है, क्योंकि त्रैवर्णिक को भी वैदिक ज्ञान हो जाने पर भी यह भ्रम देखा जाता है ।

यदि कहें कि इस तरह से शूद्रों को भी तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वज्ञान जन्य प्रपञ्च की निवृत्ति सम्भव होने पर उनका भी ब्रह्मविद्या में अधिकार सिद्ध हो जाने पर भी, यह अधिकार भी मिथ्या है, अतएव वह अधिकार भी अनाधिकार के रूप में परिणत हो जाता है । तो इसका उत्तर है कि त्रैवर्णिकों का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार आपके सिद्धान्त में मिथ्या ही है । अतएव दोनों में क्या अन्तर हुआ ? इन सारी बातों की विस्तार से चर्चा अपशूद्राधिकरण के श्रीभाष्य में की गयी है। जिज्ञासाधिकरण में भी सन्मात्र ब्रह्म को प्रमाणान्तर का विषय मानने पर, ब्रह्म विषयक वेदान्त वाक्यों को प्रत्यक्षादि का अनुवादक मात्र मानना पड़ेगा; इस बात को बतलाकर श्रीभाष्यकार ने इन सारी बातों को सूचित कर दिया है ।

इस तरह शतदूषणी के बासठवें अपशूद्राधिकरणविरोधवाद का प्रसाद समाप्त हुआ ॥



ननु स्वभावादेव शूद्रे दुर्ज्ञानजनकत्वम् न सहकारिविरहादित्यत्राह व्युत्पत्तीति। अनुभवविरोधादिति भावः। अद्वैतप्रमाणानां तादृशसम्भवकल्पना च कल्पकाभावादेव निरस्ता नियामकाभावादिति। त्रैवर्णिकानां वेदत एवेति नियमे हेत्वभावान्न तत्परमधिकरणमित्यर्थः। सूत्राक्षरानानुगुण्यं च विवक्षितम्। अधीतवेदत्वमिति। अधीतस्य वेदस्य तत्प्रयोजनत्वार्थं तत एव ज्ञानस्य वाच्यत्वादित्यर्थः। त्यजेति। कृते ह्यध्ययने तस्य सप्रयोजनत्वाय अन्यतो ज्ञानम् न भवेत्; अध्ययनाभावे तु ज्ञानस्य अन्यतः सम्भवाल्लाघवचार्थमध्ययनमेवत्वया त्याज्यमितिभावः त्वयेव लाघवादन्येनापि वेदान्तानध्ययने वेदान्तस्वरूपमेवाच्छिद्यतेत्याह अत एवेति। किञ्च अधीतवेदान्तानां अन्यतो ज्ञानाभावोऽध्ययनप्रतिबद्धत्वाद्वा? उपायान्तरस्य साम्प्रत निषिद्धत्वेन सत्यप्रवृत्तेर्षा नाद्य इत्याह नचाधीतेति। द्वितीये नापीति। नचेति। यदि ज्ञानार्थमुपायान्तर-प्रवृत्तिर्दुरितहेतुः यदि च तज्जन्यं ज्ञानं दुरितहेतुः, उभयत्रापि विश्वभ्रमनिवर्तकज्ञानेन प्रत्यवाय-स्यापि निवृत्तिर्भवतीति "यदाधिश्वभ्रमोन्मूलन" मित्यादिवाक्ये उक्तमित्यर्थः। यथा भवतां शूद्रा यनुष्ठितोपासनं त्रैवर्णिकोपासनान्यूनानतिरिक्तविषयमपि न बन्धनिवर्तकं तथास्माकमपीत्यत्राह नचादृष्टेति। अदृष्टापेक्षा न सम्भवति चेत्याह नचेति। शुक्त्यादिज्ञानस्यानपेक्षस्यैव रजतादि-निवर्तकत्वादिति भावः। यदि तु बाधातिरिक्ता निवृत्तिरिष्यते, तदा मन्त्रादेरदृष्टसापेक्षत्ववत् अत्रापि सापेक्षत्वं स्यादपि, न चैवम्, बाधस्यैव निवृत्तित्वादित्याह नापीति। अस्तु वा क्वचि-ददृष्टद्वारत्वम्; तदपि वैदिकज्ञानस्यैव, नत्वन्यस्यापि प्रत्यक्षादेः, प्रत्यक्षादिकं च न भ्रमनिवर्त-कम्, अन्यथाऽनुभवविरोधात्, तच्च शूद्रस्यापि निवर्तकं, नियामकाभावात्, अतो निर्विशेषा-नुमानादिना शूद्रस्यापि अविद्यानिवृत्तिः स्यात, न च निर्विशेषानुमानादिः शूद्रस्य न विश्वबा-धकः, अनन्तरमपि भ्रमोपलम्भादिति वाच्यम्—त्रैवर्णिकस्य वैदिकज्ञानेऽपि तुल्यत्वादित्याह तच्चेत्यादिना। शास्त्रोपक्रमेपीति। प्रथमसूत्रे प्रत्यक्षस्य सन्मात्रग्राहित्वेन वेदान्तानामनुवादत्वम् प्रसञ्जयता पूर्वं समानविषयज्ञानान्तरस्य सत्वात्तस्य च शूद्रादावप्यविशेषात्, शूद्रस्यापि ब्रह्मवि-द्याधिकारादपशूद्रनयविरोधः सूचित इत्यर्थः।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषणीव्याख्यायां चण्ड मारुताख्यायां अपशूद्राधिकरणविरोध नाम द्विषष्टितमः स्कन्धः ॥६२॥



॥ अथ अधिकारिविवेकवादः त्रिषष्ठितमः ॥६३॥

कर्मज्ञानादिनिष्ठासु कर्तृत्वं योगिनां यतः।
स सर्वकर्ता स्वमतं नित्यं कारयिताऽस्तु नः॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वान् अपने को दग्धकर्माधिकार मानकर नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानों का त्याग कर देते हैं। किन्तु उनका यह कार्य अशास्त्रीय है, इस बात को सूचित करते हुए श्रीमद् वेदान्त देशिक कहते हैं कि योगिजन भी नित्य नैमित्तिकादिकर्मो; ज्ञानों तथा भक्ति का अनुष्ठान करते हैं। इन सबों के भीतर भी प्रेरक श्रीभगवान् ही हैं, अतएव वे अपने अभिमत शास्त्रीय कर्मों में हम मुमुक्षु जीवों को प्रवृत्त करें।

कर्मज्ञानादिति। अत्र स्वमतं नित्यं कारयितास्तु न इत्यनेन—

"ये मे मतमिदम् नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्वषैः॥"

इति गीतावचनम् स्मारितम्। न इत्यनेन ज्ञानिनामुपलक्षणात् ज्ञानिनामधिकारसूच नाद्वादार्थसंग्रहः। अनेन च—

"येत्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥"

इति तदनन्तरभगवद्वचननिन्दितत्वम् कर्मत्यागिनां सूचितम्। दीर्घकालनैरन्तर्य दरसेवितत्वं कर्मयोगस्य विशेषणम्।

अपशूद्राधिकरणप्रसङ्गात्, उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य कर्मयोगानधिकारो भगवद्गीतादीन् व्याचक्षाणैः परैः जल्पितः प्रतिक्षिप्यते। तत्र तावत् सम्यगात्मदर्शनेन निरस्यमिथ्याज्ञानस्य प्रव्रज्यां प्रविष्टस्यापि सांख्यसंज्ञस्य तदुक्ताधिकारिणः, 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' इत्यादिभिः लौकिकवैदिक समस्तकर्मसंन्यासो नास्तीति त्वदुक्तवाक्यैरपि सुव्यक्तम्। अथापि ब्रूमः—उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य कर्मयोगेऽनधिकारः (१) किं तस्य कर्मयोगवेदनाभावात्, (२) तत्संभवेऽपि सामग्र्यसंभवात्, (३) तत्संभवेऽपि वा तस्य निष्फलत्वात्, (४) उत तत्सफलत्वेऽपि तत्फलनैरपेक्ष्यात्, (५) तत्सापेक्षत्वेऽपि वा अन्यतस्तत्सिद्धेः, (६) अन्यस्माद्वा कुतश्चिदिति।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने अपशूद्राधिकार में प्रसङ्गवशात् भगवद् गीता आदि के वाक्यों की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसका कर्मयोग में अधिकार नहीं रह जाता है। उनके इसी कथन का खण्डन इस वाद में किया जा रहा है। यहाँ पर सर्वप्रथम मेरा कहना है कि अद्वैती विद्वानों के ही वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे सम्यक् रूप से आत्म-दर्शन हो गया है, तथा सारा मिथ्या ज्ञान विनष्ट हो गया है, वह सन्यासाश्रम में प्रवेश कर जाता है। इस अधिकारी को अद्वैती विद्वान् सांख्य अधिकारी कहते हैं। उन अधिकारियों के भी 'शारीरं केवलम् कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' इस वाक्य के आलोक में सभी लौकिक वैदिक कर्मों का त्याग नहीं होता है। फिर भी मैं पूछता हूँ कि—जिसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया है उसको कर्मयोग का ज्ञान नहीं होने के कारण उसमें अनधिकार है क्या? या कर्मयोग का ज्ञान होने पर भी उस अधिकारी के लिए कर्मयोग

निष्फल है, अतएव उसका कर्मयोग में अधिकार नहीं है ? या उसके सफल होने पर भी ज्ञानी को कर्मयोग के फलों की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए उसका कर्मयोग में अधिकार नहीं है ? या उसकी अपेक्षा होने पर भी दूसरे माध्यम से उस फल की प्राप्ति हो जाने के कारण उसका कर्मयोगमें अधिकार नहीं है ? या अन्य किसी कारण वश उसका कर्मयोग में अधिकार नहीं है ?

न प्रथमः, दीर्घकालनैरन्तर्याऽऽदरसेवितकर्मयोगलब्धज्ञानस्य प्रबलसन्निपाताद्यभावे झटिति तत्प्रमोषासंभवात् ॥ तीव्रतरात्मानुभवसुखसन्दोहेन स्यादिति चेन्न, निषिद्धपरिहारसंस्कारस्याप्युच्छेदप्रसंगेन त्वदुक्तधर्माधर्मत्यागसमुच्चयविरोधप्रसङ्गात् ॥ शास्त्रिकसंस्कारप्रध्वंसेऽपि स्वात्मानुभवानन्दमग्नतया निषिद्धेषु न कटाक्षोऽपि विक्षिप्यत इति चेत्–हन्तैवं तर्हि शारीरकर्मस्वपि न विक्षिप्येत, न चैवमिच्छसि। यस्तु तथाविधात्मानुभवेन शारीरस्यापि कर्मणः प्रस्मरति, न तस्य वयमपि सुषुप्तस्येव तदानीं कर्मानुष्ठानं ब्रूमः। न चासौ यावच्छरीरं तथाऽवतिष्ठत इति दृष्टं श्रुतमिष्टं वा।

प्रसाद—उपर्युक्त विकल्पों से प्रथम पक्ष को इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि सुदीर्घ काल पर्यन्त आदरपूर्वक कर्म योग का सेवन करने के पश्चात् ही ज्ञान योग की उत्पत्ति होती है; ऐसी स्थिति में अनुभूत वस्तुओं के संस्कार के प्रबल प्रमोषक सन्निपात आदि के अभाव में केवल ज्ञानयोग की उत्पत्ति होने से कर्मयोग का ज्ञान समाप्त हो जाय, यह सम्भव नहीं है। यदि कहें कि तत्त्वज्ञानी को तीव्रतर आत्मानन्द की प्राप्ति हो जाने के कारण कर्मज्ञान के संस्कार प्रमृष्ट हो जाते है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसके द्वारा फिर निषिद्ध कर्मों के त्याग का भी संस्कार समाप्त हो जाने के कारण आपके अभिप्रेत धर्म एवम् अधर्म दोनों के त्याग के समुच्चय का विरोध होगा। यदि कहें कि शास्त्रीय संस्कारों के विनष्ट हो जाने पर भी ज्ञानी चूँकि आत्मानन्द में मग्न रहता है; अतएव उसका निषिद्धकर्मों की ओर ध्यान भी नहीं जाता, तो फिर आप उसी प्रकार यह स्वीकार करें कि आत्मज्ञ को शारीरिक कर्मों की ओर भी ध्यान नहीं जाता है। किन्तु आप ऐसा नहीं स्वीकारते हैं। जो आत्मज्ञ पुरुष, उपर्युक्त प्रकार से आत्मानुभव के द्वारा शारीरिक कर्म को भी भूल जाता है; उसके लिए तो हम भी उन कर्मों का अनुष्ठान अनावश्यक मानते हैं, जिस तरह सुषुप्त पुरुष कोई शारीरिक कर्म नहीं करता है। और न तो ऐसा सुना ही गया है, और न तो देखा गया है तथा न तो यह हमे अभिप्रेत ही है कि उस प्रकार का तत्त्वनिष्ठ पुरुष अपने शरीर काल पर्यन्त सुषुप्त पुरुष के समान रहता है।

धर्मेति। धर्माधर्मयोस्त्यागाविति विग्रहः। कर्मण इति। "अधीगर्थे" ति षष्ठी।

न द्वितीयः, दृष्टादृष्टविकल्पानुपपत्तेः, न ह्यन्धपंग्वादिवत् दृष्टसामग्र्यां कि(क ?) चिदस्योपघातं पश्यामः। न च तस्यां सत्यामदृष्टवैकल्यादशक्तिः शंक्या, दृष्टसामाग्र्यानयनार्थत्वात् सामान्यतोऽदृष्टस्य। अन्यथा सैव निष्फला स्यात्। सम्यक् प्रयुक्ता च सा तत्फलं नोत्पादयेत् ॥ इष्ट एवायं क्वचिदर्थः; 'सुरक्षितं दैवहतं विन-

स्पति' इत्यादिस्मरणादिति चेन्न, तत्रापि यत्किञ्चिद्वैकल्यमुत्पाद्यैव तथात्त्वस्थितेः। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। ननु कर्तृत्वाभिमानमन्तरेण कर्मणि नाधिकारः, स चास्य निश्शेष-विनष्ट इति कथं सामर्थ्यमिति चेन्न; शारीरकर्मप्रतिबन्ध्यैव दत्तोत्तरत्वात्॥ तत्रापि नासौ कर्त्ता निष्क्रियत्वादात्मस्वरूपस्येति चेत्; कः कर्ता? प्रकृतिरेवेति चेत्, कः सांख्यावस्थस्य विशेषः? अभिमाननिरोध इति चेत्, एवं कर्मयोगेऽपि किं न स्यात्। तथैव हि फलसङ्गकर्तृत्वादित्यागेन तदनुष्ठानमनुशिष्यते।

प्रसाद—यह भी नहीं कहा जा सकता हैं कि आत्मज्ञ को कर्मयोग का ज्ञान रहने पर भी वह उसके लिए निष्फल होता है; क्योंकि इस मान्यता का खण्डन दृष्टादृष्टविकल्प के द्वारा हो जाता हैं जिस तरह देखने में समर्थ भी लगडा चलने में असमर्थ होता है तथा चलने में समर्थ भी अन्धा देख नही सकता, उसी तरह का कोई भी यहाँ बाधक नही प्रतीत होता है कि कर्माभिज्ञ ज्ञानीको कर्मों से कोई प्रयोजन न हो। कर्ममें अधिकार की सामग्री है ज्ञान और उस समग्री का उपघातक यहाँ कोई भी नही प्रतीत होता। सामग्री के रहने पर भी उसकी अदृष्टवशात् ज्ञानों की कर्मयोग में प्रवृत्त करने की शक्ति नही हैं; यह भी नही कहा जा सकता है। क्योंकि सामान्यतः यही माना जाता है कि अदृष्ट से प्रेरित होकर दृष्टसामग्री उपस्थित होती हैं, यदि ऐसा नही माना जाय तो दृष्टसामग्री ही निष्फल हो जायेगी। तथा उसका अच्छी प्रकार से प्रयोग करने पर भी वह फल की जनयित्री नही हो सकती है। यदि कहें कि कही यह कहा भी गया है कि—'सब प्रकार से सुरक्षित व्यक्ति भी अदृष्टवशात् मारा जाता है। तो इसके विषय में कहना है कि उस कार्य में भी अदृष्ट कुछ दृष्ट नैयून्य पहले ही उत्पन्न कर देता है। अन्यथा कार्यकारण का नियम ही टूट जायेगा। यदि कहें कि कर्मों में अधिकार उसी का होता है; जिसमें कर्तृत्व का अभिमान है। आत्मज्ञ का कर्तृत्वाभिमान पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाता है; अतएव उसका कर्मानुष्ठान में सामर्थ्य नही है, तो इसका उत्तर है कि तो फिर उसे शारीरिक कर्म भी नही करना चाहिए। यदि कहें कि आत्मा तो निष्क्रिय है; अतएव सह शारीरिक क्रियाओं का भी कर्ता नही है, तो प्रश्न है कि आप किसको उन क्रियाओं का कर्ता मानते हैं? यदि प्रकृति को ही कहें तो प्रश्न है कि आत्मज्ञ का उससे क्या भेद होगा? यदि कहें कि उस अवस्था में कर्तत्वाभिमान का निरोध हो जाता है तो प्रश्न है कि कर्मयोग में भी कर्तृत्वाभिमान का निरोध मान लेने में क्या पड़ता है। शास्त्र कर्मयोग के अनुष्ठान को फलाभिसन्धि रहित तथा कर्तृत्वाभिमान रहित होकर करने का उपदेश देते हैं।

अन्यथेति। दृढदण्डनुवचक्रस्य कदाचिद्भ्रमप्रसङ्गादित्यर्थः। तथैवहीति।

यत्र चायमधिकरोति ज्ञानयोगे, स किंरूपः? किं निष्क्रियात्मस्वरूपमात्राव-स्थानलक्षणः; उत तस्मिन्नस्य सम्यग्दर्शनरूपवृत्तिज्ञानेनावस्थानमिति। पूर्वत्र ज्ञानयोगस्य सदातनत्वप्रसङ्गः। उत्तरत्र ज्ञानयोगेऽप्यनधिकारः, द्रष्टृत्वस्यापि कर्तृत्वविशेषत्वात्। दृशिक्रियाकर्तृत्वमेव द्रष्टृत्वमिति ज्ञातुरनात्मत्वं प्रतिपादयता त्वयाऽपीष्यते॥ द्रष्टृत्वम-प्यन्तःकरणधर्मत्वेन मिथ्यात्वेनैवानुसन्धीयमानमात्मविदं न लिम्पतीति चेत्-दर्शनादिकर्तृः

त्वेऽपि तथात्वे किं वैषम्यम् ?। बाह्याभ्यन्तरत्वाभ्यां वैषम्यमिति चेन्न, वैषम्यमात्रस्याप्रयोजकत्वात्। यागादेरपि च द्रव्यत्यागात्मकबुद्धिवृत्तिविशेषत्वात्। शरीरक्रियादिरूपेष्वपि कर्मसु प्रयत्नस्यैवाऽऽन्तरस्य पुरुषव्यापारत्वात्। तत्रैव तत्पर्यन्ते स्वव्यापारे तस्य नियोगात्। ननु न ज्ञानयोगः स्वेच्छयाऽनुष्ठीयते, अपितूच्छ्वासनिमेषोन्मेषादिवत् सांख्यस्यासौ स्वरसवाहीति चेन्न, युष्मद्गुरुवंशस्य सर्वकर्मपरित्यागरूपज्ञानस्य विधेयत्ववाचोयुक्तेरनर्थकत्वप्रसङ्गात्। शास्त्रजन्यज्ञानमात्रस्य अविधेयत्वात्। तथाचाभ्युपगमात्। तन्मूले तु सर्वकर्मसंन्यासलक्षणे ज्ञानयोगे कर्तव्ये विधेरवकाशात्। स्वरसवाहिस्वात्मदर्शनरूपमहाजागरस्य सुषुप्तावपि नाधिकारः। प्रबुद्धस्यापि न बहिर्मुखी दृष्टिरिति शारीरकर्मस्वपि नावकाशः॥ तथापि निष्क्रियमात्मानमात्मत्वेनाभिमन्यमानस्य कर्तृत्वाभिमानपुरस्सरक्रियात्मस्वरूपावस्थानरूपकर्मयोगे कथमधिकारः, कथं च विदितकर्ममिथ्यात्वस्तत्र प्रवर्तते इति चेन्न—उक्तोत्तरत्वात्। ज्ञानयोगो हि क्रियाविशेष एवेति दर्शितम्। न च तस्य मिथ्यात्वमविदितम्। सोऽपि स्वरूपभूतसंवित्तिमात्रादन्यः। तस्य च मिथ्यात्वम्, संवित्स्वरूपादन्यन्मिथ्यैवेति संमतप्रयोजकश्रवणवेलायामेव सिद्धम्। न चात्यन्तनिष्क्रियत्वमात्मनो वयमिच्छामः; आत्मन एव कर्तृत्वस्य; 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इत्यादिभिः स्थापनात्। उत्पत्तिनाशादिलक्षणक्रियानिवृत्तेश्च सम्यग्ज्ञानशरीरप्रेरणादिक्रियावत्त्वेन सह विरोधाभावात्। भावेऽपि वा ज्ञानयोगेऽपि समत्वात्॥ भ्रान्तिलेशमुपजीव्यैव ज्ञानयोगेऽपि प्रवृत्तिरिष्यत इति चेत्, तथाऽन्यत्रापि किं नेष्यते? ननु भवत्येवमधिकारे युक्तिसाम्यम्, तथाऽपि शास्त्रेण पर्युदस्तत्वान्न सांख्यः कर्मयोगेऽधिकरोतीति चेत्—स्ववर्णाश्रमोचितेषु कर्मसु शास्त्रेण पर्युदासाभावात्, प्रत्युत तत्संग्रहणस्योक्तत्वात्, अतएव प्रव्राजितस्यापि यज्ञादिनिरपेक्षेषु प्राणायामादिकर्मयोगेष्वधिकारः सम्भवति, आदिश्यते च। अन्यथा 'कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' इत्युक्तलोकसंग्रहार्थकर्मण्यपि प्रवृत्तिनिषिद्धानुष्ठानम् स्यात्। अतो न कथंचित् ज्ञानयोगे शक्तस्य कर्मयोगे सामर्थ्यासम्भवः।

प्रसाद—किञ्च प्रश्न है कि अधिकारी जिस अवस्था में ज्ञानयोग का अधिकारी होता है? क्या उस समय वह निष्क्रिय आत्मा के स्वरूप में अवस्थित होता है? अथवा आत्मा में ज्ञानी का सम्यग् दर्शन रूप वृत्ति ज्ञान के द्वारा अवस्थिति होती है? पहली अवस्था में ज्ञानयोग के सार्वकालिक होने का प्रसङ्ग होगा यदि दूसरा पक्ष मानें तो ज्ञानयोग में भी आत्मनिष्ठ का अधिकार नहीं हो सकता है; क्योंकि द्रष्टृत्व भी कर्तृत्व विशेषरूप है। ज्ञाता को आत्मा से भिन्न मानकर भी आप यह तो अवश्य

मानते हैं कि दृशिक्रिया कर्तृत्व को ही द्रष्टृत्व कहते हैं। यदि कहें कि द्रष्टृत्व भी अन्तःकरण का धर्म है; उसका अनुसन्धान मिथ्या रूप से आत्मवेत्ता करता है, अतएव द्रष्टृत्व आत्मज्ञ के लिए बन्धनकारक नहीं बनता है। तो इसका उत्तर है कि दृशिक्रिया कर्तृत्व के ही समान यज्ञादि क्रियाकर्तृत्व भी आत्म वेत्ताओं का बन्धनकारक नहीं होता है; यह मान लेने में कौन सा दोष है ? यदि कहें कि दृशिक्रिया कर्तृत्व आभ्यन्तर क्रिया है तथा यज्ञादि क्रिया कर्तृत्व बाह्य क्रिया है। तो यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि दोनों क्रियाओं में वैषम्य होने मात्र से कोई भी अन्तर नहीं आता। याग आदि भी एक प्रकार के बुद्धि विशेष रूप हैं जिसमें द्रव्यत्याग की रूप क्रिया होती हैं। बाह्य जो स्नान बुद्धि याग आदि शारीर क्रियाएँ हैं, उनमें भी आन्तर प्रयत्नात्मक पुरुष व्यापार में पुरुष का कर्तृत्व अवश्य रहता है, क्योंकि उसी व्यापार में पुरुष की प्रवृत्ति होती है; यदि कहें कि ज्ञाननिष्ठ ज्ञान योग का अनुष्ठान अपनी इच्छा से नहीं करता है; अपितु सांख्यनिष्ठ पुरुष के लिए वह उसी तरह स्वाभाविक होता है, जिस तरह, श्वास लेना और छोडना, पलक का गिरना और उठना। तो आप यह इसलिए नहीं कह सकते है कि सर्वकर्म परित्याग रूप ज्ञान आपको अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त है, अतएव उसका विहित होना अनावश्यक है; किञ्च सभी शास्त्र जन्य ज्ञान को आप विधि का विषय नहीं मानते हैं। संन्यास ज्ञान को अविधेय मानते हैं। सर्वकर्म संन्यास रूप ज्ञान योग को स्वरसवाही मानने पर उसे भी विधि का विषय मानना होगा। स्वरसवाही स्वाभाविक) स्वात्मदर्शनरूप महाजागर का सुषुप्ति में भी अधिकार नहीं है। आत्मज्ञ प्रबुद्ध व्यक्ति की भी बहिर्मुखी दृष्टि नहीं हो सकती है, अतएव उसकी शारीरिक कर्म में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि कहें कि निष्क्रिय आत्मा को आत्मा रूप से मानने वाले आत्मज्ञ पुरुष की कर्तृत्वाभिमान पूर्वक क्रिया रूप आत्मा में अवस्थान रूप कर्मयोग में अधिकार कैसे हो सकता है, तथा कर्मों को मिथ्या जानने वाले आत्मज्ञ पुरुष की कर्मों में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है (तो आप के इस कथन क उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। मैंने कहा है कि ज्ञान योग भी एक प्रकार की क्रिया ही है। उसका भी मिथ्यात्व आत्मज्ञ को ज्ञात ही है। वह ज्ञान योग भी स्वरूपभूत संवित् मात्र से भिन्न है। उसको मिथ्या तो आप संवित् स्वरूप आत्मा से भिन्न मिथ्या है इस प्रयोजक वाक्य के श्रवण काल में ही जान लिए हैं, विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में आत्मा को अत्यन्त निष्क्रिय नहीं माना जाता है। हम आत्मा का ही धर्म कर्तृत्व मानते है। भगवान बादरायण भी ब्रह्मसूत्र में कहते हैं—आत्मा ही कर्ता है, क्योंकि शास्त्र जीवों को तत्-तत् कर्मों में प्रवृत्त करता है। उत्पत्ति तथा विनाश रूप क्रिया की निवृत्ति रूप आत्मा तथा शरीर के सम्यक् ज्ञान होने पर शरीर की ही उत्पत्ति विनाश आदि होते हैं, आत्मा की नहीं, इसी प्रकार का आत्मा का निष्क्रियत्व है, सभी प्रकार का निष्क्रियत्व नहीं है। इस कथनमें यदि विरोध हो भी तो उस तरह का विरोध ज्ञानयोग में भी है। यदि कहें कि कुछ भ्रान्ति के कारण आत्मज्ञ की ज्ञानयोग में प्रवृत्ति होती है, तो फिर आप उस तरह की भ्रान्ति लेश के द्वारा सर्वत्र प्रवृत्ति क्यों नहीं मानते हैं। यदि कहें कि यद्यपि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों के अधिकार में एक ही तरह की समता है फिर भी शास्त्र के द्वारा विरोध होने के कारण ज्ञाननिष्ठ की कर्मयोग में प्रवृत्ति नहीं होती है। तो इसका उत्तर है कि शास्त्र स्ववर्णाश्रमानुकूल कर्मों का निषेध नहीं करता है. अपितु वह उन कर्मों के अनुष्ठान का विधान हीं करता है, इसीलिए संन्यस्त व्यक्ति के लिए शास्त्र यज्ञादिनिरपेक्ष कर्मयोग में अधिकार का आदेश देता है। यदि ऐसी बात न हो तो ज्ञानी पुरुष को आसक्ति रहित होकर लोकसंग्रहार्थ कर्मों को करना चाहिए। इस सूक्ति के अनुसार लोक संग्रहार्थ किए जाने वाले कर्मों में प्रवृत्ति निषि-

ह्वानुष्ठानान्तर्गत होगा । अतएव सिद्ध हुआ कि ज्ञानयोग में समर्थ पुरुष की कर्मयोग में सामर्थ्य का अभाव होता है ।

'सङ्गन्त्यक्त्वे' त्यादिना । प्रतिबन्दीं वक्तुम् विकल्पयति यत्र चेति । ननु कर्तृत्वाभिमानः कर्मण्यधिकारो न तु ज्ञानयोगे, अत आह ।

द्रष्टृत्वस्येति । ज्ञातुरिति । ज्ञातुः ज्ञानक्रियाकर्तृत्वेन सविकारत्वाद्धि निर्विकारादात्मनोन्यत्वमहमर्थस्योच्यत इत्यर्थः ।

ननु कर्तृत्वाभिमानो न सांख्यस्य निश्शेषविनष्टः, अतो ज्ञानयोगकर्तृत्वोपपत्तिः, न च तदभिमानवत्वे लेपप्रसङ्गः, अन्तःकरणधर्मत्वेन मिथ्यात्वेन च तत्त्वतो ज्ञातस्य तस्य लेपायोगात् तत्त्वज्ञाने सत्यप्यभिमानस्तु वासनायाः प्राबल्याद्विदुषामपि देहात्मभ्रमाभासवदिति शङ्कते द्रष्टृत्वमपीति । कर्मणामपि न बाह्यत्वनियम इत्याह यागादेरिति । येषु च बाह्यत्वं होमदानादिषु, तेष्वपि आन्तरप्रयत्नात्मकपुरुषव्यापारे कर्तृत्वम्, तत्रैव पुरुषस्य नियोगात्, तत्र च बाह्यक्रियापर्यन्ते नियोगात् बाह्यक्रियापि सिद्ध्यतीत्याह शरीरेति । नन्विति । तथा च नाधिकाराभावप्रयुक्ता ज्ञानयोगानुपपत्तिः, कर्म तु न स्वरसवाहीति तत्र तत्प्रयुक्तानुपपत्तिः, बुद्धिपूर्वमिच्छयानुष्ठेयत्वादित्यर्थः । गुरुवंशस्येति । स्वरस वाहित्वे विनेयता न स्यादित्याशयः ।

ननु शास्त्रजन्यज्ञानमेव विधेयं न ज्ञानयोग इत्यत्राह शास्त्रेति । संन्यासलक्षणज्ञानस्य तु विधियोग्यत्वाविधेयता । ज्ञानयोगस्य स्वरसवाहिता न युक्तेत्याशयेनाह तन्मूल इति । ननुसन्न्यासलक्षणज्ञानस्य विधेयत्वेपि स न ज्ञानयोगः, किं त्वात्मदर्शनप्रवाहः, तथा च न गुरुवश्यवाचोयुक्तिविरोध इत्यत्राह स्वरसेति । स्वरसवाहिपदस्य बहुव्रीहिः । आत्मदर्शनस्य स्वरसवाहित्वे सुषुप्तिः इति न स्यादित्यर्थं । तत्सम्भवेपि प्रबोधे विषयान्तरसञ्चारो न स्यादित्याह प्रबुद्धस्येति । शङ्कते तथापीति । निष्क्रियत्वेन ज्ञाते आत्मनि सक्रियत्वकल्पनमयुक्तमित्यर्थः । किं सर्वक्रियाराहित्यमुच्यते ? उत्पत्तिनाशवृद्धिक्षयादिराहित्यम् वेति विकल्पाभिप्रायेणाह नचात्यन्तेत्यादिना ।

ननु सक्रियत्वभ्रान्तिमत एव ज्ञानयोग इत्याशङ्कते भ्रान्तीति ।

न च तृतीयः, परित्यक्तस्वर्गादिफलस्यापि पापक्षयादिफलसद्भावात् ; नित्यकाम्यज्योतिष्टोमादिवत् एकस्यैव विनियोगपृथक्त्वेन फलभेदोपपत्तेः । अन्यथा मुमुक्षुविषयकर्मयोगस्यैव अननुष्ठानप्रसङ्गात् ।

नापि चतुर्थः, कल्मषनिवृत्तेः सर्वदाऽपेक्षितत्वात् ॥ कर्मयोगफलभूतस्थिरप्रज्ञतासिद्धौ कर्मयोगादभ्युत्थानं त्वयाऽपीष्यत इति चेत्—सत्यम् ; तथाऽपि तत्रानधिकारम् न ब्रूमः । अतएव हि ज्ञानयोगयोग्यस्यापि अनुविधेयानुष्ठानस्य शिष्टतया व्यपदेश्यस्य सुकरनिष्प्रमादोपायशक्तस्य च कर्मनिष्ठैव श्रेयस्त्वेनानुशिष्यते । न च कर्मयोगाभ्युत्थित-

स्यापि ज्ञानयोगिनः स्ववर्णाश्रमकर्मनिवृत्तिं ब्रूमः । वर्णाश्रमधर्मा हि निष्ठासु इतिकर्तव्यतात्वेनावतिष्ठन्ते, न तु स्वयमेव कर्मयोगादिरूपाः । अत एव हि भक्तियोगावस्थस्यापि तदनुवृत्तिः । न च पूर्वकृतैः कर्मभिर्मृदितकषायस्य किमिदानीन्तनैरिति वाच्यम् , अमुक्तस्यात्यन्तमृदितकषायत्वाभावात् ॥ आत्मदर्शनसिद्धौ किं तदर्थेनेति चेन्न, अनिश्चितासद्भावपूर्वोत्तरज्ञानावरणहेतुविनिवारणाय तदुपादानोपपत्तेः । न ह्यसंभवदावरणं सांख्यस्य ज्ञानम् ; तथा सति तमः प्रयुक्तसुष्वापाद्यसम्भवप्रसङ्गात् । न च नास्ति सुष्वापः, 'युक्तस्वप्नावबोधस्य' इति वचनात् । अतः आत्मज्ञाने सिद्धेऽपि उत्तरोपचयसिद्ध्यर्थं अपचयपरिहारार्थं वा ज्ञाननिष्ठैरपि स्ववर्णाश्रमोचितं कर्मोपसंहर्तव्यम् ।

प्रसाद—तीसरा पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि कर्म जन्य स्वर्गादि फलों की प्राप्ति की अभिप्सा नहीं रहने पर भी आत्मज्ञ के पापक्षय आदि फलों का सद्भाव रहता ही है । जिस तरह एक ही ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ विनियोग के भेद से नित्य एवम् काम्य दोनों प्रकार का होता है उसी तरह विनियोग के भेद से कर्मो के फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं । अन्यथा आपके मुमुक्षु विषयक कर्मों के भी परित्याग का प्रसङ्ग होगा । चौथा पक्ष इसलिए नही स्वीकारा जा सकता है कि पापों की निवृत्ति सर्वदा अपेक्षित होती है । यदि कहें कि कर्मयोग के अनुष्ठान के फलस्वरूप स्थिरप्रज्ञाता की प्राप्ति हो जाने पर सिद्धान्ती भी कर्मयोग से अभ्युत्थान स्वीकारते हैं । तो आपका यह कथन ठीक है । क्योंकि हम स्थिर प्रज्ञ का कर्मयोग में अनधिकार नहीं स्वीकारते हैं । इसीलिए ज्ञानयोग के लिए योग्य तथा जो अनुष्ठानों को कर सकता है; जिसे शिष्ट कहा जा सकता है तथा जों निष्प्रमाद होकर साधन को असानी से कर सकता है , उसके लिए भी हम कर्मो का अनुष्ठान श्रेयस्कर मानते हैं । जिसका कर्म योग से अभ्युत्थान हो गया है उस ज्ञानी को भी हम कर्मयोग से निवृत्ति नहीं मानते हैं । सभी प्रकार के अधिकारियों के लिए वर्णाश्रमों के धर्म इति कर्तव्यता रूप से विहित होते हैं, कर्मयोग रूप से नहीं । अतएव भक्तियोगनिष्ठ भी कर्मो का अनुष्ठान करते हैं । यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रचीनजन्मों के कर्मानुष्ठान से जिनके मल विनष्ट हो गये हैं , उनको इस जन्म के कर्मो के अनुष्ठान से क्या लाभ होगा ? मुक्ति से पहले सम्पूर्ण कर्मों का अत्यन्ताभाव नहीं स्वीकारा जा सकता है । यदि कहें कि तत्त्व ज्ञान हो जाने से जब आत्मदर्शन हो ही गया तो फिर कलमषापनोदनार्थ कर्मानुष्ठान से क्या लाभ है ? तो इसका उत्तर है कि कर्मो का आत्मसाक्षात्कार का निश्चय न होने तथा कर्मो के अत्यन्ताभाव नहोने के कारण पूर्वकालिक तथा उत्तर कालिक ज्ञान को आवृत्त करने वाले अज्ञान को विनष्ट करने के लिए वर्णाश्रम धर्मो का अनुष्ठान उपपन्न होता है । ज्ञाननिष्ठ का ज्ञान आवृत नहीं हो सकता है; वह भी नही कहा जा सकता है, अन्यथा ज्ञाननिष्ठ को तमोगुण के कारण होने वाले सुषुप्ति आदि हो नहीं सकते । ज्ञान निष्ठ सुषुप्ति में नहीं जाता है; यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भगवान् ज्ञानियों को भी युक्त स्वप्न वाले तथा युक्त जागरण वाले बतलाये हैं । अतएव आत्मज्ञान हो जाने पर भी ; उत्तर काल में उस ज्ञान की वृद्धि के लिए, अथवा ज्ञान को नही घटने देने के लिए, वर्णाश्रम धर्मो का अनुष्ठान करना चाहिए ।

न च पञ्चमः ; इतिकर्तव्यताभूतनित्यनैमित्तिकांशेषु तावत् अकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारादेः करणमन्तरेणान्यतोऽसम्भवात् ॥ पवित्रतमं ज्ञानमेव तमपि प्रत्यवायं निरुन्ध्यादिति चेत्–इदमपि 'नाविरतो दुश्चरितात्' इत्यादिभिः प्रागेव दूषितम् । 'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' इत्यादिभिः ज्ञानयोगशक्तस्यापि तदेकफलत्वेन विकल्पिते कर्मयोगेऽपि सुकरोपायलज्जादिवशादधिकारोपपत्तेश्च ।

षष्ठे तु चार्वाकादिसम्मतविस्रंभान् शिष्यान् एकान्ते शिक्षयत । तदेतदपि वर्णाश्रमधर्माणां यावज्जीवानुष्ठेयत्वप्रतिपादकेन भाष्येण व्यञ्जितम् ।

श्लो—आशरीरं प्रवृत्तत्वात् स्वभावप्राप्तकर्मणाम् ।
किमर्थं क्रियते द्वेषः शास्त्रप्राप्तेषु कर्मसु ॥इति ।

॥ इति शतदूषण्यां अधिकारिविवेकवादः त्रिषष्टितमः ॥६३॥



प्रसाद—सातवाँ पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि ज्ञानयोग के इति कर्तव्यताभूत नित्यनैमित्तिक अंशों में उनके अनुष्ठानाभाव प्रयुक्त होने वाले प्रत्यवायों का अपनोदन उनके अनुष्ठान के विना सम्भव नहीं है । उस प्रत्यवाय का अपनोदन पवित्रतम ज्ञान भी नहीं कर सकता है; क्योंकि मैं पहले कह चुका हूँ कि दुराचार पराङ्मुख हुए विना मुक्ति असम्भव है । किञ्च ज्ञाननिष्ठ तथा कर्म निष्ठ दोनों ही समान पद को प्राप्त करते है इस बात को भगवान 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते' इस सूक्ति में कहते हैं । अतएव दोनों के फल की एकता तथा कर्मयोग का सुकरानुष्ठान होनेसे ज्ञाननिष्ठ का भी कर्मयोग में अधिकार सिद्ध होता है ।

षष्ठ पक्ष के विषय में कहना है कि आप उसका उपदेश चार्वाकादिमत में निष्ठा रखने वाले अपने शिष्यों को एकान्त में बैठकर अच्छी तरह से कर सकते हैं, वैदिकों को नहीं । इस बात की सूचना श्रीभाष्यकार ने आजीवन वर्णाश्रम धर्मों के अनुष्ठान के प्रतिपादक भाष्य के द्वारा दी है ।

स्वभावतः शरीर पर्यन्त कर्म बनते रहते हैं, उनको कोई भी त्याग नहीं सकता है । अतएव आप शास्त्र विहित कर्मों से क्यों द्वेष करते हैं ? जब कि आप भी आजीवन शारीर कर्मों को करते ही रहते हैं ।

इस तरह शतदूषणी के तिरसठवें अधिकारीविवेक नामक वाद का प्रसाद समाप्त हुआ ।



नित्येति । एकस्यैव ज्योतिष्टोमस्य 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'वसन्ते ज्योतिषा यजेते' ति विनियोगभेदाद्यथा नित्यकाम्योभयात्मकस्य स्वर्गप्रत्यवाय परिहाररूपफलभेदस्तथेत्यर्थः अन्यथा—पापक्षयादिफलाभावे । पवित्रतममिति । 'न हि ज्ञानेन सदृशम् पवित्र' मिति वचनकटाक्षेणोक्तम् ।

इति श्री महाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायाम् शतदूषणीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां अधिकारिविवेक नाम त्रिषष्ठितमः स्कन्धः ॥६३॥



❀ अथ परमते यतिलिङ्गभेदभङ्गवादः चतुषष्टितमः ॥६४॥ ❀

श्रितान् परमहंसतां परमहं स इत्युक्तितः त्रयीपथमसौ गतान् कपटसौगतान् खण्डयन् ।
मुनिर्जयति लक्ष्मणो मुदमुदञ्चयन्नञ्चतां मुकुन्दगुणमौक्तिकप्रकरशुक्तिभिः सूक्तिभिः ॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वान् इस अर्थ का उद्घोष किया करते हैं कि मैं परमहंसता को प्राप्त करके ब्रह्म हो गया हैं, किन्तु वस्तुतः परमहंसता उनमें है नहीं । ये अद्वैती विद्वान् बौद्धों से भिन्न होकर भी वस्तुतः कपट बौद्ध हैं । ये अपने को वैदिक मतानुयायी बतलाते हैं, किन्तु ये प्रकारान्तर से वेदों का विरोध ही करते हैं । भगवान् रामानुजाचार्य ने उन अद्वैतियों के मत का खूब खण्डन किया है, तथा लौकिकैश्वर्य प्रदान पूर्वक परमनिःश्रेयस् प्रदान करने वाले श्रीभगवान् के गुण रूपी मोतियों को अपनी सूक्ति रूपी सीपियों का सेवन करने वाले भागवतों के आनन्दातिरेक को बढाते हैं ।

उक्तित इति । उक्तित एव पारमहंस्यतन्न त्वर्थत इति भावः । अनेन वादार्थसूचनं कृतम् । अञ्चतां-उपसेवमानानाम्, मुदमुदञ्चयन् उद्गमयन्नित्यर्थः ।

ये पुनः शङ्करादयोऽर्वाचीनपरमहंसाः, ते बाह्यवेषपरिग्रहमधिकृत्य पृच्छ्य ते—किमिति परमहंसैः ब्रह्मसूत्रमुत्सृज्यते, (१) किं तेषु तत्प्रापकाभावात, (२) उत सामान्यतः प्राप्तस्यापि विशेषतो बाधात ; (३) यद्वा दैवकहिदकतया परित्यागेऽपि प्रत्यवायविरहात, (४) उताङ्गिनिवृत्तेरेवार्थात् तदङ्गस्यापि निवृत्तेः, (५) अथवा पूर्वानुष्ठानमात्रादिति ।

प्रसादः—शङ्कराचार्य इत्यादि जो अर्वाचीन परमहंस हैं; उनके बाह्यवेष के विषय में प्रश्न उठता है कि आप परमहंस लोग यज्ञोपवीत का त्याग क्यों करते हैं ? क्या इसलिए कि वे यज्ञोपवीत के अधिकारी नहीं हैं ? या इसलिए कि सामान्यतः प्राप्त भी यज्ञोपवीत का परमहंसता में बाध हो जाता

है ? या इसलिए कि यज्ञोपवीत के वैकल्पिक होने के कारण उसके परित्याग में भी कोई प्रत्यवाय नहीं है ? या इसलिए कि वेदोक्त के निवृत्त हो जाने के कारण उसके अङ्ग भूत यज्ञोपवीत धारण की भी निवृत्ति हो जाने के कारण ? या इसलिए कि, यज्ञोपवीत उनके धारण पूर्वाश्रम मात्र का अनुष्ठान है ?

अधिकृत्य-विषयीकृत्य । तान्प्रति तदीयबाह्यवेषपरिग्रहविषयः प्रश्नः क्रियते । विशेषतइति । परमहंसरूपविशेषे बाधादित्यर्थः ।

न प्रथमः ; श्रुतिस्मृतिभिः सामान्यतो विशेषतश्च तत्प्राप्तेः । द्विजसामान्यतः प्राप्तिस्तावत् सहजा निर्विवादैव । परिव्राजकसामान्यतः प्राप्तिरतावदभिधीयते- यथाऽऽह वसिष्ठः ; 'यज्ञोपवीत्युदककमण्डलुहस्तः' इति । अङ्गिराः ; 'यतीनां त्रीणि शुक्लानि भवन्त्येतानि नित्यशः । यज्ञोपवीतं दन्ताश्च तथा जन्तुनिवारणम् ॥' इति । शौनकः , 'अथ युवा सुवासा' इति काषायवासः, 'सखा मे गोपयेति' त्रिदण्डं गृह्णाति, तच्छंयोरावृणीमह 'इति यज्ञोपवीतम् ॥' इति । दत्तात्रेयः , 'मोक्षाश्रमे स्मृतं वस्त्रं रक्तं यद्धातुरञ्जितम् । कार्यं यज्ञोपवीतं तु सितं नवगुणान्वितम् ॥' इति ।

सामान्यतः यज्ञोपवीतत्यागं निषेधन्ति—यथाऽऽह मेधातिथिः, 'गृहीतं यत् त्रिदण्डादेरविनष्टं तु न त्यजेत् । समुद्रं गच्छ स्वाहेति विनष्टं प्रक्षिपेज्जले ॥ प्रक्षिप्य चान्यदादद्याद्गायत्र्या प्रणवेन वा । तच्छंयोरित्युपवीतमब्लिङ्गाभिः कमण्डलुम् ॥' इति अंगिराश्च ; 'यतेर्लिंगं प्रवक्ष्यामि येनासौ लक्ष्यते यतिः । ब्रह्मसूत्रं त्रिदण्डं च वस्त्रम् जन्तुनिवारणम् ॥ शिक्यं पात्रं बृसीं चैव कौपीनं कटिवेष्टनम् । यस्यैतत् विद्यते लिङ्गम् स यतिर्नेतरो यतिः ॥' इति ।

प्रसाद—उपर्युक्त पक्षों में से प्रथम पक्ष को तो इस लिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से परमहंस के द्वारा यज्ञोपवीत के धारण का विधान करती हैं । परमहंसों के द्विजान्तर्गत होने के कारण द्विज सामान्य के यज्ञोपवीत धारण के विधान से परमहंसों द्वारा यज्ञोपवीत धारण निर्विवाद सिद्ध होता है । सभी परिव्राजकों द्वारा यज्ञोपवीत धारण का विधान करने वाले वाक्यों को उद्धृत किया जाता है । जैसा कि वसिष्ठ ने कहा है—कि संन्यासी को यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए तथा जल का कमण्डलु हाथ में लेना चाहिए । अङ्गिरा कहते हैं-यतियों के-यज्ञोपवीत, दाँत तथा नख सदा शुक्ल रहते हैं । शौनक कहते हैं कि-सन्यासी 'युवा सुवासा' इस मन्त्र से गेरुआ वस्त्र धारण करता है । 'सखा मे गोपाय' इस मन्त्र से वह त्रिदण्ड धारण करता है वह 'तच्छंयोरावृणीमहे' इस मन्त्र से यज्ञोपवीत धारण करता है । दत्तात्रेय कहते हैं-सन्यासाश्रम में गेरू रंजित वस्त्र धारण करना चाहिए तथा नव धागों वाला उजला यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए । अनेक धर्मशास्त्रकार यज्ञोपवीतत्याग का निषेध करते हैं-मेधातिथि कहते हैं-त्रिदण्ड आदि जो संन्यासी द्वारा गृहीत किए जाते हैं, उन्हें विना विनष्ट हुए उनकी किसी भी वस्तु का त्याग नहीं करना चाहिए । उनके विनष्ट ही

जाने पर उन वस्तुओं को 'समुद्रं गच्छ' इत्यादि मन्त्र से जल में त्याग कर देना चाहिए । उन्हें जल में त्याग कर पुनः नवीनः वस्तु को गायत्री अथवा प्रणव पढकर ग्रहण करना चाहिए । 'तच्छंयोरा' इस मन्त्र से यज्ञोपवीत तथा 'जललिङ्गक मन्त्र से कमण्डलु ग्रहण करे । महर्षि अङ्गिरा कहते हैं कि—यति का चिह्न बतलाता हूं जिससे कि संन्यासी पहचाना जा सके । जो यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड, गेरुआ वस्त्र, शिक्य, जलपात्र ; बृसी ; कोपीन तथा कटिसूत्र इन वस्तुओं को धारण करता है, वही यति है दूसरा नहीं ।

सामान्यतो विशेषतश्चेति । द्विजसामान्ये तद्विशेषपरिव्राजके चेत्यर्थः । मोक्षाश्रमे वस्त्रं रक्तम् स्मृतम्, कौसुम्भादिव्यावृत्त्यर्थं 'यद्धातुरञ्जित' मित्युक्तम् । निषेधन्वीति । त्यागनिषेधादपि धारणं सिद्धमिति भावः । त्रिदण्डादेरित्यादिशब्देन यज्ञोपवीतं गृह्यते । तत्सूचनायैव 'समुद्रम गच्छस्वाहे' त्याद्युत्तरवचनोपादानम्, तत्र च विनष्टोपवीतपुनर्धारणस्योक्तत्वात् ; अविनष्टत्याग निषेधवचनस्य यज्ञोपवीतविषयत्वमवगम्यते ।

उपवीतपरित्यागे प्रत्यवायं स्मरन्ति च । यथाऽऽह अत्रिः, 'ब्रह्मसूत्रं त्रिदैवत्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् । परित्यजन्ति विप्रा ये मोहात तर्कोपजीविनः ॥ स्वर्गापवर्गमार्गाभ्यां प्रच्युतास्ते न संशयः' इति । यद्यप्यत्र विप्रशब्दः सामान्यवचनः तथाऽपि पारिव्राज्यमेवाधिकृत्य प्रवृत्तत्वात् विशेषार्थ एव । सामान्यतो निर्देशस्तु सर्वेषां प्रत्यवाय साम्यात । तथा हि उशनास्तत्परित्यागे सर्वेषामाश्रमिणां पतनमेवाऽऽह, 'ब्रह्मसूत्रपरित्यागाद् ब्रह्मचारी गृही वनी । परिव्राट् चापि पतति तस्मात् तन्न परित्यजेत् ।।' इति॥ तत्परित्यागे बहूनि प्रायश्चित्तानि सस्मरुः-यथा अत्रिरेव—'त्यक्त्वा यज्ञोपवीतं तु षट् कृच्छ्राणि समाचरेत् ॥ इति । वृद्धजाबालिश्च, 'हीनो यज्ञोपवीतेन यदि स्यात् ध्यानभिक्षुकः । तस्य क्रिया निष्फलाः स्युः प्रायश्चितं विधीयते ॥ गायत्रीसहितानेव प्राजापत्यान् षडाचरेत् । पुनः संस्कारमाहृत्य धार्यं यज्ञोपवीतकम् ।' इति । हारीतः, 'विना यज्ञोपवीतेन यत्कृतं भोजनादिकम् । तत्पापप्रशमायालं प्रायश्चित्तं ब्रवीमि वः ॥ तेषां तु भोजनादीनां प्रत्यहं सुसमाधिभिः । महसाद्यैः स्वयमैविधिपूर्वकृतैः शुचिः ।।' इति । असमीक्षितदशापरित्यक्तब्रह्मसूत्रैश्च यादवप्रकाशैः समीक्ष्य संजातानुशयैः सप्रमाणमनुयुक्ताः वासुदेवयात्रोत्सवसमागताः नानादिगन्तवास्तव्याः शिष्टाश्च प्रायश्चित्तमेवोत्तरं ददुः ॥ अस्तस्त्यसावितिति चेन्न, प्रायश्चित्तात्पूर्वमेव तथात्वस्य प्राचीनैर्निश्चितत्वात् । तत्सूत्राचारस्यैव यतिधर्मस्याद्यापि मानवादिवत् अविगीतशिष्टपरिग्रहात ।

प्रसाद—महर्षियों ने यज्ञोपवीत के त्याग से होने वाले पापों को भी बतलाया है । अत्रि कहते हैं-ब्रह्मा विष्णु एवं शिव इन तीन देवताओं वाले यज्ञोपवीत को अज्ञानी तथा तर्क परायण जो

विप्रत्याग देते हैं; वे निश्चय ही स्वर्ग एवं मोक्ष के अनधिकारी हो जाते हैं। यद्यपि विप्र शब्द सामान्यतः ब्राह्मण का वाचक है किन्तु यति के प्रसङ्ग में प्रोक्त होने के कारण इसे संन्यासी परक ही मानना चाहिए। इस सामान्यतः निर्देश का अर्थ है कि सभी यज्ञोपवीत का त्याग करने वाले ब्राह्मण स्वर्ग एवं मोक्ष के अनधिकारी हो जाते हैं। उशना तो यज्ञोपवीत का त्याग करने वाले सभी आश्रमियों का पतन बतलाते हैं। वे कहते हैं-यज्ञोपवीत का त्याग करने वाले ब्रह्मचारी; गृहस्थ; वाणप्रस्थ तथा संन्यासी सभी पतित हो जाते हैं, अतएव उसका त्याग नहीं करना चाहिए। यज्ञोपवीत के त्याग का महर्षियों ने अनेक प्रायश्चित भी बतलाया है। महर्षि अत्रि कहते है कि यज्ञोपवीत का त्याग करने पर छः महाव्रत करना चाहिए। बृद्ध जाबालि कहते हैं कि-यज्ञोपवीत से रहित होकर ध्यान करने वाले यति की सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं उसका प्रायश्चित है कि वह गायत्री के द्वारा छह प्राजापत्य व्रतों को करे। पुनः यज्ञोपवीत सस्कार विधि से यज्ञोपवीत धारण करे। हारीत कहते हैं कि यज्ञोपवीत के विना किये गये भोजन आदि के पाप को शान्त करने के लिए; प्रायश्चित है कि, प्रति दिन समाधिस्थ होकर हजारों प्राणायाम करके अपने को शुद्ध करे। विना विचार किए हुये यज्ञोपवीत का त्याग करने वाले यादव प्रकाशाचार्य विचार करने के बाद गलती अनुभव करके भगवान की यात्रा में प्रामाणिक पुरुषों द्वारा कहे जाने पर अनेक दिशाओं से समागत शिष्टों ने उनके लिए प्रायश्चित का विधान किया। यदि कहें कि तब तो यादव प्रकाश भ्रष्ट हो गये तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि प्रायश्चित्त से पूर्व ही उन्हें प्राचीनों ने भ्रष्ट कहा; आज भी शिष्टों ने मनु आदि के समान योग्य अधिकारी को ही यति धर्म के स्वीकार को उचित माना है।

प्रत्यवायमिति। अतोऽपि तद्धारणं सिद्धमिति भावः। तर्कोत इति। अङ्गिकर्मनिवृत्तेरर्थात्तदङ्गयज्ञोपवीतनिवृत्तिरित्याद्युद्धत्यभिमततर्को विवक्षितः। प्रायश्चित्तानीति। ततोऽपि धारणं सिद्धमित्यर्थः। ध्यानभिक्षुकः-परिव्राट्।

एवं परिव्राजकानां सामान्यतः प्राप्तं ब्रह्मसूत्रम्। परमहंसेष्वत्र विशेषतोऽपि प्राप्तिर्दृश्यते। तथा हि शाठ्यायनकोपनिषदि समाम्नायते, "अथ ह यद्ब्रह्म परमं सनातनं ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः। शान्तो दान्त उपरतास्तितिक्षुर्योऽनूचानो ह्यभि (पि ?) जिज्ञास्य (१ ?) मानः। त्यक्त्वैषणो ह्यनृणस्तद्विदित्वा मौनी वसन्नाश्रमे यत्र तत्र। अथाऽऽश्रमं चरमं संप्रविश्य स च द्वितीयममृतं संप्रयाति। अखिलं विश्वं ब्रह्मभावनया निचाय्य चरेत् पृथिव्यां विष्णुलिङ्गी निगूढः। परमहंसमाश्रमं संप्रविश्य यथोपपत्ति पञ्चमात्रां दधानः / तदत्र श्लोकौ भवतः—त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम्। शिक्यं कवचमित्येतत् बिभृयाद्यावदायुषम्। त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम्। निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम्॥ इति 'अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते चतुर्विधाः परिव्राजका भवन्ति। सर्वे विष्णुलिङ्गिनः सदा स्वात्मानमात्मना ब्रह्मभावं भावयन्तः सुशीलिनः पुण्यश्लोका भवन्ति।' इति।

प्रसाद--इस तरह से स्पष्ट है कि परिव्राजकों के लिए यज्ञोपवीत सामान्यतः प्राप्त हैं तथा परमहंसों के लिए विशेषरूप से। शाट्ययनकोपनिषत् में कहा गया है कि जो श्रोत्रिय तथा कामना रहित ब्राह्मण सनातन ब्रह्म का अध्ययन करते हैं, शान्त, दान्त, उपरत; तितिक्षु, अनूचान, मान तथा एषणा रहित होकर जो ब्रह्म का अध्ययन करता है, वह सभी कारणों से रहित होकर मौन रहकर यथेष्ट आश्रम में रहे। पुनः अन्तिम आश्रम में प्रवेश करके वह द्वितीय अमृत को प्राप्त करता है। सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म की भावना से साक्षात्कार करके वह पृथिवी पर वैष्णव चिह्नों को धारण कर सञ्चरण करे। परमहंसाश्रम में प्रवेश करके वह उपपत्ति के अनुसार पञ्चमात्रा को धारण करे। इसके विषय में दो प्राचीन श्लोक हैं-त्रिदण्ड, यज्ञोपवीत, वस्त्र; कौपिन तथा कटिसूत्र, शिक्य, तथा कवच इन वस्तुओं को संन्यासी को आजीवन धारण करना चाहिए। वैष्णवों का चिह्न त्रिदण्ड विप्रों के लिए मुक्तिप्रद तथा सभी धर्मों का निर्वाण है, वह वेद बतलाते हैं। किञ्च हे सौम्य संन्यासी चार प्रकार के होते है-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। ये सभी बिष्णु के चिह्न वाले; स्वयम् अपनी आराम ब्रह्म को मानने वाले तथा सौशील्य युक्त होने के कारण पवित्र कारक होते हैं।

तदिति। तत्कृतस्य यतिधर्मसमुच्चयाख्यग्रन्थस्येत्यर्थः। वासतो विशेषणं कौपीनेति। ननु यथा न हिंस्यादिति निषेधो विहिताग्नीषोमीयपश्वालम्भः द्व्यावर्तते, तथा त्यागविधिविषयात्तन्निषेधो व्यावर्त्यतामित्यत्राह यद्यपीति। अत्यन्तबाधस्तावद्वचनस्य न युक्तः, तत्राग्नीषोमीयान्निषेधस्य व्यावृत्तौ सङ्कोचमात्रं नाझन्तर्बाधः; सामान्यत्वात्, इहपुनरुभयोरेकविषयत्वात्, त्यागनिषेधस्य त्यागविषयाद्व्यवृत्तो विषयान्तराभावात्, अत्यन्तवाधात्मा पराभाव एव स्यात्, स चायुक्त इत्यर्थः। त्यागविशेषविधिमभ्युपेत्येदमुक्तम्, वस्तुतः स एव नास्तीत्याह दृष्टञ्चेति। न्यायनिरपेक्षमिति। अनेन "नखानि निकृत्य यज्ञोपवीतं च विसृजे" दित्यत्रापि नखसाहचर्यात् पुरातनयज्ञोपवीतप्रतीतेर्न्यायपरामर्शे पुराण विषयत्वमेव गम्यत इति सूचितम्। एतत्श्रुतिबलादपि सङ्कोच इत्याह सामान्येति। अनेन सामान्यविशेषन्याय उक्तः, उत्सर्गापवादन्यायमाह सामान्येति।

ननु "विसृजे," दित्यस्य न गृह्णीयादित्यर्थः, पुराणस्य च गृहीतस्य न ग्रहणनिषेधः शक्य इति नूतनविषयो निषेधः; तथाच नूतनविषयत्वात् ग्रहण निषेधयोर्विकल्पः इत्याशंक्य निराकरोति न चेति। अस्तु स एवार्थ इत्यत्राह नच तदिति। उपचारेति। विसृजतेः प्राग्गृहीतहानमेवार्थः, नत्वनुपादानम्; एवञ्च सामान्यविशेषन्यायादिकमपि हानानुपादानसाधारण्यमभ्युपेत्योक्तमिति भावः। ननु "योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धय,' इत्यादौ कर्तृत्वाभिमानसम्पादनपूर्वकं तत्त्यागो विधीयत इत्याशंक्याह यद्यपीत्यादिना। यद्यपीत्य नेन हानानुपादानयोः शक्तिद्वयकल्पनागौरवादनुगतप्रवृत्तिनिमित्ताभावाच्च हानमेवार्थः; अभ्युपगम्य तूच्यत इति सूचयति। ननु 'नखानि निकृत्ये' त्यत्र आश्रमप्रवेशोद्देशेन न पुराणवस्त्रादित्यागस्य चाङ्गतया विधिः सम्भवति—नखानि निकृत्येत्यनुवाद इति सम्भवति, नवग्रहणेन पुराणत्यागस्यार्थं सिद्धत्वाभावात्, पुराणत्यागविधौ तु नवान् गृह्णे त्यनुवादः, काषायवस्त्रादिधारणस्य वचनान्तरसिद्ध-

त्वेन नवत्वस्य तत्रार्थप्राप्तेः, एवञ्च येषां ग्रहणमन्यतः सिद्धम् तेषु नवत्वस्यायमनुवाद इति नानेनोपवीतधारणसिद्धिरित्यत्राह नवानिति । नवान् प्रगृह्ये त्यस्यानादरे वस्त्रादेरप्यसंग्रहः स्यात् न च पूर्वोक्ताङ्कतशाटचायनश्रुत्या वाससः सिद्धिः, तस्या यावदायुषं बिभृयादिति विधेयान्तरयोगात् सिद्धावपि उपवीतमपि तेनैव सिद्धयति, एवञ्च 'नखानि निकृत्ये' ति पुराणत्यागनूतनग्रहण विशिष्टाश्रमविधिरिति भावः । 'नवान् प्रगृह्ये' त्यस्यानादरे 'त्रिदण्डमुपवीत' मिति श्रुत्या 'यावदायुष' मिति धारणाविधिविधेरप्राप्ते यज्ञोपवीतादिधारणे असंभवाद्विरोध इत्याह अन्यथेति । शिखाया अपि ब्रह्मसूत्रातिरिक्तायाः त्यागः स्यात्, अत आह सन्यस्येत इति ।

इमामेवोपनिषदमुपबृंहयन् भगवान् पराशरः स्मरति; "तत्र परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति; कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसश्चेति । तत्र कुटीचका नाम-पुत्रादिभिः कुटीं कारयित्वा काम क्रोधलोभमदमात्सर्यादीन् परित्यज्य विधिवत् सन्न्यासं कृत्वा त्रिदण्डजलपवित्रकाषायवस्त्रोपवीतधारिणः स्नानशौचाचमनजपस्वाध्यायब्रह्मचर्यक्षामतत्पराः पुत्रादेरेव भिक्षाकालेऽन्नं देहयात्रामात्रमुपयुञ्जानाः तस्यां कुटौ नित्यं वसन्त आत्मानम् । बहूदका नाम-त्रिदण्डकमण्डलुजलपवित्रशिक्यजज्ञोपवीतिनो वेदान्तार्थावबोधकाः साधुवृत्तेषु ब्राह्मणकुलेषु भैक्षचर्यां चरन्त आत्मानं मोक्षयन्ते । हंसा नाम-त्रिदण्ड जलपवित्रशिक्य यज्ञोपवीतरक्तकाषायवाससो गोमूत्रगोमयाहारा एकरात्र-त्रिरात्र-षड्रात्र-मासोपवास-पक्षोपवास-कृच्छ्रातिकृच्छ्र-चान्द्रायण-सान्तपन-पराक्-तुलापुरुषादीनि व्रतानि चरन्तो गोद्विजाढ्येषु पुण्येषु देशेषु वसन्त आत्मानं मोक्षयन्ते । परमहंसा नाम-त्रिदण्डजलपवित्रशिक्य यज्ञोपवीतिनोऽन्तर्वासबहिर्वासधारिणो ग्रामैकरात्रवासिनो नगर-तीर्थ-जनपदेषु पञ्चरात्रं षड्रात्रम्, क्षारलवणवर्जं भिक्षाकाले शीर्णपर्णपुटं कृत्वा ब्राह्मणकुलादेव भैक्षं गृहीत्वा; अष्टौ ग्रासानेव भुञ्जानः सन्ध्योपासनतत्पराः नित्यं वृक्षमूले वसन्त आत्मानं मोक्षयन्ते" इति । एवं शाट्यायनकश्रुत्या पराशरस्मृत्या च सुप्रसिद्धमर्थम् अत्रिप्रभृतयोऽपि वृत्तिभेदभिदुराणां चतुर्णां परिव्राजकानां लिङ्गभेदनिषेधद्वारा सामान्यतो दर्शयन्ति, यथा, "चतुर्विधा भिक्षवस्तु स्मृताः सामान्यलिङ्गिनः ॥ तेषां पृथक्पृथङ्नाम वृत्तिभेदात् कृतं श्रुतौ । कुटीचको बहूदश्च हंसश्चैव तृतीयकः ॥ चतुर्थः परमो हंसो यो यः पश्चात् स उत्तमः, लिंगं तु वैष्णवं तेषां त्रिदण्डं सपवित्रकम् ॥" इति । वृत्तिभेदश्च पराशरस्मृत्या प्रागेव दर्शितः ।

प्रसाद—इस शाट्ययनकोपनिषद् की ही व्याख्या करते हुए भगवान् पराशर कहते हैं—परिव्राजक चार प्रकार के होते हैं; कुटीचक; बहूदक, हंस और परमहंस कुटीचक उन सन्यासियों को कहते हैं जो अपने पुत्रों आदि द्वारा कुटी का निर्माण कराकर, काम, क्रोध, लोभ एवम् मत्सर आदि का त्याग करके विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण करके, त्रिदण्ड; कमण्डलु, काषाय वस्त्र तथा यज्ञोपवीत धारी , स्नान , शौच, आचमन, जल, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य तथा ज्ञान में तत्पर रहते हुए, पुत्रादिकों की ही शरीर यात्रा निर्वाहोप युक्त मात्रा में अन्न का उपभोग करते हुए, उस कुटी में सदा रहते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं । बहूदक वे संन्यासी कहलाते हैं, जो त्रिदण्ड, कमण्डलु, जल संशोधक, शिक्य तथा यज्ञोपवीत धारी होते हैं, वेदान्तार्थों का उपदेश करते हैं तथा साधुवृत्ति से रहने वाले ब्राह्मणों के यहाँ से भिक्षा लेकर अपने को मुक्त करते हैं । हंस संन्यासी त्रिदण्ड , जल संशोधक ; शिक्य, यज्ञोपवीत; तथा गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं , गोमूत्र तथा गोमयाहार से एकरात्र , त्रिरात्र, तथा षड्रात्र व्रत करते हैं; मास भर का तथा एक पक्ष का उपवास करते है । अत्यन्त कठिन चान्द्रायण , सान्तपन , पराक , तुलापुरुष आदि व्रतों को करते हैं तथा गौ , ब्राह्मण आदि से विपुल, पवित्र देश में रहते हुए अपने को मुक्त करते हैं । परमहंस संन्यासी त्रिदण्ड, जलपवित्र, शिक्य तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं, आभ्यन्तर एवम् बाह्य वस्त्र धारण करते हैं, किसी भी ग्राम में केवल एक रात्रि निवास करते है, किसी भी नगर, तीर्थ तथा जनपद में पाँच या छह रात्रि निवास करते हैं, क्षार तथा लवण रहित भिक्षा के समय गिरे पत्तों का दोना बनाकर आठ मास तक ब्राह्मण कुल से ही भिक्षा ग्रहण करते हैं ; सन्ध्योपासन करते हैं , तथा सदा वृक्षों के नीचे रहते हुए अपने को मुक्त करते हैं । इस तरह शाट्यायनक श्रुति तथा पराशर स्मृति में प्रसिद्ध अर्थ को अत्रि आदि ऋषि भी चार भेद वाले संन्यासियों के चिह्नों की समानता का प्रतिपादन करते हुए उनकी समानता का वर्णन करते हैं। सामान्य चिह्न वाले संन्यासीचार प्रकार के होते हैं, उनकी वृत्ति भेद को ही लेकर उनके पृथक्-पृथक् चार नामों का निर्देश श्रुति करती है—कुटी चक, बहूदक, हंस और परमहंस इनमें उत्तरोत्तर संन्यासी श्रेष्ठ हैं । उनका वैष्णव चिह्न त्रिदण्ड और जलपवित्र है । उनकी वृत्ति का भेद पराशर स्मृति के द्वारा पहले ही दिखाया जा चुका है ।

एवं परमहंसानां विशेषत एव प्राप्तेः , तत्परित्यागनिषेधाच्च द्वितीयः पक्षो निरस्तः ।

यद्यपि सामान्यमात्रं विशेषबलात् सङ्कोचमाप्नोति, तथाऽपि न विशेषात् विशेषः पराभवमर्हति , अविशेषात्, विपरिवर्तप्रसङ्गाच्च । दृष्टश्चास्मदुक्तो विशेषः । त्वदभिमतस्त्वद्यापि न दृश्यते ।। ननु, 'नखानि निकृत्य यज्ञोपवीतं विसृजेत्' इति दृश्यत इति चेन्न—'नखानि निकृत्य पुराणवस्त्रयज्ञोपवीतकमण्डलून् त्यक्त्वा नवान् प्रगृह्याऽऽश्रमं प्रविशेत् इति श्रुत्यैव त्यागग्रहणयोः पुराणनूतनविषयत्वस्य न्यायनिरपेक्षमेव व्यवस्थापनेन विरोधप्रशमनात् सामान्ययज्ञोपवीतस्य पुराणत्वविशेषिते पर्यवसितुमुचितत्वात् सामान्यनिषेधस्य नूतनविशेषविधिना स्पर्धितुमशक्ते ; 'न हिंस्यात' इत्यादिवत् । न च , विसृजेदित्यस्य न गृह्णीयादित्यर्थः , येन नूतनग्रहणपरतया विषयव्यवस्था दुःस्थिता स्यात् । नच तद्युक्तम् ;

उपचारप्रसंगात् । यद्यपि गृहीतागृहीतविषयं विसर्जनं कथंचित् पश्यसि; तथाऽपि पूर्वधृत-विषयत्वमेव स्वारसिकम् । नवान् प्रगृह्येत्यस्यानादरे च दण्डादेरसंग्रहसिद्धिः । अन्यथा पूर्वोदाहृतविशेषश्रुतिविरोधश्च । अतएव, 'बहिस्सूत्रं त्यजेद् बुधः' इत्येतदपि पुराणब्रह्म-सूत्रत्यागविषयं मन्तव्यम् । ननु, 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' इति ब्रह्मचारिणो ऽपि पारिव्राज्यं विधीयते, न च तस्य द्वितीयं ब्रह्मसूत्रमस्ति, ततश्च कथं तद्विषये, 'बहिः सूत्रं त्यजेत्' इति वचनं योजनीयमिति चेत्, कथं वा छन्दोगब्रह्मचारिणां परिव्र-ज्यायाम्, 'सशिखं वपनं कृत्वा' इति शिखावपनं योजयिष्यसि ? संभवद्विषयं शिखावपन-मिति—तर्हि संभवद्विषयोऽयं बहिस्सूत्रत्यागविधिरपीति किं न पश्यसि ?

प्रसाद—इस तरह से परमहंसों के लिए खासकर यज्ञोपवीत धारण का विधान होने, तथा यज्ञोपवीत के त्याग का निषेध होनेके कारण द्वितीय पक्ष का भी खण्डन हो गया । यद्यपि विशेष को दृष्टि पथ में रखकर सामान्य नियम का सङ्कोच किया जा सकता है, किन्तु विशेष नियम के द्वारा किसी दूसरे विशेष नियम को नहीं दबाया जा सकता है ; क्योंकि दोनों समान कोटि के हैं, नियम तथा यह निर्णय नहीं हो सकता है कि किस नियम का सङ्कोच किया जाय ? परमहंसों के लिए विशेषकर यज्ञोपवीत के धारण का विधान है. यह मैं प्रतिपादित भी कर चुका हूँ । अद्वैती विद्वानों के अभिमत विशेष नियमका आज तक भी दर्शन नहीं हुआ है । यदि कहें कि नख काटकर यज्ञोपवीत का त्याग करना चाहिए, यही यज्ञोपवीत के त्याग का विधायक वाक्य हैं, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति ही कहती है । कि—'नखों को काटकर; पुराने वस्त्र यज्ञोपवीत तथा कमण्डलु का त्यागकर; नवीन उन वस्तुओं को धारण कर आश्रम में प्रवेश करना चाहिए । इस तरह न्याय निरपेक्ष रूप से पुरानी वस्तुओं के त्याग और नवीन यज्ञोपवीत आदि के धारण का कण्ठतः प्रतिपादन श्रुति ही करती हैं । इस तरह से कोई विरोध भी नहीं है । अतएव उपर्युक्त वाक्य का श्रुति वाक्य के अनुसार 'नखानि निकृत्य' वाक्य में यज्ञोपवीत का अर्थ पुराना यज्ञोपवीत मानना चाहिए । जिस तरह नहिंस्यात् सर्वभूतानि वाक्य में हिंसा पद से क्रतुबाह्य हिंसा ली जाती है. उसी तरह । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि—'नखानि निकृत्य यज्ञोपवीतं विसृजते' इस वाक्य के 'विसृजेत्' का अर्थ है कि, यज्ञोपवीत पहनना छोड़ दे, जिससे कि नवीन यज्ञोपवीत के ग्रहण की व्यवस्था में अड़चन हो, और ऐसा अर्थ मानने पर उपचार का भी प्रसङ्ग होगा, क्योंकि विसृज् धातु का अर्थ पूर्वगृहीत वस्तु का त्याग ही होता, अग्रहण नहीं । यद्यपि आप किसी तरह विसृज धातु का अर्थ गृहीत एवं अगृहीत में से किसी का भी त्याग मान सकते हैं, किन्तु विसृज् धातु का साक्षात् अर्थ गृहीत का ही त्याग है । 'नवान् प्रगृह्य' इस वाक्य का अनादर करने पर दण्डादि का भी संग्रह नहीं हो सकता है । अन्यथा पूर्वोदाहृत श्रुति विशेष का विरोध भी होगा । अतएव बहिसूत्रं त्यजेत् बुधः' वाक्य का तात्पर्य पुराने ही यज्ञोपवीत के त्याग में मानना चाहिए ।

प्रश्न उठता है कि 'ब्रह्मचारीपन से, अथवा गृहस्थाश्रम से या वाणप्रस्थ से' ही संन्यास ले ले, इस वाक्य में ब्रह्मचारी के भी संन्यस्त होने का विधान देखा जाता हैं, ब्रह्मचारी को तो दूसरा यज्ञो पवीत होता नहीं, अतएव उसके विषय में 'बहिस्सूत्रम् त्यजेत्' यह वाक्य कैसे लागू होगा ? तो मैं पूछता

हूँ कि; छन्दोग ब्रह्मचारियों के संन्यास में आप 'सशिखं वपनम् कुर्यात्' अर्थात् शिखा के साथ बाल कटाए यह शिखावपन को कैसे अन्वित करेंगे आप ? यदि कहें कि यह वाक्य उसीके शिखावपन का विधान करता है जिसको शिखा हो; तो उसी तरह आप को यह भी मानना चाहिए कि जिसको दूसरा यज्ञोपवीत हो, उसी के यज्ञोपवीत के त्याग का विधान यह वाक्य करता है।

किञ्च, प्रमाणान्तरविरोधपरिहारार्थं बहिस्सूत्रमित्यर्थान्तरं वर्णयन्ति–'बहिस्सूत्रमित्यव्ययीभावः। तेन सूत्राद्बहिर्भूतं समस्तमपि परित्यजेदित्यर्थः। सन्न्यस्यतो ब्रह्मसूत्रातिरिक्तं सर्वमपि परित्याज्यमित्यनेन सन्न्यासानुगुण्यं समस्तनैरपेक्ष्यमुच्यते, तेन न ब्रह्मसूत्रपरित्यागसिद्धिः। 'सशिखं वपनं कृत्वा' इत्यापि, 'सविष्टरमन्नं भुञ्जीत' इत्यादिवत् कर्तव्य साहित्येनान्वयः। तेन शिखासहित एव शेषवपनं कुर्यादित्यर्थः। न पुनः; 'सघृतमन्नं भुञ्जीत' इत्यादिवत्; बहुप्रमाणविरोधात्। ननु; 'यदक्षरं परं ब्रह्म तत् सूत्रमिति कल्पयेत्। यभिनो ज्ञानशिखिनः शिखायज्ञोपवीतिनः॥' इत्यादिवचनबलात् सामान्यतः पुराणनूतनसमस्तप्रतिषेध एवाभिप्रेत इति गम्यत इति चेत्–मैवम्, अन्यपरत्वादस्य वाक्यस्य। तथाहि–इदं वाक्यं विद्वद्विषयम् वा; विविदिषुविषयं वा; परमहंसविषयं वा? पूर्वत्र विद्यास्तुत्यर्थता युक्ता। तथाच, 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ... न कर्म लिप्यते नरे' इति वाक्यमधिकृत्य सूत्रितं भगवता बादरायणेन; 'स्तुतयेऽनुमतिर्वा' इति तेन ब्रह्मविदां शिरसि हृदि च यावदायुषं धार्यं शिखायज्ञोपवीतं ज्ञानान्वितमत्यन्तं प्रशस्तमित्यर्थः। द्वितीये तु अवधानविधिपरतैव; 'यदक्षरम्' इत्यादिना व्यक्ता, दृष्टोपकारे सम्भवति अदृष्टोपकारकल्पनायोगाच्च। अनयोश्च, पक्षयोरस्यार्थस्य नाद्यमविशेषाङ्गत्वसिद्धिरपि। तृतीयस्तु स्यादपि, यद्याश्रमकोक्तिः स्यात्। न च तत्र तत् पश्यामः। सत्यप्याश्रमप्रसंगे गृहस्थावस्थागतद्वितीयसूत्रत्यागमुपदिश्य विहितत्यागजातानुशयं प्रति अर्थवाद इति युक्तम्; अर्थवाद लिङ्गभूयस्त्वात्। न ह्यत्र विधिरनुश्रूयते अन्यथा पूर्वोक्तश्रुत्यादिविरोधस्य दुष्परिहरत्वादिति। भवतु वा एतद्वाक्यमनन्यपरम्, तथापि प्रागुक्तश्रुत्यादिबलात् विकल्प एव स्यात्; न त्वेकान्ततो निषेधः। अन्यथा कुटीचकादीनामपि एकान्ततस्तन्निषेधप्रसङ्गात्। न चैतद्वचनं परमहंसमेवाधिकृत्य प्रवृत्तम्, नियामकाभावात्।

प्रसाद––किञ्च दूसरे प्रमाणों से होने वाले विरोध को दूर करने के लिए प्रामाणिक लोग बहिः सूत्रम् पद का दूसरा भी अर्थ करते हैं। बहिः सूत्रम् पद में अव्ययी भाव समास है; और उसका

अर्थ है यज्ञोपवीत से भिन्न सभी वस्तुओं का त्याग कर दे। संन्यासी को ब्रह्मसूत्र से भिन्न सभी वस्तुएँ त्याग देनी चाहिए, इस वाक्य से संन्यासी की सभी वस्तुओं से संन्यासानुकूल निरपेक्षता बतलायी गयी है। अतः इस वाक्य से ब्रह्मसूत्र के परित्याग की सिद्धि नहीं होती। 'सशिख वपन करके' इस वाक्य को भी 'आसन सहित भोजन करे' इस वाक्य के समान ही 'शिखा के साथ वपन करना चाहिए; इस वाक्य का कर्तव्य के साथ अन्वय करके यह अर्थ करना चाहिए कि शिखा के साथ ही शेष बालों को कटवाए। घृत के साथ अन्न मिलाकर खाए' इस वाक्य के समान नहीं। क्योंकि ऐसा अर्थ करने में बहुत प्रमाणो से विरोध होता है। यदि कहें कि शिखायज्ञोपवीतधारी यति की शिखा ज्ञान को तथा उसके यज्ञोपवीत अक्षर पर ब्रह्म को माने। इत्यादि वाक्यों के बलपर यही माना जाता है कि यति के लिए समानरूपसे पुराने एवं नए सभी यज्ञोपवीतों का त्याग शास्त्र को अभिप्रेत है। तो यह कथन उचित नहीं है-क्योंकि इस वाक्य का दूसरा ही अर्थ है। आपके अनुसार इस वाक्य के विषय विद्वान् हैं ?या विवाद करने की इच्छा वाले ? या परमहंस ? यदि विद्वद् विषयक इस वाक्य को मानें तो मानना होगा कि इस वाक्य में विद्या की प्रशंसा की गयी है। भगवान् बादरायण ने भी 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। 'न कर्म लिप्यते नरे' इस वाक्य के विषय में कहा है कि 'स्तुतयेनुमतिर्वा' अर्थात् उक्त वाक्य में विद्याकी स्तुति की गयी है। इस तरह उक्त वाक्य का अभिप्राय है कि ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा आजीवन हृदय तथा शिर पर धारण किया गया यज्ञोपवीत तथा शिखा ज्ञानयुक्त तथा अत्यन्त श्रेष्ठ है। यदि उक्त वाक्य का विषय विविदिषु को मानें तो फिर मानना होगा कि इस वाक्य में अवधान का विधान किया गया है जो 'यदक्षरम्' इस पद से स्पष्ट है। दृष्ट प्रयोजन के रहने पर अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना नहीं की जा सकती है। इन दोनों पक्षों में यह अर्थ किसी आश्रम विशेष का अङ्ग नहीं सिद्ध होता। तीसरा पक्ष तब आश्रम का अङ्ग हो सकता है जब कि उस आश्रम के कर्म बतलाए जायँ; किन्तु प्रकृत प्रसङ्ग ऐसा है नहीं। आश्रम का प्रसङ्ग होने पर भी गृहस्थावस्था के द्वितीय सूत्र के त्याग का उपदेश करके शास्त्र विहित वस्तु समूह के प्रति त्याग की वासना का अर्थवाद इसे मान लेना ठीक है। और ऐसा मानने में अनेक कारण भी हैं। इस वाक्य में कोई विधि भी नहीं है—अन्यथा पूर्वोक्त श्रुतियों से होने वाले विरोध का आप परिहार नहीं कर सकते है। इस वाक्य को अन्यार्थक भी माना जा सकता है। फिर भी पूर्वोक्त श्रुतियों के बलपर इसे विकल्प ही मानना होगा; इसको सार्वत्रिक निषेध नहीं मान सकते हैं। अन्यथा कुटीचक आदि के भी पूर्ण रूप से यज्ञोपवीत के निषेध का प्रसङ्ग होगा। इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है कि यह वाक्य परमहंस मात्र के लिये आया है।

पूर्वत्रेति। नात्र शिखाकार्यं ज्ञानेनैवेत्युच्यते, बर्हिः कार्यं शरैरेवेतिवत्, किन्तु ब्रह्मविदां ज्ञानान्वितत्वाचित्वेऽपि प्रशस्ता, किं पुनर्ज्ञानमिति ज्ञानप्रशंसार्थमिदं वाक्यम, यथा 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' 'न कर्म लिप्यत' इत्यत्र न कर्मविधिः; किन्तु विद्यास्तुत्यर्थमनुमतिरित्यर्थः। द्वितीयेतिवत्यादि। यदि ब्रह्मस्वरुपातिरिक्तं सूत्रं त्यजेदिति सूत्रत्यागविधिपरत्वं कल्प्यते, तदा अदृष्टोपकारकार्थत्वप्रसङ्गः, यदि तु ब्रह्मस्वरुपातिरिक्तसूत्रशिखादिषु अत्यन्त प्रसक्तो न भवेत्, ब्रह्मज्ञानसम्पादनेऽवहितो भवेदित्यर्थः स्वीक्रियते तदा दृष्टोपकार्यार्थपरत्वम्, अत एतदेव युक्तमित्यर्थः। दोषान्तरमाह अनयोरिति। विद्वन्मात्रस्य विविदिषुमात्रस्य च त्यागः प्रसज्येतेत्यर्थः। लिङ्गभूयस्त्वादिति। शिखादेः ब्रह्मसामानाधिकरण्यज्ञानसामानाधिकरण्यादिलिङ्गम्

नहीति । ज्ञानशिखा इत्यत्र विधिरेव नास्ति, यदक्षरमित्यत्र तत्सत्त्वेपि विधेयसमर्पकपदानन्तर्येण तत्समभिव्याहारेण श्रवणं नास्तीत्यर्थः ।

ननु यदि परमहंसमेवाधिकृत्य काचिच्छ्रुतिः स्मृतिर्वा ब्रह्मसूत्रपरित्यागमेवान्ततो विदधीत, तदा पूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्यादिकं सर्वं यथाकथंचित् कुटीचकादित्रयान्तर्भूतव्यक्ति-विशेषविषय योजनीयमिति चेत्-अहो महर्षित्वं देवानांप्रियस्य ! यतस्त्वम् , आहत्य बहु-तरस्मृत्येककण्ठप्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धार्थाम् ; क्वचित् कैश्चिदप्यनधीयमानाम् , त्वत्पक्षपातिना विकल्पवादिना विज्ञानेश्वरेणानाघ्राताम् ; तत्पक्षं विस्तरेण प्रतिक्षिपद्भिः भास्कराचार्य—यादवप्रकाश–मस्करिप्रभृतिभिरुद्धृत्यापरिहृतामन्यादर्शी श्रुतिं द्रष्टुमिच्छसि । यदि च सोऽपि स्यात् , कथं सर्वस्मर्तॄणां ब्रह्मसूत्रधारणविधानैककण्ठ्यम् ? यच्च त्यागार्थं व्यासादिवचन-मिति कैश्चित् पठ्यते, तदपि तत्तत्कोशेषु न पश्यामः , न चोदाहरन्ति पूर्वे निरूपकाः । न च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे वैदिकपरिगृहीतबहुस्मृतिमात्रस्य जीवितम् इति । लब्धजीवितत्वेऽपि आन्यपर्यमलेपकमतभंगे प्रपञ्चयिष्यते । अतः तद्वचनकारिषु व्यासादिसमाख्यां संकेतेन प्रक्षिप्य धर्मसूनुरिव सत्यवादी भव । एतेन पञ्चरात्रादिमूलः परमहंसस्य ब्रह्मसूत्रपरित्याग इति निरस्तम् , प्रमाणभूतेषु तेषु तथाविधवचनादेरसम्भवात् । सम्भवे चान्यपरत्वस्य ग्रहीतुं युक्तत्वात् । परब्रह्मभूतभगवत्प्रीणनतत्तदर्थविशेषप्रपञ्चने हि पञ्चरात्रस्यैदम्पर्यम् , न सदाचारेषु । तत्र तु औदासीन्यमेव तस्येति न श्रुत्यादिविरोधे तत्र प्रगल्भतेति मध्य-स्थदृष्ट्या पश्यामः । न च पञ्चरात्रमूलत्वेन भागवतपरिगृहीते नैरुक्तेऽपि वेदभागे परि-व्राजकप्रकरणे भवदभिमतं यज्ञोपवीतादिप्रहाणं दृश्यते । न च शाण्डिल्यः सूत्रयति । न च सात्वतादिषु सुरक्षितकोशासु संहितासु तथाविधवचनप्रसङ्गः । अतो युष्मत्कूटस्थपक्ष-पातिनां प्रक्षेपस्तथा स्याद्वा न वेति समीचीनदृष्ट्या भाव्य । अतः परमहंसेष्वपि द्विज सामान्यतः परिव्राजकसामान्यतस्तदवान्तर विशेषतश्च प्राप्तम् ब्रह्मसूत्रं न विशेषतो बाधम-र्हतीति सिद्धम् ।

प्रसाद—किञ्च प्रश्न उठता है कि यदि विशेषरूप से परमहंसों के ही यज्ञोपवीत के त्याग का प्रतिपादन कोई श्रुति अथवा स्मृति करती है तो उसका सम्बन्ध किसी तरह कुटीचक आदि तीन सन्यासियों के अन्तर्गत आने वाले व्यक्ति विशेष से अवश्य होना चाहिए, तो अद्वैती विद्वानों का यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि आप उस श्रुति को अपने पक्ष में उद्धृत करना चाहते हैं, जिनका बहुतसी स्मृतियाँ एक कण्ठ से विरोध करती हैं । तथा प्रत्यक्ष अर्थ का प्रतिपादन करने वाली अनेक स्मृतियोंसे

जिनका विरोध है। कोई भी आपके अभिमत श्रुतियों को कहीं भी नहीं पढता है। आपके पक्षपाती विकल्पवादी विज्ञानेश्वर ने भी उन्हें नहीं उद्धृत किया। उन श्रुतियों को विज्ञानेश्वर के मत का विस्तृत खण्डन करने वाले भास्कर; यादव प्रकाश तथा मस्करी आदि ने उद्धृत भी करके उनका परिहार नहीं किया। यदि ऐसी भी कोई श्रुति होती तो फिर क्यों सभी स्मृतिकार एक कण्ठ से यज्ञोपवीत के धारण का विधान करते? कुछ अद्वैती विद्वान् यह जो पढते हैं कि—'त्यागार्थम् व्यासादिवचनम्' अर्थात् व्यास आदि स्मृतिकारों ने निषेध के लिए तत्-तत् विधानों को किया है; वह भी वाक्य किसी ग्रन्थ में नहीं उपलब्ध होता है, और प्राचीन समालोचक उस वाक्य को उद्धृत भी नहीं करते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष श्रुति का विरोध होने पर वैदिकों के द्वारा परिगृहीत बहुत सी स्मृतियोंके विरोध होने पर परीक्षकों की गोष्ठी में भी किसी अप्रसिद्ध स्मृति का प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जा सकता है। उनको प्रमाणिक मान लेने पर भी उक्त स्मृति का तात्पर्य दूसरा ही है; इस बात का प्रतिपादन हम आलेपकमतभङ्ग के प्रसङ्ग में विस्तार पूर्वक करेंगे। अतएव उन वाक्यों के प्रणेताओं को संकेत के द्वारा व्यास कहकर आप युधिष्ठिर की तरह उसी तरह सत्यवादी सिद्ध होते हैं, जिस तरह अश्वत्थामा नामक किसी हाथी के मरने पर युधिष्ठिरने अश्वत्थामा मारा गया यह घोषणा कर दी। उपर्युक्त प्रतिपादन से यह भी खण्डित हो गया कि परमहंस के द्वारा ब्रह्मसूत्र का त्याग पाञ्चरात्रादि सम्मत है। क्योंकि पाञ्चरात्रादि प्रामाणिक है और पाञ्चरात्रादि में ऐसे वाक्यों का होना असम्भव है। यदि वाक्य हो तो भी उनका अर्थ दूसरा होगा। पाञ्चरात्रों का तात्पर्य पर ब्रह्म श्रीभगवान को प्रसन्न करने वाले तत्-तत् वाक्यों के प्रपञ्चन में नहीं है, सदाचार आदि के विषय में नहीं। ऐसे विषयों में पञ्चरात्र उदासीन हैं अतएव ऐसे श्रुतिविरुद्ध अर्थों में पाञ्चरात्र मुखर नहीं है, यह मैं मध्यस की दृष्टि से कहता हूँ। किञ्च पाञ्चरात्र मूलक होने के कारण भागवतों से परिगृहीत निरुक्त के वेद भाग के परिव्राजक प्रकरण में भी यज्ञोपवीत के त्याग का कोई प्रश्न नहीं उठता है। शाण्डिल्य सूत्र में भी ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। जिनके कोश सुरक्षित हैं; उन सात्वत आदि संहिताओंमें भी ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। अतएव आप अच्छी तरह विचार करें कि आपके पूर्वजों के पक्षपातियों का खण्डन हो जाता है कि नहीं। इस तरह स्पष्ट हो गया कि द्विजसामान्य तथा परिव्राजक सामान्य तथा परिव्राजक विशेष होने के कारण परमहंसों के द्वारा यज्ञोपवीत का बाध नहीं सिद्ध होता है।

एवमन्यपरत्वादस्यवाक्यस्येत्युक्तमुपपादितम्। अनन्यपरत्वमभ्युपेत्याह भवतु वेति। विकल्पवादिनेति। यदि परमहंसस्य उपवीतादिबाधिका काचित् श्रुतिर्दृश्येत तदा बाध एवाभिधीयेत न विकल्प इति भावः। अत इति। कोशेष्वदर्शनादित्यर्थः।

नापि तृतीयः, विषयव्यवस्थापनयोग्यानां वाक्यानां विरोधाभावादेवाऽदृष्टदृष्ट-विकल्पपर्यवसानायोगात्। अन्यपरतया निश्चितानां तु दुर्बलत्वादेव। विरोधे बल-साम्ये च सति हि गत्यन्तराभावाद्विकल्पः स्वीक्रियते। न च गुरुलघुनोर्विकल्पः संभवति गुरुविधायिकस्य शास्त्रस्याननुष्ठानलक्षणाप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न हि लघौ सति गुरौ कश्चिदपि प्रवर्तते। मुख्यामुख्यतया तु विभागः संभवेदपि, यदि अनन्यथासिद्धो लघुविधिः सिध्येत्। न च तदस्तीत्युक्तम्। न चामुख्यं (ख्ये ?) भवद्विशेष मङ्गीकरोषि। न च

मुख्यकल्पशक्तानाममुख्यकल्पस्वीकारो युक्तः। न च तेषां प्रत्यगात्मप्राबल्येन बाह्येष्वौदासीन्यादमुख्यकल्पपरिग्रह इति युक्तम्, शक्तस्यौदासीन्ये प्रत्यवायात्। न च वः काञ्चिदशक्तिं भास्करीयादयः सूक्ष्मनिरूपणोऽपि पश्यन्ति। यथाऽऽहुः— कन्थां वहसि दुर्बुद्धे गर्दभेनापि (भैरपि) दुर्भराम्। शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारः प्रसज्यते (भारो भविष्यति)॥ सन्ध्यावन्दनवेलायां मुक्तोऽहमिति मन्यसे। खण्डलड्डुकवेलायां दण्डमादाय धावसि॥' इति। यत्तु न्यायविदाऽपि विज्ञाने श्वरेणाऽप्युक्तम्-"यज्ञोपवीतधारणं वैकल्पिकम्, 'यज्ञोपवीतं विसृजेत्' इति श्रुतेः" इति, तदपि विकल्पासंभवस्योक्तत्वात् स्वपक्षरक्षणाभिनिवेशकारितमित्यनादरणीयम्।

प्रसाद—वैकल्पिक रूप से यज्ञोपवीत का परित्याग होने पर यज्ञोपवीत के त्याग से होनेवाले पाप परमहंस को नहीं लगते, यह तीसरा पक्ष भी नहीं स्वीकारा जा सकता है। चूंकि यज्ञोपवीत के त्याग तथा उनके धारण को बतलाने वाले वाक्यों के विषय भिन्न-भिन्न हैं, अतएव विकल्प जो है आठ दोषों से दूषित होने के कारण इस स्थल में विकल्प नही स्वीकारा जा सकता है। किञ्च यज्ञोपवीत के त्याग का प्रतिपादन करने वाले वाक्य अन्यपरक हैं अतएव वे वाक्य यज्ञोपवीत के धारण का विधान करने वाले वाक्यों की अपेक्षा दुर्बल हैं। विकल्प तो वहाँ होता है जहाँ पर विरोध हो, अथवा दोनों पक्षों के बल समान हो तो विकल्प को छोड़कर कोई दूसरा मार्ग नहीं होता हैं। गुरु और लघु में कोई विकल्प नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने पर गुरुविधायक शास्त्र का अनुष्ठानाभावरूप अप्रामाण्यका प्रसङ्ग होगा। लघु के रहने पर गुरु को किसी कार्य न में नहीं लगाया जाता है। मुख्य एवम् अमुख्य नामक भेद तो तब हो सकते हैं, जब कि कोई लघुविधि वाक्य अनन्यथा सिद्ध हो सके। किन्तु इस तरह की बात नहीं है, यह मैं पहले कह चुका हूँ। किञ्च आप अमुख्यालाभ कालिकत्व रूप विशेषता को स्वीकारते भी नहीं हैं। किञ्च मुख्यकल्प में समर्थों को अमुख्य कल्प स्वीकारना भी नहीं चाहिए। उनके द्वारा अमुख्य कल्प को प्रत्यगात्मप्राबल्य तथा वाह्यविषयों में उदासीनता के कारण भी नहीं स्वीकारा जा सकता है। व्यक्ति के उदासीन होने पर प्रत्यवाय होता ही है। सूक्ष्म निरूपण करने वाले भास्कर आदि आप की असमर्थता को नहीं देखते हैं। उन्होंने कहा भी हैं-मुर्ख गधों से भी अधिक तो गुदड़ी ढोते हो फिर शिखा और यज्ञोपवीत के धारण करने में तुम्हें कौन सा बोझ होता है। सन्ध्या बन्दन के समय जो कहते हो कि मैं मुक्त हूँ किन्तु लड्डू बँटने पर उसे लेने के लिए दण्ड लेकर दौड़ते हो। न्यायों के जानकार विज्ञानेश्वर भी जो कहते हैं कि--'यज्ञो पवीत वैकल्पिक है' 'यज्ञोपवीत त्याग देना चाहिए; इस श्रुति के अनुसार यज्ञोपवीत त्याग देना चाहिए, वह भी विकल्प नही हो सकता है, अतएव अपने पक्ष के संरक्षण में अभिनिवेश वाले ही कह सकते हैं, अतएव अनादरणीय है।

विषयव्यवस्थापनेति। पुराणद्वितीयविषयतया 'नरतानि निकृत्य यज्ञोपवीतं विसृजेत्' 'बहि सूत्रं त्यजेत् बुध' इत्यादीनां व्यवस्था सम्भवतीति भावः। अन्यपरत्वेति। 'ज्ञानशिखा' इत्यादीनामित्यर्थः। दुर्बलत्वादेव-विकल्पायोगादित्यनुषङ्गः। न चेति। लघुरमुख्य इति स्वीवर्तव्यन्, न च भवदभिमतसूत्रादित्यागात्मको विशेषस्तया स्वीक्रियत इत्यर्थः। न च मुख्येति।

'प्रभुत्वे सति मुख्यस्य योनुकल्पेन वर्तते । न सांपरायिकं तस्य फलं भवति दुर्मते' रिति निषेधादित्यर्थः । प्रत्यगात्मप्राबल्यातिशयादन्यत्रानादर इत्यत्रापि तैरेवोत्तरमुक्तमित्याह सन्ध्येति ।

नापि चतुर्थः, ब्रह्मविदामप्यत्यन्तकर्मनिवृत्तेर्दूषितत्वात्, युष्माभिरपि प्रणवजपाचमनादि कर्मणामद्यापि क्रियमाणत्वात् । 'तस्माद्यज्ञोपवीत्येवाधीयीत' इत्यादेर्दुलंङ्घत्वात् । अर्थप्राप्तभोजनादि कर्मणां च अयज्ञोपवीतिनाऽनुष्ठाने प्रायश्चित्तविधानात् ।

नापि पञ्चमः ; श्रुत्यादिविरुद्धस्याचारमात्रस्यानुपादेयत्वात् । पञ्चशिखदुर्वासः प्रभृतिपरिगृहीत परिव्राजकस्तोमेषु ब्रह्मसूत्रपरित्यागस्य पुराणेष्वदर्शनात् । परिव्राजकानुकारिधनञ्जयादिषु ब्रह्मसूत्रपरित्यागाश्रवणात् । भवदीयमयूथ्यभास्कराचार्ययादवप्रकाश-भगवन्नाथमुनि पारम्पर्यविघटितत्वात् भवत्पक्षप्रवेशितविसम्वादैर्दयाद्योनुदिवैदाचारस्वाहस्मदादिति । अतः सिद्धं परमहंसैरपि यज्ञोपवीतमवश्यं धार्यमिति ।

एवमुपवीतोक्तन्यायेन परिव्राजकसामान्यतः प्राप्तेः, तथा परमहंसमेवाधिकृत्य त्रिदण्डविधानात्, चतुर्णामपि लिङ्गभेदनिषेधाच्च तस्यैकदण्डधारणं निरस्तः । अथ स्यात् 'न चात ऊर्ध्वं शुक्लमम्बरं बिभृयात् एकदण्डी त्रिदण्डी वा' इति बोधायनादिवचनात् त्रिदण्डैकदण्डधारणयोर्विकल्प इति ॥ भवत्वेवम्, तथाऽपि परमहंसस्य एकदण्डधारणमेव इतरेषां त्रिदण्डधारणमेवेति नास्ति नियमः, अविशेषेण तेषां प्रसक्तेः ॥ भवत्वेवं का नो हानिरिति चेत्—नियमाभिमानहानिः । गुरुलघुनोस्तुल्यविकल्पानुपपत्ति चात्र यादवप्रकाशादयः प्राहुः । अतो मुख्यामुख्यतयैवायं विकल्पः स्यात् । तदेतत् भगवान् व्यासः स्पष्टयति, 'त्रिदण्डधारणं शस्तम्' इति । बोधायनादिसामान्यवचनादिकाहिदतैवदण्डधारणस्य त्रिदण्डालाभरूपापद्विषयता हारीतमेधातिथिभ्यां [च ?] व्यवस्थापिता । त्रिदण्डं वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् । वेष्टितं कृष्णगोवालरज्ज्वा तु चतुरङ्गुलम् ॥ नष्टे जलपवित्रे च त्रिदण्डे वा प्रमादतः । एकं तु वैणवं दण्डं पालाशं बैल्वमेव वा ॥ गृहीत्वा विचरेत् तावत् यावल्लभ्यं त्रिदण्डकम् । यत्नेनान्वेषयेन्नित्यम् अप्रमत्तः समाहितः ॥' इति हारीतः । मेधातिथिस्तु, 'यावन्न स्युस्त्रयो दण्डाः तावदेकेन पर्यटेत्' इति । न चैतत्प्रकान्तत्रिदण्डधारणपुरुषविशेषविषयमिति नियन्तुं शक्यम्, 'एकदण्डी त्रिदण्डी वा' इत्यस्याद्यापि तुल्यत्वनिश्चयाभावात् । यद्यपि च प्रथममेव कस्यचित्

त्रिदण्डालाभादेकदण्डग्रहणं सम्भवति, तथाऽपि न तत्र प्रक्रमपरिनियतिरंगीकर्तुं शक्या अमुख्यत्वात्। 'यावन्न स्युस्त्रयो दण्डास्तावदेकेन पर्यटेत्' इत्यस्य चाविशेषेण प्रक्रमेऽपि प्रवृत्तेः।

प्रसाद—चौथा पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि, मैं इस बात का प्रतिपादन कर चुका हूँ कि ब्रह्मनिष्ठों के कर्म की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती है। किञ्च अद्वैत मतावलम्बी ब्रह्मवेत्ता भी प्रणव का जप करते हैं, आचमन आदि कर्मों को करते रहते हैं। किञ्च 'यज्ञोपवीतधारी ही वेदाध्ययन करे' इस वाक्य का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है, यदि ऐसा लेकर यज्ञोपवीत रहित व्यक्ति के द्वारा भोजनादिकर्म का अनुष्ठान किया जाय तो उसके लिए शास्त्र प्रायश्चित्त का विधान करते हैं।

पांचवां पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि शास्त्रादि के विपरीत आचारमात्र की कोई उपादेयता नही है। किञ्च पुराणों के परिशीलन से यह स्पष्ट है कि पञ्चशिख दुर्वासा आदि संन्यासियों ने यज्ञोपवीत का परित्याग नहीं किया था। किञ्च परिव्राजकों का अनुकरण करने वाले धनञ्जय आदि के द्वारा भी यज्ञोपवीत का परित्याग नहीं सुना जाता है। आपके सहचर भास्कराचार्य, यादव प्रकाशाचार्य तथा श्री नाथमुनि की परम्पर में यज्ञोपवीत धारण की परम्परा देखी ही जाती है। किञ्च आपके पक्षमें होने वाले मत भेद से भी उनकी वैधता देखी जाती है; तथा आपके अनुकरणीय आचार असम्भव है। इस तरह सिद्ध होता है कि परमहंसों को भी यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिए।

यज्ञोपवीत के ही समान यति सामान्य के अन्तर्गत होने के कारण तथा परमहंसों के लिए ही त्रिदण्ड का विधान होने के कारण, चारो प्रकार के संन्यासियों का भिन्न-भिन्न चिह्न न होने के कारण उनके द्वारा एक दण्डधारण का निषेध होने से एक दण्ड का धारण निषिद्ध है। यदि कहें कि-'न चात ऊर्ध्वं शुक्लमम्बरं बिभृयात्, एकदण्डी त्रिदण्डी वा' इत्यादि बोधायन के वाक्य का अभिप्राय है कि संन्यास ग्रहण के पश्चात् उज्ज्वल वस्त्र न धारण करे; एक दण्ड अथवा त्रिदण्ड धारण करे' इस वाक्य से एक दण्ड धारण त्रिदण्ड धारण का विकल्प सिद्ध होता है। तो ऐसा होने पर भी यह तो नहीं कहा जा सकता है कि परमहंसों को एक दण्ड ही धारण करना चाहिए तथा उनसे भिन्नों को त्रिदण्ड धारण करना चाहिए। क्योंकि एक दण्ड धारण तथा त्रिदण्ड धारण का यति सामान्य के लिए विधान है। यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते हैं कि ऐसा भी मानलेने में हमारी कोई क्षति नहीं हैं क्योंकि, ऐसा होने पर वे यह नहीं कह सकते हैं कि परमहंसों को एक दण्ड ही धारण करना चाहिए। किञ्च त्रिदण्ड एवं एक दण्ड के विषय में यादव प्रकाश आदि आपके सयूथ्यों ने कहा है कि गुरु एवम् लघु का समानता रूप विकल्प हो ही नहीं सकता है। अतएव यह त्रिदण्ड एवं एकदण्ड विषयक विकल्प को भी क्रमशः मुख्य एवम् अमुख्य ही विकल्प मानना होगा। इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् व्यास कहते है कि त्रिदण्डधारण ही श्रेष्ठ है। बोधायन आदि के सामान्य वचन को व्यवस्थित करते हुए हारीत तथा मेधातिथि कहते हैं कि यदि त्रिदण्ड लाभ न हो सके तो आपत्ति काल में एक दण्ड ले लेना चाहिए। हारीत ने कहा है-

बांस का सुन्दर छिलका सहित, समान पर्ववाले त्रिदण्ड को काली गाय के बाल की रस्सी से चार अंगुल पर्यन्त वेष्टित करना चाहिए। प्रमादवश यदि कमण्डलु अथवा त्रिदण्ड विनष्ट हो जाय

तो पलाश अथवा विल्व का एक दण्ड तब तक ग्रहण करना चाहिए जब तक कि, त्रिदण्ड न मिल जाय।

मेधातिथि कहते हैं कि जब तक त्रिदण्ड न मिले तब तक संन्यासी को एक दण्ड लेकर विचरण करना चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता है कि पुरुष विशेषके लिए ही त्रिदण्ड धारण का विधान है, क्यों कि आज तक एक दण्डसे त्रिदण्ड की समानता का कोई भी प्रमाण नहीं। यद्यपि त्रिदण्ड लाभ से पूर्व ही एक दण्ड ग्रहण सम्भव है. फिर भी इस उपक्रम को यहीं तक सीमित नहीं माना जा सकता है ? किञ्च इसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि जब तक त्रिदण्ड नहीं मिले तब तक एक दण्ड धारण किए रहे।

पञ्चशिखेति। असम्भवादेव न पञ्चम इत्यन्वयः।

किञ्च; प्रत्यक्षश्रुतिसिद्धं त्रिदण्डधारणम्; स्मार्तस्तु विकल्पः। पूर्वं तु श्रुति स्मृत्युभयसिद्धम्, उत्तरत्र तु स्मृतिरेव। 'यद्वै किंच मनुरवदत् तद्भेषजम्'; 'मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिस्सा न शस्यते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिराप्ततमत्वेन परिगृहीतमन्वादिस्मृतिसिद्धं त्रिदण्डधारणम्, विकल्पस्तु यत्किंचित्स्मृतिसिद्धः। भूयस्यः स्मृतयस्त्रिदण्डधारणे पूर्वोदात्ता उपादास्यमानाश्च, विकल्पे तु द्वे तिस्रः संति न वेति न जानीमः। तथा हि दक्षबृहस्पती–'मेखलाजिनदण्डेन ब्रह्मचारीति लक्ष्यते। गृहस्थो यष्टिवेदाद्यैर्नखरोमैर्वनाश्रितः॥ त्रिदण्डेन यतिश्चेति लक्षणानि पृथक् पृथक्॥' इति। शाण्डिल्यः 'दण्डानि त्रीणि संगृह्य धारयेत् विधिपूर्वकम्।' अत्रिः–'लिङ्गं तु वैष्णवं तेषां त्रिदण्डं सपवित्रकम्। त्रिदण्डेन यतिश्चेति लक्षणं वै श्रुतं स्मृतौ॥' दत्तात्रेयः,–'त्रिदण्डिरूपधृग्विप्रः साक्षान्नारायणः स्मृतः। त्रिदण्डी पूज्यते येन विष्णुस्तेन प्रपूजितः॥ अष्टाक्षरेण मन्त्रेण नित्यं नारायणात्मना। नमस्यो भक्ति भावेन विष्णुरूपी त्रिदण्डधृक्॥ त्रिदण्डं लिङ्गमाश्रित्य जीवन्ति बहवो द्विजाः यो हि ब्रह्म न जानाति त्रिदण्डार्हो न स स्मृतः॥ अत्रिदत्तात्रेयौ,–'काणादशाक्यपाषण्डैस्त्रयीधर्मो विलोपितः। त्रिदण्डधारिणा पूर्वं विष्णुना रक्षिता त्रयी॥' हारीतः, 'विष्णुरूपं त्रिदण्डाख्यं सर्वदा धारयेत् यतिः। कुर्यात् त्रिदण्ड ग्रहणं कालक्षेपं न कारयेत्॥' वृद्धदक्षः; 'केशमात्रान् समग्रन्थीन् त्रिदण्डान् वैणवान् यतिः' इति। धारयेदिति शेषः। इत्थं परश्शताः स्मृतयः। विस्तरभयान्न लिख्यन्ते। अतो (१) गुरुलघुविकल्पानुपपत्तेः, (२) शस्ताशस्तत्वकण्ठोक्तेः, (३) त्रिदण्डालाभदशाविषयत्वप्रतिष्ठापनात्, (४) त्रिदण्डधारणस्य प्रत्यक्ष श्रुतिसिद्धत्वात्,

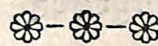
(५) आप्ततमबहुस्मृत्युपबृंहितत्वात् (च !) ; त्रिदण्डधारणमेव चतुर्णां परिव्राजकानाम् अविशेषेण मुख्यम् ; एकदण्डधारनं तु अमुख्यम् , तच्च आपद्दशायां चतुर्णामपि संभवतीति सिद्धम् ।

प्रसाद--किञ्च त्रिदण्ड धारण का विधान प्रत्यक्ष श्रुतियाँ करती हैं । स्मृतियाँ उसे वैकल्पिक बतलाती हैं । त्रिदण्ड धारण को श्रुति तथा स्मृति दोनों प्रमाणित करते हैं, एक दण्ड धारण में केवल स्मृति ही प्रमाण है । श्रुति कहती है—जो मनु ने कहा उसका भेषज के समान सेवन करना चाहिए । मनु स्मृति के विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करने वाली स्मृति अनादरणीय है । इस तरह श्रुतियों तथा स्मृति से समादृत मन्वादि स्मृतियाँ त्रिदण्डधारण का समर्थन करती हैं । विकल्प रूप से उसे कोई स्मृति बतलाती है । पूर्वोपात्त त्रिदण्डधारण का अनेक स्मृतियाँ समर्थन करती हैं; एक दण्ड को त्रिदण्ड के विकल्प रूप से बतलाने वाली दो-तीन भी स्मृतियाँ हैं कि नहीं यह मैं नहीं जानता हूं । उदाहरणार्थ—दक्ष और बृहस्पति कहते हैं कि-ब्रह्मचारी का लक्षण मेखला, मृगचर्म और दण्ड धारण है । गृहस्थ यष्टि तथा वेदधारण करते हैं । बाण-प्रस्थ-नख और दाढ़ी मूँछ नहीं कटाते । संन्यासी का चिह्न त्रिदण्ड धारण है। इस तरह सबों के लक्षण अलग-अलग हैं । शाण्डिल्य कहते हैं—कि संन्यासी को दण्ड त्रय का संग्रह करके उसको सविधि धारण करना चाहिए। अत्रि कहते हैं-वैष्णव सन्यासी का लक्षण त्रिदण्ड एवम् कमण्डलु है । श्रुतियों एवम् स्मृतियों में यति का लक्षण त्रिदण्ड बतलाया गया है । दत्तात्रेय कहते हैं—त्रिदण्डी रूप धारण करने वाले विप्र को साक्षात् नारायण कहा गया है । त्रिदण्डी का पूजन करने वाले को विष्णु की पूजा का फल मिलता है । विष्णु रूपी त्रिदण्डी संन्यासी को सदा 'ओं नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्र से भक्ति पूर्वक नमस्कार करना चाहिए । अनेक ब्राह्मण त्रिदण्ड धारण करके जीते है । ब्रह्म को जाने बिना त्रिदण्ड धारण का कोई अधिकारी नहीं होता । अत्रि तथा दत्तात्रेय कहते हैं कि-कणाद, बुद्ध तथा पाषण्डियों ने ऋग् यजुः तथा सामप्रोक्त धर्म का जब लोप कर दिया तो त्रिदण्ड धारी विष्णु ने वेदों की रक्षा की । हारीत कहते हैं-यति को सदा त्रिदण्डात्मक विष्णु के स्वरूप को धारण करना चाहिए । बिना समय बिताए वह त्रिदण्ड धारण करे । वृद्धदक्ष कहते हैं ललाट परिमाणक समान ग्रन्थि वाले बाँस के तीन दण्डों को यति धारण करे। इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शताधिक स्मृतिवाक्य हैं जिनको विस्तार के भय से हम नहीं लिखते हैं । इस तरह सिद्ध हो गया कि गुरु तथा लघु वस्तुओं में समानता रूप विकल्प न हो सकने के कारण; त्रिदण्ड धारण को प्रशस्त तथा एक दण्ड धारण को अप्रशस्त कण्ठतः उक्त होने के कारण , चूँकि त्रिदण्ड लाभ की स्थिति में एक दण्ड धारण का विधान है, त्रिदण्ड धारण का विधान है ; त्रिदण्ड धारण का समर्थन प्रत्यक्ष श्रुतियाँ करती हैं तथा उसी अर्थ का अनेक आप्ततम श्रुतियाँ समर्थन करती हैं ; अतएव सभी चारों प्रकार के यतियों द्वारा त्रिदण्डधारण मुख्य है और एक दण्ड धारण अमुख्य है , चारों प्रकार के सन्यासियों द्वारा एकदण्डधारण आपद् दशा में विहित है ।

अनेनैव न्यायेन परमहंस शिखावर्जनमप्यनुपपन्नम् , चतुर्णामपि लिङ्गभेदनिषेधस्य दर्शितत्वात् ; विशेष विधायकासिद्धेः । 'मुण्डः शिखी वा' इत्यादिविकल्पस्यापि त्रिदण्डैकदण्डधारणविकल्पवत् मुख्यामुख्यतयैव निर्वाह्यत्वात् । सम्भवति हि केषांचित्

शिरसि व्याध्यादिवशात् केशानुत्पत्तिः । शौनकलिखितगालवात्रिप्रभृतिभिः शिखाधारणस्यैव स्मरणाच्च । गालवेन तु ; 'त्रिस्थानलोमवपनं कृत्वा प्राजापत्यं कृत्वा प्राणायामशतं चरेत्' इति शिखावपने प्रायश्चित्तविधानात् विकल्पवाक्यस्य मुण्डनवाक्यस्य च यथाकथंञ्चिद्योजनीयतया समुच्चयार्थतां शिखाव्यतिरिक्तमुण्डनविषयतां शिखासम्बन्धमात्रविषयतां च यतिलिङ्गसमर्थने परमाचार्याः प्राहुः । शिखावपनमन्तरेण वपनेऽपि मुण्डशब्दस्तत्रैव दर्शितः । यथाह लिखितः—; 'पौर्णमास्यां शिखावर्जं शिरो यतिः । अलाभे व्याधिपीड़ायां राजचोराद्युपद्रवे ॥ वापयेत् पौर्णमास्यादि यावत् स्यात् कृष्णपञ्चमी ।' इति । मेधातिथिः-'कक्षोपस्थशिखावर्जं मुण्डयेत् शिरो यतिः ।' इति । एवं यैरपि , 'कक्षोपस्थशिखावर्जम् ऋतुसन्धिषु वापयेत् । न त्रैमुण्ड्यमतिक्रामेत् भिक्षुरसंवत्सरे क्वचित् ॥ इत्यादिषु शिखाव्यतिरिक्तांशवपने मुण्डशब्दस्य प्रयोगान्मुण्डनवपनशब्दयोः पर्यायवत् अविशेषत्वोपपादनाच्च सामान्यो मुण्डशब्दः शिखाव्यतिरिक्तविषय इति स्वारसिकम् , विकल्पाङ्गीकारे त्वमुख्यत्वं दर्शितमस्माभिः वाशब्दश्चार्थ इति परमाचार्या व्याचख्युः । अतः परमहंसैरप्येकमुपवीतमवश्यं धार्यम् , त्रिदण्डशिखे च मुख्यतया परिग्राह्ये इति सिद्धम् । तदेतत् , 'वर्णाश्रमोचित' इत्युचितशब्देनभाष्यकारैरपि सूचितमिति ॥

॥ इति शतदूषण्यां यतिलिङ्गभेदभङ्गवादः चतुःषष्टितमः ॥ ६४ ॥



प्रसाद—इसी तरह परमहंसों द्वारा शिखा का त्याग भी अनुपपन्न है । क्योंकि चारो प्रकारके संन्यासियों का चिह्न समान है, यह मैं प्रतिपादित कर चुका हुँ । उनके लिङ्ग पार्थक्य का साधक कोई भी प्रमाण नहीं है । संन्यासी मुण्डित रहे अथवा शिखा धारण करे इत्यादि विकल्प का त्रिदण्ड एवम् एक दण्ड धारण विकल्प के समान ही वे वाक्य मुख्यत्व एव अमुख्य रूप से ही निर्वाह्य हैं । किसी के शिर पर व्याधि आदि के कारण केश नहीं भी जम सकते हैं । शौनक लिखित गालव तथा अत्रि स्मृतियाँ शिखा धारण का ही प्रतिपादन करती हैं । गालव का कहना है कि शिखा के कट जाने पर तीन स्थान के रोओं का वपन लरके प्राजापत्य याग तथा सौ प्राणायाम करे । इस प्रायश्चित विधान के आलोक में विकल्प तथा मुण्डन वाक्य का जिस किसी भी तरह निर्वाह करना चाहिए । इसलिए परमाचार्य ने यति लिङ्ग के समर्थन के प्रसङ्ग में इन वाक्यों को समुच्चयार्थक, अथवा शिखा को छोड़कर मुण्डनार्थक अथवा शिखा सम्बन्धमात्र विषयक बतलाया है । और यति लिङ्ग समर्थन प्रकरण में ही शिखा को छोड़कर भी वपन कराने के अर्थ में मुण्डन शब्द का प्रयोग किया गया है । लिखित ने कहा भी है-संन्यासी पूर्णिमा

के दिन शिखा छोड़कर शिर का मुन्डन करे व्याधि से पीड़ित होने अथवा राजा या चोर का उपद्रव होने से मुन्डन सम्भव न हो सकने पर पूर्णिमा से लेकर कृष्ण पक्ष की पन्चमी पर्यन्त मुण्डन कराए। मेधा तिथि कहते हैं कि संन्यासी, कांख; उपस्थ तथा शिखा के बाल को छोड़कर मुण्डन कराए। दूसरे स्मृतिकार कहते हैं—ऋतु सन्धि काल में कक्ष, उपस्थ एवं शिखा को छोड़कर मुण्डन कराए। संन्यासी को कभी भी वर्ष में त्रैमुण्ड्य का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

इन वाक्यों में शिखा को छोड़कर भी मुण्डन कराने के अर्थ में मुण्डन शब्द का प्रयोग हुआ है, तथा मुण्डन एवं वपन शब्द समानार्थक है; अतएव सामान्य मुण्ड शब्द को शिखा छोड़कर मुण्डन कराने के अर्थ में शक्त मानना चाहिति। विकल्प मानने पर तो उसकी अमुख्यता हम सिद्ध ही कर चुके हैं। 'मुण्ड: शिखी वा' का वा शब्द चार्थक है। अतएव परमहंसों को भी एक यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिए। और उन्हें मुख्य रूप त्रिदण्ड तथा शिखा धारण करना चाहिए। यह सिद्ध हो गया। इस बात को श्रीभाष्यकार ने महा सिद्धान्त के आरम्भ में 'वर्णाश्रमोचित' के उचित शब्द से सूचित किया है।

इस तरह शतदूषणी का यतिलिङ्ग भेद भङ्ग नामक चौसठवां वाद समाप्त हुआ॥



समुच्चयार्थतामित्यादि पक्षत्रयं विकल्पवाक्यस्येत्यादिभिः त्रिभिः क्रमात् सम्बध्यते। मुण्डशिखी वेति वाशब्दश्चार्थः। अंशभेदेन तयोस्समुच्चयः। शिखेति। 'सशिख वपनं कृत्वा' इत्यत्र कर्तव्ये साहित्येन शिखासम्बन्धस्यान्वय इत्यर्थः।

नन्वेवं सति 'मुण्डशिखीवे' त्यादिषु मुण्डशब्दानुपपत्तिः, तस्य सर्वकेशाभावविषयत्वात्, 'मुण्डाः काषायवासिन' इत्यादौ जिनभिक्षुषु तथा प्रयोगादित्यत आह शिखावपनमिति अलाभ इत्यादिश्लोकोपादानं, पूर्णमास्याम्मुण्डयेत्, तत्रालाभे आपञ्चमीम्मुण्डयेदि' ति वक्तव्ये वापयेदिति प्रयोगोत्र मुण्डनशब्दो वपनशब्दसमानार्थ इति दर्शयितुम्। पर्यायत्वं—समानार्थत्वम्, अत्रत्यमुण्डनशब्दो वपनार्थक इत्यर्थः। स्वारसिक मिति। वाशब्दस्य विकल्पस्य रसत्वान्मुण्डशिखीवेत्यादिषु तदङ्गीकारे मुण्डत्वास्यामुख्यत्वं दर्शितमित्यर्थः।

इति श्रीमहाचार्यापरनामधेयेन रामानुजदासेन विरचितायां शतदूषीव्याख्यायां चण्डमारुताख्यायां यतिलिङ्गभेदभङ्गनाम चतुःषष्टितमः स्कन्धः ॥६४॥



वाधूलश्रीनिवासार्यतनयं विनयाधिकम्। प्रज्ञानिधिं प्रपद्येऽहं श्रीनिवासमहागुरुम्।
कृष्णः करोतु कल्याणं कंसकुञ्जरकेसरी। कालिन्दी लोलकल्लोलकोलाहलकुतूहली॥

॥ अथ अलेपकमतभङ्गवादः पञ्चषष्टितमः ॥६५॥

अशेषाश्रमबाह्यानामीश्वराज्ञाभरश्रमात् । अलेपकदशाभाजामवलेपोऽत्र लुप्यते ॥

प्रसाद—सभी आश्रमों से जो बाहर हैं, ईश्वर की आज्ञा रूपी भार से थके हुए होने के कारण, अलेपक की दशा को प्राप्त दार्शनिकों के अभिमान को यहां हम विनष्ट कर रहे हैं।

इह जगति केचित् अवधूतसकलवर्णाश्रमधर्माश्चार्वाकसधर्माण आचण्डालमेकराशीभूयः विधिनिषेध यन्त्रणामतन्त्रयन्तः पारिभाषिकब्रह्मविदो विश्वमाविलयन्ति । तैस्सहवादरूपसंभाषणादिकमपि निरय यातनमिति मन्वानाः तद्दर्शनेऽपि सर्वलोकलोचनमवलोकयन्तो दूरीभवन्ति सन्तः । उक्तं हि महर्षिभिः—'पुंसां जटाभरणमौण्ड्यवतां वृथैव मोघाशिनामखिलशौचबहिष्कृतानाम् (निराकृतानाम्)। तोयप्रदान पितृपिण्डविवर्जितानां सभाषणादपि नरा नरकं प्रयान्ति ॥' इति तत्र यद्यपि तदभिमतशूद्रादि [वि] जातीयब्रह्मविदां त्रैवर्णिकब्रह्मविदामिव तथाविधपतनं न सम्भवति, तथाऽपि तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणोपदेशधर्मोपप्लवादिभिः तेषामप्यसम्भाष्यता । स्मर्यते हि—;'कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेन च । शूद्रे वेदाक्षरेणैव निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इत्यादि । तथाऽपि धर्मोपप्लवप्रशमनाशया युगमात्रविप्रकृष्टा वदामः । आचार्यवचनादिभिरीदृशमप्यनुमतम्, 'यत्किञ्चिदपि कुर्वाणो विद्वद्गुरुनियोगतः । तेषां वचनसामर्थ्यात् प्रायश्चित्तीयते न च' इति ।

प्रसाद—इस संसार में सभी वर्णों एवम् आश्रमों के धर्मों का परित्याग करके चार्वाकों के सदृश बने हुए लोगों के सदृश आचरण करने वाले कुछ लोग; चाण्डाल पर्यंत एक होकर, विधि-निषेध धर्मों को स्वीकार किए विना परिभाषिक ब्रह्मवेत्ता बने हुए हैं तथा विश्व को विनष्ट करते हैं। उनके साथ बातें करना भी नरक गमन का कारण बनता है. यह सोचकर परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाले सज्जन उनका दर्शन भी नहीं करते महर्षियों ने कहा भी है—

जो लोग जटा को अपने अलङ्कार के लिए रखते है, व्यर्थ ही मुण्डन किया करते हैं, व्यर्थ आशाएँ रखते हैं, जो किसी प्रकार की शुद्धि नहीं रखते; जो अपने पितरों को जल तथा पिण्ड प्रदान नहीं करते, उनके साथ बात करने पर भी लोग नरक जाते हैं।

यद्यपि वेदपाटी शुद्रादिकों की तथा त्रैवर्णिक के ब्रह्म वेत्ताओं के समान, उस प्रकार का पतन सम्भव नहीं है, फिर भी तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ श्रवणोपदेश रूपी धर्मों के उपद्रव के कारण उनके साथ भी सम्भाषण करना उचित नहीं है। कहा भी गया है—'कपिला गौ का दुग्ध पान करने ; ब्राह्मणी के साथ सहगमन करने, तथा शूद्रों को वेद पढाने वाले का कोई भी प्रायश्चित नहीं है। फिर भी धर्म क्षेत्र में हुए उपद्रव को शान्त होने की आशा से, उनसे थोड़ी दूर दूर रहकर हम बातें कर रहे

हैं कि आचार्यों ने ऐसा करने की अनुमति दी है। कहा गया हैं कि-विद्वानों तथा गुरुजनों की आज्ञा से कुछ अनुचित करने वाला व्यक्ति उनकी आज्ञा के बल से प्रायश्चित का भागी नहीं होता।

सर्वशिष्टबहिष्कृतेयं युष्मदवस्थितिः आश्रमरूपा वा ? पूर्वत्र चतुर्भ्योऽन्या, अनन्या वा ? न तावदन्या, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु पञ्चमाश्रमविधानादर्शनात्। 'अथाश्रमं चरमं सम्प्रविश्य' इत्यादिरपि पारिव्राज्यविषयः प्रसिद्धः। अन्तिममात्रं हि चरमशब्दार्थः, न पुनः प्रसिद्धव्यतिरिक्तः॥ षोडशविधाश्रमप्रतिपादनं तर्हि कथमिति चेन्न, चतुर्णामेव चतुर्धा विभागेन तथा विधानात्॥ नाप्यनन्या, प्रथमं तावत् अनभ्युपगमात्, श्रुतिलिङ्गरत्वप्रसङ्गाच्च। श्रुत्या ज्ञानविधानेन वयमप्याश्रमविशेषनिष्ठा भवामेति चेत्; श्रोत्रियाणां पुरतो मन्दं प्रमाषेथाः, न ह्यकृतप्रायश्चितानां भवतामाश्रमप्रवेशमनुमन्यन्ते धार्मिकाः। न च युष्माभिरनेककालानुवृत्तदुर्वच स्वैरोचितप्रायश्चित्तं कर्तुं शक्यम् स्वैररूपमेव किञ्चिदाश्रमविशेषनियतमिदमस्माकं महद्व्रतमिति चेन्न, तथाविधविध्यदर्शनात्। किञ्चास्मिन् महति सकललोकस्वरससिद्धे व्रते सति किमर्थमपुरुषार्थैरनन्तैर्नियमैः परिक्लेशयन्त्यागमाः। कश्चायमाश्रमो भवता वाङ्मात्रेणापि स्वीक्रियते॥ परमहंसाभिधानः पारिव्रज्यविशेष इति चेन्न, परमहंसादिविशेषमपि विविच्य प्रतिपादयन्तीषु शाट्यायनकाद्युपनिषत्सु पाराशर्यदत्तात्रेयादिस्मृतिषु भवत्परिगृहीतवेषाचारविपरीतोपदेशात्। अत एव मन्वादिषु त्रिविष्टपपात्रपवित्रकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतदण्डानां सामान्येन विधानं न व्यवस्थितविषयमिति वक्तुं शक्यम्। ततश्च परित्यक्तयज्ञोपवीतादिकेष्वेकदण्डिष्वप्यद्यापि आयुष्मती विप्रतिपत्तिर्भास्करयादवप्रकाशादिग्रन्थरसायनसेवया निवर्तते। किं पुनर्विशेषतोऽपि वेदबाह्यसाम्यमङ्गीकुर्वत्सु भवादृशेषु ? त्रिदण्डैकदण्डादिष्वपि च मुख्यामुख्यतया विकल्प इत्यपि स्मृतिभिरेव सिद्धमिति प्रागेवोक्तम्।

प्रसाद--प्रश्न है कि सभी शिष्ट पुरुषों द्वारा बहिष्कृत आप अद्वैती विद्वानों की यह अवस्थिति आश्रम स्वरूप है? अथवा आश्रम व्यतिरिक्त ? यदि आश्रम रूप है तो वह प्रसिद्ध चार आश्रमों से भिन्न हैं अथवा अभिन्न ? भिन्न तो इसलिए नहीं कहते हैं कि श्रुति स्मृति इतिहास तथा पुराण पाचवें आश्रम का प्रतिपादन नहीं करते। 'अथाश्रमं चरमं प्रविश्य इस वाक्य का भी विषय संन्यासाश्रम ही है। चरम शब्द का अर्थ अन्तिम मात्र ही है। प्रसिद्ध चार आश्रमों से किसी भिन्न आश्रम को वह नहीं बतलाता है। यदि कहेंकि तो फिर सोलह प्रकार के आश्रमों का कैसे प्रतिपादन किया गया है ? तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रसिद्ध चार आश्रमों का ही चार चार विभाग करने से वे सोलह हो जाते हैं। चार आश्रमों से अभिन्न भी अपनी स्थिति नहीं मान सकते हैं क्योंकि आप अपने को श्रुतिकिङ्कर होने के

भय से उसके अन्तर्गत मानते ही नहीं। यदि कहें कि श्रुति के द्वारा ज्ञान विशेष को प्राप्त कर हम भी आश्रम विशेष में निष्ठा रखते हैं, तो आप इस बात को श्रोत्रियों के समक्ष नहीं कह सकते हैं; क्योंकि विना प्रायश्चित किए आप लोगों को श्रोत्रिय विद्वान् किसी भी आश्रम में प्रवेश की अनुमति नहीं दे सकते हैं। सुदीर्घ कालसे दुर्वाक्य केपाप बोलने का प्रायश्चित करने में आप लोग समर्थ भी नहीं हैं। यदि कहेंकि यह हमारा महान् व्रत है कि स्वतन्त्र रूप से किसी आश्रम विशेष के नियमों का पालन कर रहे हैं; तो यह भी नहीं कह सकते हैं; क्योंकि उस प्रकार का कोई भी विधि वाक्य नहीं है। किञ्च प्रश्न है कि इस सभी लोगों की स्वतन्त्रता रूप व्रत के रहते हुए शास्त्र अपुरुषार्थ भूत अनन्तनियमों द्वारा क्यों दुख देते हैं? किञ्च आप अपनी वाणी मात्र से किस आश्रम को अपनाए हैं। यदि कहें कि परमहंस नामक संन्यास विशेष का हम पालन करते है, तो यह आप इसलिए नहीं कह सकते हैं कि परमहंसादि का भी भेद करके प्रतिपादन करने वाली शाट्ययनकादि उपनिषदों तथा व्यास, दत्तात्रेय आदि स्मृतियों में आपके द्वारा स्वीकृत वेष एवम् आचार के विपरीत ही उपदेश दिया गया है। अतएव आप यह नहीं कह सकते हैं कि मन्वादि स्मृतियों में त्रिविष्टप् पात्र पवित्रकमण्डलु, शिखा यज्ञोपवीत तथा त्रिदण्ड का सभी प्रकार के संन्यासियों के लिए किया गया विधान विशेष प्रकार के संन्यासियों के लिए है। अत एव यज्ञोपवीत आदि का परित्याग करने वाले; एक दण्डी आदि के विषय में होने वाली विप्रतिपत्ति का विनाश तो भास्कर तथा यादव प्रकाश आदि के ग्रन्थ रूपी रसायन के सेवन से हो जाता हैं। और वेदवाह्यों के सदृश आप लोगों के विषय में क्या कहना है। पहले ही मैं कह भी चुका हूं कि त्रिदण्ड मुख्य विकल्प है और एक दण्ड अमुख्य यह स्मृतियों से सिद्ध है।

ननु द्विविधाः परमहंसाः, विवृतवेषाचाराः गूढवेषाचाराश्चेति, तत्र जाबालिकौषीतकादिश्रुतिषु तन्मूलबोधायनशौनकक्रतुकापिलविश्वामित्रादिस्मृतिषु महाभारते ब्राह्मादिषु च पुराणेषु परमहंसस्य दण्डादिविधानात् विवृतवेषाचारासिद्धाः, वाजसनेयतैत्तिरीयकाथर्वणबाष्कलादिश्रुतिषु तन्मूलभगवद्गीतादिस्मृतीतिहासभागवतादिपुराणादिषु च सर्वत्यागमात्रविधानात् गूढवेषाचारास्सिद्धा इति चेन्न, त्यागोक्त्यादीनां फलसङ्गकर्तृत्वादित्यागविषयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

प्रसाद—यदि कहें कि परमहंस दो प्रकार के होते हैं–खुले वेष तथा आचार वाले और छिपे वेष और आचार वाले। जाबालि तथा कौषितकि आदि श्रुतियों तथा उनका उपबृंहण करने वाली बोधन, शौनक, क्रतु, कपिल, विश्वामित्र आदि स्मृतियों में महाभारत में ब्राह्म आदि पुराणों में जो परम हंस के दण्ड का विधान किया गया है। वह विवृत वेषाचार सिद्ध हैं तथा वाजसनेय; आथर्वण, तैत्तिरीयक, तथा बाष्कल आदि श्रुतियों तथा तन्मूलक भगवद्गीतादि स्मृतियों, इतिहास तथा भागवतादि पुराणों में सर्वत्याग मात्र का विधान होने से; वह गुढ़ वेषाचार सिद्ध विधान है। तो ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि, इनमें केवल फल त्याग मात्र का विधान हैं, यह मैं आगे कहूँगा।

ननु मैत्रायणीयेब्राह्मणे तन्मूलली (लौ?) काक्षि (लौगाक्षि?) गृह्ये च परमहंसस्य दण्डग्रहणाग्रहणयोर्विकल्पोदृश्यते, तथाहि; "परिव्राडेकशाटीपरिहितो मुण्डो

दरपात्री अरण्यनित्यो भिक्षार्थी ग्रामं प्रविशेदासायं प्रदक्षिणेन अवि चकित्सं सार्ववर्णिकं भैक्षाचरणमभिशस्तपतितवर्जम् । अयज्ञोपवीती शौचनिष्ठः काममेकं वैणवं दण्डमाधीत (दीत?)" इति मैत्रायणीयब्राह्मणम् । अत्र कामशब्दात् दण्डग्रहणे विकल्पो दर्शितः लोकाक्षिगृह्ये च, 'अथातः परमहंसपरिव्रज्याविधिं व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य; 'सशिखान् केशान् निकृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतम्' इत्याद्युक्त्वा, पुनरप्याह—'भौनीं जातरूपधरः प्राचीमुदीचीं वा दिशं व्रजेत् तिष्ठ भगवन् दण्डं गृहाणेत्यध्वर्युणा दत्तं मस्तकप्रमाणं सत्वचमृजुं सौम्यमेकं वैणवं दण्डम्' ; 'इन्द्रस्य वज्रोऽसि' ; 'सखा मे गोपायेति यदीच्छेदादधीत' इति, अत्रापि यद्युपबन्धेनेच्छाश्रवणात् विकल्पसिद्धिः । तथा वैखानससूत्रे चतुर्विधचतुराश्रमवर्णनावसरे', 'परमहंसा नाम वृक्षैकमूले शून्यागारे श्मशाने वा आसीना वा साम्बरा दिगम्बरा वा न तेषां धर्माधर्मौ सत्यनृते शुद्ध्यशुद्ध्यादि द्वैतं सर्वसमाः सर्वात्मानः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः । सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणम्' इत्यादि । अत्र; 'साम्बरा दिगम्बरा वा' इति विकल्पो विवृतगूढाचारभेदाभिप्रायेण । परमहंसोपनिषदि तु काष्ठदण्डनिन्दनेन परमहंसानां ज्ञानदण्डत्वं विधीयते । तस्य दण्डधारणं न मुख्यम् तर्हि को मुख्य इति चेत्; अयं मुख्यः; 'न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः ।' 'ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥ काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः । स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकान् ॥' इत्यादि । आह च विष्णुः –; 'अन्नार्थं लिङ्गमुद्दिष्टं न मोक्षार्थं विधीयते इति । मोक्षधर्मे च' 'यतेः सत्यपि लिंगेऽस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम् । निर्मोक्षायेह दुःखस्य लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥ काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुः । लिंगान्यन्नार्थमेतानि न मोक्षायेति मे मतिः ॥' अन्यत्र च–लिंगाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनम् ।' एवमन्यान्यपि लिंगनिन्दापराणि वाक्यानि द्रष्टव्यानि । 'अव्यक्तलिंगोऽव्यक्ताचारः' इत्यादीन्यपि लिंगपरित्यागाभिप्रायाण्येव । तदेवमस्ति परमहंसद्वैविध्यमिति ।

प्रसाद—यदि कहें कि मैत्रायणीय ब्राह्मण तथा तन्मूलक लोकाक्षिगृह्य में परमहंस के दण्डग्रहण तथा अग्रहण रूपी विकल्प देखे जाते हैं । मैत्रायणीय ब्राह्मण में कहा गया है कि 'परिव्राजक एक कपड़ा धारण करे, मुण्ड दरपात्र (कमण्डलु) धारण करे तथा वन में रहे, भिक्षा के लिए वह ग्राम में जाय सायं काल तक प्रदक्षिण विधि से अभिशस्त एवम् पतितों छोडकर सभी वर्णों के यहां भिक्षा ले, यज्ञोपवीत न

धारण करे, पवित्र रहे, इच्छानुसार एक दण्ड धारण करे।' इच्छानुसार होने के कारण दण्ड के विषय में विकल्प है। श्रुति में उसके लिए 'काम' शब्द का प्रयोग है। लोकाक्षिगृह्य में कहा गया है कि-अब मैं परमहंस के संन्यास विधि की व्याख्या करुँगा। यहाँ से प्रारम्भ करके कहा गया है कि-'शिखा सहित केशों को कटवाकर तथा यज्ञोपवीत का त्यागकर'। फिर कहा गया है कि मौन तथा भिक्षुवेष वाला वह पूर्व अथवा उत्तर की ओर जाय तब अध्वर्यु कहेकि हे भगवन् ठहरें और दण्ड ग्रहण करें, इसतरह वह उसे मस्तक प्रमाण का छिलका सहित; सीधा तथा मनोहर एक बांस का दण्ड दे, जिसे संन्यासी यदि चाहे तो 'इन्द्रस्य वज्रोऽसि' 'सखामे गोपाय' इस मन्त्र से ग्रहण करे। यहाँ भी इच्छानुसार दण्ड ग्रहण होने के कारण विकल्प की सिद्धि होती है। इसी तरह वैखानस सूत्र में चार प्रकार के चार आश्रमों के वर्णन के समय कहा गया है कि—परमहंस, वृक्ष के जड तले; एकान्त गृह में; श्मशान में रहे वस्त्र पहने या दिगम्बर रहे, उनके भीतर धर्म एवम् अधर्म, सत्य-मिथ्या, शुद्धि-अशुद्धि आदि द्वैत नहीं रहता वे सबों को एक समान, सबों की आत्मा तथा ढेला, पत्थर एवं स्वर्ण को एक समान सममते हैं, सभी वर्णोंमें भैक्षाचरण करते हैं। यहाँ पर भी 'साम्बरा-दिगम्बरा वा' इस वाक्यांश से विकल्प बतलाया गया हैं। यह विकल्प विवृत वेषाचार एव गूढ वेषाचार के अभिप्राय से ही किया गया है। परमहंसोपनिषद में तो परमहंसों के काष्ठदण्ड की निन्दा करके उनके ज्ञान दण्ड का विधान किया गया है। इसलिए दण्ड धारण मुख्य नहीं है। यदि पूछें कि तो फिर संन्यासी के लिए क्या मुख्य है? तो उत्तर है कि संन्यासी न दण्ड, न शिखा, न यज्ञोपवीत और न आच्छादन ग्रहण करे; यही मुख्य है। कहा भी गया है ज्ञान दण्डो धृतो येन .... महारौरव संज्ञकात्' इति। अर्थात् ज्ञान दण्ड धारण करने वाला ही एक दण्डी कहलाता है, ज्ञान हीन सर्वाशी तथा कण्ठ का दण्डधारण करने वाला भयङ्कर महारौरवादि नरकों में जाता है। विष्णु स्मृति में कहा गया गया हैं कि-लिङ्ग तो अन्नार्थ कहे गये हैं, मोक्षार्थ नहीं मोक्षधर्म में कहा गया है कि यदि के इस लिङ्ग के रहने पर भी, उसके संन्यास में मोक्ष ही कारण है लिङ्ग समूह तो दुःख तथा निर्मोक्ष के कारण हैं। मेरे विचारानुसार तो कषायधारण; मुण्डन, त्रिविष्टप् कमण्डलु ये सभी अन्न प्राप्ति के साधन हैं, ज्ञान के नहीं। अन्यत्र भी कहा गया है कि-वेद कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति लिङ्ग के विना ही होती है। इसी तरह लिङ्ग की निन्दा परक दूसरे भी वाक्य हैं 'अव्यक्त लिङ्गो व्यक्ताचारः' इत्यादि वाक्यों का भी अभिप्राय लिङ्ग परित्याग में ही है। इस तरह सि हैं कि परमहंस दो प्रकार के होते हैं।

तदिदमपेशलम्, गन्धर्वभाषितप्रायैराप्तत्वेऽप्यनिदम्परैः वाक्यैः परमहंसस्य न त्वदिष्टभिदासिद्धिः। इह तावत् त्वत्पक्षपातिविज्ञानेश्वराद्यनुदाहृतत्वात्, त्वत्पक्षप्रतिक्षेपकैर्यादवाचार्यभास्करप्रभृतिभिर्बहुश्रुतेरुपन्यस्य दूषितत्वाभावाच्च सन्दिग्धश्रुतित्वादिषु केषुचि वचनेषु अप्रत्ययादेव परिहारः। अन्येषु त्वन्यपरतयेति संग्रहः। तत्र यदुक्तं मैत्रायणी ब्राह्मणे तन्मूललोकाक्षिगृह्ये च परमहंसस्य दण्डग्रहणाग्रहणयोर्विकल्पो दृश्यत इति-तद सत्, तत्रापि स्मृत्यन्तरादिसम्प्रतिपन्नयैकदण्डत्रिदण्डविकल्पयैव विवक्षितत्वात्। काम मेकं वैणवं दण्डमाददीत यद्वा त्रिदण्डमिति हि तत्राभिप्रायः। एवं, 'यदीच्छेदाददी

इत्यत्रापि येच्छेकं दण्डं ग्रहीतुमिच्छेत् तदैकम् , अन्यथा त्रिदण्डमिति । अन्यथा कथं जातरूपधरस्यैव दण्डग्रहणाग्रहणविकल्पः ॥ विद्वदविद्वद्विषयसन्न्यासभेदसिद्धावविद्वद्विषयं दण्डग्रहणं विद्वद्विषयं तदग्रहण मिति चेत् , किमिदं कर्णौ स्पृष्टः कटिं चालयसि ? जातरूपधरस्य कथं तद्ग्रहणमित्येतदेव ह्यनुयोगास्पदम् । न हि वैष्णवं दण्डं धारयन् कश्चिज्जायते , न च दिगम्बरो विकीर्णमूर्धज एकदण्डधारी कश्चिद्भवतामपीष्टो दृष्टो वा । दण्डग्रहणकाले , काषायमपि गृह्णीयादिति चेत्–किमत्र प्रमाणम् ? । स्मृत्यन्तरादिक–मिति चेत् ; तर्हि तदनुसारादस्मत्प्रदर्शितमेवार्थमङ्गीकुरुष्व । अतस्तत्र सन्न्यसनवेलायां प्रागुदग्गमनावसर एव तथा वेषः , अनन्तरं तु यथालाभं यथेच्छं वा त्रिदण्डैकदण्डयो-रन्यतरस्य काषायादेर्ग्रहणमेवाभिमतमिति भावय । यच्चाविद्वद्विषयं दण्डग्रहणमिति, तदपि साहसिकप्रलपितम् , विद्वांसमधिकृत्यैव तद्विधानात् । कथं चातिशयितविधेन भवता— इतिहासपुराणादिपठितकाषायदण्ड शिखाधारिणः कपिल–पञ्चशिख–दुर्वासः प्रभृतयो महर्षयः , शङ्करादयश्च भवत्सिद्धान्तप्रतिष्ठापकाः ; भगवन्नाथमुनिमिश्रभास्करयादवप्रकाशादयश्चाविद्वांसः इत्युन्नीतम् ? तदेतदवैदिकसिद्धान्तपारस्यमन्तरेण न कस्मै (स्य) चिद्रोचेत् ।

प्रसाद—तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन अनुचित है । गन्धर्वभाषण के समान; आप्त प्रोक्त होने पर भी, इनका अभिप्राय यही है, यह नहीं कहा जा सकता । अतएव न वाक्यों से आपके अभिमत की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि अद्वैतियों के पक्षपाती विज्ञानेश्वर ने इन वाक्यों को नहीं उद्धृत किया है । आपके विरोधी यादवाचार्य भास्कराचार्य आदि ने भी इन वाक्यों को उद्धृत करके इनका खण्डन नहीं किया है । इन वाक्यों का श्रुतित्व संदिग्ध है अतएव इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता है । अन्य वाक्यों का अभिप्राय आपके विपरीत है । यह जो कहा गया है कि मैत्रायणीय ब्राह्मण तथा तन्मूलक लोकाक्षिगृह्य में जो परमहंस के दण्ड के ग्रहण तथा अग्रहण का विकल्प देखा जाता है, वह ठीक नहीं है ; क्योंकि वहाँ भी, दूसरी स्मृतियों में वर्णित एक दण्ड तथा त्रिदण्ड का विकल्प ही विवक्षित है उक्त वाक्य का यही अभिप्राय हैं कि संन्यासी अपनी इच्छा के अनुसार एकदण्ड ग्रहण करे अथवा त्रिदण्ड इसी तरह यदि चाहे तो दण्ड ग्रहण करे , इस वाक्य का भी यही अभिप्राय है कि संन्यासी चाहे तो एक दण्ड ग्रहण करे अन्यथा त्रिदण्ड । यदि ऐसा नहीं हो तो जात रूपधारी के दण्ड ग्रहण तथा अग्रहण का विकल्प होता ? यदि कहें कि सन्यास दो प्रकार का होता है, विद्वद् विषयक और अविद्वद् विषयक, दण्ड ग्रहण अविद्वान् विषयक संन्यास में होता है तथा दण्ड का अग्रहण विद्वद् विषयक होता है । तो मैं पूछता हूँ कि तुम्हारा यह कथन कान छूने पर कमर चलाने के सदृश है ।

प्रश्न है कि जात रूपधारी (बच्चे के सदृश रूप वाले) का ही दण्ड ग्रहण क्यों ? कोई भी बाँस का दण्ड लेकर नहीं पैदा होता है । आपभी किसी दिगम्बर, बिखरेबाल वाले को एक दण्डधारी नतो मानते हैं , और न तो आपको ऐसा अभिप्रेत ही है । यदि कहें कि दण्ड ग्रहण के समय काषाय वस्त्र

भी ग्रहण करें, आपके इस कथन में क्या प्रमाण है ? यदि दूसरी स्मृतियों को प्रमाण मानें तो उनके अनुसार हम लोगों द्वारा प्रदर्शित ही अर्थ को स्वीकार करें। इसलिए संन्यास की वेला में पहले उत्तर की ओर जाने के समय ही उस प्रकार (जातरूप) वेष संन्यासी का होता है। इसके बाद लाभ के अनुसार तथा इच्छा के अनुसार त्रिदण्ड तथा एक दण्ड में किसी एक का तथा काषाय आदि का ग्रहण ही अभिप्रेत है। यदि कहें कि दण्ड ग्रहण अविद्वद संन्यास का होता है; यह साहसिक प्रलाप मात्र ही है। क्योंकि विद्वानों के लिए दण्ड ग्रहण का विधान है। अतिशयित विद्या वाले आपने इतिहास पुराणादि में काषाय; दण्ड एवम् शिखाधारी कपिल, पञ्चशिख तथा दुर्वासा आदि महर्षियों आपके सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक दण्डधारी शङ्करादि आचार्य, भगवन्नाथमुनि, भास्कराचार्य तथा यादवप्रकाश आदि को विद्वान् मान लिया ? आपके इस कथन को कोई भी परीक्षक अवैदिक सिद्धान्त के सार से भिन्न नहीं मान सकता है।

यत्तु विखनस्सूत्रे, 'साम्बरा वेति विकल्पो विवृतगूढाचाराभिप्रायेण, इति, तदपि न; तदसिद्धेरेव तद्विषयत्वासिद्धेः। तत्र हि निस्सङ्गत्वप्रतिपादनाय तथातथा व्यपदेशः; यथा; "वृक्षमूले शून्यागारे श्मशाने वा वासिन" इत्यत्र न व्यवस्थितविषयो विकल्पः तद्वदत्रापि। 'न तेषां धर्माधर्मौ सत्यानृते शुद्ध्यशुद्ध्यादि द्वैतं सर्वसमा' इत्यत्रापि न ह्यधर्मासत्याद्यनुमतिः क्रियते। तथासति तेषामित्यविशेषेण परामृष्टानां विवृतवेषाणामपि तदनुमतिप्रसङ्गात्। न च तदिच्छसि। अतस्तत्राप्यधर्मा सत्यादेः स्वाश्रमांगभूतकतिपयधर्मव्यतिरिक्तधर्मादीनां च स्वरूपतः प्रहाणमुच्यते।

प्रसाद—विखनस् सूत्र के 'साम्बरा दिगम्बरा वा' इस विकल्प को गूढाचार वेषविषयक मानकर व्याख्या की गयी है, वह भी ठीक नहीं है। विखनस् सूत्र में तो संन्यासी के निस्सगत्व का प्रतिपादन करने के लिए उस तरह की बात कही गयी है। जिस तरह वृक्षमूल, शून्यगार तथा श्मशान में परमहंस को निवासी बतलाकर उसके व्यवस्थित विषयक विकल्प नहीं बतलाया गया है; उसी तरह यहाँ भी परमहंस में धर्म–अधर्म, सत्य मिथ्या, शुद्धि अशुद्धि आदि द्वन्द्व नहीं होते, इस वाक्य में संन्यासी को अधर्म अथवा पाप करने की अनुमति नहीं दी गयी है। अन्यथा तेषाम् इस बहुवचनान्त प्रयोग के द्वारा परामृष्ट विवृत्तवेष वालों के भी पापादि करने की अनुमति का प्रसङ्ग होता। विवृतवेषवालों की अधार्मिकता आपको भी अभिप्रेत नहीं है। अतएव वहाँ भी अधर्म असत्य आदि तथा जो आश्रम के अङ्गभूत कुछधर्मों से भिन्न धर्म आदि का स्वरूपतः त्याग बतलाया गया है।

यत्तु परमहंसोपनिषदि काष्ठदण्डानिन्दनेन ज्ञानदण्डविधानमित्युक्तम्; तदपि, 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितु प्रवर्तते; अपितु निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्' इति न्यायेन ज्ञानदण्डविधानादरादेव। यथा अनुदितहोमनिन्दा उदितहोमप्रशंसार्था तथेहापि। अन्यथा काष्ठदण्डधारिणः कथं महारौरवादिप्राप्त्यभिधानम्? तथा च सति काष्ठदण्डधारणस्य महापातकत्वप्रसंगेन तद्धारिणो दूरपरिहरणीयत्वप्रसङ्गात्। तत्र शिखायज्ञोपवीताच्छादनप-

रित्यगोक्तिरपि तत एवान्यपरेति सिद्धम् । विवृतवेषादिविषयतया च वक्ष्यमाणप्रकारेण यथा सम्भवं तन्निर्वाहस्सर्वत्र । एवं लिंगनिन्दापराण्यपि सर्वाणि स्मृतिवचनानि लिंगमात्रवतां तत्तद्धर्मविकलानां नि दापराणीति तत्रतत्रैव पूर्वाप परामर्शेन सुव्यक्तम् । 'अव्यक्तलिंगोऽव्यक्ताचारः' इति वाक्यं तु लिंगाचारयोर्गोपनमवमन्तव्यतार्थं विदधातीत प्रतीयते । न ह्यलिंगोऽनाचार इत्युच्यते । अतो नास्ति भवदभिमतम् परमहंसद्वैविध्यम् । त्रिदण्डैकदण्डादिविकल्पास्तु सम्भवन्ति ।

प्रसाद—परमहंसोपनिषद् में काष्ठदण्ड की निन्दा पुरस्सर ज्ञानदण्ड का जो विधान किया गया हैं वह भी, 'नहि निन्दा निन्द्यनिन्दितु प्रवर्तते अपितु निन्दितादतिरिक्त प्रशंसितुम्' अर्थात् निन्दा की प्रवृत्ति निन्द्य वस्तु की निन्दा करने हेतु नहीं होती , अपितु निन्दित व्यतिरिक्त की प्रशंसा करने के लिए होती है । इस न्याय के अनुसार ज्ञान विधान के समादरार्थ ही उस वाक्य की प्रवृत्ति माननी होगी । यह उसी तरह मानना चाहिए, जिस तरह अनुदितहोम (सूर्योदय से पूर्व के होम) की प्रवृत्ति उदितहोम प्रशंसा के लिए होती है । अन्यथा काष्ठदण्डधारी के लिए रौरवादि नरक की प्राप्ति कैसे बतलायी जाती काष्ठदण्डधारण के निषिद्ध होने पर वह महापातक बन जाता ऐसी स्थिति में काष्ठदण्डधारी दूरतः ही त्याज्य होते । किञ्च ऐसी स्थिति में दण्डधारी द्वारा, शिखा' यज्ञोपवीत आदि के परित्याग के अभिधान को भी अन्यार्थक मानना पड़ेगा । विवृत्तवेषादि विषयक इन वाक्यों को मानने पर भी इनका किसी तरह निर्वाह सम्भव है । इसी तरह चिह्नों की निन्दा करने वाले सभी स्मृति वाक्यों का भी तात्पर्य चिह्न मात्र धारण करने वाले विभिन्न धार्मिका चरणों से रहितों, की ही निन्दा में हैं, यह बात उन वाक्यों के पूर्वा पर परामर्श से ही स्पष्ट है । 'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' इस वाक्य का तात्पर्य लिङ्ग तथा आचार के गोपन में है न कि लिङ्ग तथा आचार राहित्य के प्रतिपादन में । अतएव आपके अभिमत परम-हंसों का द्वैविध्य नहीं स्वीकारा जा सकता है । हाँ उनके त्रिदण्ड और एक दण्ड धारण का विकल्प सम्भव हैं ।

ननु श्रीभगवते, 'न्यासे कुटीचकः पूर्वं बहूदो हंसनिष्क्रियौ' इति परमहंसस्य निष्क्रियत्वमुक्तमिति चेत्, किमतः ? गूढाचारसिद्धिरिति चेत् ; कुटीचकादित्रयेण सह परमहंसावान्तरविशेषस्य निर्देशायोगात् । न हि पृथिव्यादिद्रव्यवर्गपरिगणने घटः पट इत्यपि परिगण्यते । परमहंसमात्रोपादाने तु न त्वदभिमतसिद्धिः । तस्य निष्क्रियत्वोक्तिस्तु पूर्वपूर्ववत्कर्मप्राचुर्याभावात् , अल्पधने पुरुषे दरिद्रशब्दवत् । न च सर्वे परमहंसाः सर्वक्रियाशून्या इति त्वयापि स्वीकृतम् । विवृतगूढवेषाचारविभागाभावप्रसङ्गात् ।

प्रसाद—यदि कहें कि श्रीभागवत ग्रन्थ में परमहंस और बहुदक को निष्क्रिय बतलाते हुए कहा है कि 'न्यासे कुटीचकः पूर्वं बहुदो हंसनिष्क्रियौ' अथात् -पहले प्रकार का कुटीचक संन्यासी होता है तथा बहूद तथा हस निष्क्रिय होते हैं । तो इस कथन से आपको कोई लाभ नहीं है । यदि कहें कि इस वाक्य से संन्यासी के गूढाचार की सिद्ध होती है, तो आप यह इसलिए नहीं कह सकते हैं कि

कुटीचक आदि तीनों प्रकारके संन्यासियोंके साथ परमहंसके आवान्तर विशेषताओं का निर्देश असम्भव है। लोकमें भी देखा जाता है कि पृथिवी आदि द्रव्यों की गणना के प्रसङ्ग में घट, पट आदि की गणना नहीं की जाती है। केवल परमहंस मात्र कहने परभी आपके अभिमत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि पहले दो प्रकारके संन्यासियों की अपेक्षा कम कर्म होनेके कारण परमहंस को निष्क्रिय कहा गया है। यह उसी तरह से सम्भव है जिस तरह अल्पधन वाले व्यक्ति को दरिद्र कहा जाता है। आप भी नहीं स्वीकारते हैं कि सभी परमहंस सभी क्रियाओं से शून्य होते है, क्योंकि ऐसा मानने पर आप परमहंसों के विवृत वेषाचार और गूढवेषाचार इन दो भेदों को नहीं कर सकते हे।

ननु करतलामलकीकृतसकलनिगमस्मृतीतिहासपुराणार्थैः समस्तन्यायसार्थवाहैः परमहंसपरिव्राजकपरिबृढैर्भगवच्छङ्कराचार्यैरशेषोपनिषत्स्मृतिजलधिसुधायामुपदेशसाहस्रिकायां सर्ववर्णाश्रमधर्मत्यागरूपो गूढाचारधर्मः स्वपक्षतयाऽभीक्ष्णं सयुक्तिकं प्रदर्शित इति चेत्, अहो भवान् महीयोभिराचार्यवर्णनादृष्टैरनिष्टान् विजिगीषते। ये पुनर्यत्प्रतिपादिते निर्विशेषात्माद्वैते प्रपञ्चप्रवचनादौ च प्रमाणसरणिमनुसरन्तो विवदन्ते, ते कथं तत्समर्थितेऽप्यन्यस्मिन्नर्थे चरितार्थधियो भवेयुः। ये चात्र अशरीरत्वादयो युक्त्याभासा वर्णाश्रमधर्मत्यागाय वर्णिताः, तेऽपि जीवन्मुक्तिजीवघातेन (३१) विनिहता वेदितव्याः। शरीरतत्प्रयुक्तसुखदुःखाद्यनुषङ्गस्य प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेन तन्निषेधस्य तद्बाधितत्वात्। स्वरूपेण वर्णाश्रमरहितस्याप्यात्मनः शरीर विशिष्टाकारेण तद्वत्तामुपजीव्य प्रवृत्तैः शास्त्रैरेव तत्प्रयुक्तानुष्ठानसिद्धेः। न हि देहात्मभ्रमोपजीवनेन पारलौकिकशास्त्रोदयः। अतो न कथंचिदपि युष्मदनुष्ठीयमानं स्वैरकमसहं पारमहंस्यं नाम किमपि दृश्यते।

प्रसाद—यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि परमहंस परिव्राजकों में श्रेष्ठ भगवान् शङ्कराचार्य ने सम्पूर्ण वेदों, स्मृतियों तथा इतिहास पुराणों के अर्थों का साक्षात्कार करके सम्पूर्ण मीमांसोक्तन्याय समूहों के द्वारा सम्पूर्ण उपनिषत् तथा स्मृति की सुधा रूपी उपदेशसाहस्री नामक ग्रन्थ में सभी वर्णो तथा आश्रमों के धर्म का त्यागरूप गूढाचार धर्म को अपने पक्ष रूप में युक्ति पूर्वक बार-बार दिखाया है,तो मैं कहता हूँ कि आप महान् योगी हैं कि अपने आचार्य के वर्णनों को भी न देखकर, अपने अनभिप्रेत अर्थपर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। जो लोग अपने आचार्य द्वारा प्रतिपादित निर्विशेषाद्वैत के प्रपञ्च और प्रवचन आदि में प्रमाण पद्धति का अनुसरण करते हुए विवाद करते हैं, वे लोग अपने आचार्य के द्वारा समर्थित अपार्थं के विषय में अपनी बुद्धि को कैसे चरितार्थ कर सकेंगे? जिन लोगों ने युक्त्याभास के द्वारा वर्णाश्रम धर्म का त्याग करने के लिए अशरीरत्व आदि का प्रतिपादन कि हैं, वे लोग भी जीवन मुक्ति के पूर्णतः खण्डन के द्वारा विनष्ट हो गये हैं। क्योंकि जीवनमुक्ति का बाध तो जीवन्मुक्तों से संबद्ध उनके शरीर तथा शारीरिक सुख दु.ख के साक्षात्कार से ही हो जाता है। क्योंकि शास्त्र भी आत्माको स्वरूपतः वर्णाश्रम रहितत्व तथा शरीर विशिष्ट रूप से उनके वर्णाश्रम सहितत्व का प्रतिपादन कर वर्णाश्रमोचित धर्मों के अनुष्ठान का विधान करते हैं. देहात्म भ्रम को लेकर पारलौकिक विषयक शास्त्रों की

प्रवृत्ति नहीं होती । अतएव किसी भी प्रकार अद्वैती विद्वानों द्वारा अनुष्ठित स्वैरकर्म पूर्ण, परमहंस्य की सिद्धि नहीं हो सकती हैं ।

ननु ये बहिर्विषयविमुखतया निषिद्धनिवृत्तविरक्तलिङ्गधारिणः, त एव साक्षात्परमहंसाभिधान ब्रह्मविदः, वयं तु नाममात्रधारिण इति चेन्न—तैरप्याश्रमविशेषनियतलिङ्गविशेषस्य धर्मविशेषस्य च अपरित्यागात् । यच्च तेषां विषयवैमुख्यं निषिद्धनिवृत्तिकारणमुक्तम्, तदपि किं निश्शेषशब्दस्पर्शादि वैमुख्यरूपम्, उत कतिपयवैमुख्यरूपमिति । नाद्यः, कवलग्रहणादौ कस्यचिदप्यंशस्य न्यूनत्वादर्शनात् ॥ मिथ्यैतदिति चेत्, शान्तं पापम् । कृतघ्नोऽसि । ये भवत्सु ब्रह्मवित्त्वेन बम्भ्रम्यमाणाः प्रतिदिनमासने कृत्वा यथाभिलाषं चतुर्विधमन्नमुपहरन्ति ; ते पुनरेवंविधं वाक्यमाकर्ण्य कथं न परिदूयेरन् ! येन च प्रमाणेन ब्रह्मविद्भोगानां मिथ्यात्वापादनं तेनैवाब्रह्मविद्भोगानामपीति सर्वेषामनायासेन विषयवैमुख्यं समर्थितम् । द्वितीयेऽपि, यत्किंचिद्विषयवैमुख्यमात्ररूपम्, उत निषिद्धवैमुख्यमात्ररूपम्, उत निषिद्धवैमुख्यरूपमिति । पूर्वत्र; अन्येषामपि तत्संभवेन पुनरप्यविशेषः । उत्तरत्रापि तन्निषिद्धवैमुख्यं किमनिष्टत्वमात्रात् उत शास्त्रसिद्धानर्थ हेतुत्वाध्यवसायेन ? नाद्यः, विकल्पासहत्वात् । अनिष्टत्वमपि शस्त्राग्निकण्टकादिवत् सर्वप्रतिकूलत्वोपलम्भाद्वा, ब्रह्मवित्प्रतिकूलत्वोपलम्भाद्वा ; आनुकूल्यानुपलम्भमात्राद्वा ? न प्रथमः, सर्वलोकोपलम्भविरोधात् ! अतएव नापरः, ब्रह्मविदां स्वात्मप्रत्यक्षविरोधात । न हि मांसादिषु संस्कृतेषु ब्रह्मविदामपि निम्बादिवत प्रातिकूल्यादिबुद्धिः । परेषां तु चेष्टाकारलिङ्गकानुमानविरोधात् (धः) । शैलूषादिचेष्टादिवदिहापीति चेन्न, परविप्रलम्भ–परानन्दजननादिप्रयोजनायोगेन तथाविधबुद्धिपूर्वकत्वानुपपत्तेः । स्वार्थताबुद्धिपूर्वकत्वे तु वैमुख्यासिद्धेः, भक्षणाद्यर्थप्रवृत्तेरबुद्धिपूर्वकत्वायोगात ॥ निषिद्धार्थप्रवृत्तिरेव तेषां नास्तीति हेत्वसिद्धिरिति चेत् ; प्रामादिकनिषिद्धप्रवृत्तेर्ब्रह्मविदामपि सम्भवात् । बुद्धिपूर्वकनिषिद्धप्रवृत्त्यभावस्तु शास्त्रसिद्धानर्थहेतुत्वाध्यवसायेनैवेति द्वितीयः कल्पः स्यात् । तथा च निषेधशास्त्र किङ्करत्वेनाविशेषात विधिशास्त्रमप्यनुबध्नातीति दुरन्तता । न चैतदुभयं भवतामिष्टम् । यदाहुः, 'दग्धाखिलाधिकारत्वात ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः । वर्तमानः श्रुतेर्मूर्ध्नि नैव स्यात विधि (वेद) किङ्करः ॥' इति ॥ अत्याश्रमपक्षोऽयम्, आश्रमपक्षे तूभयमपीष्टमिति चेत्

तर्हि यथाविधि लिङ्गाचारावनुवर्तस्व । तदा तु न विवदामहे । शास्त्रवश्यत्वाभावेऽपि ज्ञानिनोऽत्यर्थनिषिद्धनिरोधवासनाबलादेव बुद्धिपूर्वनिषिद्धनिवृत्तिरिति चेन्न, निषिद्धनिरोधवासना हि निषिद्धे प्रवृत्तिं निवर्तयति । न चाब्रह्मविदो निषिद्धं ब्रह्मविदोऽपि निषिद्धं भवति, अतिप्रसङ्गात् । अतश्चानिषिद्धत्वात् प्रवृत्तिरेव स्यात् । अन्यथा ब्रह्मचर्यावस्था–निषिद्धतत्सन्निरोधवासनया उत्तरेषामाश्रमाणामनारम्भप्रसङ्गात् ॥ विधिवशात् तत्र पुनः प्रवृत्तिरिति चेन्न, ब्रह्मचारिनिषिद्धेषु गृहस्थादीनामविहिताप्रतिषिद्धेषु केषुचिदन्तर्माल्या–दिष्वप्रवृत्तिप्रसंगात् । यदि च प्राङ्निषिद्धत्वमात्रेण तदानीमनिषिद्धेऽपि वासना निराधिका, तदा ब्रह्मविदो न काचिदपि प्रवृत्तिः स्यात्, सर्वेषामपि कर्मणामधिकारिभेदेन देशकालादिभेदेन वा निषिद्धत्वात् ॥ अस्तु तादृशो निरोधोऽस्माकं ब्रह्मविदिति चेन्न, समाधिं स्वापादिकं वाऽन्तरेण तादृगवस्थत्वासिद्धेः । न च समाधिस्थं तथाविधं प्रतिक्षिपामः । तस्याप्युत्थानकाले विधिनिषेधौ गलग्राहिणावेव ॥ अस्तु तर्हि लोकसंग्रहार्थं निषिद्धवैमुख्यमिति ; तर्हि न वैमुख्यम् ; अपि तु बलान्निरोधः । तथाच विहिताभिमुख्यमप्यभिमुखीभवति लोकसङ्ग्रहोऽपि लोकक्षोभ जन्यपापभयादेवेति तदेव शास्त्रवश्यत्वम् ॥ ब्रह्मानुभवरसवशादेव निषिद्धक्षुद्ररसवैमुख्यमस्त्विति चेन्न, अविहिताप्रतिषिद्धेऽप्यप्रवृत्तिप्रसंगात् । सा च सत्यपि समाधिदशैवेति प्रागेवोक्तम् । एतेन जरठवत् भोक्तृत्वशक्तिवैकल्यात् ब्रह्मविदो भोगवैमुख्यमिति च प्रत्युक्तम् । फलाभात् ; निवारकराजादि–भयाद्वा तद्वैमुख्यमिति तु स्यात् । तदेतत् तुरंग [म] ब्रह्मचर्यम् । निर्विघ्नलाभदशायां तु स्वैरमेव ध्यायाताम् ।

प्रसाद—यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि जो संन्यासी बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर, तथा निषिद्धाचरणों से रहित होकर विरक्त चिह्नों के को धारण करते हैं; वे ही परमहंस शब्द के साक्षात् अभिधेय हैं, हम लोग तो नाम मात्र के परमहंस हैं, तो ऐसा भी वे नहीं कह सकते हैं; क्योंकि वे भी आश्रम विशेष के लिए निर्धारित लिङ्ग विशेष तथा धर्मविशेष का परित्याग नहीं कर पाते । उन लोगों का जो निषिद्धनिवृत्तिपूर्वक विषयवैमुख्य बतलाया गया है, उसके विषय में प्रष्टव्य है कि क्या वे सम्पूर्ण रूपरस शब्दादि का परित्याग कर देते हैं अथवा कुछ ही ? सम्पूर्ण रूपरसादि का त्याग तो इसलिए नहीं कहा जा सकता है, कि कवलग्रहणादि क्रियाओं में उनकी किसी भी प्रकार की विषयोंके भोग में न्यूनता नहीं देखी जाती है । यदि आप इन क्रियाओं को मिथ्या मानें तो; फिर आप कृतघ्न माने जायेंगे । आप लोगों में ही जो ब्रह्मज्ञानी घूमते हुए प्रतिदिन अग्रासन करके अपनी इच्छा के अनुकूल चार प्रकार के अन्नों का उपभोग करते हैं, वे आपकी इन बातों को सुनकर अवश्य दुःखी होंगे । जिन प्रमाणों के द्वारा ब्रह्मज्ञानी

के भोगों को आप मिथ्या सिद्ध करते हैं उन्हीं प्रमाणों द्वारा अब्रह्मज्ञानी के भी भोगों का मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा' इस तरह तो सबों के विषय वैमुख्य की सिद्धि हो जायेगी। यदि कुछ शब्दादि से विमुखता परमहंसों की मानें तो प्रश्न है कि वे जिस-किसी विषय से विमुख रहते हैं अथवा निषिद्ध विषयों से? यदि स्वप्रतिकूल किसी विशेष विषय से पराङ्मुख रहते हैं तो ऐसा सब लोग ही करते है। निषिद्ध वैमुख्य के विषय में पूछना है कि क्या वे अनिष्ट होने के कारण उन विषयों का परित्याग करते हैं, अथवा शास्त्रनिषिद्धत्व का निश्चय होने के कारण ? प्रथम पक्ष तो विकल्पासह है। क्योंकि उन विषयों का अनिष्टत्व भी कि प्रकारक है ? शस्त्र, अग्नि, कण्टक आदि के समान सबों के प्रतिकूलत्व है या केवल ब्रह्म ज्ञानियों के प्रतिकूल है; या उसमें अनुकूलत्व की उपलब्धि न होने के कारण प्रतिकूलतारूप है ? प्रथम पक्ष तो सम्पूर्ण लोक की उपलब्धि के विरुद्ध है। द्वितीय पक्ष ब्रह्मज्ञानियों के स्वात्म प्रत्यक्ष के विपरीत है। ब्रह्मज्ञानियों को भी निषिद्ध पकाया हुआ मांस निम्ब की तरह कड़वा नहीं प्रतीत होता है ब्रह्मज्ञानियों से भिन्नों की तो चेष्टा, तथा आकार आदि को ही देखकर पता चलता है कि उन्हें सिद्ध मांसादि अच्छे ही लगते हैं। यदि कहें कि उन लोगों की चेष्टाएँ भी शैलूष आदि की चेष्टाओं के समान मिथ्या हैं तो, यह इसलिए नहीं कह सकते हैं कि उन लोगों को निषिद्ध वस्तुओं के सेवन काल में आनन्दानुकूल चेष्टाओं के द्वारा दूसरों के वञ्चित करने का कोई प्रयोजन नहीं है। यदि कहेंकि निषिद्ध वस्तुओं में उनकी प्रवृत्ति ही नहीं है तब तो फिर ब्रह्म ज्ञानियों की भी प्रामादिक निषिद्ध में प्रवृत्ति संभव है। किञ्च जानकर निषिद्ध विषयों में प्रवृत्ति तो शास्त्र सिद्ध अनर्थ के कारण का निश्चय पूर्वक होने से द्वितीय कोटि के अन्तर्गत होगी। ऐसी स्थिति में यदि आप निषिद्धशास्त्र के किङ्कर हैं तो फिर आप को विधि शास्त्र भी बाँधेगा ही। आपको विधि और निषेध दोनों में से किसी प्रकार के शास्त्र का अनुगमन अभिप्रेत नहीं हैं।

उपदेश साहस्री में यह जो कहा गया है कि ज्ञानाग्नि के द्वारा सभी कर्मों के अधिकारों का प्रदाह हो जाने के कारण शास्त्रों से ऊपर उठे हुए मुनि जन विधि शास्त्रों के वशवर्ती नहीं हैं। यह अत्याश्रम पक्ष के लिए बात कही गयी है; किन्तु आश्रम पक्ष में तो हमें विधि एवम् निषेध दोनों प्रकार के शास्त्र मान्य हैं। तो यह भी कथन ठीक नहीं है. क्योंकि तब तो आपको विधि शास्त्र के अनुसारही लिङ्ग एवं आचार को स्वीकारना चाहिए। और ऐसी स्थिति में हमारा आप से कोई विवाद ही नहीं है। यदि कहें कि शास्त्रवश्य न होने पर भी ज्ञानी का निषिद्ध से बचने की प्रबल वासना रहती है, अतएव वे बुद्धि पूर्वक निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हैं, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध गृहस्थों के लिए अनिषिद्ध तथा अविहित आदि किसी भी कार्य में ज्ञानियों की अप्रवृत्ति हो सकती है। यदि कहेंकि पहले केवल निषिद्ध में प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण प्रबल वासना उनकी अप्रवृत्ति को विहित कार्य से भी नहीं रोक पाती है। अर्थात् वे विहित कार्य में भी नहीं प्रवृत्त हो पाते हैं। तो फिर ब्रह्मज्ञानी की किसी भी प्रकार की क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सभी कर्म किसी न किसी अधिकारी के लिए अथवा किसी न किसी देश काल के लिए निषिद्ध अवश्य हैं। आप अपने ब्रह्मज्ञानी को इसी प्रकार का निरीह इसलिए नहीं मान सकते हैं कि, उसतरह की वस्तु की सिद्धि समाधि अथवा स्वापादि के बिना नहीं हो सकती है। यहाँ हम उस प्रकार के समाधिस्थ का खण्डन नहीं करते है। क्योंकि समाधिस्थ व्यक्ति के भी विधि निषेध शास्त्र उसके व्युत्थान काल में बन्धनकारक होंगे ही। ज्ञानियों की निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति लोक संग्रहार्थ भी इसलिए नहीं

मानी जा सकती है कि, फिर वह वैमुख्य न होकर बल पूर्वक निरोध मात्र होगा। ऐसी स्थिति में उनको विहित कार्यों के प्रति आभिमुख्य भी उपपन्न होगा। किञ्च लोक संग्रह भी लोकक्षोभजन्य पाप के भय से ही किया जाता है इसलिए वह भी प्रकारान्तर से शास्त्र वश्यता ही हुआ। यदि कहें कि ब्रह्मानुभव जन्य आनन्द के कारण ही ब्रह्मज्ञानी की निषिद्ध क्षुद्र आनन्दों से विमुखता हो जाती है तो यह भी नहीं कह सकते हैं; क्योंकि ऐसा होने पर ब्रह्मज्ञानी के अविहित एवम् अनिषिद्ध कार्य में भी प्रवृत्ति का प्रसङ्ग होगा। और वह भी समाधि दशा में रहती ही हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इस तरह आपके ब्रह्मज्ञानियों की भोगों की विमुखता बूढ़े की भोगों से विमुखता के समान है। यह विमुखता भोगों की प्राप्ति न हो सकने अथवा निषेधक राजा के भय से भी सम्भव है। आपका यह तुरङ्गय ब्रह्मचर्य के समान भोग वैमुख्य है भोग के प्राप्त होने पर आप स्वैरोपभोग कर सकते हैं।

एतेनात्याश्रमपक्षेऽपि निषिद्धवैमुख्यं दूषितम्। अनाश्रमित्वावस्था च किं विधायकशास्त्रबलादंगीक्रियते, लिंगदर्शनमात्राद्वा, तदशक्त्या वा, अन्यतो वा कुतश्चिदिति। न प्रथमः। विधायकादर्शनात्, प्रत्युत, 'अनाश्रमी न तिष्ठेद् दिनमेकमपि द्विज' इत्यादिस्मृतिशतैर्निषेधात्। न चैतदविद्वद्विषयं मन्तव्यम्, सङ्कोचकाभावात्। अनाश्रमित्वविधिदर्शने हि तत्सङ्कोचः। ज्ञानिनामपि नाश्रमो निषिध्यते, अपितु स्वैराचारः। यथा, 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥' इति। ननु; 'तत् यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यते'; 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञानिन उत्तराघाऽश्लेषः श्रूयत इति चेन्न—दुश्चरितविरतिपरश्रुतिबलादेवाश्लेषश्रुत्यादेरबुद्धिपूर्वविषयत्वात्; आपद्विषयत्वाच्च। सूत्रितं च, 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्' इति; 'शब्दश्चातोऽकामकारे' इति च॥ 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इत्युक्त्वा, 'न कर्म लिप्यते नरे' इति वचनात् बुद्धिपूर्वकर्मणोऽप्यश्लेषः श्रुत इति चेन्न, तस्य वाक्यस्य विद्याङ्गभूतासंगकर्मविषयत्वात्। विद्यास्तुत्यर्थत्वाद्वा। तथा चासूत्रयत्; 'नाविशेषात्' इति; 'स्तुतयेऽनुमतिर्वा' इति च। अन्यथा पूर्वोक्तविरोधात्॥ दुश्चरितविरतिश्रुतिरेव किमन्यपरतया न निरूप्यत इति चेन्न, तस्यास्तात्पर्यविषयस्यान्यस्यादर्शनात्॥ विज्ञानविरोधादेव तत्रापि तात्पर्यमिति चेन्न, ज्ञानस्य दुश्चरितविरामाद्यभावे स्वसाध्यसाधकत्वाभाव लक्षणवैकल्यप्रतिपादनमुखेन दुश्चरितादिनिन्दारूपतया तदभावविशिष्टत्वेन विशेष (षण?) एव वाक्यस्य तात्पर्यात्॥ ज्ञाननिष्पत्त्यर्थं दुश्चरितादिनिवृत्तिः, निष्पन्नज्ञानस्य तु निरपेक्षतया स्वैरानुमतिरिति चेन्न; दुश्चरित-

प्रभृतीनां ब्रह्मप्राप्तिविरोधित्वेन, 'नैनमाप्नुयात्' इति प्रतिपादनात्। न ह्यत्र; 'नाविरतो दुश्चरितात्; प्रज्ञानेनमाप्नुयात्' इत्युच्यते। 'नाशुः सम्पन्नमश्नाति इत्यत्र' क्षीरादिसम्पद्रूप-विशेषनिषेधवत् प्रज्ञाननिषेधे तात्पर्यमिति चेन्न, पूर्वापरभावसहकृतकरणश्रुतिवलादेव सिद्धत्वप्रतीतेः साध्यत्वविवक्षायास्तद्विरुद्धत्वात्, स्वारस्याभावाच्च। अतएव, 'नाशुः क्षीरेण भुङ्क्ते' इतिवदिति प्रत्युक्तम्, भोजनवत् ब्रह्मप्राप्तेरन्यतः प्राप्त्यभावाच्च। साध्यत्वविवक्षायामपि ज्ञानस्याप्रयाणादनुवर्तनीयत्वस्य प्रतिपादितत्वात् प्रतिदिवसमुपचीयमानातिदृढ़ज्ञानसिद्ध्यर्थे दुश्चरितविरामादेरप्यामोक्षादनुवर्तनीयत्वस्य प्रतिपादितत्वात्। अतो यावज्जीवं स्वैरनिषेधे अनन्यथासिद्धे सति, 'कुर्वन्नेव' इत्यादिकं ज्ञानाङ्गकर्मविधिपरं ज्ञानस्तुत्यर्थं वेति नेतव्यम्।

प्रसाद—उपर्युक्त प्रतिपादन से ही अत्याश्रम पक्ष में भी निषिद्ध वैमुख्य का खण्डन हो गया; प्रश्न है कि आप अनाश्रमित्वको क्यों स्वीकारते हैं—किसी विधायक शास्त्र के बलपर ? या लिङ्ग दर्शन मात्र से ? या आश्रमों का पालन करने में असमर्थ होने से ? या किसी अन्य कारण से ? अनाश्रमित्व विधायक शास्त्र न होने के कारण प्रथम पक्ष नहीं स्वीकारा जा सकता है। अपितु अनाश्रमी होकर तक दिन भी नहीं रहना चाहिए, प्रभृति अनेक वाक्य अनाश्रमित्व का निषेध करते हैं। अर्थ संकोचक प्रमाण का अभाव होने के कारण उन वाक्यों को अविद्वद् विषयक भी नहीं माना जा सकता है। उन वाक्यों का अर्थसंकोच होना तो अनाश्रमित्व विधायक वाक्य के रहने पर ही सम्भव है। ज्ञानियों के भी आश्रम का निषेध नहीं होता अपितु उनके लिए यथेष्ट आचरण का विधान मात्र है। दुराचार रहित, अशान्त असमाधि निष्ठ तथा चञ्चल मन वाला पुरुष केवल प्रज्ञान मात्र से आत्म प्राप्ति नहीं कर सता। यह शास्त्र कहता है। यदि कहें कि 'तद्यथा०' इत्यादि श्रुति कहती है कि जिस तरह कमल पत्रों से जल का संलेष नहीं होता उसी तरह परमात्मा के स्वरूपज्ञ से पापकर्म का संश्लेष नहीं होता।' स्मृति भी कहती है कि 'अत्यागियों के कर्मों के फल तीन प्रकार के होते हैं–अनिष्ट; इष्ट और मिश्र, किन्तु संन्यासियों के कर्मो का फल नही होता। इन वाक्यों से स्पष्ट है कि ज्ञानियों से उत्तराघ का सम्बन्ध नहीं होता है। तो ऐसी बात नहीं है, दुश्चरित की निषेधिका श्रुति के ही आलोक में इन वाक्यों को अबुद्धि पूर्वक किए गये पाप अथवा आपत्कर्म विषयक मानना पड़ता है। सूत्रकार भी कहते हैं कि प्राण सङ्कटापन्न होने पर ही श्रुतियाँ सर्वान्नो की अनुमति देती हैं। किञ्च—'शब्दश्चातो कामकार:' अर्थात् आपात् काल में सम्बन्नीत्व की अनुमति होने से 'सुरां न पिवेत्' आदि वाक्य स्वैर पापान्न भक्षण का निषेध करते हैं।

यदि कहें कि—'कुर्वन्नेवेह०' श्रुति इस लोक में कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे' यह कह कर; ब्रह्मज्ञानियों के लिए कर्म बन्धन कारक नहीं होते इस वाक्य से सिद्ध होता है कि बुद्धिपूर्वक किए गए कर्मों से भी ज्ञानियों का सम्बन्ध नहीं होता; तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'न कर्म' वाक्य विद्या के अङ्गभूत अनासक्त कर्म विषयक है। अथवा इस वाक्य को विद्या की स्तुति परक मानना चाहिए। सूत्रकार भी इस वाक्य के विषय में कहते हैं—'नाविशेषात्' अर्थात् अन्य वाक्यों के ही समान इस वाक्य को भी निस्सङ्ग कर्मविषयक मानना चाहिए, तथा 'स्तुतये-

ऽनुमतिर्वा' अर्थात् विद्या की प्रशंसा करने के लिए श्रुति कर्मों के करने की अनुमति देती है। यदि ऐसा न मानें तो 'त्यक्तेन' श्रुति से विरोध होगा। यदि कहें कि दुश्चरित विरति श्रुति को ही अन्यार्थपरक क्यों नहीं मान लिया जाय? तो इसका उत्तर है कि उसका तात्पर्य दूसरे अर्थ में देखा ही नहीं जाता। यदि कहें कि दुश्चरित विरति श्रुति का तात्पर्य विज्ञान विरोध में है तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि दुश्चरित का विराम हुए विना ज्ञान के द्वारा अपने साध्यभूत मोक्ष की प्राप्ति न हो सकने के कारण दुश्चरित की निन्दारूप से दुश्चरित रहित में ही विद्योत्पत्ति होती है, यह उक्त वाक्य का अभिप्राय है। यदि कहें कि ज्ञानोत्पत्ति के लिए दुश्चरित की निवृत्ति का विधान है, ज्ञान प्राप्त तो निरपेक्ष होकर स्वैर विहार कर सकता है; तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। दुश्चरित आदि ब्रह्मप्राप्ति के विरोधी हैं इस बात को 'नैनमाप्नुयात्' श्रुतिप्रतिपादित करती है। गौ हीन व्यक्ति दुग्ध नहीं खाता' इस वाक्य में जिस तरह गौ हीन व्यक्ति की दुग्ध प्राप्ति का निषेध किया जाता है, उसी तरह; दुश्चरितविरति श्रुति का प्रज्ञान निषेध में तात्पर्य मानना चाहिए तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि पूर्वापर-भाव के कारण कारणत्व श्रुति द्वारा इस श्रुति के सिद्ध ज्ञानपरत्व की प्रतीति होने से इस श्रुति की साध्यज्ञानपरक विवक्षा का विरोध होता है। किञ्च इस श्रुति का साध्यज्ञान में स्वारस्य भी नहीं है। अतएव इस वाक्य को 'नागुः क्षीरेण भुंक्ते' इस वाक्य की तरह नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भोजन की तरह ब्रह्म की प्राप्ति दूसरे साधन से सम्भव नहीं है। किञ्च दुश्चरित विरति श्रुति को साध्य ज्ञान परक मानें तो भी कोई क्षति इसलिए नहीं है कि हम प्रयाण पर्यन्त ज्ञान को अनुवर्तनीय मानते हैं। प्रतिदिन बढने वाले अनुवृत्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए, मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त दुश्चरित विराम को भी अनुवर्तित होते रहना चाहिए। अतएव आजीवन स्वैराचार का निषेध अनन्यथा सिद्ध होने के कारण; 'कुर्वन्नेव' श्रुति को ज्ञानस्तुत्यर्थ अथवा ज्ञानाङ्ग कर्म विधान परक मानना होगा।

अतएव, "अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥" "यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥' 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥'; 'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निहन्यते ॥' इत्यादीन्यपि क्रियमाणे कर्मणि फलसङ्गकर्तृत्वा दिप्रतिषेधपरतया ज्ञानविशेषमाहात्म्यप्रतिपादनादिपरतया [वा ?] न स्वैराद्युरालिङ्गानि अतएव, 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥' इत्युक्त्वा; अनन्तरमेव; 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं स गच्छति' इत्यादिना समाधीयते ॥ 'तस्मात् ब्राह्मणः निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इति विदुषो बाल्यविधि बलात् कामचारवादकाभभक्षत्वादिप्राप्तिरिति चेत्-न हि तत्र बाल्य-शब्दो बालभावपरः। स हि वयोवस्थाविशेषरूप उपादातुं न शक्यते। अतः स्वमाहा

त्म्यानाविष्काररूपं बालकर्म उपादातुं शक्यत इति तद्विषयोऽयं विधिः ; अन्यथा प्रागुक्त विरोधात । सूत्रितं च ; 'अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्' इति । योगिनां च स्वमाहात्म्यानाविष्कारेण जडवदाचरणं योगोपकारकतया स्मर्यते । यथा- 'जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् । सम्माननना परां हानिं योगर्धेः कुरुते यतः ॥' इत्यादि । सनत्सुजातोऽपि—'य इमं सर्वदा भूतेष्वात्मानमनुपश्यति । अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु किं नु [स] शोचेत् ततः परम् ॥ अहमेवास्मि वो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः । आत्माऽहमस्य सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च । पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ॥ ममैव यूयमात्मास्थ न मे यूयं च नाप्यहम् । आत्मैव स्थानं मम जन्माचात्मा ॥' इत्यादिना सर्वान्तरात्मभूतब्रह्मसाक्षात्कारिणं सर्वजननिरुपाधिकसुहृदं ब्रह्मनिष्ठं प्रस्तुत्य, 'तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः । नैवं मन्येत भूयिष्ठं बाह्याभ्यन्तरं जनम् ॥' इत्यादिना तस्य स्वाकारगोपनं विधाय ; 'यद्यैवमन्तरात्मानं ब्रह्मणो हन्तुमर्हति । निर्लिङ्गमचलं सिद्धं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् ॥' इत्यादिना , परिशुद्धात्मस्वरूपानुसन्धानं च विधाय , 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥' इत्ययथाभूतात्मवेदिनं विनिन्द्य , 'अश्रान्तस्यावनावात्मा सम्मतो निरुपद्रवः । शिष्टो नशिष्टवत् स स्यात् ब्रह्मणो ब्रह्मवित् कविः ॥' इति विशिष्टस्यैव सततस्तस्यावमानसिद्ध्यर्थमविशिष्टवदभिनय एवाभिधीयते । व्यज्यते हि तत्रैव—'सम्मानपरिहारार्थं स्ववीर्यस्य हि गोपनम् । ये यथा वान्तमश्नन्ति बाला नित्यमभुक्तये ॥ एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपभोजनात् । न वै मानं च मौनं च सहितौ चरतस्सदा । अयं मानस्य विषयो ह्यसौ मौनस्य तद्विदुः स' इति । उक्तं हि तैत्तिरीयके—'तस्मादेवं विद्वान् । वीव नृत्येत । प्रेव चलेत् । व्यस्येवाक्ष्यौ भाषेत । मण्डयेदिव । क्राथयेदिव । शृङ्गयेतेव । उत्तमेऽववदेयुः उत्तमे पाप्मानमपहन्युरिति' इति । अत्रापि पापनिवृत्त्यर्थं परिभवनीयत्वसिद्ध्यर्थमुन्मत्तत्वादिसमानव्यापार एव हि विधीयते , न पुनः परमहंसानां परदारादिगमनरूपनिषिद्धकरणम् , नापि नित्यनैमित्तिकत्यागः । उक्तं च मनुना— 'सम्मानात् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ इति । अयमेवार्थः स्मृत्यन्तरेष्वप्युच्यते- 'यन्न सन्तं नचासन्तं न श्रुतं न बहुश्रुतम् । न

सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स वै द्विजः ॥ गूढं समाश्रितो विद्वान् अज्ञातश्चरितं चरेत् । अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥ स्वाचारस्यापरित्यागः स्वप्रभावस्य गोपनम् । अपरिग्रहशीलत्वं पावनानि प्रचक्षते ॥' इत्यादिभिः ।

प्रसाद—अतएव यदि तुम सभी पापियों से बढ़कर पापी हो तो भी ज्ञान रूपी संतरण के द्वारा तुम अपने सभी पापों को पार कर सकते हो। हे अर्जुन ! जिस तरह जलता हुआ अग्नि सम्पूर्ण इन्धनों को जला देता है उसी तरह ब्रह्म ज्ञान रूपी अग्नि सभी कर्मों को विनष्ट कर देता है । जो व्यक्ति निस्सङ्ग तथा ब्रह्म निष्ठ होकर कर्मों को करता है; वह कमलपत्र के समान पापों से संयुक्त नहीं होता। जिसकी बुद्धि अहङ्कार लिप्त नहीं होती वह सम्पूर्ण लोकों का विनाश करके भी न तो किसी को मारता है और न तो पाप कर्मों के बन्धन में बँधता है । ये वाक्य भी अनासक्त रूप से क्रियमाण कर्मपरक हैं; कर्तृत्वाभिमान का निषेध करते हैं अथवा ज्ञान विशेष के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु ये स्वैरकर्मों की अनुमति नहीं देते । अतएव अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य मना होकर यदि मेरी आराधना करता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए; क्योंकि वह साधु व्यवसित है । यह कहने के बाद भगवान कहते हैं-कि वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि—'ब्रह्मज्ञानी को चाहिए कि वह पाण्डित्य से उदास होकर बालक की तरह रहने की अभिलाषा करे ।' इस श्रुति द्वारा ब्रह्म निष्ठ के बाल्यकर्म के विधान के द्वारा; उसके कामचारत्व तथा कामभक्षत्व आदि की सिद्धि होती है । तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं है कि श्रुति का बाल्य शब्द ब्रह्मज्ञानी के बालभाव का प्रतिपादन नहीं करता । वह बालरूप अवस्था और उम्र को ग्रहण नहीं कर सकता । वह अपने ऐश्वर्य के अप्रकटन रूप बालकर्म को वह ग्रहण कर सकता है, अतएव यह श्रुति ब्रह्मज्ञानी के बाल कर्म का ही प्रतिपादन करती हैं । अन्यथा इस श्रुति से पहले की श्रुति में प्रोक्त अर्थ का विरोध होगा। 'अनाविष्कुर्वन्नन्वयादिति ।' अर्थात् विद्वान् अपने माहात्म्य को प्रकट किए बिना ही रहे इसी बात का प्रतिपादन करती है 'बाल्यं श्रुति, क्योंकि इसी अर्थ का श्रुति में अन्वय सम्भव है । योगी के योग का उपकारक होता है, उनके द्वारा अपने माहात्म्य का अनाविष्करण तथा जडवदाचरण । स्मृतियाँ भी कहती हैं कि ब्रह्मज्ञानी को चाहिए वह जडवत् आचरण करे, योग की वृद्धि में सबसे अधिक हानि प्रतिष्ठा के द्वारा होती है । महर्षि सनत् सुजात भी कहते हैं-जो योगी इस जगत् के तत् तत् शरीर विशिष्ट सभी भूतों में आत्मा रूप से व्याप्त परमात्मा को देखता है, वह उससे बढ़कर किसी को भी नहीं मानता है । परमात्मात्मक होने के कारण मैं ही आप लोगों की माता, पिता तथा पुत्र हूं । मैं ही इस सम्पूर्ण भूत भव्य जगत् की आत्मा हूँ । मैं बूढा पितामह तथा पिता का पुत्र हूँ । आप लोग मेरी ही आत्मा हैं । न तो मैं आपका हूँ और न तो आप हमारे । आत्मा ही स्थान हैं मेरा जन्म भी आत्मा ही है । इन वाक्यों द्वारा सबों की अन्तरात्मा के साक्षात्कार करने वाले; सबों के निरुपाधिक (स्वाभाविक) मित्र ब्रह्मनिष्ठ को बतलाकर महर्षि सनत् सुजात कहते हैं-'तस्य सम्यक्० ' इत्यादि । अर्थात् उस ब्रह्मनिष्ठ का वास्तविक लक्षण वैदिकों ने यह यह बतलाया हैं कि ब्रह्मज्ञानी न तो किसी को अपना मानता है और न तो किसी को पराया इस तरह उन्होंने ब्रह्मनिष्ठ के अपने आकार का गोपन लक्षण बतलाकर कहते हैं कि जब ब्रह्मनिष्ठ अपनी अन्तरात्मा, निर्लिङ्ग अचल; सिद्ध तथा सभी द्वन्द्वों से रहित ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता हैं, इस वाक्य से परिशुद्ध आत्मा के स्वरूप के अनुसन्धान का विधान करके, 'जो

भिन्न प्रकार की आत्मा के स्वरूप का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करता है, उस आत्मचोर ने कौन सा पाप नहीं किया ? इस वाक्य से आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं जानने वाले की निन्दा करके जो इस पृथिवी पर नहीं थकता है , उसकी आत्मा निरुपद्रुत रहती है । वह ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, शिष्ट होकर भी अशिष्ट की भांति व्यवहार करता है ।' इस वाक्य में ज्ञान विशिष्ट ही ज्ञानी के अपमान की सिद्धि हेतु अज्ञानी की तरह अभिनय का विधान किया गया हैं। वहाँ यह अर्थ व्यञ्जित भी होता हैं । तथाहि– सम्मान परिहारार्थम्० इत्यादि । अर्थात् सम्मान का परित्याग करने के लिए, अपने ज्ञानरूप पराक्रम को छिपाना चाहिए । जो सदा के लिए भोजन का परित्याग करने हेतु मूर्ख लोग वान्ताशन करते हैं, उसी तरह अपने वीर्योप भोजन के द्वारा ज्ञानी वान्ताशी हो जाता है । मान और मौन दोनों कभी भी एक साथ नहीं रहते, जगत् मान का विषय है और ब्रह्म मौन का विषय है ।' तैत्तिरीयक में भी कहा गया है–'तस्मादेवं विद्वान्०' इत्यादि । अर्थात् आत्मा के इस स्वरूप को जानने वाले पक्षी के समान नृत्य करे, पागल की तरह चले, आँखे मूँद कर बोले; मण्ठन और क्राथन करे , सिङ्ग से मारने का अभिनय करे; जिससे बड़े लोग उसकी निन्दा करें, बड़े लोग उसके पापों को विनष्ट करें।' इस श्रुति में भी पाप दूर करने के लिए तथा अपमान प्राप्त करने के लिए पागल की तरह व्यवहार का विधान किया गया है न कि परमहंसो के लिए पर स्त्री गमनादि निषिद्ध कर्मों का विधान हैं । उनके नित्य नैमित्तिक कर्मों के त्याग का भी विधान नहीं है । मनु भी कहते हैं–'ब्रह्मनिष्ठ को सम्मान से उसी तरह डरना चाहिए जिस तरह कोई विष से डरता है । उसे अमृत के समान अपमान की आकांक्षा करनी चाहिए ।' इस बात को दूसरी स्मृतियाँ भी कहती हैं—वही द्विज है जो न अच्छा–न बुरा न श्रुत, न अश्रुत, न सुकर्म और न दुष्कर्म जानता है । विद्वान् को छिपकर अज्ञाताचरण करना चाहिए , अन्धे , जड तथा गूंगे के समान वह पृथिवी पर विचरण करे । अपने प्रभाव को छिपाते हुए वह अपने आचार का पालन करे, तथा किसी से दान न ले ।

एतेन द्वितीयोऽपि हेतुः प्रत्युक्तः, प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे प्राप्त्यभावे च लिङ्गदर्शनमकिञ्चित्करमेव । न च तदस्ति । आदिभरतोऽपि हि योगसिद्ध्यर्थं जडवदाचारमात्रे प्रवृत्त इति तत्रैव व्यक्तम् । तथाहि श्रीविष्णुपुराणे आदिभरतोपाख्याने–'तत्र चोत्सृष्टदेहोऽसौ जज्ञे जातिस्मरो द्विजः । सदाचारवतां शुद्धे योगिनां प्रवरे कुले ॥ सर्वविज्ञानसम्पन्नः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् / अपश्यत् स च मैत्रेय आत्मानम् प्रकृतेः परम् ॥ आत्मनोऽधिगतज्ञानो देवादीनि महामुने । सर्वभूतान्यभेदेन स ददर्श सदाऽऽत्मनः ॥ न पपाठ गुरुप्रोक्तां कृतोपनयनः श्रुतिम् । न ददर्श च कर्माणि शास्त्राणि जगृहे न च ॥ उक्तोऽपि मलिनाम्बरधृक् जटी । क्लिन्नदन्तान्तरः सभ्यैः परिभूतस्स नागरैः ॥ सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः । जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥ तस्माच्चरेत वै योगी सतां वर्त्म न दूषयेत् । जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥ हिरण्यगर्भवचनं विचिन्त्येत्थं महामतिः । आत्मानं दर्शयामास जडोन्मत्ताकृतिं जने ॥ शुङ्-

क्ते कुल्माषवाट्यादि शाकं वन्यफलान् कणान् । यद्यदाप्नोति ? सुबहु तदत्ते कालसं-यमम् ॥ पितर्युपरते सोऽथ भ्रातृभ्रातृव्यबान्धवैः । कारितः क्षेत्रकर्माणि कदन्नाहार-तोषितः ॥ स रूक्षपीनावयवो जडकारी च कर्मणि । सर्वलोकोपकरणं बभूवाहारवेतनः तं तादृशमसंस्कारं विप्राकृतिविचेष्टितम् । क्षत्ता सौवीरराजस्य विष्टियोग्यममन्यत ॥'इति तथोत्तरत्र, 'योगिनो विविधै रूपैर्नराणामुपकारिणः । भ्रमन्ति पृथिवीमेतामभि (वि ?) ज्ञातस्वरूपिणः ॥' इति । न ह्यत्राधर्मानुष्ठानं किंचिदुक्तम्; न च धर्मोपप्लवः । कर्माणि तु यज्ञादीनि ब्रह्मचारित्वादेव नाग्रहीत् । अतएव तत्र, 'सतां वर्त्म न दूषयन्' इत्यप्युक्तम् । भागवते च तस्य यज्ञोपवीतादिधारणादिकथनादाश्रमित्वमेव प्रतीयते । यथोक्तम्; 'कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः' इति । अत्र निगूढश्चरसीति स्वमाहात्म्यानाविष्कारो व्यक्तः । अतएव; 'न पपाठ गुरुप्रोक्तां कृतोपनयनः श्रुतिम्' इत्यत्रापि कृतोपनयनत्वं न निषिध्यते । अनूच्चारणपरित्यागोऽपि जन्मान्तरसंस्कारोद्बोधनादिना वेदानां स्वतःप्रकाशात् । अथवा एकवारश्रवणमात्रेण वेद-धारणात् । दुर्वासः प्रभृतीनामुन्मत्तव्रतादिकमपि कादाचित्कमाश्रमधर्मनिष्ठानामेव लोकोप-हास्यतादिफलावसितम्, न पुनः सर्वाश्रमत्यागात्मकम् । अतएव दुर्वाससः पश्चात्सन्न्या सानुप्रवेशः काषायदण्डादिमत्त्वं च स्मर्यते ॥ ऋभुशुकसंवर्तादिषु नग्नचर्यादिदर्शनादना-श्रमित्वमवगम्यत इति चेन्न; नग्नचर्याया अपि वर्षवातातपादितितिक्षालक्षणकवलकवलि-ताशेषाकारपुरातनाधिकारिविशेषविषयव्रतविशेषरूपत्वात् । आश्रमित्वाभावे कथं वाताशन स्यैव संवर्तस्य महीभृता ऋत्विक्त्वेन वरणम् ? अतस्सर्ववर्णाश्रमसाधारणव्रतविशेष एव नग्नचर्या । गृहस्थस्यैव ह्यार्त्विज्यादिकम् । पूर्वं विधुरस्यापि कार्यार्थं दारक्रियादिपूर्वक-मार्त्विज्यं युज्यते ।

प्रसाद—उपर्युक्त प्रतिपादन अनाश्रमित्व में लिङ्गदर्शन रूपी द्वितीय हेतु इसलिए खण्डित हो गया कि; अनाश्रमित्व की प्राप्ति न होने तथा प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध होने पर लिङ्गदर्शन कोई महत्व नहीं होता है । परमहंसों के अनाश्रमित्व में कोई लिङ्ग भी नहीं है, क्योंकि जड भरत चरित्र में ही स्पष्ट है कि आदि भरत भी योग की सिद्धि के लिए केवल जड के समान आचरण में ही प्रवृत्त हुए, श्रीविष्णुपुराण के आदि भरतोपाख्यान में लिखा है कि—

'भरत ने शालाग्राम क्षेत्र में अपना शरीरत्यागकर सदाचारी योगियों के श्रेष्ठ वंश में पूर्व-जन्म का स्मरण करने वाले ब्राह्मण के रूप में पैदा हुए हे मैत्रेय ! सर्व विज्ञान सम्पन्न तथा सभी शास्त्रों

के सार को जानने वाले वे अपनी आत्मा का प्रकृति से पृथक् साक्षात्कार किया । आत्मा का ज्ञानप्राप्त करके वे देव आदि सभी जीवों का अपने से अभिन्न परमात्मात्मक रूप से देखा । यज्ञोपवीत हो जाने पर भी गुरु प्रोक्त श्रुति को पढ़े नहीं; कर्म तथा शास्त्र पराङ्मुख हो गये । बहुत बोलने पर वे जड़के समान कुछ बोल देते थे । वह भी वाक्य संस्कार हीन तथा ग्राम्य होता था । अव्यवस्थित शरीर मलीन वस्त्र तथा जटाधारण किए हुए उनके दांत गन्दे थे तथा नागरिक उनका अपमान करते थे । योग की वृद्धि में सबसे अधिक हानि सम्मान करता है अतएव अपमानित ही रहकर योगी मोक्ष को प्राप्त करता है । अतएव योगी को सज्जनों के मार्ग पर चलते हुए उसे दूषित नहीं करना चाहिए । वह किसी से संग न करे, जिससे कि लोग उसका अपमान न करें । बुद्धिमान जड भरत ब्रह्मा की बातों का इस प्रकार से विचार करके लोगों के बीच अपनी जड के समान आकृत बनाए रहते थे । वे कुल्माष, बाटी, बनैले फल तथा कण खाते थे । जो भी अधिक पाते वही समयानुकूल खा लेते थे । पिता के मर जाने पर वे अपने भाई तथा चचेरे भाई के द्वारा खेत में लगाये जाने पर काम करते रहते और प्रसन्न होकर कदन्न खाते थे । उनका शरीर रूक्ष और मोटा था वे जड की तरह काम करते थे । भोजन मात्र प्राप्त कर वे सबों का काम करते थे । इस प्रकार संस्कार शून्य तथा ब्राह्मण वेष के विपरीत आचरण वालादेखकर सौवीर राज के राज सेवक ने उन्हें शिविका वहन के योग्य समझा । इसके पश्चात् आगे कहा गया है कि–अपने स्वरूप के जानकार मनुष्यों के उपकारक योगिजन अनेक रूपों में पृथिवी पर विचरण करते हैं । इस प्रकरण में परमहंसों द्वारा किसी भी अधर्मानुष्ठान को नहीं कहा गया है और न तो धर्म को किसी प्रकार को उपद्रत करना बतलाया गया है । ब्रह्मचारी होने के ही कारण उनके द्वारा यज्ञादिकर्मों का अनुष्ठान उचित नहीं है । इसीलिए कहा गया है कि योगी सज्जनों के मार्ग को दूषित न करे । भागवत में तो जडभरत के यज्ञोपवीत धारण का वर्णन होने से उनके आश्रमित्व की ही सिद्धि होती है, वहीं कहा गया है कि तुम कौन हो जो छिपकर आचरण करते हो तथा द्विजों का चिह्न यज्ञोपवीत धारण किये हो । 'निगूढश्चरसि' का अर्थ है अपने प्रभाव को छिपाए हुए हो । अतएव विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि–यज्ञोपवीत हो जाने के बाद वे गुरु प्रोक्त श्रुति को नहीं पढे ।' इस वाक्य में भी यज्ञोपवीत धारण का निषेध नहीं किया गया है । जडभरत द्वारा आचार्योच्चारण के पश्चात् उच्चार का परित्याग भी जन्मान्तर के संस्कार के उद्‌बुद्ध हो जानेके कारण, वेदों का स्वतःप्रकाश हो जाना था । अथवा वे एक बार ही सुनकर वेदों को धारण कर लेते थे । दुर्वासा आदि ने भी आश्रम धर्म का पालन करते हुए ही कुछ काल के लिए उन्मत्तादि का आचरण किया और उसका परिणाम भी लोकोपहास ही हुआ । सभी आश्रमों का त्याग रूप उन्मत्तादि व्रत नहीं है । इसलिए स्मृतिकारों ने बतलाया है कि दुर्वासा ने पीछे संन्यासी होकर काषाय तथा दण्ड धारण किया । यदि कहें कि नग्न रहने वाले ऋभु , शुक तथा संवर्त आदि तो अनाश्रमी ही हैं , तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता हैं, क्योंकि नग्नचर्या भी अधिकारी विशेष के व्रत विशेष रूप है । यदि वर्षा; वायु, तथा धूप की सहिष्णता रूप हैं, ये प्राचीन अधिकारी सदा कम्बल ओढे रहते हैं । यदि संवर्त अनाश्रमी होते तो मरुत्त उन्हें अपना ऋत्विक् कैसे बनाते । अतएव नग्न तो सभी वर्णों एवम् आश्रमों के योगी रह सकते हैं । ऋत्विक् गृहस्थ ही हो सकता है । पहले विधुर रहने वाले को भी ऋत्विक् कर्म करने के लिए दार क्रिया करनी होती है ।

ननु 'पुरः पञ्चशतं नार्यो वारमुख्याः समाद्रवन्' इत्यादिना ; 'तस्य मुक्तवस्तात तदन्तःपुरकाननम् । सुरभ्यं दर्शयामासुरेकैकश्येन भारत ॥' इति तस्य ब्रह्मविदो

महर्षेः शुकस्य वारमुख्यासु भोजनमप्युक्तमिति चेन्न ; ब्राह्मणादिपरिपक्वोपनीतान्नाभोजनेन तासां परिजनतया भोजनानन्तरं तालवृन्तादिग्रहणादिमुखेनावस्थानेऽपि तद्व्यपदेशोपपत्तेः । शुकस्य ब्रह्मचर्यादिपरीक्षणमात्रे हि तत्र तात्पर्यमिति सुव्यक्तम् । नैतन्निषिद्धान्नभोजनलिङ्गम् । उत्तरत्र च—"विज्ञाते तु परे तत्त्वे प्रत्यक्षे हृदि शाश्वते । किमवश्यं हि वस्तव्यमाश्रमेषु वनेषु च । एतद्भवन्तं पृच्छामि तत् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥" इति शुकेन पृष्टे, जनकेन तेषामेवाश्रमधर्माणां सङ्गत्यागपूर्वकमनुष्ठानमेवं ह्युक्तम् ।

प्रसाद—यदि कहें कि 'पुरः पञ्चशतं' इत्यादि श्रुति कहती है कि मुक्त जीव के समक्ष पाँच सौ वाराङ्गणाएँ आगवानी करती हैं । किञ्च-हे तात् भोजन कर लेने के पश्चात् उस अन्तः पुर के मनोज्ञ कानन को एक-एक कर दिखाया ।' इस वाक्य में ब्रह्मवेत्ता महर्षि शुक की वाराङ्गणा गणिकाओं के बीच भोजन करना बतलाया गया है । तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं है कि-ब्राह्मण आदि के द्वारा पका कर लाये गये भोजन के होने पर तथा भोजनोपरान्त परिजन रूप से से व्यजनादि करने पर भी उपर्युक्त कथन उपपन्न होता है । शुक के ब्रह्मचर्य की परीक्षा मात्र में ही उपर्युक्त वाक्य का तात्पर्य है । इससे शुकदेव के निषिद्धान्न भोजन की सिद्धि नहीं होती है । आगे कहा भी गया है कि परम् तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर उसका हृदय में साक्षात्कार कर लेने पर आश्रमों अथवा वनों में रहना आवश्यक है क्या ? यह मैं आप से पूछता हूँ उसे आप मुझे बतलाएँ । शुक के यह पूछने पर जनकने उन्हीं आश्रम धर्मों का अनासक्त होकर पालन करने के लिए कहा ।

यच्च तत्र , 'न विना ज्ञानविज्ञानान्मोक्षस्याधिगमो भवेत् । न विना गुरुसम्बन्धात् ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ॥ आचार्यः प्लाविता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते । विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ॥ त्यज धर्ममधर्मं च त्यज सत्यानृते अपि । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥' इत्युक्तम् । तत्र ; 'तीर्णस्तदुभयं त्यजेत्' इत्यनेन आमोक्षात्तदुपायभूतज्ञानाचार्ययोरनुवर्तनीयत्वमेवोक्तम् । 'त्यज धर्मऽधर्मं च' इति श्लोकस्तु' त्यज धर्ममसङ्कल्पात् त्यजाधर्ममहिंसया । उभे सत्यानृते बुद्ध्वा बुद्धि परमनिश्चयात् (म्) ।। इत्यनेन श्लोकेन व्याख्यातार्थत्वात् नासौ त्वदनुगुणः । यत् पुनः श्रीभागवते शुकस्य परमहंसस्य वेषानुक्त्वा ; "तत्रागमत् भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः । अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥ तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपादकरोरुबाहुंसकपोलगात्रम् । चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्णसुभ्र्वाननं कम्बुसुजातमराठम् ॥ निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षसं सावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च । दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं श्यामं सदापिच्छिलय ऽङ्गलक्ष्म्या ॥ स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन प्रलम्बबाहुं

सुकुमारोत्तमांगम् । प्रत्युत्थिता मुनयस्स्वासनेभ्यः' इत्यादि-अत्रे नग्नचर्यापरत्वाल्लिंगस्य निगूहनमलक्ष्यलिंग इत्युक्तम् । यत् पुनराश्वमेधिके प्रोक्तम् , 'राजन् आंगिरसः पुत्रस्संवर्तो नाम धार्मिकः । दिशश्चङ्क्रमते सर्वा दिग्वासा मोहयन् प्रजाः ।। उन्मत्तवेषं बिभ्रत् स चरन् वै तु यथासुखम । वाराणसीं तु नगरीमभीक्ष्णमुपसेवते ।। नैव धर्मी न चाधर्मी नचापि हि शुभाशुभी ।।' इत्यादि-तत्रापि धार्मिक इत्युपक्रमात् पुण्यक्षेत्रनिरन्तरसेवन रूपधर्मविशेषनिष्ठत्वस्य चाभिधानात् उन्मत्तवेषधारणमात्रमेवोच्यते ।

प्रसाद—वहाँ यह जो कहा गया है कि ज्ञान एवम् विज्ञान के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है । गुरु की प्राप्तिके बिना ज्ञान सम्भव नहीं हैं । ज्ञान को ही नौका कहा गया हैं तथा आचार्य को संतारक । तत्व का ज्ञान प्राप्त कर मुक्त जीव इन दोनों को त्याग देता है । धर्म अधर्म सत्य एवं मिथ्या का त्याग करो । सत्य एवम् मिथ्या का त्यागकर उस ज्ञान का भी त्याग करो । वहाँ पर मुक्त जीव इन दोनों का त्याग करे । इस वाक्यांश के द्वारा मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त मोक्ष प्राप्ति के उपायभूत ज्ञान तथा आचार्य की अनुवर्तनीयता ही बतलायी गयी है । 'त्यजधर्माधर्मंच' यह श्लोक आपके अनुकूल इसलिए नहीं हैं कि 'त्यजधर्मम्' इत्यादि-अर्थात् संकल्प रहित होकर धर्म का त्याग करो तथा अहिंसा के द्वारा अधर्म का त्याग करो; यह परम निश्चय करो कि धर्म एवं अधर्म दोनों सत्य एवं मिथ्या शब्द वाच्य हैं श्रीभागवत में जो परमहंस शुक के वेष को बतलाकर—वहाँ पर निस्सङ्ग रहकर पृथिवी पर घूमने वाले वाले महात्मा शुकदेव आगये, उनका कोई भी प्रकट चिह्न नहीं था , आत्म लाभ से सदा सन्तुष्ट रहने वाले अवधूत वेषधारी उन्हें लड़के घेरे हुए थे । वे सोलह वर्ष के थे, उनके हाथ, पैर, भुजा, कन्धा तथा कपोल आदि सभी अङ्ग कोमल थे । मनोहर लाल आंखे थीं, नाँक उठी थी, दोनों कान सदृश थे, मुखड़ा मनोहर था, शङ्ख के समान कण्ठ था, कंधा मांसल था; मोटी और उठी हुई छाती थी, आवर्त के सदृश गहरी नाभी थी तथा त्रिवली युक्त उदर था । वे नग्न थे; घुंघराले बिखरे बाल थे, शश्वत मनोहर लगने वाले जिन अङ्गों से उनका श्याम शरीर सुशोभित था । मनोहर मुसुकान से स्त्रियों के मन को मोहते थे, भुजाएँ लम्बी थी ओर उत्तम तथा सुकुमार अङ्ग थे । उस शुक मुनि को देखकर सभी मुनिगण अपने आसन से उठकर खड़े हो गये । उनके नग्न रहने से यहाँ पर उनकी अलक्ष्यलिङ्गता बतलायी गयी है । आश्वमेधिक प्रकरण में जो कहा गया है कि—'हे राजन् आङ्गीरस के धार्मिक पुत्र संवर्त नग्न रहकर सर्वत्र घूमते हुये वे प्रजाओं को मोहित करते हैं । वे उन्मत्त का वेष धारण कर अपनी इच्छाके अनुसार भ्रमण करते हैं । वे बार बार वाराणसी जाते हैं । अतः वे धर्मी-अधर्मी , शुभ-अशुभ आदि द्वन्द्वों से रहित हैं । वहाँ भी धर्मिक उपक्रम के द्वारा सदा पुण्य क्षेत्र सेवन रूपी धर्म विशेष निष्ठताका का अभिधान होने से यहाँ सवर्त का केवल उन्मत्त वेषधारण ही बतलाया जा रहा है ।

यत् पुनः अजगरोपाख्यानं स्वैरानुरूपमुपवर्णयन्ति-तदप्यसत् । तथाहि-; 'केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वीतशोकश्चरेन्महीम् । किञ्च कुर्वन् नरो लोके प्राप्नोति परमां गतिम् ।।' इति युधिष्ठिरेण पृष्टो भीष्मः प्रत्याह-'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । प्रह्लादस्य

च संवादं मुनेरजगरस्य च । चरन्तं ब्राह्मणं कश्चित्सुस्थचित्तमनामयम् ॥ पप्रच्छ राजन् प्रह्लादो बुद्धिमान् प्राज्ञसत्तमः । प्रह्लादः–'स्वस्थः शुक्लो मृदुर्दान्तः निर्विधित्सोऽनसूयकः, सुवाक् बहुमतो लोके प्राज्ञश्चरसि बालवत् ॥' इत्यादिना पूर्वं प्रह्लादप्रश्नेन ब्राह्मणस्य मुमुक्षुपादेया गुणाः प्रदर्शिताः । यत् पुनः तत्रोक्तम् 'धर्मार्थकामकार्येषु कूटस्थ इव लक्ष्यसे । नानुतिष्ठसि धर्मार्थौ न कामे चापि वर्तसे ॥' इति–तदपि काम्यकर्मादिविषयमेव, अन्यथा उत्तरत्र धर्मोपभोगप्रतिग्रहवचनविरोधात् । प्रह्लादानुयुक्तो हि ब्राह्मणस्तत्र सर्वपदार्थानामनित्यत्वमुक्त्वाऽऽह–'उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते । सर्वभूतानि संपश्यन्ननुरक्तानि मृत्युना । सर्वं सामान्यतो विद्वान् कृतकृत्यः सुखं स्वपे ॥ सुमहान्तमपि ग्रासं ग्रसे लब्धं यदृच्छया । शये पुनरभुञ्जानो दिवसानि बहून्यपि ॥ आस्रवत्यपि मामन्नं पुनर्बहुगुणं बहु । पुनरल्पं पुनः स्तोकं पुनर्नैवोपपद्यते ॥ कणान् कदाचित् खादामि पिण्याकमपि च ग्रसे । भक्षये शालिमांसानि भक्ष्यांश्चोच्चावचान् पुनः ॥ धारयामि च चीराणि शाणक्षौमाजिनानि च । महार्हाण्यपि वासांसि धारयाम्यहमेकदा ॥ शये कदाचित् पर्यङ्के भूमावपि पुनः शये । प्रासादे वापि मे शय्या कदाचिदुपपद्यते ॥ न सन्निपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया । प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुन्धे सुदुर्लभम् ॥ अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं विधिपरिणामविभक्तदेशकालम् । हृदयसुखमसेवितं कदर्यैर्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ सुखमसुखमनर्थमर्थलाभं रतिमरतिं मरणं च जीवितं च । विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वबुद्ध्या व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ 'अनियतशयनासनप्रकृत्या' इत्यादि अत्र यथालब्धवृत्तित्वेऽपि प्रपञ्च्यमाने धर्म्यमिति धर्मादनपेतत्वमेव सावधानेनोक्तम्; उत्तरत्रापि निरपेक्षत्वमात्रेण यथालब्धवृत्तित्वं सम्मानपरिहरणमात्रं चोपदिश्यते । 'निरस्तुतिर्निर्नमस्कारो निर्द्वन्द्वो निष्प्रतिग्रहः । अरण्ये विचरैकाकी येन केनचिदाश्रितः ॥ येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः । यत्र क्वचन शायी स्यात् तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् । अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा । शून्यं यस्य जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ यस्मिन् वाचः प्रणश्यन्ति कूपे प्रास्ताः शिला इव । वक्तारं न पुनर्यान्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्यशायिनम् । बाहूपधानं शाम्यन्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

योऽहेरिव गणाद्भीतः सम्मानान्मरणादिव । कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः इत्यादि । 'गृहीतमौनव्रतस्तूष्णींबभूवेत्यादिना जडादिवद्भावनामात्रमभिधीयत इति सुव्यक्तम् ।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों द्वारा अजगरोपाख्यान का स्वैराचारानुरूप वर्णन भी अनुचित है । क्योंकि युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि हे वृत्तों के जानकार पितामह किस तरह निश्शोक होकर पृथ्वी पर संचरण करना चाहिए तथा लोक में क्या करके मनुष्य परमगति को प्राप्त कर सकता है ? भीष्म ने उत्तर दिया—'यहाँ पर प्रह्लाद तथा अजगर मुनि के सम्वाद का प्राचीन उदाहरण दिया जाता है । किसी समान चित्त वाले; प्रसन्नता पूर्वक संचरण करते हुए ब्राह्मण को देखकर; बुद्धिमानों में श्रेष्ठ प्रह्लाद ने पूछा-आप स्वस्थ सत्त्वगुण सम्पन्न मृदु; दमनशील, नम्न , किसी से असूया नहीं रखने वाले , सुन्दर बोलने वाले तथा सर्वमान्य बुद्धिमान आप बालवत् आचरण करते हैं । इस वाक्य में पहले प्रह्लाद के प्रश्नों से मुमुक्षु जीवों के लिए उपयोगी गुण बतलाए गये हैं । वहाँ पर यह जो कहा गया है कि-धर्म, अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) के कार्यों में आप कूटस्थ के समान प्रतीत होते हैं । आप धर्म और अर्थ का अनुवर्तन नहीं करते हैं और न तो लोग आपका अनुवर्तन करते हैं । यह भी वाक्य कर्म विषयक ही कथन है । अन्यथा आगे के धर्मोपयोगी प्रतिग्रह वाक्य से विरोध होगा । वहाँ पर प्रह्लाद द्वारा पूछे जाने पर ब्राह्मण ने सभी वस्तुओं की अनित्यता बतलाते हुए कहा-जन्म और मरण को जानने वाले के लिए इस संसार में कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है । वह सभी जीवों को मृत्यु से सम्पृक्त मानता है । सभी वस्तुओं को सामान्यत: जानकर कृत कृत्य मैं सुखपूर्वक सोता हूं । संयोगवशात् प्राप्त महान् ग्रास को भी मैं खाता हूँ । फिर मैं बिना खाये बहुत दिनों तक सोता रहता हूँ । फिर मुझे अनेक गुण सम्पन्न बहुत से भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं । फिर कम मिलते है, फिर छोटे भोग्य पदार्थ मिलते हैं, फिर कभी नहीं मिलते हैं । कभी मैं अन्न खाता हु तो कभी पिण्याक खाता हूँ । कभी मैं शालि खाता हू ; पुनः अच्छे-बुरे भक्ष्य पदार्थों को खाता हूँ । मैं शाण तथा क्षौम अजिन मय वस्त्रों को धारण करता हूँ , कभी मैं बहुमूल्य वस्त्रों को पहनता हूँ । कभी मैं पृथ्वी पर सोता हूँ तो कभीपर्यङ्कपर, कभी मेरी शय्या प्रासाद पर होती है । संयोग वशात् धार्मिक भोगों को मैं कभी इनकार नहीं करता, और नतो अत्यन्त दुर्लभ भोगों को मैं प्राप्त करना चाहता हूँ । अनिश्चित, परिणाम , भक्ष्य भोज्य तथा पेय वाले तथा भाग्य के परिणाम भूत भिन्न-भिन्न देशकाल वाले, हृदय को सुख देने वाले, जिसे कायर लोग नहीं अप नाते, इस पवित्र अजगर व्रत का मैं आचरण करता हूँ । मै अपनी तात्त्विक बुद्धि के द्वारा सुख-दुख , अर्थ-अनर्थ ; रति-अरति तथा मरण-जीवन को भाग्याधीन जानकर इस पवित्र अजगर व्रत का सेवन करता हूँ । अनिश्चित शयनासन से लेकर भाग्यवशात् प्राप्त वृत्तित्व का वर्णन करके सावधान होकर अजगर मुनि ने 'माने धर्म्यम्' इस से धार्मिकत्व को ही बतलाया है । आगे निरपेक्षता मात्र से जब सर्वदा अलब्ध वृत्तित्व; तथा प्रतिष्ठा के परित्याग मात्र को उपदेश दिया गया है । स्तुति; नमस्कार; द्वन्द्व तथा प्रतिग्रह से रहित होकर जिस किसी के आश्रित रहकर अरण्य में अकेले विचरण करो । कुछभी पहनकर कुछ भी खाकर जो कभी भी सो जाता है, उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं । आशीर्वाद, आरम्भ, नमस्कार स्तुति रहित जो अक्षीण पुरुष अपने कर्मों को क्षीण करता है, उसे देवता भी ब्राह्मण जानते हैं । जिस व्यक्ति से सम्पूर्ण आकाश सदा व्याप्त रहता है , जो जन सम्पर्क को शून्य के समान जानता है,

उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं। कुएं में डाले गये पत्थर के समान जिसमें सारी वाणियाँ विलीन हो जाती हैं, तथा प्रवचन काल में उससे वे उत्पन्न होती हैं, उसे देवता भी ब्राह्मण मानते। जो कभी चादर नहीं ओढता और न पैर फैलाकर सोता है, अपनी बाहों को ही तकिया बनाता है उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं। जो साँपकी तरह समूह से डरता है तथा प्रतिष्ठा को मृत्यु के समान भयङ्कर मानता है, मूर्दे के समान स्त्रियों से घृणा करता हैं उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं। मौन व्रत धारण कर चुपचाप हो गया इत्यादि वाक्य से जड आदि के समान भावना मात्र ही यहाँ कही गयी।

यच्च तत्र विपरीतमिव किञ्चिदुक्तम्, 'यहि वा वस भगवान् लोकमिमं योगस्युत्था (व्युत्थः ?) प्रतीपमिह चक्षाणस्तत्प्रकृतकर्म बीभत्सितमाजगरं नामावस्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति' इत्यादि, यच्चैव गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः काकमृगगोवच्चरति पिबत्यवमेहतीत्यादि, तदप्यखिलमजगरगोमृगचर्यारूपलोकावज्ञाहेतुभूत-योगोपकारकव्रतविशेषविषयम्। तत एव च तथाविधस्यैव ऋषभस्य विधिनिषेधकिङ्करत्वमेव ज्ञापितमिति न विरोधः। अतएव हि भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यं 'धर्ममुपशिक्षमाणः' इत्युपक्रमेऽप्युक्तम्। यच्चोत्तरत्र—'अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्। कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥ कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन् अकर्तुः सुविशारदा। यामासाद्य भवांल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत्॥ प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः। हेतुनेह समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः॥ त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगो मितभाषणः। न कर्तुमीहसे किञ्चित् जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना। न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भस्स्थ इव द्विपः॥ त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन् आत्मन्यानन्दकारणम्। ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः॥' इति पृष्टेनावधूतेन ब्राह्मणेन, 'सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः। यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽहमिह तान् शृणु॥ पृथिवी वायुराकाश आपोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।' इत्युपक्रम्य; 'एते मे गुरवो राजन् चतुर्विंशतिराश्रिताः।' इति गुरुवर्गमुक्त्वा; 'विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः। गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत्॥ तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः। सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत्। क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्। भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन् प्रागुत्तराशुभम्॥' इत्याद्युक्तम्; तदप्युक्तेनैव न्यायेन योगनिष्ठप्रशंसारूपात्मवादात्मकमिति अपिशब्दादिभिरेव लिङ्गैर्व्यक्तम्। उपक्रमे प्रश्नवाक्ये नापि निष्परिग्रहत्वनिरभिमानत्वादिकं हि दर्शितम्। तदेव ह्युपसंहारे प्रदर्शितम्। अतो

याहच्छिकसगुणविगुणान्नविवेकत्यागे सर्वंभक्षोक्तेस्तात्पर्यम् । यच्च याहच्छिकान्नव्यतिरेकेणापि पाणिपात्रभोजनमपि दृष्टमित्युच्यते, यथा–'स्तोकं स्तोकं ग्रसेत् ग्रासान् देहो वर्तेत यावता । गृहान् अहिंसन् आतिष्टेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ।। सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम् । पाणि पात्रोदरामा (म) त्रो मक्षिकेव न संग्रही ।। गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति । न तेषु सज्जते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ।।' इत्यादि तदपि स्थाखुपात्रपरित्यागादौ तत्परम् । परिव्राजां भिक्षाकाले शीर्णपर्णपुटेनापि भिक्षणस्य कैश्चिदनुमतेः । यच्च तदुत्तरत्रैत्यु पात्तम् —, 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः । सलिङ्गान् आश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ।। बुधो बालकवत् क्रीडेत कुशलो जडवच्चरेत् । वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ।। यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतावरम् । तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ।।' इत्यादि, तदपि क्रियमाणेष्वेवाकर्तृत्वानुसन्धानविधौ तत्परमिति प्रागुक्तनयेन नेतव्यम् । अन्यथा तत्रैव कथं अविधिगोचरश्चरेदित्यादिविधिर्घटेत ?

प्रसाद—अजगरोपाख्यान में जो कुछ विपरीत के समान कहा गया है कि- वे अजगर मुनि समाधि व्यातिरिक्त काल (व्युत्थान काल) में विपरीत के समान बोलते हैं, अजगर के नाम से प्रख्यात में विभत्स कर्मों को करते हैं; सोकर खाते हैं; खाते, पीते हुए पेशाब करते हैं, तथा—गौ, मृग एवम् काक चर्या से चलते, ठहरते एवं बैठते हुए, काक, मृग एवं गौ के समान ही आचरण करते हैं; पानी पीते हैं और पेशाब करते हैं, वह सब कुछ अजगर, गौ, मृग की चर्या रूप अपमान प्राप्त करने के लिए है, क्योंकि वह भी योगोपकारी व्रतविशेष है । इसीलिए उसी प्रकार के ऋषभ के लिए विधि एवम् निषेध शास्त्रों का किङ्कर भी बतलाया गया है । इसीलिए भक्ति ज्ञान एवं वैराग्य रूपी पारमहंस्य को–'धर्ममुपशिक्षमाण' इस वाक्यांश से प्रारम्भ में ही कह दिया गया है । आगे जो कहा गया है कि-अवधूत वेशधारी, निर्भय ब्रह्मवेत्ता तथा आत्मरत किसी विचरते हुए ब्राह्मण को देखकर धर्मज्ञ यदु ने पूछा-हे ब्रह्मन् ! अकर्ता को इतनी निर्मल बुद्धि कैसे हो सकती है जिसे प्राप्त कर आप इस लोक में बालक के समान विचरण करते है ? प्रायः मनुष्य धर्म, अर्थ; काम तथा तथा विविरसा को प्राप्त करने के लिए ही आयु, यश और श्री को प्राप्त करना चाहते हैं । आप तो कल्प, कवि, दक्ष, सुभग एवम् अल्पभाषी हैं; जड, उन्मत्त तथा पिशाच के समान कुछ करना ही नहीं चाहते । जब कि संसारी लोग काम तथा लोभ की दावाग्नि में जल रहे हैं, गंगा जल में खड़े हाथी के समान उस अग्नि की ताप से रहित हैं । आप केवल आत्मा के भक्त हैं, आप मुझे स्पर्श विहीन आत्मा के आनन्दित करने वाले को बतलाएँ । यह पूछे जाने पर अवधूत ब्राह्मण ने कहा–राजन् मुझे ज्ञान देने वाले अनेक गुरु हैं; जिनसे मैंने ज्ञान प्राप्त किया है, उन्हें आप सुने इस तरह से अपने गुरु वर्ग को बतलाकर कहा–अनेक धर्मों वाले विषयों में प्रवेश करने वाला योगी वायु के समान उनसे असम्पृक्त रहकर उनके गुण दोषों से दूर रहे । तपस्या से प्रज्ज्वलित, तेजस्वी तथा दुर्धर्ष उदर रूपी पात्र वाला योगी कुछ भी खाकर उसके पाप से सम्पृक्त नहीं होता ।

कहीं पर परोक्ष रूप से तथा कहीं पर साक्षात्; कल्याण कामियों के लिए उपास्य योगी अपने दाताओं के पूर्वाघ एवं उत्तराघो को जला देता है। यह सब कुछ उपर्युक्त प्रकार से ही योगनिष्ठ की प्रशंसारूप अतिवादात्मक है, इस अर्थ को 'अपि' इत्यादि शब्दों के द्वारा व्यक्त किया गया है। प्रकरण के प्रारम्भ में भी योगी के परिग्रह एवं अभिमान राहित्य रूपी गुण को बतलाया गया है। यही अर्थ बाद के वाक्य से भी अभिप्रेत है। अतएव योगी के सर्वभक्षत्व का अभिप्राय है अन्नों के स्वाभाविक सगुणत्व एवम् विगुणत्व के विवेक का परित्याग। यथा कालोपलब्ध अन्न व्यतिरिक्त अन्न को जो पाणिपात्र आदि में भोजन बतलाया गया है, जैसे–जब तक शरीर रहे तब तक थोड़ा–थोड़ा ग्रास लिया करे। योगी को चाहिए कि अहिंसा का पालन करते हुए वह मधुकरी वृत्ति से घर में रहे। शाम के लिए अथवा अग्रिमदिन के लिए भिक्षा न इकट्ठा करे। मक्षिका के समान हाथ ही उसका भोजन पात्र हो तथा पेट ही संग्रह पात्र हैं। इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण कर; समयानुसार त्यागे। विषयों में योगी उसी तरह नहीं संसक्त होता जिस तरह इन्द्रियाँ विषयों से असम्बद्ध रहती हैं। इस कथन का भी अभिप्राय स्थायी पात्र के परित्याग में है, क्योंकि कुछ स्मृतिकारों ने परिव्राजको को शीर्ण भिक्षा पात्र से भी भिक्षा माँगने की अनुमति दी है। उसके आगे यह जो कहा गया है कि मेरा भक्त, ज्ञानी; विरक्त तथा निरपेक्ष होता है, वह चिह्न विशिष्ट आश्रमों का त्याग करके, विधि शास्त्र से ऊपर उठकर आचरण करे। वह विद्वान् होकर भी बालक के समान क्रीडा करे तथा दक्ष होकर जड के समान आचरण करे। विद्वान् उन्मत्त के समान वैदिक गोचर्या का आचरण करे। यथाकालोपलब्ध अच्छे अथवा बुरे अन्न को खाए। उसी तरह की प्राप्त शय्या तथा निवास को अपनाए। इन वाक्यों का भी अभिप्राय किये जाने वाले कर्मों में अकर्तृत्वाभिमान के प्रतिपादन में हैं, यह उपर्युक्त प्रकार से निर्वाह करना चाहिए। अन्यथा 'अविधि गोचरः चरेत्' यह कैसे कहा जाता ?

यत्तु वाररुचे स्वरूपग्रन्थ इत्युक्तम्–'देहजात्यादिसम्बान्धान् वर्णाश्रमसमन्वितान्। भावानेतान् परित्यज्य स्वं भावं भावयेद् बुधः॥ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं चैतन्यं यच्चिरन्तरम्। तत् ब्राह्मणमिति ज्ञात्वा कथं वर्णाश्रमी भवेत्॥ इति। तदपि वररुचेः ऋषिभावनयोपदेशपरं चेत्—परिगृहीततमऋष्यन्तरस्मृत्यन्तरादिवचनाविरोधेन वक्तव्याविरहित-परिशुद्धात्मस्वरूपानुसन्धानपूर्वकवर्णाश्रम धर्मविशेषविधिपरतया योज्यम्। उपपत्तिपरं चेत्-सर्वधर्मोपप्लवमूलकुतर्ककलककल्पितत्वेन प्रामाणिकैर्बीभत्सनीयम्, बृहस्पतिप्रणीतलोकायतादिग्रन्थवत्। विदुरवृत्तान्तोऽपि प्रागुक्तन्यायेन व्याख्यातः।

प्रसाद—वररुचि के स्वरूप ग्रन्थ में जो यह कहा गया है कि विद्वान् को चाहिए कि वह देह जाति आदि सम्बन्धों, जो वर्ण एवं आश्रम से युक्त हैं; को त्यागकर, आत्मा के स्वरूप का ध्यान करे सभी उपाधियों से रहित चिरन्तन ज्ञान स्वरूप आत्मा को ब्राह्मण जानकर विद्वान् वर्णाश्रमी कैसे हो सकता है, वह भी वररुचि ऋषियों की भावना से उपदेश परक कथन है, उसका भी निर्वाह समादृत दूसरे ऋषियों की स्मृति वाक्यों के अनुसार ही करना चाहिए, उस वाक्य का अभिप्राय वास्तविक आत्मा के स्वरूप का अनुसन्धान पूर्वक वर्णाश्रम धर्म विशेष के विधान में है। उसको उपपत्ति परक मानना तो

सभी धर्मों में क्षोभ पैदा करने वाले कुतर्क मूलक होने के कारण सभी प्रामाणिकों के द्वारा अनादरणीय होगा। वह भी बृहस्पति प्रणीत लोकायत दर्शन के समान अनादरणीय होगा। उपर्युक्त न्याय से ही विदुर के भी वृत्तान्त की व्याख्या हो गयी।

यद्यपि, 'जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्राज्या मन्त्रसाधनम्। देवताराधनं चेति स्त्री-शूद्रपतनानि षट्॥' इत्यादि स्त्रीशूद्रादिषु भर्तृत्रैवर्णिकशुश्रुषाबहिर्भूतजपतपः प्रभृतिषु पतनस्मृतिः, तथाऽपि क्षत्रियविशेषस्य सन्न्यासाभ्यनुज्ञानवत् शूद्रादेरपि केषुचित् व्रतेष्वनुज्ञानमस्ति। न च तस्य यज्ञोपवीतादिपरित्यागलक्षणदोषावकाशः; प्रागेव तदभावात् ये च नग्नचर्यामातिष्ठन्ते महात्मानः; ते हि ब्रह्मचर्यकाष्ठामधिष्ठाय तथा भवन्ति। 'ऋषयो वातरशनाः', 'वातरशना ह वा ऋषयश्श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः' इति हि श्रूयते। न पुनर्भवन्त इव पट्टांशुकादिभाण्डागारशालिनः क्षितिसुरचण्डालक्षीरसुरादिभेदत्यजाः परकलत्रशरणाः पशुमृगसधर्माणः प्रजननसन्तताः श्रूयन्ते। सनत्कुमारादीनां नग्नता नित्यबाल्यावस्थतया, केवलब्रह्मभावनाभावितात्मानः कुमारा हि ते महात्मानः श्रूयन्ते। पशुपतेर्नग्नचर्या तु पाशुपतव्रतविशेषाङ्गरूपत्वात् तत्र धर्मत्वसदसद्भावयोरपि त्रयीधर्मनिष्ठैरनुपादेयैव। यत्पुनर्मुग्धेन्दुशेखरस्य मुनिधर्मदारमोहनादिकमवैदिकाचारजालम्; तत्र वैराग्यशालिनस्तस्य मोहनाभिसन्धिविरहः स्पष्ट पठितः। अन्यथाऽपि तस्येश्वरत्वमभ्युपगच्छतामीश्वरत्वादेव परिहृतम्। 'न देवचरितं चरेत्' इति ह्याहुः। लोकवेदविरुद्धयोरप्यलेपः स्वतन्त्रश्चेति हि महापाशुपताः प्राहुः। अनीश्वरत्वपक्षे तु तेजोविशेषेणैव सोढव्यम्। स्मरन्ति हि; 'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरजः' इत्यादि।

प्रसाद—यद्यपि 'जप, तप, तीर्थयात्रा, प्रव्रज्या मन्त्र सिद्ध करना तथा देवता की आराधना ये सभी स्त्री तथा शूद्रों के पतन के कारण हैं। इत्यादि स्मृति वाक्य बतलाते हैं कि अपने पति तथा त्रिवर्णों की शुश्रूषा से बहिर्भूत जप तप आदि से भिन्न कर्म स्त्रियों तथा शूद्रों के पतन के कारण हैं। फिर भी क्षत्रिय विशेष को संन्यास ग्रहण की अनुज्ञा देते हैं शास्त्र, तथा शूद्रों के लिए भी कुछ व्रत बतलाए गये हैं। उसमें उनके यज्ञोपवीतादि त्याग रूप दोष नहीं लगते हैं। ब्रह्मचर्य की सीमा को प्राप्त कर लेने के बाद ही महात्मागण नग्न व्रत को धारण करते है। 'ऋषयो वातरशना' 'वातरशना हवा ऋषयश्श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः।' इत्यादि श्रुतियाँ मुनियों को वाताशी तथा ऊर्ध्वरेता बतलाते हैं। किन्तु श्रुतियाँ उन्हें पट्ट एवम् अंशुक का स्वामी नहीं बतलाती हैं, वे उन्हें ब्राह्मण चाण्डाल तथा दुग्ध-मदिरा में भेद ज्ञान रहित दूसरों की पत्नियों के साथ रहने वाले, पशु पक्षी के सदृश आचार वाले तथा सदा

सन्तान पैदा करने वाले को नहीं बतलाती है। सनत् कुमार आदि सदा बाल्यावस्था के कारण नग्न रहते हैं। वे सदा ब्रह्म को ही अपनी आत्मा मानते हैं तथा सदा कुमारावस्था में ही रहते हैं। पशुपति की नग्न चर्या पाशुपत व्रत विशेष का एक अङ्ग है। उसमें वैदिक धर्मानुयायियों को धर्म के सद्भाव और असद्भाव का अन्वेषण नहीं। करना चाहिए। श्री शङ्कर जी ने जो मुनि पत्नी को मोहित कर अवैदिकाचरण किया, उसके द्वारा भी उनकी निस्स्पृहता ही सिद्ध होती है। शङ्कर जी को ईश्वर मानने वाले उस चरित्र का अन्यथा भी निर्वाह कर सकते हैं। कहा भी गया है कि मनुष्यों को देवताओं के चरित का अनुसरण नहीं करना चाहिए। महापाशुपतों ने अपने धर्म को लोक वेद विरुद्धकर्मों को भी अबन्धन कारक माना है। शङ्कर जी को अनीश्वर मानने पर तो उनके तेज विशेष मात्र के द्वारा उस कर्म को सह्य मानना होगा। स्मृतियों में कहा भी गया है कि—पूर्व कालिक महापुरुषों ने अपने तेजो विशेष के बल पर धर्म विपरीत साहसिक कर्म किया; किन्तु उनको उसका पाप नहीं लगा; परन्तु यह देखकर उनका अनुसरण करने वाले छोटे लोग तो दुखी होते ही हैं।

एतेन सर्वेश्वरस्य भगवतो वसुदेवनन्दनस्य स्वच्छन्दलीलया गोपवधूदर्शन (?) व्याकुलीकरणं व्याख्यातम्। परिहृतं चैतदकर्मवश्यतया भगवत्पराशरादिभिः, कामादूगोप्य' इति भगवत्यनुरागानुवृत्तिरपवर्गायैव जायत इति चोक्तम्। ननु धर्मसंस्थापनार्थायाः सम्भवस्तत्क्षोभकरणं चेति कथमिदमुपपद्यते॥ न; उक्तोत्तरत्वात्। नन्दगोपनन्दत्वाभिमानमभिनयतस्तस्य न तावत् तदानीं वर्णाश्रमाचारानुवृत्तिनियमः। आभीरकन्यका अपि भगवन्तमेव भर्तारमभ्यर्थ्य जन्मान्तरचरितव्रता दिव्यप्रकृतय एवेति तास्वप्सरः समाधिरनुसन्धेयः। तत्तदभिमतफलप्रदानं चेश्वरस्यादोषायेति। यदा तु भगवान् वसुदेवतनयतया प्रतिबोधमभिनयन् यदुवंशोदितं क्षत्रधर्ममनुप्राविशत, तदा सावधान एव सर्वदा सर्वान् धर्माननुपालयत्। तथाहि सर्वत्र कथ्यते—'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥' इति। तथा; 'कृतोदकः कृतजपो हुताग्निः समलंकृतः। तत उद्यन्तमादित्यमुपातिष्ठत माधवः॥' इति। तथा अश्वत्थामास्त्रावकृष्टविराटतनयागर्भसञ्जीवनावसरे साधिकषोडशस्त्रीसहस्ररसिको बृन्दावनविहारी वल्लवीबृन्दनिवि (त्रि) ष्टयौवनारम्भो भगवान् स्वयमेवावोचत्, "यदि मे ब्रह्मचर्यं स्यात सत्यं च मयि तिष्ठति। अव्याहतं ममैश्वर्यं तेन जीवतु बालकः॥' इति।

प्रसाद—इसके द्वारा भगवान श्रीकृष्ण की स्वच्छन्द लीला पूर्वक गोप बन्धुओं के धर्म विरुद्ध दर्शन की भी व्याख्या हो गयी। इसका परिहार पराशर महर्षि ने भगवान् को अकर्मवश्य मानकर किया है। काम से गोपियों ने भगवान की आराधना की।' इस तरह श्रीभगवान में होने वाले गोपियों का अनुराग भी मोक्ष का साधकतम ही है। यदि कहें कि भगवान् तो धर्म के संस्थापनार्थ अवतार लेते हैं, वे धर्म का संक्षोभ क्यों करेंगे? तो इस शङ्का का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है क्योंकि भगवान्

ने नन्दगोपनन्दनत्व का अभिनय किया था अतएव उनके लिए वर्णों एवम् आश्रमों के नियमों का पालन आवश्यक है। गोपियों ने भी पूर्व जन्म में भगवान् को ही पति के रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या की थी, अतएव वे दिव्य अप्सराएँ थीं, किसी वर्ण अथवा आश्रम की नहीं। भगवान् के द्वारा अभ्यर्थियों को तत् तत् प्रकार का फल प्रदान दोषावह नहीं है। जब भगवान् कृष्ण वसुदेव के पुत्र रूप में अपने को जानकर क्षात्र धर्म में प्रवेश किए तब से तो उन्हें सम्पूर्ण अपने वर्णाश्रमोचित धर्मों का नियमतः पालन किया। इस तरह की बात सर्वत्र कही भी गयी है। तथाहि–हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरे लिए कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं है। कोई भी ऐसी अभिलषित वस्तु नहीं है जो प्राप्त न हुई हो, अथापि मैं कर्मों को करता रहता हूँ।' तथा–तर्पण, जप और अग्निहोम करके भगवान श्रीकृष्ण ने उगते हुए आदित्य का उपस्थान किया। किञ्च अश्वत्थामा के अस्त्र से दग्ध उत्तरा के गर्भ को जीवित करने के समय सोलह हजार से भी अधिक स्त्रियों के साथ रमण करने वाले, वृन्दावनविहारी, गोपियों के बीच युवक होने वाले भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयम् कहा यदि मेरे ब्रह्मचर्य सत्य और ऐश्वर्य अव्याहत हैं तो यह बालक जीवित हो जाय।

ननु श्वेताश्वतरोपनिषदुपसंहारे तदधिकारितया अत्याश्रमित्वोपपादनादप्राप्तार्थत्वेन तद्विधिरिति चेन्न, अतिशयिताश्रमविशेषनिष्ठ इति वा, ब्रह्मचर्यादित्रयातिक्रान्ताश्रमविशेषनिष्ठ इति वा, अन्येन वा केनचिदविरुद्धेन निमित्तेन तन्निर्वाहात्। अन्यथा स्फुटतरार्थश्रुतिस्मृतीतिहासादिशतकोपप्रसङ्गः॥ 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्'; 'सर्वारम्भपरित्यागी', 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादिभिः सर्वधर्मपरित्यागोक्त्या चानाश्रमित्वसिद्धिरिति चेन्न; फलसङ्गकर्तृत्वादिविषयतया वा विधीयमानधर्मव्यतिरिक्तविषयतया वा यथासंभवं तद्व्यवस्थापनस्य तत्रतत्रैवोपक्रमादिभिर्व्यक्तत्वात्। सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्' इति सन्न्यासत्यागतत्त्वबुभुत्सयोपसेदुषे धनञ्जयायोक्तं भगवता, 'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितम् मतमुत्तमम्॥ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥' इति। एतेन 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते॥ नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥' इत्यादीन्यपि वाक्यानि सर्वकार्यस्वरूपनिषेधपराण्यपि मुक्तदशां समाधिदशां वाऽऽश्रमविस्य निर्वाह्याणि। अतो यथायथमाश्रमविशेषविषयो वा फलसङ्गकर्तृत्वादिविषयो वा सन्न्यासपरित्यागादिवादः, न पुनः स्वैरपर्यवसित इति सिद्धम्।

प्रसाद—यदि कहा जाय कि श्वेताश्वतर उपनिषत् के अन्त में उपनिषदर्थाधिकारी रूप से अत्याश्रमी का प्रतिपादन किया गया है, चूंकि वह अप्राप्त अर्थ हैं अतएव उसे अत्याश्रमित्व की विधि ही

समझना चाहिए, तो प्रश्न है कि अत्याश्रमित्व का अर्थ क्या है, सर्वोत्कृष्ट आश्रम विशेष निष्ठता रूप हैं ? या ब्रह्मचर्यादि तीन आश्रमों से श्रेष्ठ आश्रम विशेष निष्ठता रूप है? या किसी अन्य उपनिषदनुकूल अर्थ से अत्याश्रमित्व का आप निर्वाह करते हैं ? यदि ऐसा न मानें तो फिर अनेक प्रत्यक्ष श्रुतियों एवं स्मृतियों का विरोध होगा । यदि कहें कि—'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्' अर्थात् केवल शरीर से कर्मों को करता हुआ योगी पाप का भागी नहीं होता; 'सर्वारम्भ परित्यागी' अर्थात् सभी कर्म फलों के परित्याग करने वाला । 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' अर्थात् सभी धर्मों का त्याग कर, इन वाक्यों में सभी धर्मों का परित्याग करने के विधान द्वारा अनाश्रमित्व की सिद्धि होती है, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि इन वाक्यों का तात्पर्य 'फल की अभिलाषा तथा कर्तृत्वाभिमान रहित होकर कर्मों को करने के लिए कहा गया है ; अथवा उनका अभिप्राय अविहित धर्मों के परित्याग में है, इस बात का स्पष्टीकरण तद्-तद् स्थलों के उपक्रमादि से ही हो जाता है । संन्यास तथा त्याग तत्त्व को जानने के लिए शरणागत अर्जुन ने जब कहा कि हे भगवान् ! मैं संन्यास का तत्त्व जानना चाहता हूँ ।' तो भगवान् ने कहा 'हे पार्थ मेरा सर्वोत्तम निश्चित मत यही है कि फलाभिलाष रहित होकर इन कर्मों को करना चाहिए ।' किन्तु विहित कर्मों का संन्यास नहीं होता, अज्ञान के कारण उनका परित्याग तामस त्याग है । अतएव 'यस्त्वात्मरतिरेव०' इत्यादि अर्थात् जो पुरुष आत्मनिष्ठ, स्वयं तृप्त तथा अपने में ही संतुष्ट रहता है उसके कर्मों के अनुष्ठान को करने अथवा नहीं करने से कोई भी लाभ हानि नहीं है और उसका किसी भी जीव से कोई भी सप्रयोजन व्यापार नहीं होता ।' प्रभृति कार्य के स्वरूप का निषेध करने वाले वाक्यों का निर्वाह भी मुक्त दशा अथवा समाधि दशा विषयक मानकर करना चाहिए । अतएव सन्यास एवं परित्याग आदि का आश्रम विशेष तथा कर्तृत्वाभिमान रहित होकर कर्मानुष्ठान है, स्वैराचार नहि ।

एतेन, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः,' 'न्यास एवात्यरेचयत्' ; 'तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः' इत्यादि, 'किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे किं प्रजया करिष्यामः येषां नो अयमात्मा ब्रह्म (अयं) लोक इत्यादिकमपि धर्मविशेषादिविषयतया तत्रत्यात्मसमर्पणादिविषयतया वा यथायथं निर्वोढव्यम् । अतः सर्वाश्रमपरित्यागोक्तिसम्भवेऽपि प्रागुक्त एव न्यायः । न च तथाऽस्ति । अपितु ; 'त्रयो धर्मस्कन्धाः इत्याश्रमान् विधाय' 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीत्याश्रम निष्ठानामेव ब्रह्मविदामृतत्वं श्रूयते ।' 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते इति यावज्जीवं गृहस्थधर्मनिष्ठस्य ब्रह्मविदोऽपुनरावृत्तिराम्नाता । 'यो वा एतदक्षरं गार्गि इत्यादौ च ज्ञानरहितकर्मणामनन्तवत्फलासाधनत्वं ज्ञानपूर्वककर्मणां स्थिरफलसाधनत्वं चोक्तम् । अतो न कदाचिदपि यावज्जीवं स्ववर्णाश्रमोचितधर्मस्वरूपत्यागसम्भवः । यानि चान्यानि वाक्यानि सम्प्रतिपन्नश्रुतिस्मृतिव्यवस्थमानानि स्वाचारानुरूपमतपरिचर्यया केषुचिदप्रसिद्धेषु वा नष्टकोशेषु वा अनिरूपितमूलग्रन्थेषु वा पुराणेषु

प्रक्षिप्य पठन्ति पापिष्ठाः ; तानि प्रत्यक्षश्रुत्यादिपरिशीलनशालिनीषु गरिष्ठगोष्ठीषु नावकाशं लभन्ते । तत्प्रामाण्येऽपि ; "प्रसिद्धाविरोधेन नेतव्यम्" इत्यत एवं (व?) तान्यपि निर्व्यूढानि ।

प्रसाद—उपर्युक्त प्रतिपादन के द्वारा ही न कर्मणा० इत्यादि अर्थात् एक प्रकार के लोगों ने कर्म, प्रजा अथवा धन से नहीं अपितु त्याग के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया ।' 'न्यास के द्वारा ही आत्यन्तिक शुद्धि हुई । 'इसीलिए न्यास को सभी तपस्याओं से श्रेष्ठ बतलाया गया है ।' इत्यादि ; तथा 'हम क्यों अध्ययन करेंगे ? हम क्यों भजन करेंगे ? हमें प्रजाओं से क्या मतलब है ? हम लोगों की आत्मा ही ब्रह्मलोक है । ये सभी वाक्य भी धर्म विशेष का ही प्रतिपादन करते हैं । इन सबों का निर्वाह आत्म समर्पण विषयक रूप से करना चाहिए । अतएव सभी आश्रमों के परित्याग परक वाक्य के विषय में भी उपर्युक्त न्यास का अनुसरण करना चाहिए । किन्तु कोई ऐसा वाक्य है नहीं । अपितु ' धर्म के तीन स्कन्ध हैं ।' इस वाक्य से आश्रम के धर्मों का विधान करके, 'ब्रह्मनिष्ठ मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।' इस वाक्य में ब्रह्मनिष्ठों की ही मुक्तता बतलायी गयी है । 'वह आजीवन गार्हस्थ्य धर्मों का पालन करते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है , वह पुनः इस संसार में नहीं आता ।' यह वाक्य आजीवन गार्हस्थ्य धर्म पालक ब्रह्मवेत्ता की मुक्ति बतलाता है । 'यो वा एतदक्षरम् गार्गि' इत्यादि वाक्य में भी ज्ञानरहित कर्मों को सान्त फलों का साधन तथा ज्ञानपूर्वक किए गये कर्मों को अनन्त फल का साधन बतलाया गया है । अतएव जीवन में कभी अपने वर्ण एवम् आश्रम के कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता है । प्रख्यात श्रुतियों एवम् स्मृतियों में अनुपलभ्यमान वाक्य मूल रहित अप्रसिद्ध तथा नष्ट कोश वाले पुराणों में पापियों द्वारा प्रक्षिप्त करके पढ़े जाने वाले कर्मों के परित्याग परक वाक्यों को तो अपने आचारानुरूप परिचर्या के द्वारा प्रत्यक्ष श्रुतियों का परिशीलन करने वाली महानों की गोष्ठी में अवसर नहीं प्राप्त हो सकता हैं । उनका यदि प्रामाण्य हो तो भी उन वाक्योंका प्रसिद्ध वाक्यों से विरोध होने से वे परित्यक्तव्य हैं ।

न च तृतीयः ; अनाश्रमित्वाक्षेपकवचनादर्शनात् ॥ जीवन्मुक्ते श्रुत्यर्थापत्त्यैवानाश्रमित्वसिद्धिरिति चेन्न ; तद्दूषणादेव तदसिद्धेः ॥ अस्तु नित्यमुक्तिवशात् सर्वाश्रमत्याग इति चेन्न ; तस्या अपि मोक्षोपायोपदेशकशास्त्रादेव चिरतरतस्तत्प्रकरणे निषेधात् ।

प्रसाद—तीसरा पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि कोई भी ऐसा शास्त्रीय वाक्य नहीं मिलता जिससे कि अनाश्रमित्व का आक्षेप हो सके । यदि कहेंकि जीवन्मुक्त की समर्थिका श्रुत्यर्थापत्ति के द्वारा अनाश्रमित्व की सिद्धि होती है तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मैं जीवन् मुक्ति का खण्डन कर चुका हूँ । यदि कहें कि नित्यमुक्ति के द्वारा ही सर्वाश्रम त्याग की सिद्धि होती है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि नित्यमुक्ति का खण्डन तो मोक्षोपाय के उपदेशक शास्त्रों के बल पर ही हो जाता हैं ।

चतुर्थस्तु विपरीत एव । अथ गौडपाद–हरिप्रभृतिभिराचरितत्वात् सर्वाश्रमपरि

स्त्यागोऽस्माभिः स्वीकृत इति चेत् , हन्त ! सदाचारनिदर्शनतया महान्त इमे दुर्ब्राह्मण-शुद्रसन्तानादायः शिष्टा निर्दिष्टाः , यदनुविधायिनोऽपि यूयं शिष्टैर्बहिष्क्रियध्वे । हन्तैवं सति धर्मकीर्तिप्रभृतिभिः परिगृहीतत्वात् सौगत लोकायतिकादिसमय एव किं न स्वीक्रियते ? न च वस्तत्परिग्रहेऽपि मुक्तिः प्रतिबध्यते ॥ सत्यम् , तथाऽपि येनाकारेण याव-ज्जीवं लोको रञ्जयितु शक्यः , तेन यथायथं वर्तामह इति चेत् ; सत्यमिदमन्तर्गतमुद्-गीर्णं भवता । तदेव चार्वाकसमयरस्यमिति तत्प्रहारेण प्रहृतमिदम् । न हि चार्वाकान् भवन्तोऽपि गोष्ठीषु व्यक्तमन्तर्भावयन्ति । भजन्तु वा प्रकाशं चार्वाकाभिख्याम् ॥ ननु ब्रह्मविच्छब्दोऽस्मासु प्रयुज्यमानो दुरपह्नव इति चेत्-सत्यम् , भ्रान्तिमूलतया निरर्थकोऽय मिति ब्रमः । दिगम्बरादिष्विदानीमृष्योदिशब्दप्रयोगवत् । तत्त्वविद इति भवता स्वयं स्थानेषु समाहूयामह इति चेत्—किमतः ? ॥ तत्त्वविस्त्वमेवेति चेन्न , तस्य विडम्बनपर-त्वात् ; भवदधीनकार्यलाभकालप्रतीक्षणाद्वेति ।

प्रसाद--चौथा पक्ष तो विपरीत ही है । यदि कहें कि गौडपाद और भर्तृहरि आदि के द्वारा अनुष्ठित , सभी आश्रमों के परित्याग को ही हम स्वीकारते हैं । तो फिर सदाचार के उदाहरण भूत तुम्हारे ये महापुरुष दुर्ब्राह्मण और शूद्र के सन्तान आदि है जिन्हें आप शिष्ट कहते हैं, उन्हीं का अनुगमन करने के कारण आप शिष्टों की गोष्ठी से बहिष्कृत किए जाते हैं। अच्छा होता कि आप धर्मकीति आदि से स्वीकृत सौगत एवम् चार्वाक दर्शन को ही स्वीकार कर लेते । उसको स्वीकार भी लें तो आपकी मुक्ति नहीं हो सकती है । यदि कहें कि जिस तरह आजीवन लोगों का अनुरञ्जन किया जा सके हम उसी तरह का व्यवहार करते हैं, तो यह आपकी वास्तविक हार्दिक अभिव्यक्ति ही मानी जायेगी, इस बात को चार्वाक भी मानते हैं, अतएव चार्वाक मत खण्डन से ही आपका मत खण्डित हो जाता है । आपभी तो चार्वाकों को अपनी गोष्ठी में अन्तर्भूत नहीं करते हैं । अथवा आप अपने को स्पष्ट रूप से चार्वाक कहें । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि हमारे लिए ही ब्रह्मविद् शब्द का प्रयोग होता है , इसका आप अपलाप नही कर सकते हैं । तो इसका उत्तर है कि आप के लिए ब्रह्मवित शब्द का प्रयोग भ्रान्तिमूलक है, अतएव वह निरर्थक है । यह उसी तरह से है जैसे दिगम्बरों के लिए ऋषि आदि शब्दों का प्रयोग। यदि कहें कि आप लोग भी हमें तत्त्वविद् शब्द से अभिहित करते हैं , तो इससे क्या हुआ । यदि कहें कि इससे हमारा तत्त्ववेत्तृत्व ही सिद्ध होता है ; तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि विडम्बनपरक हैं यह शब्द ; अथवा आप के द्वारा होने वाले कार्यलाभ की प्रतीक्षा में यह शब्द प्रयुक्त होता है, आपके लिए।

नापि पञ्चमः ; अधर्मत्वप्रसङ्गात् । यद्यपि स्वाश्रमधर्मानुष्ठानक्लेशादात्मानुस-न्धानविच्छेदभयेन सर्वधर्मपरित्याग इति तु यथाहृदयं सत्य वचः ; तथापि श्रुतिस्मृत्या-दयो धर्मलोपे प्रकुप्येयुरि (रन्नि) ति प्रायश्चित्तेन प्रतिसन्धानं वा निरयपतनं वाऽवश्यंभा

वीति निश्चीयताम् । अयं हि राजसस्त्यागः । यथोक्तम् , 'दुःखमित्येव यः कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥' इति ।

षष्ठस्तु हेतुस्तदा शोभते, यदि अशक्तिरनाहार्या परमार्थभूता स्यात् । न ह्यशक्तमधिकृत्य शास्त्राणि प्रवर्तन्ते । न च तत्त्वतोऽशक्तिः, अन्येभ्यः शक्तेभ्योऽनुतिष्ठद्भ्यो विशेषादर्शनात् । स्वहृदयविसम्वादाच्च । सन्ति च धर्मसाक्षिणोऽन्येऽपि , "आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥' इति । विधुरत्वादिदशास्वपि सर्वसामान्यधर्मादेरनुवर्तनीयत्वं तद्विलने च प्रायश्चित्तं तदकरणे प्रत्यवायश्चेति ।

नापि सप्तमः; सामान्यनिर्देशमात्रेण तदसिद्धेः विशेषतस्तन्निरूपणादिति न कदाचिदपि बुद्धिपूर्वपापानामलेपसम्भव इति ।

प्रसाद--यदि पाँचवाँ पक्ष मानें तो अनाश्रमित्व अधर्मरूप होगा । यद्यपि अपने आश्रम के धर्मों के अनुष्ठान के क्लेश के द्वारा आत्मानुसंधान के विच्छेद के भय से अतएव सभी धर्मों का परित्याग करना चाहिए , यह अपने अभिप्रेत को अभिव्यक्त करने वाले अद्वैती विद्वानों के वाक्य सत्य हैं, फिर भी; समर्थों के धर्मों का लोप हो जाने पर श्रुतियाँ एवम् स्मृतियाँ प्रकुपित होंगी, अतएव उन्हें उनका प्रायश्चित्त करना होगा या नरक जाना होगा, इसी तरह के त्याग को भगवान्ने राजस त्याग बतलाया है । भगवान ने कहा है शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों को दुःखद समझकर त्याग करना राजस त्याग कहलाता है; और उससे त्याग के फल की प्राप्ति नहीं होती । असमर्थता के स्वाभाविक अथवा परमार्थ होने पर ही छठा पक्ष शोभा पा सकता है । असमर्थों के लिए कर्मों का विधान शास्त्र नहीं करते हैं । अद्वैती विद्वान् दूसरे समर्थ तथा कर्मानुष्ठान करने वालों के सदृश ही रहते हैं, अतएव उनमें कर्मानुष्ठान की असमर्थता वास्तविक नहीं मानी जा सकती है । उनका भी हृदय कर्मों के परित्याग का विरोध करता है । किञ्च धर्म के साक्षी आदित्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, द्युलोक; पृथिवी, जल, हृदय, यमराज, दिन-रात दोनों सन्ध्याएँ तथा धर्म, ये सभी मनुष्यों की वृत्ति को मानने वाले देवता भी हैं । विधुरत्वावस्था में भी सर्वसामान्य धर्मों के पालन का विधान है उनके न करने पर प्रायश्चित्त करना होता है, प्रायश्चित्तों के नहीं करने पर पाप लगता है । सामान्य निर्देश मात्र से ही सप्तम हेतु खण्डित हो जाता है , और विशेषरूप से तत्-तत् वर्णों एवम् आश्रमों के कर्मों का विधान ही किया गया है , अतएव बुद्धि पूर्वक किए गये पाप बन्धन कारक न हों ऐसा हो नहीं सकता है ।

ननु भवन्तोऽप्यन्त्यजपर्यन्तान् भगवद्भक्तान् इति धावन्तः समाचारविप्लवाय जायन्त इति समोऽयम् , अस्माकं पुनः को विशेष इति चेत्-मैवम् , किं त्वया मुक्तानां तेषां प्रतिष्ठार्चनादिरूप सम्भावनमुपप्लवकारणतयोपन्यस्तम् , उत जीवतामेव विशेषादिपरिहारेणान्येभ्य उत्कर्षभावनमिति । न प्रथमः , तेषां भगवदुपासनप्रभावविशेषनिश्शेषिता-

विद्याकर्मवासनादेहसंबन्धादीनामाविर्भूतभगवत्साम्यानां जातिविशेषसम्बन्धाभावेऽपि भक्त-प्रतिष्ठार्चनशास्त्रैः पुरुषान्तरव्यावर्तनाय पूर्वाकारमुपलक्षणीकृत्य तत्समाने बिम्बे सन्निधाप्य सभाजनविषयतया प्रतिपादितानां तत्तच्छास्त्रप्रामाण्यानुसारेण तत्तदुचितसभाजनं विधीयमानं कथं पुनरुपप्लवकारणमुन्नीतं भवता ? मुक्तौ अनन्तगरुडविष्वक्सेनतुल्याः 'इमाँल्लोकान्' इति श्रुत्या भगवदनुसञ्चरणादिकं कुर्वन्तीति सिद्धम् । नापि द्वितीयः, अनेनैव शरीरेण विद्यमानेष्ववप्लवपर्यन्तसंभावनस्य तेष्वभावात् । तथाविधेभ्योऽन्येभ्यस्तेषु भगवद्भ-क्त्या संजातमतिशयमाद्रियामहे, न पुनर्जात्यादिभेदमेव भवन्त इव स्वरूपतो निह्नवामहे, येनाऽऽचारविप्लवः स्यात् । न च जात्याद्यनुरूपसंबन्धादिवर्जनात् भगवद्भक्तेष्वपि तेष्ववज्ञादिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, तत्कालोचितस्पर्शवर्जनेऽपि स्त्रीधर्मिण्यामात्मजनन्यामिव मानसिकवाचिकसंभावनासामर्थ्यवैभवेन पुराणेतिहासभगवद्वाक्यशतनिर्णीतेन शास्त्रानुसारिणा-मवज्ञाप्रसङ्गाभावात् । उक्तं च भगवता ; 'मद्भक्तान् शूद्रसामान्यान्नावमन्येत बुद्धिमान्' इति । यथा मतंगज-तुरङ्गम-विहङ्गम-गो-मृगादिषु पुरोहितामात्यसामन्तान्तःपुरकुब्जकिरातामनबधिरादिषु च महीपतिसमाश्रयणमहनीयतां गतेषु विशेषादनवमन्तव्येषु तत्तज्जातिगुणवैषम्यं व्यवस्थितमेवानुपाल्यते—तथा भगवत्समाश्रितेष्वपीति न कश्चिद्दोषः, राजाधिराजस्य भगवतो राजवदुपचार इति न्यायात् । आदिभक्तानामनन्तगरुडादीनामिच्छावतारभेदा इति (इमे इति च ?) पुराणप्रसिद्धम् तेन तेषां प्रतिष्ठार्चनादिकं रामकृष्णादि-भगवदवतारादीनामिवेति भक्तप्रतिष्ठाशास्त्रानुसारेण निर्णेतव्यमिति ॥

॥ इति शतदूषण्याम् अलेपकमतभङ्गवादः पञ्चषष्टितमः ॥६५॥



प्रसाद—यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि विशिष्टाद्वैती भी शूद्र पर्यन्त को भगवद् भक्त मानते हैं, इससे वे भी धर्म को उपद्रुत करने के कारण हमारे ही सदृश हैं, हमारी उनसे अधार्मिकता के विषय में कौन सी भिन्नता है ? तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रश्न है कि अद्वैती विद्वान् मुक्तों की प्रतिष्ठा तथा अर्चना आदि रूप सम्भावना को उपद्रव का कारण मानते हैं? अथवा जीवित ही परमहंसों के अपमान का परित्याग करने से दूसरों से उत्कर्ष मानते हैं । प्रथम पक्ष तो इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि मुक्तजीव के भगवान् की उपासना के प्रभाव विशेष से सारा अज्ञान तथा कर्मों की वासना

विनष्ट हो जाते हैं, वे भगवत् साम्य को प्राप्त कर लेते हैं; उनका यद्यपि किसी जाति विशेष से सम्बन्ध नहीं रहता है फिर भी भक्तों के प्रतिष्ठा शास्त्रों द्वारा दूसरों से भेद करने के लिए, पहले के आकारको उपलक्षण बनाकर उसके सादृश प्रतिमा में प्रतिष्ठापित करके ; उनकी समर्चारूप से प्रतिपादित विभिन्न शास्त्रों के प्रामाण्य के अनुसार, विहित विभिन्न समर्चा को आप उपद्रव का कारण कैसे मान सकते है ? 'इमान् लोकान्' यह श्रुति बतलाती है कि मुक्तावस्था में जीव अनन्त , गरुड और विष्वक्सेन के सदृश होकर; भगवान् के पिछे सञ्चरण करते हैं। दूसरा पक्ष इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है कि ; इसी ही शरीर में विद्यमान परमहंसो में उपद्रव असम्भव है । उनके ही सदृश दुसरों की अपेक्षा उसमें जो विशेषता आती है वह भगवद्भक्ति के कारण आती है, आप लोगों के समान हम उनमें स्वरूपत: जाति भेद नहीं मानते हैं । आपकी ही मान्यता आचारोपप्लवकारिणी हैं । आप यह भी नहीं कह सकते हैं कि जाति आदि के अनुरूप सम्बन्ध आदि का निषेध करने से भगवद्भक्त भी परमहसों में अवज्ञा आदि का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि यह उसी तरह नहीं हो सकता जिस तरह मुक्तवस्थोचित्त स्पर्श न होने पर भी स्त्री जाति की अपनी माता का पुराण, इतिहास तथा भगवान् के अनेक वाक्यों से समर्थित, मानसिक; एवम् वाचिक समादर करने से शास्त्रानुयायियों का अपमान नहीं होता है । भगवान् ने कहा भी है मेरे शूद्र भक्त का भी कोई बुद्धिमान अपमान नहीं करता है ।' जिस तरह राजाश्रित होने के कारण समादरणीय हाथी, घोडे, पक्षी, पशु, गौ आदि तथा पुरोहित; आमात्य, सामन्त, अन्त:पुर में रहने वाले कुब्ज किरात, वामन तथा बधिर आदि कोई अपमान नहीं करता है, अपितु उनकी जाति के अनुकूल ही उनका समादर सब लोग करते हैं, उसी तरह भगवद् भक्त समदरार्ह हैं चाहे वे किसी भी जाति के हों । क्यों कि राजाधिराज भगवान् को राजा के समान अर्चा की जाती हैं । पुराणों में प्रसिद्ध है कि भगवान् के आदि भक्त अनन्त गरुड एवम् विष्वक्सेन आदि अपनी इच्छा के अनुसार अवतार ग्रहण करते हैं । अतएव उनकी प्रतिष्ठा अर्चना आदि निर्णय भगवान् के रामकृष्ण आदि अवतारों की प्रतिष्ठा आदि के निर्णय के समान भक्त प्रतिष्ठा शास्त्र के आलोक में करना चाहिए ।

इस तरह शतदूषणी का अलेपमतभङ्ग नामक पैंसठवां वाद समाप्त हुआ ।।



अथ परमते सूत्रस्वारस्यभङ्गवादः षट्षष्ठितमः ।।६६।।

नमोऽस्तु ब्रह्मणे तस्मै बादरायणरूपिणे । यस्यैव ब्रह्मसूत्राणां रचना सगुणायते ।।
अद्वैतमतनिष्ठानामनुष्ठानमपाकृतम् । ब्रह्मसूत्रार्थवैरूप्यं तेषामथ निरूप्यते ।।

प्रसाद—महर्षि बादरायण का शरीर धारण करने वाले पर ब्रह्म को नमस्कार करते हैं, जिनकी ब्रह्मसूत्रों की रचना ही सगुणत्व का समर्थन करती है । इसके पूर्व के पैंसठवादों में हमने अद्वैत मत में निष्ठा रखने वालों के अनुष्ठान का प्रत्याख्यान किया है, अब इस वाद में हम उनके अभिमत अर्थो से ब्रह्मसूत्रों से होने वाले विरोध का निरूपण करते हैं ।

यदाहुः-आपादचूडं ब्रह्मसूत्रेषु निर्विशेषं ब्रह्मैवार्थः प्रपञ्चमिथ्यात्वं च स्पष्टमुपपाद्यते । तथाहि—यद्ब्रह्म जिज्ञास्यतया प्रकान्तम् , तदेव हि , ' नाना नास्ति ' इति श्रुतिप्रामाण्यप्रागल्भ्यात् तदनुसारिसूत्रस्वारस्याच्च निर्विशेषमिति निश्चिन्वन्ति महान्तः । तत (त्र) बहुषु सूत्रेषु तद्विषयभूतासु श्रुतिषु च एकवचनान्तनिर्देशादात्मैक्यं स्वरसतः प्रतीयते । स चाऽऽत्मा पुनः, 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' इत्यादिभिः सूत्रकलापैर्निर्गुणत्वेन निर्णीतः । 'भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ,' 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ,' ' आह च तन्मात्रम् ' इत्यादिभिरनेकेष्वधिकरणेषु भेदप्रसङ्गो निराकृतः । ब्रह्मव्यतिरिक्तानां पदार्थानां कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वम् ; 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' इत्यादिभिर्निपुणतरमुपपादितम् । [एवं मोक्षोपायोपदेशदशायाम् , 'आत्मेति तु' इति ब्रह्मात्मैक्यानुसंधानं सूत्रितम् । तथा ?] 'संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् इति मुक्तस्य स्वरूपाविर्भावमुपपाद्य ; 'अविभागेन दृष्टत्वात् ' इति ब्रह्मस्वरूपाविभाग एव फलतया निर्दिष्टः । इत्थमापादचूडं शारीरकशास्त्रे बहुषु सूत्रेषु निष्प्रपञ्चनिर्विशेषब्रह्मात्मैक्यस्य प्रतिपन्नत्वादुपात्तकतिपयसूत्रव्यतिरिक्तानि सूत्राण्यपि निर्विशेषमेव परं ब्रह्मोपपादयन्तीति नीतिविदां निर्णयः । यानि पुनः सगुणब्रह्मप्रतिपादकानि वाक्यानि, 'तानि गरुडमात्मानं जानीयात् इत्यादीन्यत्र तत्तदुपासनार्थकल्पिताकारविशिष्टब्रह्मपराणि क्रममुक्तिन्यायेन परम्परया मोक्षविश्रान्तानि । क्वचित्तु कल्पितेनाऽऽकारेण शाखाचन्द्रोपदेशन्यायेन उपलक्षणतया दर्शनेन ब्रह्मस्वरूपोपदेशपराणि । व्यास एवास्माकमादिगुरुरुपनिषदनुसारिभिः सर्वैरेवास्माभिरनुसर्तव्यः । न च प्रमाणविरोधात् ब्रह्मसूत्राणामप्रामाण्यम्, अन्यपरत्वं वा , तद्विरुद्धानामेव प्रमाणानामप्रमाणत्वात् । अन्योन्यतरतेषामाभिमानिक (?) प्रमाणानां विरोधाच्च । अभिमानप्रतिष्ठितं हि तत्तत्सिद्धान्तपरिगृहीतानां प्रमाणानां प्रामाण्यम् , अन्यथा स्वसिद्धान्तविरोधप्रसङ्गात् । ततश्च प्रमाणविरोधेऽप्यविरोधेऽपि सूत्रस्वारस्यानुरोधेन बादरायणसिद्धान्तोऽयमिति निश्चिते ; तिष्ठ वा तत्र हृदयाक्रोशेन, तत्परित्यागेन वा हृदि विन्यस्तहस्तः पक्षान्तराण्यधिशेष्वेति ॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों का प्रतिपाद्य अर्थ निर्विशेष ब्रह्म ही हैं । इससे सम्पूर्ण प्रपञ्च स्पष्ट रूप से मिथ्या सिद्ध होता है । क्योंकि ब्रह्मसूत्रों के जिज्ञास्य रूप से जिस ब्रह्म को उपक्रान्त किया गया है , वह ब्रह्म 'नानानास्ति' अर्थात् ब्रह्म व्यतिरिक्त भेदात्मक

वस्तु कुछ भी नहीं है, इस श्रुति के आलोक में और उसके अनुसारी सूत्र के स्वारस्य से तत्त्वज्ञ पुरुष ब्रह्म की निर्विशेषता का निश्चय करते हैं। अनेक सूत्रों तथा उनके विषयभूत श्रुतियों में एक वचनान्त निर्देश होने के कारण आत्मा की एकता सिद्ध होती है। उस आत्मा की निर्गुणता की सिद्धि–'न स्थान तोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' अर्थात् एक ही वस्तु परस्पर विरुद्ध आकार वाली नहीं हो सकती है स्थानादि उपाधियों से भी परब्रह्म में उभयलिङ्गता असत्य है अतएव सर्वत्र अशब्दमस्पर्शमित्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को निर्विशेष बतलाती है। इसी तरह 'भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्' अर्थात् 'विशेषात्मक भेद के कारण निर्विशेष नहीं है; यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक विशेषयुक्त में स्वाभाविक निर्विशेष का वर्णन किया गया है।' 'अरूपवदेव तत् प्रधानत्वात्' अर्थात् श्रुतियाँ चूंकि प्रधान रूपसे ब्रह्मको अरूपः वत् बतलाती है अतएव उसका रूपादि विशेषों से रहित रूप से ही निश्चित करना चाहिए।' 'आह च तन्मात्रम्' अर्थात् श्रुति ब्रह्म को चैतन्यमात्र बतलाती हैं' इत्यादि कई अधिकरणोंमें ब्रह्मके विशेषों का निरास किया गया है। ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तुओं की पूर्ण रूप से अनभिव्यक्त स्वरूपता का प्रतिपादन करते हुए सूत्र कहता हैं 'मायामात्रं तु कात्स्र्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्।' अर्थात् ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, क्योंकि उसका स्वरूप पूर्ण रूप से अनभिव्यक्त है। 'सम्पद्याविर्भावस्स्वेन शब्दात्' सूत्र में कहा गया है कि 'स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुति के 'स्वेन' शब्द से सिद्ध होता है कि परंज्योति को प्राप्त करके जीव का अपना ही स्वरूप आविर्भूत होता है। इस सूत्र में मुक्त जीव के स्वरूपाविर्भाव का प्रतिपादन करके 'अविभागेन दृष्टत्वात्' अर्थात् मुक्तावस्था में जीव का स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न रहता है; यह श्रुतियों में देखा जाता है। इस सूत्रमें मुक्त जीवके स्वरूप का ब्रह्म से अविभाग ही फल रूप से निर्दिष्ट है। इस तरह समग्र शारीरक शास्त्र के अनेक सूत्रों में, निष्प्रपञ्च के प्रतिपादन तथा निर्विशेष ब्रह्म की आत्मा से अभेद की प्रतीति होने से उदाहृत कुछ सूत्र व्यतिरिक्त सूत्र भी ब्रह्म की निर्विशेषता का प्रतिपादन करते हैं, यह शास्त्रज्ञों का निर्णय है। और जो वाक्य सगुणब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं; उन वाक्यों का तात्पर्य 'गरुडमात्मानम् विजानीयात्' अर्थात् गरुड को ही आत्मा जाने इस वाक्य की भांति उपासना परक हैं और ब्रह्म के कल्पिताकार वाले विशिष्ट ब्रह्म को बतलाते हैं। और क्रमशः मुक्ति की तरह परम्परातः मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं। कहीं पर तो कल्पित आकार के द्वारा, शाखा चन्द्रोपदेश न्याय से उपल– क्षण रूप से देखे जाने के कारण सूत्र ब्रह्म के स्वरूप का उपदेश करते हैं। व्यास ही हमारे आदि गुरु हैं, अतएव उपनिषदों के अनुसार चलने वाले हम सब लोगों को उनका ही अनुसरण करना चाहिए। प्रमाणों से विरोध होने के कारण ब्रह्मसूत्रों का अप्रामाण्य अथवा अन्यार्थ परत्व नहीं स्वीकारा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्मसूत्र विरोधी ही प्रमाण अप्रामाणिक हैं। किञ्च परस्पर में उन प्रमाणों का ब्रह्म सूत्र के आभि मानिक प्रामाण्य से विरोध भी होगा। तत्–तत् सिद्धान्तों में स्वीकृत प्रमाणों का प्रामाण्य भी आभिमा– निक ही है। अन्यथा अपने सिद्धान्त के ही प्रमाणों के अप्रामाण्य से विरोध होगा। इस तरह प्रमाणों से विरोध होने तथा अविरोध होने, दोनों दशाओं में, ब्रह्मसूत्रों के स्वारस्यानुकूल निर्गुण सिद्धान्त होने से यही बादरायण का सिद्धान्त है; यह निश्चित हो जाने पर अपने हृदय को कोशते हुए आप निर्गुण सिद्धान्त को अपनालें अथवा उसको त्याग हृदय पर हाथ रखकर औपनिषद भिन्न किसी दूसरे पक्ष को स्वीकार कर लें।

अत्रोच्यते, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्रमेव तावत् अद्वैतिनां न घटते, चिन्मात्रस्य स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानाविषयतया जिज्ञास्यत्वायोगात्। आरोपितगुणविग्रहादि-

विशिष्टस्याविद्यापरिणतिरूपत्वेन सुतरां जिज्ञास्यत्वायोगात् ; ब्रह्मशब्दार्थानुपपत्तेः प्रागेव प्रपञ्चितत्वाच्च। तथा, 'जन्माद्यस्य यतः' इति सूत्रमपि ब्रह्मस्वरूपलक्षणोपदेशपरम्। लक्षणं चासाधारणधर्मः। स कथं निर्विशेषे संघटते ? उपलक्षणत्वेऽपि सुतरां सविशेषत्वमेव। उपलक्षणाकारोपलक्ष्याकारपूर्वप्रतिपन्नाकारविभागविरहात् निर्विशेषस्योपलक्ष्यत्वमपि न सम्भवतीति प्रागेव प्रपञ्चितम्। सामानाधिकरण्यस्य सविशेषार्थनिष्ठत्वस्य न्यायप्राप्तत्वात् सत्यज्ञानादिवाक्ये स्वरूपलक्षणवर्णनापटाटोपोऽप्युत्पाटनीय इत्युक्तं प्रागेव। शास्त्रयोन्यधिकरणमपि शास्त्रगम्यत्वाभावादेव निरस्तम्। तद्गम्यत्वे वा प्रमाणविषयत्वात् दृश्यत्वमेव पाणिं गृह्णाति। व्यावहारिकशास्त्रगम्यत्वं तु व्यावहारिकानुमानगम्यत्ववत् अपध्वस्तम्। भवता च प्रमाणप्रमेय खण्डनात् शास्त्रप्रामाण्यमपि पाषण्डवादैः सपिण्डीकृतमेव। वेदान्तशास्त्रस्यापि तर्कात्मकत्वात् तर्काणां स्वरूपलक्षणादिखण्डनप्रचण्डत्वनेव शरणयतां कस्तर्कं, किं वा तदधीनार्थतत्त्वव्यवस्थापनम् ; कथं च तत्त्वाऽऽवेदकता तत्त्वमस्यादिवाक्यानामिति परिपश्य। तथाच सर्वशास्त्रदुर्भिक्षमिमाध्यमिकोक्तिरेव विजयते, समन्वयसूत्रं च समन्वयमेव हेतुत्वेनोपादत्ते। अन्वयस्तु भेदस्य प्राणबन्धुरिति सर्वलोकविदितमेतत्। ईक्षत्यधिकरणेऽपि तदेवानुविदधाति ; ईक्षणादिगुणयोगस्य मुख्यतयाऽभिधानात्। आनन्दमयाधिकरणे प्राचुर्यार्थमयट्प्रयोगादानन्दाभ्यासस्य हेतुत्वेनोपादानाच्च भेदवाद एव साम्राज्यमाटीकते। आकाशप्राणाधिकरणयोरपि ब्रह्मलिङ्गमेव पुरस्क्रियते। लिङ्गम् पुनरसाधारणधर्मः। निर्विशेषे किं लिङ्गं किं च वा साध्यमिति स्वयमेव विचारय / ज्योतिरधिकरणे चरणाभिधानं मरणायते मृषावादस्य। निर्विशेषस्य कश्चरणः, का वा दीप्तिरनुत्तमेषु लोकेषु ? इन्द्रप्राणाधिकरणेऽपि, 'प्राणस्तथानुगमात्' इत्युपक्रमोपसंहारादिषड्विध तात्पर्यलिङ्गोपेतमहावाक्यसामर्थ्यादिन्द्रान्तर्यामिणो महापुरुषस्यैव प्रसाधनात् सविशेषपरत्वमेव। वाक्यं तावत् अन्विताभिधानेऽपि, अभिहितान्वयेऽपि सविशेषपरमेवेति तत्रतत्र क्रियासमभिहारेण साधितम्/ वाक्यार्थोऽपि प्राणेन्द्रादिवैशिष्ट्यात्मकत्वात् सविशेषरूप एवेति (ह ?)निरूपितः।

एवं शारीरोपक्रमसूत्राणां सगुणब्रह्मैदम्पर्ये समर्थिते त्रिपाद्यामपि अनेनैव न्यायेनार्थतत्त्वं निर्णेतव्यमधिगुणैरन्तेवासिभिः ; स्थालीपुलाकन्यायानुसारस्य न्याय्यत्वात्।

अविरोधाध्यायस्त्राणामादिमाध्यायशेषत्वान्न पृथगभिधेयं तात्पर्यमवशिष्यते। वैराग्येऽस्य लिंगपादयोः संसरतो जीवस्य संसारनिवर्तकस्य च परमात्मनो मिथो वैषम्यमुच्यते। स एव भेदवादः। गुणोपसंहारपादस्य नामैव निर्गुणवादस्य हृदयशूलम्। अंगांगिभावपादोऽपि तस्यैव कर्णज्वरः। तेन त्रिभिरध्यायैः सगुणमेव निर्णीयते। फलाध्याये तु फलनिर्देश एव निर्गुणवादिनां निष्फलं प्रलापमाविष्करोति। परमात्मसेविनो जीवस्यैव सांसारिकफलसाधनपुण्यपापरूपकर्मश्लेषविनाशौ देहादुत्क्रमणमर्चिरादिना देवयानेन गमनं परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरपुनरावृत्तिश्चेति। शारीरकचतुष्कमाध्याये निर्गुणम्-शरीरमलक्षितकल्पपरिवारकमविभूतिकं चिन्मात्रमिति पारिभाषिकं ब्रह्म प्रतिपाद्यताम्।

प्रसाद—उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्ती कहते हैं-अद्वैती विद्वानों के मत में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र ही नहीं समन्वित होता है क्योंकि उनका अभिमत ब्रह्म ज्ञानमात्र तथा स्वयंप्रकाश है; अतएव वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकता, फलतः वह जिज्ञास्य नही हो सकता है। आरोपित गुणों तथा विग्रहों से विशिष्ट ब्रह्म भी अविद्या का परिणाम होने के कारण जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। किञ्च पहले ही मैं कह चुका हूँ कि अद्वैत मत में ब्रह्मशब्द का अर्थ अनुपपन्न है। किञ्च-'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र भी ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को बतलाता है। वस्तु का असाधारण धर्म ही उसका लक्षण होता है। वह निर्विशेष ब्रह्म में नही हो सकता है। यदि उस धर्म को ब्रह्म का उपलक्षणभी मान लिया जाय तो भी ब्रह्म की सविशेषता सिद्ध होती है। यह मै पहले ही विस्तार के साथ कह चुका हूँ कि निर्विशेष ब्रह्म उपलक्ष्य भी नहीं हो सकता है क्योंकि उपलक्षण के आकार का उपलक्ष्यभूत वस्तु के आकार की भिन्नता की प्रतीति पूर्वप्रतीत वस्तु के आकार से नहीं होती है। यह न्याय प्राप्त अर्थ है कि सामानाधिकरण्य वाक्य सविशेषनिष्ठ होता है. अतएव 'सत्यम् ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य में स्वरूप लक्षण वर्णन का आडम्बर भी खण्डनीय है यह भी मैं कह चुका हूँ।

शास्त्रयोन्यधिकरण अद्वैतमत में इसलिए नही उपपन्न होता है कि अद्वैतमत में ब्रह्म को शास्त्रगम्य नहीं माना जाता है। यदि वे ब्रह्म को शास्त्रगम्य मानें तो फिर प्रमाण का विषय होने से ब्रह्म को दृश्य मानना होगा। व्यावहारिक शास्त्रगम्यता का खण्डन व्यवहारिकानुमान के समान ही हो जाता है। अद्वैती विद्वान् प्रमाण एवं प्रमेय का खण्डन करते हैं अतएव वे शास्त्र की प्रामाणिकता का भी पाषण्डियों के समान खण्डन करते ही हैं। वेदान्त शास्त्र भी तर्कात्मक हैं; तर्कों की स्वरूपलक्षण खण्डन विषयक प्रचण्डता स्वीकार करने वाले अद्वैती विद्वानों का कौन सा तर्क है? अथवा तर्काधीन वे अर्थों की कैसी व्यवस्था मानते हैं? और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में तत्त्व अवेदकता आप कैसे स्वीकार कर सकते हैं? और ऐसा होने पर सभी शास्त्रों का खण्डन करने वाले माध्यमिकों की उक्ति को ही प्रामाणिक मानना होगा। समन्वय सूत्र ब्रह्म की जगत् कारण प्रतिपादकता में समन्वय को ही हेतु बतलाता है। अन्वय भेद के बिना हो नहीं सकता है। ईक्षत्यधिकरण में भी ब्रह्मके ईक्षण नामक गुणका ही मुख्य विधान किया जा रहा है। अतएव यह भी सविशेष ब्रह्मपरक ही अधिकरण है। आनन्दमयाधिकरण में भी प्राचुर्य अर्थ में ही मयट् प्रत्यय के होने तथा आनन्द का अनेक बार अभ्यास किये जाने के कारण इस

अधिकरण में भी भेदवाद का ही साम्राज्य है। आकाशाधिकरण तथा प्राणाधिकरण में भी ब्रह्म के चिह्नों का हीं वर्णन है। लिङ्ग असाधारण धर्म को कहते हैं। आप ही विचारें कि निर्विशेष में कौन सा चिह्न तथा कौन सा साध्य हो सकता है? ज्योति अधिकरण में तो ब्रह्म का चरणाभिधान हीं मृषावाद को मार डाले जा रहा है। निर्विशेष का कौन सा चरण होगा? उसका सर्वोत्तम लोकों में कौन सा प्रकाश हो सकता है? इन्द्रप्राणाधिकरण में भी 'प्राणस्तथानुगमात्' इस सूत्र में उपक्रम तथा उपसंहार आदि षड्विधतात्पर्यलिङ्गों से युक्त महावाक्य के सामर्थ्य से इन्द्र के अन्तर्यामी महापुरुष की सिद्धि की जाने के कारण ब्रह्मकी सविशेषता सिद्ध होती है। अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद दोनों में स्थान-स्थान पर सिद्ध किया गया है कि क्रिया समभिव्याहार के कारण वाक्य सविशेष वस्तु का ही प्रतिपादक होता है। उस वाक्य का वाक्यार्थ भी प्राण इन्द्र आदि से विशिष्ट होने के कारण सविशेष ही है।

इस तरह शारीरक मीमांसा के प्रथम पाद के सूत्रों का सविशेष ब्रह्म के ही प्रतिपादन में तात्पर्य है, यह सिद्ध कर दिए जाने पर योग्य शिष्यों को चाहिए कि वे स्थाली पुलाक न्याय से इसी तरह इस अध्याय के शेष तीन पादों को भी सविशेष ब्रह्म परक सिद्ध करें। अविरोधाध्याय के भी प्रथम अध्याय का शेष होने से उसका भी तात्पर्य सविशेष ब्रह्म के ही प्रतिपादन में मानना चाहिए। वैराग्य पाद तथा उभयलिङ्ग पाद इन दो पादों में संसारी जीव से संसार निवर्तक ब्रह्म की भिन्नता बतलाकर भेदवाद का प्रतिपादन किया गया है। गुणोपसंहार पाद तो निर्गुणवाद के लिए कर्णशूल के समान है और अङ्गादि भाव वाद निर्गुणवाद रूपी हाथी के लिए घातक कर्णज्वर है। इस तरह शारीरक शास्त्र के तीन अध्यायों में सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। फलाध्याय का फलनिर्देश ही निर्गुणवादियों के प्रलाप को निष्फल सिद्ध करता है। परमात्मक भक्त जीव के ही सांसारिक फल के साधनभूत पुण्यपापरूपी कर्मों का श्लेषाभाव और विनाश, देह से उत्क्रमण करने के पश्चात् अर्चिरादि देवमार्ग से गमन, परब्रह्म को प्राप्त करने के बाद आविर्भूत गुणाष्टक होना तथा उनकी अपुनरावृत्ति बतलायी गयी है। अतएव अद्वैती विद्वानों को चाहिए कि वे शारीरक शास्त्र के स्वकल्पित पाचवें अध्याय के द्वारा निर्गुण शरीर रहित लक्ष्मी तथा परिवार से रहित विभूति हीन, अपने पारिभाषिक चिन्मात्र ब्रह्म का प्रतिपादन करें।

यदुक्तं जिज्ञास्यतया प्रकान्तं ब्रह्मैव; 'नात्मा श्रुतेः' इत्यादावपि प्रतिपाद्यत इति, तदसत्, 'ज्ञोऽत एव', 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्', 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इत्यादिभिस्तत्रत्यैस्सूत्रैरात्मशब्दनिर्दिष्टस्य तस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वपरमात्मायत्तत्वादिप्रतिपादनात्, तस्य च परिशुद्धस्वरूपस्य त्वदभिमतेऽस्मदभिमते वा ब्रह्मण्यसंभवात्। भ्रान्त्या संभवतीति चेन्न, परिशुद्धस्वरूपोपदेशदशायां प्रतिपक्षप्रतिक्षेपपूर्वकस्य भ्रान्तिसिद्धाकारसमर्थनस्य विरुद्धत्वात्। अन्यथा उत्पत्तिविनाशयोरेव समर्थनप्रसंगात्। यदि तत्र 'नात्मा श्रुतेः' इत्यधिकरणेऽपि यथालोकमुत्पत्तिविनाशयोरेव समर्थनप्रसंगात्। यदि तत्र लोकसिद्धाकारप्रतिषेध उपचिक्रंसितः; तदा लोकसिद्धं कर्तृत्वादिकमपि नास्तीत्येवोपदेष्टुं युक्तम्। यदि तत्रैव सूत्राणां तात्पर्यमिति मनुषे, तदा प्रारब्धं त्वयैव सूत्रान्यथाकरणम्॥ अप्रस्तुतमात्मान्तरमिह कथं परीक्ष्यत इति चेन्न, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

इत्यत्रैव विषयतया ब्रह्मण इव अधिकारितया मुमुक्षोः प्रकृतत्वात्, तस्य च स्वरूपज्ञानावश्यम्भावित्वेन क्वचित्स्वरूपस्यावश्योपदेष्टव्यत्वात् / व्यवच्छेद्यतया प्रधानमिव प्रथमाध्याये सर्वत्र प्रकृतः। यदि विषयत्वेनाप्रकृतत्वादपरीक्षणीयता, तदा वियत्प्राणादेरप्यपरीक्षणप्रसंगः।

श्लो–धर्मं जिज्ञासमानस्य तत्सम्बन्धिनिरूपणम्। यथैवं ब्रह्मजिज्ञासेर्युक्तं जीवनिरूपणम् ॥

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि ब्रह्मसूत्रों के जिज्ञास्य भूत ब्रह्म का ही 'नात्माश्रुतेः' इत्यादि सूत्र में प्रतिपादन किया गया है, उनका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ के 'ज्ञोऽत एव' अर्थात् जीव ज्ञानवान है, 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' अर्थात् शास्त्र चूँकि तत्–तत् कर्मों का विधान करता है अतएव वह कर्ता है; 'परात्तु तच्छ्रुतेः' अर्थात् श्रुतियाँ चूँकि परमात्मा को सम्पूर्ण जगत् का नियामक बतलाती हैं, अतएव उसकी सारी क्रियाएँ परमात्माधीन हैं। इन सभी सूत्रों का अर्थ न तो आप के अभिमत है और न तो आपके अभिमत ब्रह्म में अन्वय हो सकता है। यदि कहें कि भ्रम के द्वारा उनका ब्रह्म में अन्वय सम्भव है तो यह भी नहीं कह सकते हैं; परिशुद्ध स्वरूप के उपदेश की दशा में अपने विरोधी पक्ष का खण्डन पूर्वक भ्रान्ति सिद्ध आकार का समर्थन नहीं किया जा सकता है। अन्यथा 'नात्माश्रुतेः' इस अधिकरण में भी लोकानुसार आत्मा की भी उत्पत्ति और विनाश का प्रसङ्ग होगा। यदि आत्माधिकरण में आत्मा के लोक सिद्ध आकार का प्रतिषेध का प्रारम्भ किया गया है तो फिर यहाँ पर आत्मा के लोक सिद्धकर्तृत्व आदि के निषेध का ही उपदेश मानना होगा। यदि उसी अर्थ में सूत्रों का तात्पर्य आप मानते है तो आपने ही अपने अनभिमत अर्थ में सूत्रों का तात्पर्य मानना प्रारम्भ कर दिया। यदि कहें कि यहाँ पर अप्रस्तुत आत्मा की परीक्षा कैसे स्वीकार की जा सकती है? तो इसका उत्तर है कि अथातो ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र में ही ब्रह्म के समान ही ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी भी विषय रूप से प्रस्तुत है। उस अधिकारी का स्वरूप ज्ञान आवश्यक होने के कारण उसके स्वरूपोपदेश करना उचित ही है। प्रथम अध्याय में भी सर्वत्र जिस तरह ब्रह्म से भिन्न प्रधान को बतलाया गया है, उसी तरह जीव को भी यदि विषय रूप से आनुक्त वस्तु अपरीक्षणीय होती तो फिर आकाशादि तथा प्राणादि की भी परीक्षणीयता उपपन्न नहीं हो सकती है। अतएव 'धर्मं जिज्ञासमानस्य इत्यादि, अर्थात् जैसे–धर्म जिज्ञासु के लिए धर्माङ्गों का भी उपदेश दिया जाता है; उसी तरह ब्रह्म जिज्ञासा के लिए ब्रह्म जिज्ञासा के अधिकारी का भी निरूपण आवश्यक है।

किञ्च, 'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' इत्यत्रैव सच्छब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्मण उत्पत्त्यादिप्रतिषेधात्, 'नात्मा श्रुतेः' इति निरर्थकः पुनरारम्भः। अतो नात्र जिज्ञास्यतया प्रक्रान्तं ब्रह्म आत्मशब्दनिर्दिष्टम्, अपितु जिज्ञासाकर्तृतया प्रस्तुतो जीवः। यत् पुनः उक्तं एकवचनान्तनिर्देशादात्माद्वैतस्वारस्यमिति; तदपि न, 'अदृष्ट इत्यादिसूत्रेष्विव जात्यैक्यविवक्षया तत्प्रयोगसम्भवात्। तदुक्तमंशाधिकरणे; 'नात्मा श्रुतेरित्यत्राप्येकवचनं जात्यभिप्रायम्' इति। याश्च तत्सूत्रविषयतया; 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतना-

नाम्' इत्यादि श्रुतय उपादीयेन्ते ; ताभिरपि सौत्रस्यैकवचनस्य जात्यभिप्रायत्वं व्यक्तम् यदि उद्देश्यगतत्वेन बहुत्वमविवक्षितम् ; य एक इति निर्दिष्टमेकत्वं किं विवक्ष्यते ॥ अतएव; 'अजो नित्यः' इत्यादिश्रुत्यन्तरमपि निर्व्यूढम् ।

प्रसाद--किञ्च 'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' अर्थात् परमकारण भूत सत् शब्द वाच्य ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति अनुपपन्न है, इस सूत्र में ही सच्छब्द वाच्य ब्रह्म की उत्पत्ति आदि का निषेध होने के कारण 'नात्मा श्रुतेः' सूत्र में पुनः आत्मा की उत्पत्त्यादि के निषेध का प्रक्रम व्यर्थ है । अतएव जिज्ञास्य रूप से प्रक्रान्त ब्रह्म को यहाँ आत्मा शब्द से नहीं अभिहित किया गया हैं, अपितु जिज्ञासा के कर्ता जीव की उत्पत्त्यादि का निषेध इस सूत्र में किया गया है । यह जो कहा गया है कि एकवचनान्त निर्देश के कारण आत्माद्वैत में ही ब्रह्मसूत्रों का स्वारस्य है तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'श्रेष्ठश्च' इत्यादि सूत्रों के समान यहाँ भी जाति की विवक्षा में एकवचनान्त प्रयोग उप पन्न होता है । इसीलिए अज्ञाधिकरण में कहा गया है कि 'नात्मा श्रुतेः' सूत्र में भी एकवचनान्त प्रयोग जाति की दृष्टि से किया गया है । नात्माश्रुतेः सूत्र के विषय रूप से जिन 'नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चे-तनानाम्' इत्यादि श्रुतियों को लिया गया है ; उन श्रुतियों के द्वारा भी सूत्र के एकवचनान्त प्रयोग की जात्याभिप्रायता ही स्पष्ट होती है । यदि उद्देश्यगत होनेके कारण सौत्र बहुत्व अविवक्षित होता तो फिर 'य एकः' इस वाक्य में निर्दिष्ट एकत्व से आपको क्या विवक्षित है ? इस तरह 'अजो नित्यः' श्रुति के भी एकत्व निर्देश की व्याख्या हो गयी ।

यत्तूभयलिंगाधिकरणे समस्तविशेषशून्यत्वं प्रत्यपादीति-तदप्यसत्, तत्र हेयगुण-निषेधेन समस्तमङ्गलगुणविशिष्टस्यैव प्रतिपिपादयिषितत्वात्, तदाह—'सविशेषं ब्रह्मेत्येव हि तत्र वक्ष्यति' इति ॥ वाक्यस्थोभयलिंगशब्दानादरेणासन्निहितदोषस्य निषेध्याध्याहारो न युक्त इति चेन्न-स्ववाक्यस्थस्यापि गुणस्य स्वरूपत एव निषेधानुपपत्तेः । न हि गुणो गुणत्वादेव निषेध्यः ; वैपरीत्यात् । न च दोषकोटिनिक्षेपेण तन्निषेधः, सर्वज्ञत्वादेर्दो-षत्वस्य प्रमाणाभावात् । अतः पारिशेष्यात् दोष एव निषेध्य इति नियते; जागरितस्व-प्नाद्यवस्थासु जीवस्य ये दोषाः पूर्वेष्वधिकरणेषु प्रकृताः त एवात्र निषेध्यतया सूत्रकृद-भिप्रेता इति स्पष्टमेव ज्ञातुः । ततश्च ; 'भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्' इत्यादिसूत्रे-ष्वपि नाप्रस्तुतानुपयुक्तत्वदभिमतार्थसिद्धिः । अन्यथा ; 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' इति समनन्तरसूत्रविरोधः । न हि तत्र प्रकृतं प्रतिषेधतीत्युक्तम्, अपितु प्रकृतैतावत्त्वमिति । एतेन निषेधानां सर्वेषां विहितानुरोधेन विषयव्यवस्था कर्तव्येति दर्शयति ।

श्लो—सामान्यस्य निषेधस्य विहितव्यतिरेकतः । निर्वाहः सुप्रसिद्धश्च निगमेष्वपि दृश्यते ॥

प्रसाद—उभयलिङ्गाधिकरण में अद्वैती विद्वानों ने ब्रह्म की निर्विशेषता का प्रतिपादन अनुचित ढङ्ग से किया है ; क्योंकि—'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गशून्यत्वात् सर्वत्र हि' सूत्र का तात्पर्य ब्रह्म में हेय गुणों के निषेध पुरस्सर समस्त कल्याण गुणों से विशिष्ट रूप से प्रतिपादन में हैं । इसीबात को श्रीभाष्यकार ने कहा है कि—उभयलिङ्गाधिकरण में सूत्रकार ब्रह्मको सभी कल्याण गुणों से विशिष्ट रूप से प्रतिपादित करेंगे । यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते हैं कि वाक्य के उभयलिङ्गशब्द का अनादर करके असन्निहित दोषों का निषेध करना उचित नहीं है; क्योंकि शाङ्कर भाष्य के वाक्यस्थ गुणों का भी निषेध नहीं किया जा सकता है । गुण होने मात्र से गुणों का निषेध करना विपरीत हैं, गुणों को दोष कोटि में भी रखकर उनका निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सर्वज्ञता आदि गुणों के दोष होने में कोई भी प्रमाण नहीं है । फलतः दोष ही निषेध के योग्य हैं , यह निश्चित होने पर जागर एवम् स्वप्नादि अवस्थाओं में जीवों में जो दोष पाये जाते हैं; जिनका पहले के अधिकरणों में दोष रूप में वर्णन भी है, ज्ञाता जीव के उन्हीं गुणों का निषेध यहाँ किया जा रहा है । अतएव 'भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्' सूत्र का अर्थ अप्रकृत आपके अभिमत न होकर; यह है कि–यह नहीं कहा जा सकता है कि अवस्था भेद के कारण परमात्मा में भी जीव के ही समान दोष होते हैं, क्योंकि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि प्रत्येक अन्तर्यामी श्रुतियों में ब्रह्म को अमृत कहा गया है अन्यथा आगे के 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' सूत्र से विरोध होगा । इस सूत्र के द्वारा कहा जाता है कि–'नेति नेति' श्रुति ब्रह्म के मूर्तत्वामूर्तत्व रूप सीमितत्व का निषेध न करके उसकी असीमितरूपता का प्रतिपादन करती है । अतएव 'नेति नेति' श्रुति प्रकृत गुणों का निषेध नहीं करती अपितु उनकी इयत्ता का निषेध करती है । अतएव सूत्रकार कहते हैं कि विहित गुणों को दृष्टि पथ में रखकर निषेध वाक्यों को हेय गुणपरक मानना चाहिए । वेदार्थों के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि-सामान्य निषेध वाक्यों का निर्वाह ब्रह्म के विहित गुणों से भिन्न दोषों के निषेध रूप से करना चाहिए ।

अतएव सन्ध्याधिकरणेऽपि, 'मायामात्रं तु' इत्यादिना न प्रपञ्चमिथ्यात्वं विवक्षितमिति गम्यते । मायाशब्दस्य च न मिथ्यात्ववाचित्वमिति स्थलान्तरे (४८) विशदं द्रष्टव्यम् । आह च–'मायामात्रं त्विति च स्वाप्नानामप्यर्थानां जागरितावस्थानुभूतपदार्थवैधर्म्यमात्रेण मायामात्रत्वमुच्यते' इत्यादि । 'मेघोदयस्सागरसन्निवृत्तिः (देशः), इत्यारभ्य 'विष्णोर्विचित्राः प्रभवन्ति मायाः' इत्यादिषु मायाशब्दस्य विचित्रसृष्टि [कर ?] विशेषपरत्वमेवेति सुव्यक्तमुपपादितम् । अस्तु वाऽस्य मिथ्यार्थवाचित्वम् , तथाऽप्यस्मिन् सूत्रे स्वाप्नार्थानामेव मिथ्यात्वमुच्यते ; 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' 'निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च' इति पूर्वपक्षसूत्राभ्यां स्वाप्नार्थानामेव प्रकृतत्वस्य भवद्भिरपि व्याख्यातत्वात् ॥ सत्यं स्वाप्नार्थमिथ्यात्वमधिकरणसाध्यम् ; तत्र कैमुत्यलाभाय जागरितानामपि मिथ्यात्वम् , कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' इत्यनेन प्रदर्श्यत इति चेन्न , विश्वमिथ्यात्वसिद्धौ स्वाप्नार्थस

यत्त्वपूर्वपक्षानुत्थानात् । अथ विश्वमिथ्यात्वमेव स्वाप्नार्थमिथ्यात्वप्रदर्शनद्वारा अत्रैव प्रसाध्यत इति मन्यसे, तदप्यसत्; प्रपञ्चमिथ्यात्वं स्वाप्नार्थनिदर्शनस्योचितत्वात् । प्रथमसूत्र एव विश्वमिथ्यात्वप्रसाधनमुखेन विश्वस्य ज्ञानबाध्यतया ज्ञानप्रधान शास्त्रमारम्भणीयमिति भवद्भिस्समर्थनाच्च ॥ अथ वक्ष्यमाणोपजीवनेन शास्त्रारम्भमात्रं तत्र समर्थ्यत इति पश्यसि, तदा नीतिनिबन्धनात्मकस्य सूत्रस्य व्युत्पाद्यमतिमन्दं स्यात् । किञ्च 'कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' इत्यत्र न जागरगन्धं पश्यामः । कार्त्स्न्यशब्देन तस्यापि संग्रह इति चेन्न प्रकृतैकदेशाबहिष्कारे तस्य व्युत्पत्तेः । ततश्च स्वाप्नार्थानां सर्वेषामेव मिथ्यात्वं विवक्षितं स्यात्; अन्यथा स्वाप्नार्थमिथ्यात्वं प्रतिज्ञाय जागरितार्थानामनभिव्यक्तस्वरूपत्व हेतुरुच्यत इति व्यधिकरणं स्यात् । अतः स्वाप्नार्थमिथ्यात्वसाधनाय तन्निष्ठमेवानभिव्यक्तस्वरूपत्वं हेतुतया सूत्र्यत इति नात्रापि विश्वमिथ्यात्वप्रतिपादनकथाऽपि ।

प्रसाद—अतएव सन्ध्याधिकरण में भी 'मायामात्रं तु' इत्यादि सूत्र के द्वारा भी प्रपञ्च का मिथ्यात्व प्रतिपादन अभिप्रेत नहीं है । मैंने अन्यत्र विशदरूपसे स्पष्ट किया है कि माया शब्द मिथ्यात्व का वाचक नही है । श्रीभाष्यकार ने कहा है 'मायामात्र तु' इस सूत्र में स्वाप्न पदार्थों के जागरावस्था में अनुभूत पदार्थो से विलक्षण होने के कारण उनको माया मात्र कहा गया है । विष्णुपुराण में भी 'मेघोदय: सागरसन्निवेश:' से प्रारम्भ करके 'विष्णोर्विचित्रा: प्रभवन्ति माया:।' इत्यादि वाक्यों में भी स्पष्ट रूप से मायाशब्द को विचित्र सृष्टि विशेष का वाचक बतलाया गया है । माया शब्द को मिथ्या अर्थ का वाचक मानने पर भी; इस सूत्र में स्वाप्न पदार्थो को ही मिथ्या कहा है । क्यों कि अद्वैती विद्वान् भी मानते हैं कि-'सन्ध्ये सृष्टिराहहि' तथा 'निर्मातारं चेके पुत्रादयश्च' इत्यादि पूर्वपक्ष के सूत्रों में स्वाप्न पदार्थों का ही वर्णन किया गया है । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि इस अधिकरण में स्वाप्न अर्थो का मिथ्यात्व सिद्ध किया गया हैं, किन्तु कैमुत्यन्याय से अधिकरण के 'कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' सूत्र से जागरितपदार्थों के भी मिथ्यात्व की सिद्धि की जाती है। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाने पर पूर्वपक्ष में स्वाप्न प्रपञ्च के सत्यत्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि इस सूत्र में ही स्वाप्न पदार्थों के मिथ्यात्व समर्थन के द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि की जा रही है, क्योंकि विश्वप्रपञ्च मिथ्यात्व को कहकर स्वाप्न पदार्थों का मिथ्यात्व ही उदाहरण रूप से प्रस्तुत करना उचित है । किञ्च अद्वैती विद्वान् प्रथम 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र में ही सम्पूर्ण प्रपञ्चके मिथ्यात्व प्रसाधन के द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्च के ज्ञान बाध्य होने के कारण ज्ञान प्रधान शास्त्र का आरम्भण करना चाहिए, यह मानते हैं । यदि कहें कि वक्ष्यमाण को उपजीव्य बनाकर वहा शास्त्रारम्भ मात्र का समर्थन किया गया है, तो नीति निबन्धनात्म-सूत्र के लिए यह अत्यन्त मन्द उपपादन होगा। किञ्च 'कार्त्स्न्येनाभिव्यक्त स्वरूपत्वात्' सूत्र में जागरावस्था की गन्ध भी नहीं है । यदि कहें कि सूत्र के कार्त्स्न्य शब्द के द्वारा जाग्रत का भी संग्रह हो जाता है तो यह भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि प्रकृत स्वाप्न पदार्थों के एक अंश का वहिष्कार किये बिना

उक्त अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस तरह सम्पूर्ण स्वाप्नार्थों का ही मिथ्यात्व विवक्षित होता है। अन्यथा स्वाप्निक अर्थों के मिथ्यात्व की प्रतिज्ञा करके, जागरित वस्तुओं के अनभिव्यक्त स्वरुपता को हेतु रूप से उपन्यस्त करने पर हेतु और साध्य में वैयधिकरण्य दोष होगा। इस सूत्र में भी स्वाप्नार्थों के मिथ्यात्व सिद्धि हेतु यहाँ उनकी ही अनभिव्यक्त स्वरुपता ही बतलायी गयी है, अतएव इस सूत्र में विश्वमिथ्यात्व की चर्चा नहीं है।

यत्पुनः मोक्षोपायोपदेशदशायाम्, 'आत्मेति तूपगच्छन्ति' इति ब्रह्मात्मैक्यानुसन्धानं सूत्रितमिति; तदपि न पश्यामः, आत्मशब्दस्य नानार्थरूढत्वात्, शरीरप्रतिसंबन्धिनि रूढिप्रकर्षाच्च। ततः शरीरीत्यनुसन्धानं संवितं स्यात्। युक्तं चैतत, ब्रह्मणः सर्वशरीरित्वेनान्तर्यामिब्राह्मणादिषु प्रपञ्चितत्वात्। यद्यपि स्वपर्यायोऽयमात्मशब्दो भाष्येऽन्वारूढः, तथाऽप्यन्ततोऽयमेवार्थः प्रपञ्चयिष्यते। अत्राप्यधिकरणे वक्ष्यति; 'इदमेव शरीरात्मभावलक्षणं तादात्म्यम्, आत्मेति तूपगच्छन्तीति वक्ष्यति' इति। विपरीतश्चायं व्यपदेश आयुष्मतः, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यनुसंधानं ह्यत्र व्याख्यायते। तच्च भ्रान्तिरूपमिति भवता एष्टव्यम्, विलुप्ताहंभावादिविध्वस्तसंविन्मात्ररूपत्वाभ्युपगमात ब्रह्मणः। ततश्च मोक्षोपायतया भ्रान्तिरेव सूत्रितेत्यायातम्। शालामालादिन्यायेन विवक्षितपर्यवस्थापनं तु सूत्रकारस्योपन्यासदशाविरुद्धम्। किञ्च, इतिकरणस्वारस्यादत्र दृष्टिविधिसूचनमेव स्वरसम्। तथैव हि श्रुतिरपि; 'आत्मेत्येवोपासीत' इति। वाक्यं च, 'आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्' इति। प्रसिद्धश्चायमर्थः स्मृतिष्वपि, 'ब्रह्माहमिति भावयेत्' इत्यादिषु, तन्त्रेषु च, 'देवोऽहमिति भावयेत्' इति। अतोऽत्र इतिकरणस्वारस्यात्; 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादाविव दृष्टिविधित्वमात्रसिद्धौ उपास्यस्य दृष्टिविशेषणस्य चात्यन्तभेदस्य सार्वत्रिकत्वात् अत्रापि जीवब्रह्मणोर्भेद एवानन्तरंसूत्रितस्स्यादिति नात्र भवतः कश्चिदवकाशः।

प्रसाद—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि मोक्ष के उपाय के उपदेश की दशा में 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' इस सूत्र में ब्रह्मात्मैक्यानुसन्धान को बतलाया गया है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि आत्माशब्द नानार्थक है और उसकी शरीर सम्बन्धी आत्मा के अर्थ में रुढि है, अतएव इस सूत्र में शरीर शब्दसे आत्माका ही निर्देश है। यह कथन इसलिए भी उचित है कि अन्तर्यामी ब्राह्मण आदि में ब्रह्म को सर्वशरीरक बतलाया गया है। यद्यपि आत्माशब्द स्व के पर्याय रुप में आया है फिर भी आत्माशब्द का यही अन्तिम अर्थ है; इस बात को श्रीभाष्यकार विस्तार से प्रतिपादित करेंगे। इस अधिकरण में वे आगे कहेंगे कि इस शरीर शरीरीभाव रूप तादात्म्य सम्बन्ध को 'आत्मेत्युपगच्छन्ति' इस सूत्र में बतलाया जायेगा। यह अर्थ अद्वैती विद्वानों के विपरीत है, आपके अनुसार तो 'अहं ब्रह्मास्मि' की ही यहाँ व्याख्या की जा रही है। किन्तु उस अनुसन्धानको आपको अन्तिम रूप मानना चाहिए। क्यों

कि आप तो मानते हैं कि ब्रह्म संवित् मात्र है; उसमें अहम् भाव रहता ही नहीं है । इस तरह आपके अनुसार तो इस सूत्र में मोक्षमात्ररूप से भ्रान्ति ही बतलायी गयी है । यदि कहें कि जिस तरह माला कहना चाहकर भी कोई शाला उच्चारण कर देता हैं , उसी तरह यहाँ भूल से सूत्रकार ने ऐसा कह दिया तो आपका यह कथन सूत्र के स्वारस्य के विपरीत है । किञ्च इतिकर्तव्यता के स्वारस्य से यहाँ पर दृष्टिविधि की सूचना ही अभिप्रेत है । श्रुति भी ऐसा ही कहती है । 'आत्मेत्युपासीत' अर्थात् आत्मा रूप से उपासना करे । वाक्य ग्रन्थमें भी कहा गया है कि आत्मा ही मानना चाहिए । स्मृतियों में भी यह अर्थ प्रसिद्ध है । जैसे-'ब्रह्माहमिति भावयेत्' अर्थात् मैं ब्रह्म हूं इस तरह की भावना करनी चाहिए । तन्त्रों में कहा गया है कि—'मैं देवता हूँ' इस तरह की भावना करे । अतएव यहाँ पर 'मन को ब्रह्म रूप से उपासना करे ।' 'मनोब्रह्मेत्युपासीत्' इत्यादि वाक्यों के समान दृष्टि विधि मात्र की सिद्धि होने पर दृष्टि के विशेषण उपास्य का उससे अत्यन्त भेद सर्वत्र देखा जाता है । अन्ततः यहाँ भी जीव और ब्रह्म का भेद ही सूत्राभिप्राय सिद्ध होता है । अतएव यहाँ अद्वैती विद्वानों के लिए कोई भी अवसर नही हैं ।

यत्तु फलदशायाम् ; 'अविभागेन दृष्टत्वात्' इत्यविभागानुभवस्सूत्रित इति ; तदपि मन्दम् , अविभागशब्दस्य स्वरूपैक्यनियतत्वाभावात् । विभागो हि परस्परसम्बन्धपरिपन्थिधर्मविशेष इति विदुषां प्रसिद्धिः ; तेनाविभागोऽप्यपृथक्सिद्धिरेवेति सिध्यति ; न पुनः स्वरूपैक्यम् , तत्र तद्व्यवहारश्चौपचारिकः । अस्तु वा मुख्यः , तथाऽप्यनियतत्वादन्यथासिद्धः , वाङ्मनः प्रभृतिसंपत्तिवदवस्थाविशेषमात्रविवक्षया; 'अविभागोवचनात्' इत्यसूत्रयत् ; अत्र तु यथाप्रमाणमपृथक्सिद्धत्वविवक्षयाऽयमविभागशब्दः , अन्यथा प्रमाणविरोधादुपपत्तिविरोधाच्च । प्रयुञ्जते च मध्यस्था दण्डो देवदत्ताद्विभक्तः जातिगुणादिकन्त्वविभक्तमिति च । यद्वा विभागो भेद एवास्तु, अविभागश्च भेदनिवृत्तिः, तथापि स्वरूपभेदोऽत्र निषिध्यत इत्यत्र न प्रमाणं पश्यामः प्रत्युत पूर्वापरसूत्रशतपरामर्शात् , भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' इति उपान्त्यसूत्रसम्वादाच्च किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्व-परिमितसुखत्वानिरतिशयानन्दत्वादिविधर्म्यलक्षणभेद एव निषिध्यत इति स्वरसतः प्रतीयते । तत्क्रतुन्यायोऽपि कृशोदरीनीडनिहितकीटस्य आदिभरतमृगत्वादिवच्च साम्यादन्यैव सङ्गमयितुं शक्यः । अन्यथा दृष्टान्त एव तत्र प्रतिदृष्टान्ततामश्नुते ।

प्रसाद--अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि फलाध्याय में 'अविभागेन दृष्टत्वात्' सूत्र में आत्मा ब्रह्म के अभेदानुभव को सूत्रित किया गया है , वह मन्द कथन है; क्योंकि अविभाग शब्द सर्वत्र स्वरूपैक्य का प्रतिपादन नहीं करता है । विद्वानों में यह प्रसिद्धि है कि परस्पर सम्बन्ध का विरोधी धर्म विशेष है अतएव अविभाग शब्द अपृथक् सिद्धि मात्र को बतलाता है । स्वरूप की एकता को नहीं । स्वरूप की एकता में अविभाग शब्द का औपचारिक प्रयोग होता है । स्वरूपैक्य में अविभाग शब्द को

मुख्य मानने पर भी उसका उस अर्थ में अनियत होने के कारण यह अर्थ अन्यथासिद्ध है। वाणी, मन आदि की सम्पत्ति के समान अवस्था विशेष की विवक्षा से इस सूत्र में अविभाग शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ पर तो प्रमाणानुसार अपृथक् सिद्धि को बतलाने के लिए अविभाग शब्द प्रयुक्त है। अन्यथा प्रमाण तथा उपपत्ति का विरोध होगा। मध्यस्थ पुरुष प्रयोग भी करते हैं कि दण्ड देवदत्त से विभक्त होता है तथा उसकी जाति तथा उसके गुण उससे अविभक्त रहते हैं। अथवा विभाग को भेद का वाचक माना जाय और भेद की निवृत्ति को अविभाग वाच्य फिर भी यहाँ पर ब्रह्म एवम् जीव के स्वरूप का निषेध किया जा रहा है, इस कथन में कोई भी प्रमाण नहीं है। अपितु आगे तथा पीछे के अनेक सूत्रों के परामर्श से तथा 'भोगमात्र साम्यलिङ्गाच्च' इस सूत्र से एक वाक्यता होने के कारण सिद्ध होता है कि मुक्तावस्था में जीव और ब्रह्म में होने वाला सर्वज्ञत्व एवम् अल्पज्ञत्व, परिमित सुखत्व एवं अपरिमित सुखत्व आदि भेद नहीं रह जाते हैं, यही उक्त सूत्र का स्वाभाविक अर्थ है। यहाँ पर भृङ्ग के बिलमें रहने वाले कीट जैसे-भृङ्ग हो जाता है, तथा जैसे आदि भरत मृग हो गये उसी तरह तत्क्रतुन्याय से ब्रह्मोपासक जीव भी ब्रह्म के सदृश भोगों तथा ऐश्वर्यों वाला हो जाता है। अन्यथा वहाँ दृष्टान्त ही विरोधी दृष्टान्त (प्रतिदृष्टान्त) बन जायेगा।

तदेव भूयसांन्यायमसन्तमिव कृत्वा त्वदुपन्यस्तानि कतिपयानि सूत्राणि त्वदभिमतप्रतीपानि निदर्शितानि। तत्तथान्यपरानन्यपरविभागोऽपि विलीनः। अत एवान्येषां भूयसां सूत्राणां कल्पिताकारपरत्वमुपलक्षणपरत्वं वा नोत्प्रेक्षितं शक्यम्। अन्यानि तु सूत्राणि सगुणं सविभूतिकं च ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्ययमर्थस्त्वयाऽपि दुरपह्नवः।

श्लो—अर्थवत्त्वेऽपि सूत्राणामन्योन्यार्थविभागतः।
सगुणं ब्रह्म वेद्यं स्यान्न चेत् सूत्रकथा मुधा॥

प्रसाद—इस तरह भूयसां न्याय की अवहेलना करके कुछ सूत्रों को उपन्यस्त करने वाले आप के अभिमत सूत्रों को ही मैंने आपके विपरीत सिद्ध कर दिया इस तरह अन्यार्थ का प्रतिपादक आप का अभेद विभाग भी खण्डित हो गया। अतएव दूसरे अनेक सूत्र की उत्प्रेक्षा (कल्पना) न तो कल्पिताकार परक की जा सकती है और न तो उपलक्षण परक रूप से की जा सकती है। दूसरे सूत्र तो सगुण एवं विभूति विशिष्ट ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, इस बात का अपलाप आप भी नहीं कर सकते हैं। किञ्च सूत्रों को सार्थक मानने पर भी एक सूत्र के अर्थ दूसरे सूत्र के अर्थ से भेद होने के कारण, उनसे सगुण ब्रह्म वेद्य सिद्ध होता है, अन्यथा सूत्रों की चर्चा ही समाप्त हो जायेगी।

आह च जन्माद्यधिकरणे—'ये तु निर्विशेषं वस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति, तन्मते, 'ब्रह्मजिज्ञासा', 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यसङ्गतं स्यात्, निरतिशयबृहत् बृंहणं च ब्रह्मेति निर्वचनात् / तच्च ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणमिति वचनाच्च, एवमुत्तरेष्वपि सूत्रगणेषु सूत्रोदाहृतश्रुतिगणेषु च ईक्षणाद्यन्वयदर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृताः श्रुतयश्च न तत्र प्रमाणम्' इत्यादि। अयमभिप्रायः—प्रथमाध्याये सर्वत्र, 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' 'आनन्दमयोऽभ्यासात्,

'अतस्तद्धर्मोपदेशात्' इत्यादिषु ब्रह्मणस्तद्धर्मविशेषैर्वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते, एवं जीवादिभ्यो भेदश्च प्रतिपाद्यते। 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः'; 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च' 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' 'विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ' 'भेदव्यपदेशात्' 'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन' इत्यादिषु सूत्रेषु तत्तच्छ्रुतिगतो भेदनिर्देश एव स्वशब्देन रूच्यते। 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' 'न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च' 'नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च' 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत् तद्व्याख्यातम्' इत्यादिषु प्रधानादिवत् जीवः स्वशब्देनोपादाय व्यवच्छिद्यते 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' इत्यादिषु [च भेदः ?] स्फुटः। अतः प्रथमाध्याये सर्वत्र जिज्ञास्यतया प्रक्रान्तं ब्रह्म आनन्दगुणविशिष्टं प्रकृतेरिव पुरुषादपि विलक्षणं च प्रत्यपादि। अयमेवार्थः–स्थूणानिखननन्यायेन द्वितीयाध्याये स्थिरीकृत इति सोऽपि तद्विषय एवेत्युक्तम्। तत्र च; 'इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः' इति जीवैक्यव्यपदेशमूलानेकदोषान् आशङ्क्य, 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' 'अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः' इति सूत्राभ्यां पर्यहार्षीत्। तत्र चाभाष्यत–'ये पुनरस्यैव जीवस्याविद्यावियुक्तावस्थामभिप्रेत्य इमं भेदं वर्णयन्ति; तेषामिदं सर्वमसङ्गतं स्यात्। न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं समस्तकारणत्वं सर्वात्मत्वं सर्वनियन्तृत्वमित्यादीनि सन्ति। अनेनैव रूपेण ह्याभिः श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते, तत् सर्वं ह्यविद्यापरिकल्पितं त्वन्मते। न चाविद्यापरिकल्पितस्याविद्यावस्थायां शुक्तिकारजत–मारीचिकाजलादिभेदवत् परस्परभेदोऽत्र सूत्रकारेण, 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' इत्यादिषु प्रतिपाद्यते। ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति जिज्ञास्यतया प्रक्रान्तस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणस्य वेदान्तवेद्यत्वं तस्य च स्मृतिन्याय विरोधपरिहारश्च क्रियते' इति स्पष्टम्। अतोऽध्यायद्वयं विशिष्टपरमिति स्थितम्।

प्रसाद—श्रीभाष्यकार ने जन्माधिकरण में कहा भी है कि–जो लोग निर्विशेष ब्रह्म को जिज्ञास्य मानते हैं उनके मत में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' तथा 'जन्माद्यस्य यतः' ये दोनों सूत्र व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे। किञ्च ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति निरतिशय बृहत् रूप है। किञ्च वही बृहत् जगत् के जन्म आदि का कारण है यह 'यतो वा' इत्यादि वाक्य बतलाती हैं। इसी तरह आगे के सूत्रों तथा सूत्रोदाहृत श्रुतियों में ईक्षणादि क्रिया रूपी विशेषों का अन्वय होने से वे सूत्र तथा सूत्रोदाहृत श्रुतियाँ निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाण नहीं बन सकती हैं। इस श्रीभाष्य वाक्य का अभिप्राय है कि प्रथम अध्याय के 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' अर्थात् श्रुतियों में ईक्षण क्रिया देखे जाने के कारण शब्द प्रमाण रहित प्रधान जगत् कारण नहीं हो सकता है।

'आनन्दमयोऽभ्यासात्' अर्थात् बारबार उसी का उपदेश दिये जाने के कारण आनन्द प्रचुर ब्रह्म ही जगत् का कारण है। 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।' अर्थात् आदित्य तथा नेत्रों के अन्तर्यामी रूप से हिरण्मयपरमात्मा ही श्रुतियों में अभिहित किए गये हैं, क्योंकि उन्हें श्रुति पापरहित बतलाती है। इन सूत्र में ब्रह्म को तत् तत् धर्मविशेष से विशिष्ट बतलाया गया है। इस तरह ब्रह्म जीवादि से भिन्न भी सिद्ध होता हैं। निम्न सूत्र ब्रह्म का जीवादि से होने वाले श्रौत भेद का ही प्रतिपादन करते हैं। वे है-'भेद व्यपदेशाच्चान्यः' अर्थात् 'य आदित्ये तिष्ठन्' श्रुति में आदित्यान्तर्यामी रूप से प्रोक्त ब्रह्म सूर्य तथा उससे भिन्न जीवों से भिन्न है। 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च' अर्थात्। 'अहं प्रेत्याभिसम्भवानि' श्रुति में कर्म तथा कर्ता का अभिधान होने से उपासक जीव और उपास्य ब्रह्म में भेद सिद्ध होता है। 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' अर्थात् माध्यन्दिन एवं काण्व दोनों शाखा के आध्येता अन्तर्यामी ब्रह्म से शारीर के समान आत्मा को भी भिन्न बतलाते हैं। 'विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।' अर्थात् विशेषण तथा भेद व्यपदेश के कारण जीव तथा प्रधान; ब्रह्म नहीं है। 'भेद व्यपदेशात्' अर्थात् 'यदा पश्यत्यन्यमीशम्' इत्यादि श्रुति द्वारा जीव से ब्रह्म की भिन्नता बतलाने के कारण जीव ब्रह्म नहीं हो सकता है। 'आकाशोऽर्थान्तरत्वादि व्यपदेशात्' अर्थात् नामरूप निर्वोढा आदि रूप से कहे जाने के कारण 'आकाशो हवै' श्रुति में आकाश शब्द वाच्य ब्रह्म ही है। 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन' अर्थात् सुषुप्ति तथा उत्क्रान्ति दशा में जीवात्मा का परमात्मा से भेदाभिधान होने के कारण जीवात्मा से भिन्न ही ब्रह्म सिद्ध होता है। निम्न सूत्रों में सूत्रकार प्रधान के ही समान जीव को भी स्ववाचक शब्द से प्रस्तुत करके उसका ब्रह्म से भेद बतलाते हैं। वे सूत्र हैं-जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतद्योगात्' अर्थात् जीवलिङ्ग तथा मुख्यप्राण लिङ्ग को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि इस प्रकरण में ब्रह्म का वर्णन हुआ है; तो यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि तीन प्रकार की उपासना (परमात्मा का स्वाकार द्वारा, जीवशरीरक रूप से तथा प्राणशरीरक रूप से) का उपदेश करने के लिए विभिन्न शब्दों से अभिधान किया जाता है और यहाँ भी उस प्रकार का अभिधान उचित है। 'नचस्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च' अर्थात् प्रधान और जीव अन्तर्यामी नहीं हो सकते क्योंकि उनमें स्वाभाविक रूप से स्वेतर समस्त नियामकत्व आदि गुण नही हो सकते है। 'नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च ।' अर्थात् प्रतिपादक शब्द के अभाव में प्रधान के ही समान प्राणाश्रय आत्मा भी द्युलोक तथा भूलोक का आश्रय नहीं हो सकता है। 'जीव मुख्य प्राणलिङ्गान्नेति चेत् तद्व्याख्यातम्' अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता है कि जीव लिङ्ग तथा मुख्य प्राणलिङ्ग के कारण अन्तर्यामी ब्रह्म को नहीं माना जाता सकता है, क्योंकि ब्रह्म के अन्तर्यामित्व की व्याख्या हम इन्द्र प्राणाधिकरण मे कर चुके हैं। गुहां प्रविष्टावात्मानो हि तद् दर्शनात्' अर्थात् श्रुतियाँ बतलाती हैं कि हृदय गुफा में आत्मा और परमात्मा का निवास है। सूत्र में भी जीवात्मा का परमात्मा से भेद स्पष्ट है। अतएव प्रथम अध्याय के सभी सूत्रों में जिज्ञास्य रूप से उपक्रान्त ब्रह्म को आनन्दगुण विशिष्ट तथा प्रकृति के ही समान पुरुष (जीव) से विलक्षण प्रतिपादित किया गया है। स्थूणानिखनन न्याय से इसी अर्थ का स्थिर प्रतिपादन दूसरे अध्याय में किया गया है। इस अध्याय के 'इतर व्यपदेशाद्धिता करणादिदोषप्रसक्तिः ।' अर्थात् यदि तत्त्व मस्यादि वाक्यों से जीव का ब्रह्म से अभेद बतलाया गया है तो सर्वज्ञादि गुण सम्पन्न में अपने अकल्याणार्थं प्रवृत्ति रूप दोष होगा। इस तरह जीव और ब्रह्म में अभेद पक्ष में अनेक दोषों को उद्भावित करके एकत्व शङ्का का परिहार 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' अर्थात् ब्रह्म जीव अध्यात्मिकादि दुःख भाजन जीव से भिन्न है; इस बात का निर्देश श्रुतियाँ करती हैं। तथा 'अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः' अर्थात् पत्थर आदि जड़ वस्तुओं के ही समान तापत्रयभाक् जीव ब्रह्म के अखिल कल्याण गुणा करत्व आदि गुणों

को नहीं प्राप्त कर सकता है । इन दो सूत्रों में किया गया है । इसी सूत्र के श्रीभाष्य में उन्होंने कहा कि–जो लोग इस जीव की अविद्या वियुक्त अवस्था को लेकर इस भेद का वर्णन करते हैं; उनके मत में ये सभी सूत्र समन्वित नहीं होते हैं; क्योंकि अविद्या वियुक्तावस्था में भी तो वे जीव को सर्वज्ञ, सर्वेश्वर सर्वकारण , सर्वात्मा तथा सर्वनियन्ता नहीं मानते हैं, किन्तु श्रुतियाँ जीव से ब्रह्म का इसी प्रकार का भेद बतलाती हैं । किन्तु अद्वैती मत में तो सर्वज्ञत्व आदि सभी गुण अविद्या कल्पित हैं । सूत्रकार अविद्या परिकल्पित जीव की अविद्यावस्था में शुक्ति तथा रजत ; मरीचिका एवं जल आदि में होने वाले भेद के समान भेद का वर्णन; 'अधिकं तु भेद निर्देशात्' इत्यादि सूत्रों में नहीं करते हैं । अपितु जिज्ञास्य तथा जगज्जन्मादिकारण ब्रह्म को वेदान्त वेद्य तथा इस मान्यता का स्मृतियों में प्रोक्त न्यायों से अविरोध यहाँ बतलाया गया । इस तरह निश्चित हो गया कि ब्रह्म सूत्रों के दो अध्याय विशिष्ट ब्रह्म परक ही हैं ।

तृतीयाध्यायेऽपि वैराग्यपादे तावत् प्रतिनियतकर्मफलभोक्तॄणामनन्तानां कर्मिणां गमनागमनप्रकारचिन्तनादात्मभेदोऽर्थलब्धः । उभयलिङ्गपादे तु शोध्यं शोधितम् । शिष्टमपि विशिष्टानुगुणमेव । गुणोपसंहारपादस्तु तत्तद्विद्यानियतानियतगुणोपाधिकविद्याभेदाभेदचिन्तनात् कार्त्स्न्येन गुणविशिष्टपर इति स्वरूपतोऽपि सुप्रसिद्धम् न केवलं नाममात्रेण । पुरुषार्थपादोऽपि विद्याया वर्णाश्रमधर्मेतिकर्तव्यताकत्वप्रतिपादनाद् विशेषात्माद्वैत वाक्यार्थविज्ञानपक्षप्रतिपक्षः । तद्वत् आवृत्तिपादेऽपि , असकृदावृत्तोपासनादिप्रतिपादनेन फलाङ्कुरस्यैवोपपादनात् । उत्क्रान्तिपादेऽपि स्थूलदेहादुत्क्रान्तिरूपफलप्रादुर्भावप्रपञ्चनम् । अर्चिरादिपादेऽपि तथेति सगुणब्रह्मोपासकानां तत्प्राप्त्यर्थमिति भवद्भिरेव व्याख्यातम् । फलपादेऽपि स्वरूपाविर्भावपूर्वकं परब्रह्मसमानस्वच्छन्दभोगप्रपञ्चनं व्यक्तमिति न बादरायणस्य क्वचिदपि त्वदभिमतानुपपन्नार्थविवक्षां प्रत्यक्षामहे । उक्तं च भास्कराचार्यैः— ,'सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायनिवेशनात (प्रकाशनात्) । व्याख्यातं यैरिदं सूत्र(शास्त्रं) व्याख्येयं तन्निवृत्तये ॥" इति । तदभिप्रायेण भाष्यकारैरप्युक्तम्—'भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्यास्संचिक्षिपुः ; तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते' इति ।

विभिन्न प्रकार के कर्मों के फल को भोगनेवाले

प्रसाद--तीसरे अध्याय के वैराग्यवाद में भी विभिन्न प्रकार के कर्मों के फल को भोगनेवाले
सांसारिक जीवों के तत्-तत् लोकों में गमन तथा वहाँ से आगमन का विचार होने से , यह पाद भी
आत्मा के भेद परक ही है । उभयलिङ्ग पाद के शोधनीय पदार्थ का शोधन हम कर चुके हैं । इसके
अतिरिक्त भी उभयलिङ्गपाद का अवशिष्ट अंश विशिष्ट ब्रह्म का ही प्रतिपादक हैं । गुणोपसंहारपाद में
भी विभिन्न विद्याओं में होने वाले अनिश्चित गुणोपाधिक विद्याओं के भेद तथा अभेद का विचार किये
जाने के कारण पूर्णरूप से ब्रह्म के गुण विशिष्टता का ही प्रतिपादक है, यह पाद । अतएव यह स्वरूपतः

एवम् नामतः दोनों प्रकार से सगुण ब्रह्म का प्रतिपादक है। पुरुषार्थपाद भी विद्या के वर्णाश्रम धर्म की इति कर्तव्यता का प्रतिपादन करता है। अतएव यह पाद निर्विशेषात्माद्वैत का विरोधी है। आवृत्तिपाद भी असकृत् आवृत्त उपासना का प्रतिपादक होने के कारण फलाङ्कुर का उपपादक है। उत्क्रान्तिपाद में भी, स्थूल शरीर से उत्क्रमण फल के प्रादुर्भाव का विस्तार रूप है। अद्वैती विद्वान् भी मानते हैं कि अचिरादिपाद में उसी प्रकार से सगुण ब्रह्म के उपासकों की ब्रह्म की प्राप्ति की हेतु का ही विस्तार है। फलपाद में भी स्वरूपाविर्भाव पूर्वक परब्रह्म के सदृश स्वच्छन्द भोग का विस्तार है, इस तरह बादरायण की कहीं भी आप के अभिमत अर्थ की विवक्षा नहीं है। भास्कराचार्य ने भी कहा है-सूत्र के अभिप्राय को छिपाकर तथा उसमें अपने अभिप्राय को निविष्ट करके जिन लोगों ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की है, उनके ही खण्डनार्थ यह हमारी व्याख्या है। इसी अभिप्राय से श्रीभाष्यकार ने भी कहा है कि-भगवान् बोधायन द्वारा प्रणीत विस्तृत ब्रह्म सूत्रवृत्ति को पूर्वाचार्यो ने संक्षिप्त किया उन्हीं के मतानुसार हम ब्रह्म सूत्र के अक्षरों की व्याख्या करेंगे।

यत्पुनः उक्तं प्रमाणाविरुद्धत्वेन सूत्रार्थानामन्यथाकथनमयुक्तमिति–तन्नूनंश्रुतिरव–सिद्धान्तेनोक्तम्, सूत्राण्यपि यथाकथञ्चिद्योजयितव्यानीति क्वचित् भवत्कूटस्थैर्व्याख्यानात् दृश्यते च जैमिनि पतञ्जलिकणभक्षाक्षपादादिसूत्रेष्वपि तत्तद्व्याख्यातृभिरध्याहारादिक–ल्पना। तदाह; 'लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि यानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्था–न्येव सूत्रेष्वपि' (मी. मा. १) इति। अध्याहारादिभिः स्वाभिमतार्थपरतया निर्वाहो वेद-सम्प्रदायस्त्ववैदिकपरिग्रहविशेषादिभिराप्तोक्तत्वनिश्चये मन्वादिप्रणीतधर्मशास्त्रादिष्वपि। क्वाचित्कवेदविरोधादेर्यथाकथञ्चिदुपशमयितव्यत्वात्। अत एवाह सति सम्भव इति। श्रुतिसूत्रयोरविरोधे सूत्रेऽध्याहारादिकमन्याय्यम्। विरोधप्रसंगे पुनः अध्याहारादिभिस्सूत्रं श्रुत्यनुगुणतया नेतव्यम्। न चासौ विभ्रम इति शङ्कितुमपि शक्यम्; सकलवेदशाखा-प्रवर्तनाधिकृतत्वात् क्वचिदपि प्रमाणविरुद्धार्था दर्शनात् परिग्रहातिशयाच्च। अतस्तदु–क्तेषु सूत्रेषु यत्र क्वचित् प्रमाणविसम्वादे यथाकथञ्चित् समाधातव्यम्, न चास्ति विसं-वाद इति दर्शितमिति॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेंकटनाथस्य वेदान्ताचा–र्यस्य कृतिषु शतदूषण्यां परमते सूत्रस्वारस्यभङ्गवादः षट्षष्ठितमः॥६६॥



प्रसाद—जिन अद्वैती विद्वानों ने अपने सिद्धान्त का श्रवण नहीं किया है वे लोग ही कहते है कि प्रमाण का विरोध होने मात्र से सूत्रों का दूसरा अर्थ करना अनुचित है । क्योंकि आपके ही कूटस्थ पुरुषों ने कहीं पर कहा है कि सूत्रों के अन्वय का किसी तरह निर्वाह करना चाहिए । किञ्च-जैमिनि ; कनाद तथा गौतम सूत्रों के व्याख्याकारों ने अपेक्षित अध्याहार किया है यह देखा जाता है । कहा भी गया है—लोक में जिन अर्थों में जो पद प्रसिद्ध हैं जहाँ तक सम्भव हो सूत्रों के भी तत्-तत् पदों को उन्हीं अर्थों में लेना चाहिए । अध्याहार आदि के द्वारा अपने अभिमत अर्थ का निर्वाह, वेद संवाद भूयस्त्व तथा वैदिक परिग्रह विशेष आदि के द्वारा आप्तोक्ततत्व का निश्चय करने के लिए मन्वादिधर्म शास्त्रों में भी देखा जाता ह । क्योंकि कहीं-कहीं पर होने वाला वेद का विरोध भी किसी तरह करना ही चाहिए । इसी लिए कहा गया है कि-'सति सम्भवे' । श्रुति तथा सूत्र में विरोध होने पर सूत्रों में अध्याहार करना अन्याय है । बिरोध का प्रसङ्ग होने पर अध्याहार आदि के द्वारा सूत्रों को श्रुति के अनुकूल बनाया जाता है । इसे विभ्रम इसलिए नहीं माना जा सकता है कि बादरायण महर्षि सम्पूर्ण वेद की शाखा का प्रवर्तन करने के लिए अधिकृत हैं, कहीं भी बादरायण प्रोक्त सूत्रों के अर्थ प्रमाणों के विरुद्ध नहीं है तथा बादरायण का सब लोग अत्यन्त समादर करते हैं । अतएव बादरायण प्रोक्त सूत्रों में जहां कहीं भी प्रमाणों से विरोध होता है, वहाँ पर किसी प्रकार समाधान करना चाहिए । किञ्च मैने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म सूत्रों का प्रमाणों से कहीं भी विसम्वाद नहीं है ।

इस तरह शतदूषणी के परमतेसूत्रस्वारस्यभङ्गवाद नामक छियासठवें वाद का हिन्दी प्रसाद सम्पूर्ण हुआ ।।





❀ तत्त्वमुक्ताकलापप्रकाशनसंघ के संस्थापक एवं संचालक ❀

भारतीय वसुन्धरा के सिद्धसन्त, योगिसम्राट् श्रीदेवराहा बाबा

संघ के उद्देश्यः—विशिष्टाद्वैत दर्शन के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार सर्वतन्त्रस्वतंत्र कवितार्किकसिंह श्रीमद्वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक प्रणीत ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन।

❀ संघ के अन्य प्रकाशन ❀

१-- सर्वार्थसिद्धि समलंकृत तत्त्वमुक्ताकलाप नायकसर (हिन्दी-अनुवाद के साथ)

२-- सर्वार्थसिद्धि समलंकृत तत्त्वमुक्ताकलाप बुद्धिसर (हिन्दी अनुवाद के साथ)

३-- हिन्दीश्रीभाष्य १४ भागों में।

४-- तत्त्वत्रयम् हिन्दी तथा संस्कृत व्याख्या के साथ।

५-- वेदान्तदेशिक भाष्य समलंकृत ईशावास्योपनिषद् (हिन्दी व्याख्या युक्त)।

६-- अतिमानुषस्तव एवं श्रीस्तव (हिन्दी व्याख्या युक्त)।

७--चण्डमारुत समलंकृत शतदूषणी प्रथम (हिन्दी अनुवादयुक्त)

८--चण्डमारुत समलङ्कृत शतदूषणी द्वितीय भाग।

९-- चण्डमारुत समलंकृत शतदूषणी तृतीयभाग।





कहीं
किय

सम